युगवीर-निबन्धावली

द्वितीय खण्ड

(उत्तरात्मकादि-निबन्ध)

लेखक
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
संस्थापक 'वीरसेवामन्दिर व ट्रस्ट'

[जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, जैनाचार्योंका शासन-भेद, ग्रन्थ-परीक्षा (चार भाग), युगवीर-भारती आदिके लेखक स्वयम्भू-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, समीचीन-धर्मशास्त्र, देवागम (आप्तमीमांसा), अध्यात्मरहस्य, तत्त्वानुशासन (ध्यानशास्त्र), योगसारप्राभृत, कल्याण-कल्पद्रुमादिके विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एव भाष्यकार, अनेकान्तादि पत्रों तथा समाधितंत्रादि ग्रन्थोंके सम्पादक और पुरातन-जैनवाक्य-सूची, जैनग्रन्थ-प्रशस्तिसग्रह (प्रथमभाग), सत्साधु-स्मरण-मगलपाठ तथा जैन-लक्षणावलीके सयोजक]

वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक
दरबारीलाल जैन कोठिया,
मंत्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण पाँच सौ प्रति
मार्गशिर सं० २०२४ . दिसम्बर १९६७
पृष्ठ-संख्या . कुल ८७६
लागत मूल्य आठ रुपये

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी—१

ग्रन्थानुक्रम

प्रकाशकीय

आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'के विभिन्न निबन्धो-की संग्रह-कृति युगवीर-निबन्धावलीका प्रथम खण्ड सन् १९६३ में प्रकाशित हुआ था और अब लगभग पाँच वर्ष बाद उसका यह द्वितीय खण्ड पाठकोंके हाथोमें देते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। इसमें भी प्रथम खण्डकी तरह इतस्तत बिखरे हुए दूसरे सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोका सग्रह है। पहला खण्ड विविध विषयके ४१ महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोको लिये हुए है तो यह दूसरा खण्ड ६५ निबन्धोंको आत्मसात् किये हुए है, जिन्हें १ उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक ऐसे पांच विभागोमे विभक्त किया गया है और उन्हे अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखा गया है। इसका विशेष परिचय साथमें दी गई निबन्ध-सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। इस खण्डकी पृष्ठसंख्या पहले खण्डसे दुगुनी हो गई है, फिर भी मूल्य दुगना न किया जाकर लागतमात्र रखा गया है।

मुख्तारश्रीके लेख-निबन्धोको जिन्होने भी कभी पढा-सुना है उन्हे मालूम है कि वे कितने खोजपूर्ण उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नही है। विज्ञ पाठक यह भी जानते है कि इन निबन्धोने समय-समयपर समाजमे किन-किन सुधारोंको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है। 'विवाह-क्षेत्रप्रकाश' नामका सबसे बडा निबन्ध तो पुस्तकके रूपमे छपकर कभीका नि शेष हो चुका है और अब मिलता नही। इससे सभी पाठक एक ही स्थानपर उपलब्ध इन निबन्धोसे अब अच्छा लाभ उठा सकेगे। इस खण्डके अधिकाश निबन्धोके लिखनेमें कितना भारी परिश्रम और कितना अधिक शोध-खोज-कार्य किया गया है यह उन्हे पढनेसे ही जाना जा सकता है।

निबन्धावलीका यह खण्ड भी स्कूलो, कालिजो तथा विद्यालयो आदि-की लायब्रेरियोंमें रखे जानेके योग्य है और उच्च कक्षाओंके विद्यार्थियोको

प्रकाशकीय

आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'के विभिन्न निबन्धों-की संग्रह-कृति युगवीर-निबन्धावलीका प्रथम खण्ड सन् १९६३ में प्रकाशित हुआ था और अब लगभग पाँच वर्ष बाद उसका यह द्वितीय खण्ड पाठकोंके हाथोंमें देते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। इसमें भी प्रथम खण्डकी तरह इतस्ततः बिखरे हुए दूसरे सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोंका संग्रह है। पहला खण्ड विविध विषयके ४१ महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोंको लिये हुए है तो यह दूसरा खण्ड ६५ निबन्धोंको आत्मसात् किये हुए है, जिन्हें १ उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक ऐसे पाँच विभागोंमें विभक्त किया गया है और उन्हें अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखा गया है। इसका विशेष परिचय साथमें दी गई निबन्ध-सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। इस खण्डकी पृष्ठसंख्या पहले खण्डसे दुगुनी हो गई है, फिर भी मूल्य दुगना न किया जाकर लागतमात्र रखा गया है।

मुख्तारश्रीके लेख-निबन्धोंको जिन्होंने भी कभी पढ़ा-सुना है उन्हें मालूम है कि वे कितने खोजपूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते हैं, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोंने समय-समयपर समाजमें किन-किन सुधारोंको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है। 'विवाह-क्षेत्रप्रकाश' नामका सबसे बड़ा निबन्ध तो पुस्तकके रूपमें छपकर कभी का निःशेष हो चुका है और अब मिलता नहीं। इससे सभी पाठक एक ही स्थानपर उपलब्ध इन निबन्धोंसे अब अच्छा लाभ उठा सकेंगे। इस खण्डके अधिकांश निबन्धोंके लिखनेमें कितना भारी परिश्रम और कितना अधिक शोध-खोज-कार्य किया गया है यह उन्हें पढ़नेसे ही जाना जा सकता है।

निबन्धावलीका यह खण्ड भी स्कूलों, कालिजों तथा विद्यालयों आदि-की लायब्रेरियोंमें रखे जानेके योग्य है और उच्च कक्षाओंके विद्यार्थियोंको

पढ़नेके लिये पारितोषिकादिकके रूपमें दिया जाना चाहिये, जिससे उन्हें समाजकी पूर्वगति-विधियों एवं स्पन्दनोका कितना ही परिज्ञान होकर कर्त्तव्यका समुचित भान हो सके, और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामें भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

अन्तमें हम डा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० लखनऊको हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने निबन्धावलीके इस खण्डके लिए अपना महत्वपूर्ण 'प्राक्कथन' लिख-भेजकर सस्थाको आभारी बनाया है। किन्तु उनके 'पेशेवर पडित', 'धनी सेठोके आश्रित, उनके मुखापेक्षी अथवा उनके द्वारा स्थापित, सचालित या पोषित सस्थाओं, सगठनो आदिमे चाकरी करने वाले जैन पंडितो' जैसे अप्रासंगिक एवं अनावश्यक आक्षेपोसे हम सहमत नही है। हम तो समझते हैं कि चाहे पेशेवर' हो और चाहे 'अपेशेवर', जो कर्त्तव्यनिष्ठ है वह प्रशसनीय है।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
२४ अगस्त १९६७

दरबारीलाल जैन कोठिया
(न्यायाचार्य, एम० ए०)
मंत्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

प्राक्कथन

साहित्य जीवनका और समाजका प्रतिबिम्ब होता है। एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति जब वैविध्य एवं वैचित्र्यपूर्ण बाह्यजगतका सजग अवलोकन करता है तो उसके मानसपटल पर उसकी प्रकृति, रुचि, अभिज्ञता और परिस्थितियोंके अनुसार बाह्य वस्तुस्थितिकी छाप पड़ती है, जिसे आत्मसात् करके वह विचारपूर्वक भाषाद्वारसे अभिव्यक्त करता है—लेखबद्ध कर देता है। यही साहित्य है और यह सभ्यमानवकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, उसकी सर्वश्रेष्ठ-कला है। साहित्यिक कृति जितना ही अधिक रसपूर्ण, भावपूर्ण विचारोत्तेजक, युक्तियुक्त, बुद्धिगम्य, अनुभूत और प्रामाणिक होती है उतना ही अधिक वह क्षेत्र-कालव्यापी होनेमें, मानव समाजका मनोरजन एव उसकी ज्ञानवृद्धि करनेमें, तथा उसका उचित दिशादर्शन करके उसका अपना जीवन प्रगतिशील एव उन्नत बनानेमें समर्थ होती है। कुछ साहित्यकार 'कला, कलाके लिये' का नारा लगाते है, किन्तु अन्य अनेक कलाका सोद्देश्य होना मान्य करते हैं। निरर्थक, निरुद्देश्य कलाको वे उपादेय नही मानते। वह लेखक और पाठकका भी अस्थायी मनोरजन भले ही करले किन्तु व्यक्ति या समाजका कोई ठोस हित सम्पादन नही करती। इसके अतिरिक्त, शुद्ध कलात्मक अथवा सृजनात्मक साहित्य, यथा—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिके क्षेत्रमें कल्पना-शक्ति एवं भावप्रवणताके बलपर कलात्मकताका प्रदर्शन चाहे जितना भी किया जा सकता है किन्तु विविध ज्ञान-विज्ञानसे सम्बन्धित तथा मनुष्य-जीवनके सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि अनगिनत क्षेत्रो-को स्पर्श करनेवाले वस्तुपरक साहित्यमें तथाकथित कलात्मकताका प्रदर्शन सीमित-रूपमें ही किया जा सकता है। ऐसा समस्त साहित्य सोद्देश्य ही होता है और विश्वके प्रायः समस्त देशोंके अर्वाचीन ही नहीं प्राचीन साहित्यमें भी इसी प्रकारके साहित्यकी बहुलता है। उसीके आधार पर देश, जाति या युग-विशेषकी सभ्यता, संस्कृति एवं प्रगति-शीलताका मूल्याङ्कन

किया जाता है। ऐसा साहित्य ही व्यक्ति और समाजका पथ-प्रदर्शन करता है और अपनी समस्याओका समाधान करनेमें उनका सहायक होता है। शायद यही कारण है कि पद्यकी अपेक्षा गद्यका और गद्य-साहित्यकी अन्य अनेक विधाओकी अपेक्षा उसकी 'निबन्ध' नामक विधाका ही आधुनिक कालमे सर्वाधिक विकास एव प्रसार हुआ है।

'निबध' शब्द 'बध' से बना हुआ है, जिसका अर्थ है 'बधा हुआ।' अतएव, अपनेमे पूर्ण एक ऐसी बधी हुई, सुगठित, सक्षिप्त गद्य-रचनाको 'निबन्ध' सज्ञा दी जाती है जिसमे कि लेखक अपने निजके दृष्टिकोणसे किसी विवेच्य-विषयका युक्तियुक्त, तर्कसंगत, विचारपूर्ण अथवा भावपूर्ण विवेचन करता है। जो निबध भावप्रधान या भावात्मक होते है उनमें लेखक अपने भावो अथवा अनुभूतियोकी कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। जो निबध वस्तुपरक होते है उनमे वह अपने ज्ञान, अध्ययन, अनुभव और चिन्तनके बलपर अपने विचार व्यक्त करता है। इस प्रकारके निबन्धोमें युक्ति और तर्कके अतिरिक्त प्रमाणो और सन्दर्भोका भी यथावश्यक अवलम्बन लिया जाता है। वस्तुपरक निबन्धोमे वर्णनात्मक, परिचयात्मक, सस्मरणात्मक, आलोचनात्मक, शिक्षाप्रद, हास्य-व्यग्यात्मक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा अन्य विविध ज्ञान-विज्ञानसे सबधित अनेक प्रकार होते है। निबन्ध जितना ही आत्मपरक (सबजेक्टिव) होगा वह उतना ही भावप्रधान होगा और जितना ही वह वस्तुपरक (ऑबजेक्टिव) होगा उतना ही वह युक्ति एव प्रमाणप्रधान होगा। भावप्रधान-रचना हृदयको प्रभावित करता है तो युक्तिप्रधान बुद्धिको प्रभावित करती है। रस-सिद्धि तो दोनो हा होनी चाहिये, उपयुक्त भाषा, शैली, रचनाशिल्प या तर्कनीक भी दोनोके ही लिये आवश्यक है। परन्तु प्रथम-कोटिके निबन्धोका फल जब प्रधानतया मनोरजन ही होता है तब दूसरी कोटिके निबन्धकोका फल ज्ञानवृद्धि होता है। वे पाठकके मस्तिष्कमे उपादेय विचारोका स्फुरण करते है, उसे अध्ययन, चिन्तन और शोधखोजके लिये प्रेरित करते हैं और उसे स्वयंके जीवनको तथा अपने समाजको समुन्नत एवं प्रगतिगामी बनानेके लिये प्रोत्साहन देते हैं। स्वतन्त्र विचारशक्ति, जो

मनुष्यकी सर्वाधिक मूल्यवान निधि है, उसकी प्रक्रिया ऐसे सत्-साहित्यके पठन-मनन-द्वारा होती ही है।

गद्य-साहित्यकी निबन्ध नाम्नी विधाका अपने प्राय. वर्तमान रूपमें सर्वप्रथम प्रारंभ १५ वी शती ई० में इटलीमें हुआ माना जाता है। १६ वी १७ वीं शतीमे वहाँसे इगलैंड, फ्रान्स आदिमें उसका प्रवेश एवं प्रचार हुआ और १९ वी शतीके अन्त तक अग्रेजी निबन्धशैली अपने विविध रूपोमें विकासकी चरमावस्थाको प्राप्त हो गई। भारतवर्षमें १८ वी शती-के उत्तरार्धमें इस देशके बहुभागमें अग्रेजी शासनका प्रसार होने लगा था। फलस्वरूप १९ वी शतीके प्रारभसे ही पाश्चात्य सस्कृतिके प्रभावसे यहाँ नवजागृतिकी एक लहर चल पडी, जिसने १८५७ के स्वातन्त्र्य-समरके उपरान्त, प्राय पूरे देश पर अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण शासन एव सुरक्षाका सुयोग पाकर, अपूर्व वेग पकडा। रेल, डाक, तार और छापेखानेकी स्थापना-ने देशके विभिन्न भागोको एक दूसरेके निकट-सम्पर्कमें ला दिया और धर्म-सुधार, समाजसुधार, समाजसगठन, राजनीतिक सुधार, राष्ट्रीय-जागरण, शिक्षाप्रचार आदिके विविध आन्दोलन यत्र तत्र चल पड़े। अनेक स्थानीय, प्रान्तीय, सार्वदेशिक, जातीय, साम्प्रदायिक, आदि सस्थाओकी स्थापना होने लगी। अग्रेजी ही नहीं, देशी भाषाओमे भी अनेक समाचार पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी, मुख्यतया जिनके माध्यमसे और अग्रेजीके प्रभाव एव अनुकरणसे सभवतया पहिले बगलामे और फिर हिन्दी आदि अन्य स्वदेशभाषाओमें निबन्ध-शैलीका अद्भुत विकास हुआ।

१९ वी शतीके उत्तरार्धकी इस समस्त जागृति और नवचेतनाके प्रभावसे जैनजगत भी अछूता नही रह सकता था। थोड़ा देरसे ही सही उसने भी अपनी क्षमताओ एव आवश्यकताओके अनुसार प्राय उन सभी प्रवृत्तियोको अपनाया जिनसे देशका जैनेतर समाज आन्दोलित हो रहा था और इन समस्त आन्दोलनोमे प्रचारका सबसे बड़ा साधन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमे नेताओ, सुधारको, विद्वानों एवं विचारको-द्वारा लिखे जानेवाले लेख-निबधादि ही सिद्ध हुए। जैन-समाजके इन प्रारंभिक लेखकोंमें, विशेषकर दिगम्बर सम्प्रदायके हिन्दी लेखकोमें, प० गोपालदास बरैया,

पं० पन्नालाल बाकलीवाल, बा० सूरजभान वकील, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, पं० नाथूराम प्रेमी और पं० जुगलकिशोर मुख्तार सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। श्वेतांबर सम्प्रदायमें मुनि आत्माराम, मुनि जिनविजय, पं० सुखलाल तथा पं० बेचनदास और अंग्रेजी भाषाके जैन लेखकोंमें प० लालन, वीरचन्द राघवजी गाधी, जगमन्दरलाल जैनी, पूर्णचन्द नाहर, चम्पतराय बैरिस्टर और अजितप्रसाद वकील उस कालमें उल्लेखनीय रहे। इन प्रभृति प्रारंभिक जैन निबंधलेखकोमेंसे अधिकांश दिवगत हो चुके हैं और जो अभी हमारे सौभाग्यसे विद्यमान हैं उनमें प्राक्तन-विद्या-विचक्षण, प्राच्य-विद्या-महार्णव, सिद्धान्ताचार्य आदि उपाधि विभूषित ९० वर्षीय आचार्य श्री जुगल-किशोर मुख्तार 'युगवीर' अनेक दृष्टियोंसे अद्वितीय रहे हैं।

वर्तमान शताब्दीके प्रारंभसे ही—प्राय. सात दशक पूरे होने आये—मुख्तार साहब जैन संस्कृति, जैनसाहित्य और जैनसमाजकी सेवा तन, मन और धनसे एकनिष्ठ होकर करते आये हैं। और यह सेवा वे स्वान्त.-सुखाय एवं कर्त्तव्यबुद्धिसे करते रहे हैं, आजीविका द्रव्यार्जन या मानार्जनका भी उसे कभी साधन नहीं बनाया। वस्तुत, ऊपर जिन महानुभावोंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे प्राय. सब ही और उनके अनेक साथी भी इसी कोटिके अमूल्य कार्यकर्त्ता रहे हैं। उनमें से प्राय सबने ही निजी आजीविकाके स्वतन्त्र साधन रक्खे और साथ ही अपनी रुचि, कर्त्तव्यबुद्धि, लगन और अध्यवसायसे शास्त्रोंका अध्ययन करने और उनका रहस्य समझनेकी क्षमता प्राप्त की, कई-कई भाषाओंपर अधिकार किया, समाजकी दुर्दशा, पीडा और आवश्यकताओंका अनुभव किया, और अपने समय एवं श्रमका, बहुधा अपने निजी द्रव्यका भी, यथाशक्य अधिकाधिक उपयोग समाज एवं संस्कृतिकी सेवामें किया। उन्होंने प्रतिक्रियावादी स्थितिपालकोंके कट्टर विरोधोंसे टक्करें ली, स्वजातिसे अपमान, लांछन और बहिष्कार तक सहे तथापि वे युगवीर कर्त्तव्यपथपर डटे रहे। वर्तमान युगमें जन-जागरणके इन अग्रदूतोंने भी उसी परम्पराका अनुसरण किया जिसे पूर्वकालमें वीर चामुण्डराय, वस्तुपाल, आशाधर, हस्तिमल्ल, मल्लिनाथ, इरुगुप्प दण्डनायक, तारणस्वामी, लौंकाशाह, बनारसीदास, रूपचन्द, भूधरदास,

द्यानतराय, दौलतराम, टोडरमल्ल, गुमानीराम, जयचन्द, सदासुख, त्यागी बाबा दौलतराम, आदि अनेक श्रावक विद्वानोंने स्थापित की थी। इनमेंसे कईएक आज भी 'आचार्यकल्प' विशेषणके साथ स्मरण किये जाते हैं। इन नरपुगवोंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूपसे निहित स्वार्थोंसे लोहा लिया और धर्मका धार्मिक-व्यवसायियोंके चगुलसे उद्धार करनेका और उसे कूप-मण्डूकताकी दलदलसे उबारनेका स्तुत्य प्रयास किया था। जिस प्रकार इन पुराने क्रान्तिकारियोंमेंसे अधिकाश पेशेवर पंडित नही थे उसी प्रकार इस युगके उपरोक्त समाज-उद्बोधक लेखक एवं कार्यकर्त्ता भी पेशेवर पंडित नही रहे है। देशमें आज अनेक राज्याश्रित या राज्यमुखापेक्षी साहित्यकारों एवं कवियोके विषयमें जो प्रवाद प्रचलित हैं वेही धनी सेठोंके आश्रित, उनके मुखापेक्षी अथवा उनके द्वारा स्थापित, संचालित या पोषित संस्थाओं, सगठनो आदिमें चाकरी करनेवाले जैन पंडितो पर भी प्रायः लागू होते हैं। उनमें भी दो-चार अपवादरूप हैं, किन्तु अपवाद होना ही नियमको सिद्ध करना है। मुख्तार साहबके वर्गके विद्वानों या समाजसेवियोने भी अपने समकालीन तथा अपने कार्यसे प्रभावित श्रीमन्तोका सहयोग एव आर्थिक सहायता भी बहुधा प्राप्त की, किन्तु समान स्तर पर, अपने स्वाभिमानको अक्षुण्ण रखते हुए—स्वामी-सेवक अथवा आश्रयदाता-आश्रितभावसे नही, और सो भी केवल कार्यके लिये, अपने निजी उपयोगके लिये नही। यही कारण है कि उनके लेखो और वक्तव्योमें आत्मनिर्भरता-प्रसूत आत्मविश्वास एव निर्भीकता रही। उन्होने कभी व्यक्तिकी अपेक्षा नही की, जो सत्य समझा उसीको महत्व दिया। और शायद इसीलिये श्रीमन्तवर्ग तथा श्रीमन्तोका आश्रित विद्वद्वर्ग इन लोगोसे प्रायः अप्रसन्न ही रहा। मुख्तार साहब उक्त स्वान्त.सुखाय समाजसेवियोकी तथोक्त विशेषताओंके ज्वलत उदाहरण हैं, उनके सामूहिक प्रतीक है। इसमें सन्देह नही कि उन्होंने अनेक अशोमें अपना 'युगवीर' उपनाम सार्थक किया है।

अपने इस लगभग ७० वर्ष जितने दीर्घ-कार्यकालमें, जिसमें प्रायः पीढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं, उन्होंने विपुल साहित्यका सृजन किया है। उनका साधनाक्षेत्र भी पर्याप्त विविध रहा है। समन्तभद्राश्रम तथा वीर-

सेवा-मदिर-जैसी संस्थाओंकी प्रारंभमें प्रायः अपने ही एकाकी बलबूते पर स्थापना की, जैनगजट, जैनहितैषी और अनेकान्त जैसे पत्र-पत्रिकाओका उत्तम सम्पादन किया—अनेकान्त तो स्वयं उन्हीकी पत्रिका रही, जिसने जैन-पत्रकारिताके क्षेत्रमे सर्वोच्च मान स्थापित किया। अनेक प्राचीन ग्रन्थोका उन्होंने जीर्ण-शीर्ण पाडुलिपियोंपरसे उद्धार किया और उनमेंसे कईको सुसम्पादित करके प्रकाशित किया। पुरातन-जैनवाक्य-सूची, जैनग्रन्थ-प्रशस्तिसग्रह, जैनलक्षणावली जैसे महत्त्वपूर्ण सन्दर्भग्रन्थ तैयार किये और कराये। कई ग्रन्थोके अद्वितीय अनुवाद, भाष्य आदि रचे और ग्रन्थोकी शोधखोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी। अनेक तथाकथित प्राचीन ग्रन्थोके मार्मिक परीक्षण लिखे और प्रकाशित किये। कई नवीन प्रकाशनो-की विस्तृत एव गभीर समालोचनायें की। आज भी हेमचन्द्रके योगशास्त्र पर एक अधुना अज्ञात दिगम्बरी टीका पर, अमितगतिके योगसारप्राकृतके स्वरचित भाष्य पर तथा कल्याणकल्पद्रुम स्त्रोत्रपर मनोयोगसे कार्य कररहे है। आपने कविता भी की—सस्कृत और हिन्दी दोनो भाषाओमें—और उच्चकोटिकी की। स्वामिसमन्तभद्र आपके परम इष्ट है और उनके हार्दको जितना और जैसा मुख्तार साहबने समझा है वैसा शायद वर्तमान विद्वानोमेसे अन्य किसीने नही। आज, इस वृद्धावस्थामें भी, वे एक अद्वितीय 'समन्तभद्रस्मारक' की स्थापनाका तथा 'समन्तभद्र' नामक एक पत्र-द्वारा आ० समन्तभद्रके विचारोका देशविदेशमें प्रचार करनेका स्वप्न बड़ी उत्कठाके साथ देख रहे है। जिस विषयपर और साहित्यके जिस क्षेत्रमे भी आपने कदम उठाया, बडा ठोस कदम उठाया। जैन जगतमे साहित्यैतिहासिक अनुसधानमे वे अपने समयमें सर्वाग्रणी रहे है। पत्र-सम्पादनमें अभीतक कोई उनके स्तरको नहीं पहुँच सका और समालोचना तो कोई वैसी करता ही नही। अपने समयमे समाजमे उठने और चलनेवाले प्राय. सभी प्रगतिगामी आन्दोलनोमें उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योग रहा है। अस्तु, लगभग सात दशको पर व्याप्त उनके दो सौ से भी अधिक लेख-निबन्धादि, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें समय समय पर प्रकाशित हुए है, जहाँ एक ओर मुख्तार साहबके व्यक्तित्वके, उनकी प्रकृति और शैलीके और उनके पाडित्य एवं प्रामाणिकताके परिचायक है वहाँ वे

जैन समाजकी तत्तत्कालीन गति-विधियों, आन्दोलनों, समस्याओं आदिका भी एक अच्छा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं।

मुख्तार साहबके ३२ निबन्धोका एक संग्रह करीब ७५० पृष्ठका 'जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश—प्रथम खण्ड' शीर्षक से १९५६ ई० मे प्रकाशित हुआ था (दूसरा खण्ड अभी प्रकाशित होनेको हैं)। तदुपरान्त 'युगवीर-निबन्धावली—प्रथम खण्ड' के रूपमे उनके ४१ अन्य मौलिक निबन्धोका संग्रह १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ। इस सग्रहके निबन्धोका विषयवार कोई वर्गीकरण नही किया गया था और उनमें सयाजसुधार, अधविश्वाओं एवं अज्ञानपूर्ण-मान्यताओ-प्रथाओं आदिकी तीव्र आलोचना, राष्ट्रीयतापोपण एव राजनीतिक दशा, हिन्दीप्रचार, जैननीति, जैन उपासनाका स्वरूप, जैनी भक्तिका रहस्य इत्यादि अनेक उपयोगी विषयोंका समावेश हुआ है। जैसा कि उक्त सग्रहके 'नये युगकी झलक' नामक प्राक्कथन मे डा० हीरालालजीने कथन किया है—"इन पुराने लेखोंमें ऐतिहासिक महत्त्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोके सम्बन्धमें भी मार्गदर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।" इसी शृखलामे अब उक्त 'युगवीर-निबन्धावली' का यह द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है, जिसमे मुख्तार साहबके अन्य ६५ निबन्ध-लेखादि संग्रहीत है। इन निबन्धोको उत्तरात्मक, समालोचनात्मक, स्मृति-परिचयात्मक विनोद-शिक्षात्मक एव प्रकीर्णक–इन ५ विभागोमे वर्गीकृत किया गया है।

प्रथम वर्गके निबन्ध प्राय. कई विभिन्न विद्वानो-द्वारा मुख्तार साहबपर या उनके लेखोपर किये गये आक्षेपोके उत्तर-प्रत्युत्तर-रूपमे हैं। भाषा और शैली पर्याप्त तीखी है। जैसा सवाल हो उसका वैसा ही करारा जवाब देनेमें वे कभी नही चूके। जिसे मुँहतोड़ जवाब कहते है उसकी बानगी इस वर्गके लेखोमे स्थान-स्थान पर चखी जा सकती है। गालीगलौजका उत्तर वे वैसी ही गालीगलौजसे नही देते, किन्तु उनकी उत्तरात्मक शिष्ट-भाषा भी इतनी तीखी और व्यग्यपूर्ण होती है कि जिसके प्रति उसका प्रयोग हुआ है वह तिलमिलाये बिना नही रह सकता। प्रारंभ के ४ निबन्ध १९१३ और १९२५ के बीच लिखे गये है और उनमे समाजमें प्रचलित

विवाहसम्बन्धी कुरीतियों, सकीर्णताओं आदिपर खुला प्रहार किया गया है और 'रूढ़िके दासों' तथा 'रस्मरिवाजोंके गुलामों'को खरी खरी सुनाई गई है। विवाह-विषयक सामाजिक कुप्रथाएँ उस युगमें सुधारकोंके आन्दोलनका लक्ष्य बन रही थी और मुख्तार साहबने सबल युक्तियों एवं शास्त्रीय प्रमाणो-द्वारा समाजकी आँखे खोलनेका स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनका 'विवाह-क्षेत्र-प्रकाश' शीर्षक निबन्ध, जो १४६ पृष्ठोंपर है, इस विषयका स्मृतिशास्त्र माना जा सकता है। ५ वें निबन्धमे जातीय पंचायतोके अन्यायपूर्ण दण्डविधानपर तीखे प्रहार किये गये हैं और उनका अनौचित्य प्रदर्शित किया गया है। परस्पर अभिवादनमें 'जयजिनेन्द्र' पद के, विशेषकर अग्रेजी पढे-लिखे लोगो द्वारा, बढ़ते हुए प्रयोगके विरुद्ध भी स्थितिपालकोने आन्दोलन छेड़ा और उसके स्थानमें 'जुहारु' का समर्थन किया, अतएव मुख्तार सा० का ६ ठा लेख इस प्रतिक्रियाके उत्तरमें लिखा गया। मुख्तार सा०का एक निबन्ध 'उपासनाका ढग' शीर्षकसे पत्रों में प्रकाशित हुआ था। स्थितिपालकोकी ओरसे उसकी भी प्रतिकिया हुई—वे लोग तो उससमय तक शास्त्रोंके छपानेका विरोध भी जोर-शोरसे कर रहे थे। अस्तु, इस सग्रहका ७वाँ लेख उनके उत्तरमें 'उपासना-विषयक समाधान'के रूपमें लिखा गया था। अपने मूललेखके—जो 'उपासनाका ढग' शीर्षकसे अलगसे भी प्रकाशित हुआ था—लिखनेमें अपना हेतु मुख्तार सा० ने स्वय स्पष्ट कर दिया था, यथा—"आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष होरही है और इसलिये समाजमे उपासनाके जितने अग और ढंग प्रचलित हैं उन सबके गुण-दोषों पर विचार करनेकी बड़ी जरूरत है····· उपासनाका वही ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमें—उसके मूल उद्देश्योमें—कुछ भी बाधा न आती हो। उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता······उपासनाके जो विधि-विधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमें भी प्रचलित थे, ऐसा नही कहा जा सकता।" अपने तद्विषयक लेखोंमें इन्हीं प्रतिपत्तियोको उन्होने सप्रमाण एवं सयुक्ति-सिद्ध किया है। कूपमंडूक-जैनसमाजको आधुनिककताके स्तरपर खीच लानेके एक सुन्दर प्रयत्नकी झाँकी इन निबन्धोमें मिलती है। ८वाँ और ९वाँ लेख सम्पादककी हैसियतसे अपने

पत्रमें प्रकाशित लेखोंपर यथावश्यक सम्पादकीय टिप्पणियाँ लगादेनेके कारण कुपित हुए उक्त लेखोंके लेखकों और उनके समर्थकोंका समाधान करनेके लिये लिखे गए थे। स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजीने मुख्तार साहबकी इस सम्पादकीय हरकतके लिये उन्हे 'मकतबका मौलवी' और उनकी उक्त टिप्पणियोको 'मौलवीकी कमचियाँ' कहकर ऐसा कटु व्यंग्य किया था कि उससे एकबार तो मुख्तार सा० भी, लगता है, तिलमिला गये थे। किन्तु मुख्तार साहब जो करते थे उसमें अनुचित क्या था, समझमें नही आया। एक सक्षम एवं कुशल सम्पादकका तो यह कर्त्तव्य है ही कि वह जिन लेखोको अपने पत्रकी नीति-रीति और स्तरकी दृष्टिसे उपयुक्त समझे उन्हे ही स्वीकार करे, उनका भाषा आदिकी दृष्टिसे यथासभव ऊपरी सशोधन, परिष्कार आदि करे, और यदि लेखकका कोई मन्तव्य भ्रामक अथवा सदोष जान पड़े तो उसपर यथावश्यक उपयुक्त पादटिप्पणि भी लगा दे। जैनपत्रकारो एवं सम्पादकोमें मूर्धन्य मुख्तार साहब यही सब करते थे, जिसमें पर्याप्त समय और श्रम लगता था, और जिसके लिये उन लेखकोंको उनका आभार मानना था न कि कुपित होना था। एक बार स्व० बा० अजितप्रसादजीसे हमने कहा था कि आप अपने जैनगजट (अंग्रेजी)में नवयुवक लेखकोंके लेख छापकर उन्हें प्रोत्साहन क्यो नही देते, तो उन्होने उत्तर दिया 'भई, मैं अपने पत्रको तख्तिये मश्क नही बनाना चाहता।' उस समय तो बात बुरी लगी—यदि कोई भी पत्र-पत्रिका तख्तियेमश्क (अभ्यासपट्टिका) बननेके लिये तैयार न हो तो नवीन लेखकोंका निर्माण कैसे हो? किन्तु बातका दूसरा पहलू भी तो है। एक सम्पादकका यह कर्त्तव्य भी तो है कि अथक-परिश्रम-द्वारा अपने पत्रको शनैः शनैः जिस स्तरपर वह ले आया है उस स्तरको वह गिरने न दे। जिन स्तरीय लेखकोका सहयोग प्राप्त करनेमें वह सफल होगया है और उसके जो पाठक है उन सबके प्रति भी तो वह उत्तरदायी है। और जैनसमाजमें 'अनेकान्त' जैसा पत्र तो मुख्तार साहबके हाथोमें साहित्यिक-ऐतिहासिक-सास्कृतिक शोधखोजका एक प्रमुख साधन बनगया था। उक्त शोधखोजकी प्रगति तो इस प्रकार लेखोंके उत्तर-प्रत्युत्तर, स्पष्टीकरण आदिके द्वारा ही संभव थी।

आज भी जैन समाजमें यह एक कमी है कि सब निगुरे है। कोई उस्ताद बनाना नही चाहता, उस्तादकी कमचियो खाना तो दरकिनार।

मुख्तार साहब सुप्रसिद्ध हिन्दी सम्पादक स्व० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी-के समकालीन रहे है। द्विवेदीजीने जिसप्रकार सुधार-सुधारकर अनेक हिन्दी लेखकोका निर्माण किया और हिन्दी जगतको उपकृत किया, उसीप्रकार मुख्तार साहब भी जैन सुलेखकोका एक अच्छा वर्ग तैयार करने मे प्रयत्न-शील थे। शब्दविन्यास, वाक्य-संगठन, विभक्तियोंका प्रयोग, विरामचिह्न, पाठशुद्धि, इत्यादि सभी छोटी-बडी बातोपर उनकी दृष्टि रहती थी और उन सबका उन्होने स्तरीकरण किया। शोधखोजकी प्रगतिपर भी उनकी दृष्टि बराबर लगी थी और वह नही चाहते थे कि उनके पत्रके किसी भी लेखमे कोई लचर बात, भ्रामक या त्रुटिपूर्ण कथन अथवा अप्रामाणिक तथ्य जाय। किन्तु जैन समाजका दुर्भाग्य है कि वे अपनी इस सदाशयता-के लिये भी अपने समकालीन जैनविद्वानोके कोपभाजन ही बने, आजतक भी अनेक विद्वान उनकी तथाकथित कमचियोकी मारकी तिलमिलाहट शायद नही भूलपाये है और उनसे रुष्ट चले आते है। इससे जैन पत्रकारिता-का अहित ही हुआ है। मुनियो और त्यागियोकी शास्त्र-प्रतिकूल प्रवृत्तियो-पर भी मुख्तार साहबने पर्याप्त लिखा, उच्च-नीच गोत्र, दस्सा-बीसा, शुद्र और म्लेच्छ-विषयक प्रचलित भ्रान्त धारणाओंको दूर करनेका प्रयत्न उन्होंने इनमेसे कई लेखोमे किया है। इस कारण भी अनेक श्रीमान और पुरानी शैलीके अधिकाश पडित उनसे अप्रसन्न हुए और अभीतक अप्रसन्न है। कानजी स्वामीकी विचारधाराको लेकर इधर लगभग दो दशकसे समाजमे एक नया बवडर उठा हुआ है। इस विभागके अतिम दो लेखोमे मुख्तार साहबने जिस सुन्दरताके साथ कानजीस्वामीको चुनौती दी है और उनसे सम्बन्धित वस्तुस्थितिको स्पष्ट किया है, वह इस विषयमें अन्तिम शब्द समझा जा सकता है। अच्छा हो यदि कुछ पत्र जो व्यर्थ एव बीभत्स, बहुधा हास्यप्रद, खडनमडन और गालीगलौजमें फँसे हुए है उस समस्त अशोभनीय प्रवृत्तिको त्यागकर मुख्तार साहबके ही दृष्टिकोणको स्थिरचित्तसे अपनाले और अपनी शक्ति अन्य सृजनात्मक कार्योमें लगाये।

दूसरे विभागमें तीन ग्रन्थोंकी तथा कतिपय फुटकर लेखों, कविताओं, कथनों आदिकी समालोचनाएँ हैं। प्रो० घोषाल-कृत 'द्रव्यसंग्रहके' अंग्रेजी संस्करण तथा प्रवचनसारके डा० उपाध्ये द्वारा सुसम्पादित संस्करणकी समालोचनाएँ पढकर भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि एक साहित्यिक समालोचकको कितना सुविज्ञ और सक्षम होना चाहिये और एक वास्तविक समालोचनाके लिये कितना कुछ श्रम एव सावधानी अपेक्षित है। समालोचनाका उद्देश्य समालोच्य-कृतिके बाह्य एव अभ्यन्तर समस्त गुण-दोषोंको निष्पक्ष किन्तु सहृदय दृष्टिसे प्रकाशित करना होता है। जो ऐसा नही करता वह समालोचकके कर्तव्यका पालन नही करता। **वर्तमान युगमें जैन समाजमे इस कोटिका समालोचक एक ही हुआ है, और वह मुख्तार सा० हैं।** प्राय. अन्य किसी विद्वानने इस विषयमे उनका अनुसरण नही किया, शायद साहस ही नही हुआ। प्रथम तो, जितना समय और श्रम किसी गभीर ग्रन्थके आद्योपान्त सम्यक् अध्ययनके लिये, उसमें निरूपित या विवेचित त्रुटिपूर्ण अथवा भ्रामक जँचनेवाले कथनो, तथ्यो आदिके शुद्ध रूपोको खोज निकालनेके लिये, तद्विषयक अन्य अनेक सन्दर्भोंको देखनेके लिये, विवेचित विषय पर अतिरिक्त अथवा विशेष प्रकाश डालनेकी क्षमता प्राप्त करनेके लिये और अन्तमे आलोच्य कृतिका समुचित मूल्याङ्कन करनेवाली विस्तृत समालोचना लिखनेके लिये अपेक्षित है वह किसी विद्वानके पास है ही नही, विशेषकर जबकि समालोचकको उससे कोई आर्थिक लाभ भी न हो। फिर भी यदि कोई इस दिशामे कुछ प्रयत्न करता है तो वह कृतिके लेखक और प्रकाशक दोनोका ही कोपभाजन बन जाता है। समालोचनाके नामसे लेखककी और उसकी कृतिकी प्रशसाके खूब पुल बाधिये, वह प्रसन्न है। किन्तु यदि कही आपने उसके बुरी तरहसे खटकनेवाले एकाध दोषका भी उल्लेख कर दिया—चाहे कितनी ही शिष्ट-सयत भाषामें क्यो न किया हो—तो गजब हो जाता है। सदैवके लिये लेखक समालोचकका शत्रु बन जाता है। ऐसा इस जैन-समाजमे ही होता है, उसके बाहर तो समालोचना साहित्यिक प्रगतिका, चाहे वह किसी भी ज्ञान-विज्ञानसे संबधित क्यों न हो, एक अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी

अग समझा जाता है। लेखक उससे स्वयंको उपकृत अनुभव करता है, सबक लेता है और द्वितीयादि सस्करणोमें अपनी कृतिको बताये गये दोषो-त्रुटियो आदि से मुक्त करनेका प्रयास करता है। समालोचनासे पुस्तकका प्रचार भी बढता है ओर पाठकोको उसका सही मूल्याङ्कन करने और उससे लाभ उठानेमें सहायता मिलती है। लेखकके 'अह'को भले हो कुछ ठेस लगे, किन्तु एक स्तरीय समालोचनासे लेखक, प्रकाशक और पाठक सभी दिशा-दर्शन प्राप्त करते है। अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओमें ही नही, देशी भाषाओमें और स्वय हिन्दी साहित्यिक जगतमें इधर, कुछ दशकोमें समा-लोचना-शास्त्र और कलाने प्रभूत विकास किया है। मुख्तार सा० के तद्विषयक निबन्धोंको पढ़कर यह सहज जाना जा सकता है कि वह समा-लोचना-शास्त्र और समालोचना-कलाके भी इस समाजमे एकमात्र नही तो सर्वश्रेष्ठ पडित रहे ही है। दुर्भाग्यसे समाजके विद्वानो और लेखकोने उनके इस गुणका भी यथोचित लाभ नही उठाया।

तीसरे विभागमे १७ स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध सकलित है, जिनमें विभिन्न सुहृद्जनो-परिजनो, सहयोगी अथवा सम्पर्कमें आये विद्वानो वा अन्य व्यक्तियोका उनके अभिनन्दनमें अथवा उनके निधनोपरान्त श्रद्धाजलि आदिके रूपमें सस्मरण हैं। ये निबन्ध बहुत कुछ आत्मीयता लिये हुए हैं। इनमेंसे 'सन्मति-विद्या-विनोद' निबन्ध तो ऐसी करुणोत्पादक एव व्यक्तिगत रचना है जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी इस उक्तिको चरितार्थ करती है कि "व्यक्तिगत निबन्ध 'निबन्ध' इसलिये है कि वे लेखकके समूचे व्यक्तित्वसे सम्बद्ध होते है, लेखककी सहृदयता और चिन्तनशीलता ही उसके बन्धन हैं।" एक सवेदनशील पाठक सहज ही अनुभव कर सकता है कि स्त्री एवं सन्तानके वियोगकी टीसको चिरकाल और चिरसाधना भी सर्वथा शान्त करनेमें किस प्रकार असमर्थ रहते है। इस विभाग के दो निबन्धोंमें राजगृह एव कलकत्तामें हुए प्रथम वीरशासन-महोत्सवके हृदय-ग्राही सजीव वर्णन है। ये निबन्ध भी व्यक्तिगत कोटिके ही निबन्ध है।

चौथे विभागमें ७ शिक्षाप्रदनिबन्ध हैं जिनमें हास्य-व्यंग्यका भी पुट है, जो उन्हे शिक्षाप्रद होनेके साथ ही साथ मनोरंजक भी बना देता है। अतिम विभागमें १२ प्रकीर्णक या फुटकर निबन्ध हैं। ये भी समयोपयोगी हैं।

इस संग्रहके सभी निबन्ध पठनीय हैं। उनकी ताजगीमें भी विशेष कमी आई प्रतीत नहीं होती। उनमें समाजके नवनिर्माणकी एक उत्कट ललक लक्षित होती है और आज भी वे उतने ही उपादेय है जितने कि उस समय थे जब वे लिखे गये। मुख्तार सा० की विशिष्ट शैलीका, जिसे बहुधा लोग 'मुख्तारी शैली' कहते हैं, इन निबन्धोमें पग-पगपर दर्शन होता है। भाषा सरल, सुबोध, धाराप्रवाह, तर्कपूर्ण, ओर अपनी बातको पाठकके हृदयमें पैवस्त कर देनेके लिये कृतसकल्प, शास्त्राधारसे सीमित किन्तु स्वतन्त्र चिन्तन, युक्ति और विवेककी बलि देकर नही, आत्मविश्वासपूर्ण और निर्भीक है। जहाँ मुख्तार सा० किसीकी अनुचित या आवश्यकतासे अधिक प्रशसा करनेमें पर्याप्त कृपण है वहाँ अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए एक-एक शब्दके कई-कई पर्याय-वाची एक साथ दे देनेमें बडे मुक्तहस्त हैं। अपने और दूसरोंके शब्दोकी पकडमें जितने मजबूत ये है, बिरले ही होते है। शब्दोका जो जौहरीपन इनके अनुवादो और भाष्योंमें लक्षित होता है वह इन निबन्धोमें शायद उतना नही होता, किन्तु निरर्थक या विपरीतार्थक शब्द-प्रयोग यहाँ भी नही मिलेगे।

वर्तमान जैनसाहित्य-ससारके इस भीष्मपितामहका जैसा और जितना कृतज्ञता-ज्ञापन होना चाहिये वह उस समाजने जिसके लिये वह जिया, जिसकी सेवा एव हित सम्पादनमें वह शतायु होने जा रहा है—आज ९० वर्षकी आयुमे भी कई माससे रुग्ण होते हुए और एटामें अपने भ्रातृज डा० श्रीचन्द सगलकी पुत्रवत् सेवाका लाभ उठाते हुए उसी गभीर साहित्यिक शोध-खोज एव निर्माणमे युवकोचित उत्साहसे रत है—अभीतक नही किया। उसका सम्यक् लाभ भी नही उठाया। महाभारतके भीष्मपितामहका लाभ भी तो विपक्षी पाडवोने तो उठाया था किन्तु जिन कौरवोंके लिए उसने अपने रक्तकी अतिम बूंद तक बहा दी और शरशैय्या ग्रहण की उन्होने तो उसकी सदैव अवहेलना ही की थी।

अस्तु, समादरणीय मुख्तार साहबके इस निबन्ध-सग्रहका प्रकाशन समाजकी प्रगतिके लिए उपयोगी और हिन्दी साहित्यकी अभिवृद्धिमें एक श्रेष्ठ योगदान होगा, इसमें सन्देह नहीं है। मेरा सौभाग्य है कि मुझपर

उनका विशेष स्नेह एवं कृपादृष्टि रहती है। उनका आदेश हुआ कि मैं इस निबन्धावली का 'प्राक्कथन' लिखूँ। सूर्यको दीपक दिखाना धृष्टता जान पड़ी, किन्तु आदेशको टाल भी न सका। इन कुछ शब्दोंके साथ इस 'प्राक्कथन'को पाठकोंकी भेंट करता हूँ. और श्री मुख्तार साहबके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि सर्मापित करता हुआ हार्दिक कामना करता हूँ, कि अभी कमसे कम एक दशक और हमारे बीच रहकर वे अपनी प्रतिभासे हमें लाभान्वित करते रहे।

ज्योतिनिकुज,
चार बाग, लखनऊ—४
१८ अगस्त १९६७

(डा०) ज्योतिप्रसाद जैन,
(एम. ए., एल-एल बी , पी-एच. डी.)

: १ :

उत्तरात्मक निबन्ध

१. शुभचिह्न
२. म्लेच्छ-कन्याओंसे विवाह
३. अर्थ-समर्थन
४. विवाह-क्षेत्र-प्रकाश
५. दण्ड-विधान-विषयक समाधान
६. जयजिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार

•

शुभचिह्न

जैन-समाजकी अंतरंग और बहिरंग अवस्थापर—अन्दरूनी और बेरूनी हालतपर—विचार करनेसे मालूम होता है कि आज-कल इस समाजमें अज्ञानान्धकारके कारण प्रवृत्ति-देवीकी खूब ही उपासना हो रही है। जैन-जन प्राय: रूढ़ियोके दास, रस्म-रिवाजके गुलाम बने हुए हैं। इस दासत्व और गुलामगिरीने उनका कितना अध:पतन किया है, उनको कितना नीचे गिराया है और उनकी विचार-शक्तियोको इससे कितना धक्का पहुँचा है, इसका उन्हे कुछ भी खयाल नहीं है। किसी प्रचलित रीति-रिवाजके विरुद्ध जबान खोलने, उसकी योग्यता-अयोग्यताके विषयमें विचार करनेको वे एक प्रकारका पाप समझते हैं। अमुक प्रवृत्ति धर्मसे विरुद्ध है या अविरुद्ध, देश-कालके अनुकूल है या प्रतिकूल, शास्त्रों-के मुताबिक है या खिलाफ, हितकर है या अहितकर, कबसे और कैसे प्रचलित हुई, इत्यादि बातोपर विचार करना वे अपना कर्त्तव्य ही नही समझते। कलकी प्रचलित हुई रीतियाँ भी उनके हृदयमे स्वयसिद्धत्व और अनादि-निधनत्वका रंग जमाये बैठी हैं। और यह रग इतना गहरा चढ़ा हुआ है, यह प्रवृत्ति-भक्ति इतनी बढ़ी हुई है कि यदि किसी प्रवृत्तिके विरुद्ध कोई शास्त्रका प्रमाण या किसी आचार्यका वाक्य भी दिखलाया जावे तो जैनी उसको सहसा माननेके लिये शायद ही तैयार होवें, बल्कि आश्चर्य नही कि उनमेसे कोई-कोई व्यक्ति तो उसकी सत्यतासे ही इन्कार कर बैठें और ऐसा कहने या बतानेवाले अपने उस हितैषीके ही उलटे शत्रु बन जावें। ऐसे समयमें समाजकी ऐसी स्थितिके

होते हुए रूढ़ियोंके उपासकोमेंसे ही यदि किसी व्यक्तिकी ओरसे उन रूढ़ियोंपर विचार करनेकी बात उठाई जावे तो कहना होगा कि वह एक प्रकारका शुभचिह्न है—उसको भावीका शुभ लक्षण समझना चाहिये। मुझे यह देखकर बहुत हर्ष हुआ और यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि सरनऊ निवासी पंडित रघुनाथ-दासजीने हालमें ऐसी ही एक बात उठाई है। विशेष आनन्दकी बात यह भी है कि उन्होने रूढ़ियोंपर विचार करनेकी वह बात एक ऐसे पत्रमें उठाई है जिसका संचालनादि कार्य आजकल ऐसे पुरुषोके हाथमें है जो प्रवृत्तिके अनन्य भक्त और रूढ़िके पक्के दास बने हुए हैं। वह पत्र महासभाका "जैनगजट" है। इस पत्रके गत १७ फरवरी १९१३ के अंकमें, उक्त पंडितजीने एक लेख दिया है जिसका शीर्षक है "शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये" अर्थात् प्रवृत्ति और रिवाजके मुताबिक नही, किन्तु शास्त्रके मुताबिक चलना चाहिये।

जिन विद्वानोंने उक्त लेखको पढ़ा है, उनमेंसे कुछ महानुभाव शायद यहाँपर यह कहेगे कि "वह लेख तो असम्बद्ध है—वाक्योंका सम्बन्ध ही उसमें नहीं मिलता, अधूरा है—पद-पदपर "आगे दौड़ पीछे छोड़" की नीतिका अनुसरण लिये हुए है—स्वपक्षके मडन और परपक्षके खडनमें, उसमें न तो कोई शास्त्र-प्रमाण दिया गया और न किसी युक्ति वा हेतुसे कुछ काम लिया गया, यद्यपि उसमें यह तो जरूर लिखा है कि अमुक साहब अर्थ लगाने-में भूल गये, परन्तु वे क्या भूल गये? और कौन-सा अर्थ ठीक या सही है? यह कुछ भी नही लिखा। इसी प्रकार कई शास्त्रीय बातोंका ऐसा जबानी जमा-खर्च भी कर दिया है जो प्रत्यक्ष शास्त्रसे विरुद्ध पड़ता है, जैसे भरतजी और चन्द्रगुप्तके समस्त

स्वप्नोंका एक ही बतलाना तथा म्लेच्छ-कुलमें राज्य और वैश्य वर्णमें जैनधर्मका निर्धारित कर देना इत्यादि। ऐसी अवस्थामें वह लेख विद्वानोंमें कैसे आदरणीय हो सकता है ? उसको तो लेख ही न कहना चाहिये, उसके प्रकाशित होनेमे हर्ष कैसा ?

इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है कि यद्यपि यह सब कुछ ठीक है—वह लेख नही, पंडितजीके नोट्स-पेपरकी नकल ही सही वा कुछ अन्य ही सही; परन्तु क्या उसका यह एक ही वाक्य—उसका यह प्रधान नोट कि "शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये" कुछ कम महत्त्वका है ? क्या इसकी कुछ कम कीमत है ? नहीं, मेरी समझमें यह वाक्य बड़ा ही अमूल्य और बड़ा ही सन्तोषजनक है। हमें अन्य बातोंपर लक्ष्य न देकर उसके इस मूल वाक्यको ही ग्रहण करना चाहिये और समझना चाहिये कि जहाँ अभीतक रिवाज, प्रवृत्ति और आम्नायका गीत गाया जाता था वहाँ अब "शास्त्रके अनुकूल प्रवर्त्तना चाहिये" ऐसा कहनेके लिये मुँह तो खुला, जबान तो उठी, यह कुछ कम आनन्दकी बात नहीं है। धर्मोपकारियों और जैनधर्मका प्रसार चाहनेवालोंको इसका अभिनन्दन करना चाहिये।

प्यारे उदारचित्त महानुभावो ! आप जिस बातको अर्सेसे चाहते थे उसके पूरा होनेका समय अब निकट आता जाता है। उसके शुभचिह्नोंका सूत्रपात होना प्रारंभ हो गया है। पंडितजी-का उक्त वाक्य इस बातकी घोषणा करता है, इस बातको सूचित करता है कि रूढ़ियोंकी दलदलमें बेतरह फँसे हुए प्राणियोंपर आपकी शुभ भावनाओंका अवश्य ही असर पहुँचा है और वे लोग रस्म-रिवाजरूपी दलदलसे निकालना चाहते हैं, जिसमें पड़े-पड़े वे बहुत-कुछ हानियाँ उठा चुके हैं, निकलनेके लिये कुछ सहारा

दरकार है। उसीको वे लोग माँग रहे हैं। उनको हस्तावलम्बन दीजिये। हेयोपादेयका विचार उनके सम्मुख उपस्थित कीजिये। शास्त्रोंके प्रमाण दिखलाइये। उनका हृदय-स्थल शास्त्र-प्रमाणोंको आश्रय देनेके लिये अब तैयार होता जाता है। इस समय समाज-संशोधकों और जाति-हित चाहनेवालोंका यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वे खुले दिलसे रूढ़ियोंका विवेचन प्रारम्भ करें, सर्वसाधारणको बतलावें कि किसी व्यक्तिके किसी व्यवहारको कैसे रूढ़ता प्राप्त हुआ करती है, कैसे उसका रिवाज पड़ जाता है। एक रूढ़ि जो एक देश और एक कालमें लाभदायक होती है वही दूसरे देश और दूसरे कालमे कैसे नुकसान देनेवाली है? रूढ़ियोंका धर्मसे क्या सम्बन्ध है? वे धर्मका कोई अग हैं या नही? आम्नाय और प्रवृत्तियाँ देश-कालके अनुसार, धर्मके मूल सिद्धान्तोकी रक्षाका खयाल रखते हुए हमेशा बदला करती हैं या नही? संघ, गच्छ और गण आदिके भेद किस बातको बतला रहे हैं? इत्यादि समस्त बातोंका यथार्थ ज्ञान लोगोको करावें और इस प्रकार लोगोका भ्रम दूरकर उनके उत्थानका यत्न करें। उनको रूढ़ियोंके इस भारी दलदलसे निकालनेकी कोशिश करे। यही दया, यही धर्म, और यही इस समयका मुख्य कर्त्तव्य—कर्म है। इसीमें जातिका मगल, इसीमें जातिका कल्याण और इसीपर जातिमें फिरसे सच्चे धार्मिक भावोंकी सृष्टि होनेका दारमदार है। मैं खयाल करता हूँ कि हमारे विचारशील परोपकारी जरूर इसपर ध्यान देगे और कदापि इस बहुमूल्य अवसरको नही चूकेंगे।

अब मैं कुछ प्रमाण पंडितजीकी भेंट करता हूँ। आशा है कि वे निष्पक्ष भावसे उनपर विचार करेगे।

१—भगवज्जिनसेनाचार्यने 'आदिपुराण'में और श्री सोमदेव-सूरिने 'नीतिवाक्यामृत'में लिखा है कि ब्राह्मण चारों वर्णकी, क्षत्रिय (ब्राह्मणको छोड़कर शेष) तीन वर्णकी, वैश्य (ब्राह्मण, क्षत्रियको छोड़कर शेष) दो वर्णकी और शूद्र केवल अपने ही एक वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है :—

"शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः ।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः ॥ १६-२४७

(आदिपुराण)

"आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः ।"

(नीतिवाक्यामृत)

इन प्रमाणोंसे प्रगट है कि गोट तो गोट, जाति तो जाति, एक वर्णवाला दूसरे वर्णकी कन्यासे भी विवाह कर सकता है ।

२—श्रीसोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें लिखा है कि जैनियोंको वे समस्त लौकिक-विधियाँ—लोक-प्रवृत्तियाँ—लौकिकाचार प्रमाण हैं जिनसे उनके सम्यक्त्वमें हानि वा व्रतमें दूषण न आता हो :—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न, यत्र न व्रत-दूषणम् ॥"

(यशस्तिलक)

अब आप विचार लेवें कि जिन खंडेलवाल वा परवारादि वर्तमान जातियोंके श्रद्धा-विषय और व्रत भिन्न नहीं हैं, बल्कि एक ही हैं, उनमें विवाह-सम्बन्ध होनेसे सम्यक्त्वादिमें कोई बाधा आवेगी या नहीं ? साथमें यह भी खयाल रहे कि भरत, शांति, कुन्थु, अरह आदि चक्रवर्तियोंने म्लेच्छोंकी कन्याओंसे भी विवाह किया है और नेमिनाथके चाचा वसुदेवजीने भी एक म्लेच्छ राजाकी कन्यासे, जिसका नाम जरा था, विवाह किया था ।

३—**जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण**में लिखा है कि **चारुदत्त** सेठने अपने मामाकी लड़कीसे विवाह किया, **समुद्रविजयादि**ने अपनी पाँच कन्याओंका विवाह अपने भानजे पांडवोंके साथ किया, **जरासिंधु**ने अपनी लड़की **जीवंयशा**की शादी अपने भानजे **कंस**के साथ की, **महावीरस्वामी**के फूफा **जितशत्रु**ने अपनी पुत्री **अशोकवती**-का विवाह **महावीरस्वामी**से करना चाहा। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रन्थोंमें सैकड़ो कथायें मौजूद हैं, जिनसे ऐसे विवाह-सम्बन्धों-का होना पाया जाता है। इससे साफ प्रगट है कि इस प्रकारके विवाह-सम्बन्ध जो आजकल बहुधा गर्हित समझे जाते हैं उनका पहले आम रिवाज था।

४—उक्त **हरिवंशपुराण**में यह भी लिखा है कि **वसुदेवजी**-का विवाह **देवकी**से हुआ। **देवकी** राजा **उग्रसेन**की लड़की और महाराजा **सुवीर**की पड़पोती (प्रपौत्री) थी और वसुदेवजी महा-राजा **सूर**के पोते थे। **सूर** और **सुवीर** दोनों सगे भाई थे अर्थात् श्री **नेमिनाथ**के चाचा **वसुदेवजी**ने अपने चचाजाद भाईकी लड़कीसे विवाह किया। इससे प्रगट है कि उस समय विवाहमें गोत्रका विचार व बचाव नही किया जाता था। नहीं मालूम परवारोंमें आजकल आठ-आठ वा चार-चार साके (शाखाएँ) किस आधार-पर मिलायी जाती हैं ?

५—**भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराण**में लिखते हैं कि प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले ऐसे म्लेच्छोंको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिये, जिससे प्रगट है कि म्लेच्छ लोग केवल जैनी ही नहीं हो सकते, बल्कि उनकी कुलशुद्धि भी हो सकती है। यथा—

"स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥"

उक्त आदिपुराणमें भरतजीके आठवें स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है :—

"शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात्।
प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु ॥"

अर्थात् मध्यमें सूखा और किनारोंपर जल लिये हुए ऐसा तालाब देखनेसे यह फल होगा कि (पंचमकालमें) जैनधर्म आर्य देशको छोड़कर प्रान्त देशों (Border Countries) में फैलेगा— म्लेच्छ-देशोंके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे। इससे प्रगट है कि अन्य दूर देशोंमें जैनधर्मके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है और उसमे कितनी अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है।

६—उक्त आदिपुराणमें भरतजीके पाँचवें स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है कि पंचमकालमें आदिक्षत्रियवंशोंका उच्छेद हो जायगा और उनसे कुछ हीनवंश वा कुलके मनुष्य पृथ्वीका पालन करेंगे। ऐसा नही लिखा कि म्लेच्छ-कुलमें ही राज्य होगा। यथा—

करीन्द्रकन्धरारूढशाखामृगविलोकनात्।
आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां पास्यन्त्यकुलीनकाः ॥ (४१—६९)

—जैनमित्र, २४-३-१९१३

म्लेच्छकन्याओंसे विवाह : २ :

मैने जैनमित्रमें "शुभचिह्न" शीर्षक एक लेख दिया था, जो ता० २४ मार्च सन् १९१३ के अक नं० १० के पृष्ठ ९ पर मुद्रित हुआ है। इस लेखमें मैने एक स्थानपर यह लिखा था कि, "**चक्रवर्तियोंने म्लेच्छोंकी कन्याओंसे भी विवाह किया है।**" मेरे इस लिखनेपर सम्पादक महोदय ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने यह फुटनोट दिया है :—

"**यहाँ प्रकरण म्लेच्छखंडके राजाओंकी कन्याओंसे है।**"

इस नोटसे सम्पादक महोदयका ऐसा अभिप्राय मालूम होता है कि वे म्लेच्छखंडोंमे आर्य राजाओंका सद्भाव मानते हैं और उन म्लेच्छखंडोंमें उत्पन्न हुए आर्य-राजाओंकी कन्याओंसे ही चक्रवर्तियोंने विवाह किया—म्लेच्छ राजा व इतर[1] म्लेच्छोकी कन्याओंसे उन्होंने विवाह नहीं किया—ऐसा उनका सिद्धान्त है। इसीलिये उन्होने 'राजा' शब्दके पूर्व 'म्लेच्छ' शब्द भी नहीं लगाया है। यदि ऐसा न होता तो सम्पादक महोदयको इस नोटके देने की ही जरूरत न पड़ती। क्योंकि किसी म्लेच्छके राजा हो जानेसे ही उसका म्लेच्छत्व नष्ट नहीं हो जाता, जब म्लेच्छत्व बना रहा तब मेरे उस लिखनेमें, जिसपर नोट दिया गया, और उक्त नोटमें वास्तविक भेद ही क्या रहा—जिसके लिये इतना कष्ट उठाया जाता। अस्तु, यदि थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि सम्पादकजीका अभिप्राय इस 'राजा' शब्दसे

---

१. राजा से भिन्न दूसरे।

म्लेच्छ राजा का ही है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या चक्रवर्ती राजा म्लेच्छखंडके उन म्लेच्छोंकी कन्याओंसे विवाह नहीं करता है जो राजा नही हैं, किन्तु अपने समाजके अन्य प्रतिष्ठित पुरुष वा साधारण म्लेच्छ हैं ?

ऐसी अवस्थामें सम्पादकजीका अभिप्राय स्पष्ट शब्दोंमें प्रगट होनेकी बहुत बड़ी जरूरत है । अतः सम्पादकजीसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपने पत्रमें स्पष्ट रूपसे, जैनशास्त्रोंके प्रमाणसहित, इस बातको प्रगट करे कि, चक्रवर्त्ती म्लेच्छोकी कन्याओसे विवाह करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तो म्लेच्छ राजाओं की ही कन्याओसे विवाह करते हैं वा इतर म्लेचछोकी कन्याओंसे भी करते हैं ? और यदि म्लेच्छोकी कन्याओंसे विवाह नहीं करते तो क्या म्लेच्छखंडोंमे आर्यराजा व इतर आर्यजन भी निवास करते हैं ?

अब इस विषयमें शास्त्रोंके देखनेसे मुझे जो कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उनमेसे कुछ प्रमाण नमूनेके तौरपर मैं यहाँ देता हूँ; ताकि सम्पादकजी इन शास्त्र-प्रमाणोंको ध्यानमें रखते हुए उत्तर लिखनेकी कृपा करें और अपने उत्तरमें इनका भी स्पष्टीकरण कर देवें :—

(१) श्री अमृतचन्द्रसूरिने 'तत्त्वार्थसार' मे मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ, ऐसे दो भेदोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

"आर्यखंडोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः ।
म्लेच्छखंडोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥११२॥"

अर्थात्—जो लोग आर्यखंडमें उत्पन्न हुए हैं वे आर्य कहलाते हैं, परन्तु उनमे जो कुछ शक, यवनादिक लोग हैं वे म्लेच्छ कहे

जाते हैं और जो लोग म्लेच्छखंडोंमें उत्पन्न हुए हैं अथवा अन्तर-द्वीपोंमें उत्पन्न हुए हैं उन सबको म्लेच्छ समझना चाहिये। इससे प्रगट है कि आर्यखडमे जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे तो आर्य और म्लेच्छ दोनो प्रकारके होते हैं, परन्तु म्लेच्छखंडोंमें एक ही प्रकार-के मनुष्य अर्थात् म्लेच्छ ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—म्लेच्छोके मूल भेद तीन हैं :—आर्यखंडोद्भव, म्लेच्छखंडोद्भव, अन्तरद्वीपज। और आर्योका मूलभेद एक आर्य-खडोद्भव ही है। जब यह बात है तब म्लेच्छखंडोंमें आर्यराजाओं-का होना और उनकी कन्याओसे चक्रवर्त्तीका विवाह करना कैसे बन सकता है? बल्कि यही बात बन सकती है कि म्लेच्छोंकी कन्याओंसे ही चक्रवर्त्तियोंने विवाह किया है।

(२) भगवज्जिनसेनाचार्य 'आदिपुराण' में श्री भरत महाराज आद्य चक्रवर्तीकी दिग्विजयका वर्णन करते हुए पर्व ३१ मे लिखते हैं—

> "इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः।
> तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत्॥ १४१॥"
> "धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
> अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः॥ १४२॥"

अर्थात्—भरत चक्रवर्त्तीके प्रधान सेनापतिने (ऊपरके शास्त्र-में वर्णन किये हुए) अनेक उपायोसे म्लेच्छराजाओको वशमे करके उन म्लेच्छराजाओंसे अपने सम्राट्के लिये अनेक कन्याएँ तथा अन्य रत्न ग्रहण किये॥ १४१॥

ये म्लेच्छखंडके लोग धर्म-कर्मसे बहिर्भूत हैं इसलिये म्लेच्छ कहलाते हैं। नही तो, और समस्त आचार-व्यवहारोंमें ये सब लोग आर्यावर्त्त अर्थात् आर्यखंडके ही समान हैं॥ १४२॥

इससे साफ प्रगट है कि चक्रवर्तीके लिए म्लेच्छोंकी कन्याएँ ग्रहण की गईं और यह भी प्रगट है कि म्लेच्छखंडोंके म्लेच्छ, धर्म-कर्मको छोड़कर, अन्य समस्त आचार-व्यवहारोंमें आर्यखंडके मनुष्योंके ही समान हैं। धर्म-कर्मसे विमुख होनेके कारण उनकी म्लेच्छ संज्ञा है।

श्रीजिनसेनाचार्यकृत 'हरिवंशपुराण' में भी, जिसकी कि भाषाटीका पं० दौलतरामजीने की है, म्लेच्छराजाओंका, दिग्विजयके समय, अपनी कन्याएँ भरत चक्रवर्तीको देनेका विधान पाया जाता है। जैसा कि भाषाटीकाके निम्न वाक्योंसे प्रगट है :—

"चक्रवर्ती उत्तरमें गया। वहाँ हजारों राजा म्लेच्छ सो अपूर्व कटक आया जान युद्धको उद्यमी भये। तब अयोध्य नाम सेनापति दंडरत्नका धारक उसने युद्ध कर वे भगाये.........."

"भयसे वे राजा म्लेच्छ भागकर उनका कुल देवता महाभयंकर मेघमुख नामा नागकुमार उनके शरणे गये..." (परस्पर युद्ध हुआ अन्तको) "वे म्लेच्छखंडके राजा कन्यादिक रत्न भेटकर चक्रवर्तीके सेवक भये।"

(३) उक्त आदिपुराणके पर्व ३७ में, जहाँ भरत चक्रवर्तीकी विभूतिका वर्णन दिया है वहाँ लिखा है कि म्लेच्छ राजादिकोंकी दी हुई जिन कन्याओसे चक्रवर्तीका विवाह हुआ, सम्राट्की उन प्यारी स्त्रियोकी सख्या मुकुटबद्ध राजाओकी संख्या-प्रमाण थी। इनके सिवाय जाति-कुल-सम्पन्ना आदि स्त्रियोंकी संख्या अलग दी है। यथा :—

"कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः।
रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाऽऽकरभूमयः॥ ३४॥
म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः।
अप्सरः संकथाः क्षोणीं यकाभिरवतारिताः॥ ३५॥

अवरुद्धश्च तावन्त्यस्तन्व्यः कोमलविग्रहाः ।
मदनोद्दीपनैर्यासां दृष्टिबाणैर्जितं जगत् ॥ ३६ ॥

इससे साफ प्रगट है कि भरत चक्रवर्तीका विवाह म्लेच्छ कन्याओसे हुआ और वे समस्त म्लेच्छकन्याएँ म्लेच्छराजाओं-की ही नहीं थी; बल्कि इतर म्लेच्छोंकी अर्थात् म्लेच्छराजाओंसे भिन्न दूसरे म्लेच्छोंकी श्रेष्ठ कन्याएँ भी उनमे शामिल थीं, ऐसा "**म्लेच्छराजादिभिर्दत्ताः**" इस पदमें दिए हुए '**आदि**' शब्द-से सूचित होता है ।

—जैनमित्र, २२-४-१९१३

अर्थ-समर्थन

: ३ :

जैनसमाज रस्म, रिवाज और रूढ़ियोंसे कैसा अभिभूत और पददलित है और उसमें रूढ़ियोंपर विवेचन प्रारम्भ होनेकी कितनी सख्त जरूरत है, इस बातको प्रगट करते हुए मैने **'शुभचिह्न'** शीर्षक एक लेख २४ मार्च १६१३ के जैनमित्र अंक नं० १० मे दिया था। इस लेखके अन्तमें कुछ शास्त्रीय प्रमाण पंडित **रघुनाथदासजी सरनऊ** निवासीको, उनके **'शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये'** इस वाक्यके अनुसार, भेंटकिये गये थे और प्रार्थना की गयी थी कि वे निष्पक्ष भावसे उनपर विचार करेंगे। हालमें उक्त पंडितजीने एक लेख वही **'शुभचिह्न'** शीर्षक देकर, ता० १६ जून सन् १६१३ के जैनगजट अंक ३१ मे मुद्रित कराया है। यद्यपि पंडितजीका यह लेख मेरे लेखके उत्तररूप नही है और न इसे स्वतंत्र लेख ही कह सकते हैं, तथापि दोनोंका मिश्रण अवश्य है। इस लेखमें पडितजीने मेरे दिये हुए प्रमाणोमेंसे किसीको अप्रमाण नही ठहराया; प्रत्युत् एक स्थानपर यह लिखकर कि **'हम उन श्लोकोंको प्रमाण मानते हैं'** अपनी स्वीकारताका भाव प्रदर्शित किया है—यह एक सन्तोषकी बात है। परन्तु मेरे दो श्लोकोंके स्पष्ट अर्थको बिना किसी प्रमाणके आपने विपरीत जरूर बतलाया है और साथ ही कुछ और भी खीच-तान की है।

जिन संस्कृतज्ञ विद्वानोने पंडित **रघुनाथदासजीके** उक्त लेखको पढ़ा होगा उन्हें यह देखकर शायद कुछ आश्चर्य हुआ हो कि पंडितजीने किस आधारपर उक्त श्लोकोंके अर्थको विपरीत

ठहराया है। परन्तु देश, काल और समाजकी स्थितिसे परिचित अनुभवी विद्वानोंने तुरन्त ही समझ लिया होगा कि यह सब रूढ़ि-माहात्म्य है। जिस समाजमें प्रवृत्ति-देवीकी खूब उपासना हो रही हो, रूढ़ियोंका प्रबल राज्य हो, रस्म, रिवाज और आम्नायका ही गीत गाया जाता हो, गर्भमें आते ही रूढ़ियोंका दासत्व सिखलाया जाता हो और इसलिये रोम-रोमपर रूढ़ियो-का सिक्का जमा हुआ हो, उस समाजमें ऐसा होना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। रूढ़ियोके चक्करमें पड़कर मनुष्यकी अजीब ही हालत हो जाती है। वह उन्हें निःसार और हानिकारक समझता हुआ भी—उनके कारण अनेक संकट सहता हुआ भी—संस्कारवश उन्हीके प्रेममें बँधा रहता है, उन्हीकी पैरवी करता है अर्थात् उन्हे सत्य-श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है और वीर पुरुषकी तरह एकदम उनका सम्बन्ध छोड़कर इस चक्करसे निकलनेके लिये तैयार नहीं होता है—इसीका नाम रूढ़ि-माहात्म्य है। इसी माहात्म्यके वशवर्त्ती होकर पंडितजीने दो श्लोकोके अर्थको विपरीत बतलाने तथा अन्य खींच-तान करनेकी चेष्टा की है।

पंडितजीके इस लेखसे कुछ भोले भाइयों तथा अन्य प्रवृत्ति-भक्तोंके हृदयमे कुछ भ्रम होना संभव है। अतः उस भ्रमके निरसन करनेके लिये आज यह **'अर्थ-समर्थन'** रूप लेख लिखा जाता है—

"जैनधर्म जैनियोंकी पैतृक सम्पत्ति—जैनियोंका मौरूसी तरका—नही है। यह जीवात्माका निज धर्म होनेसे प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है। मनुष्यमात्र इस धर्मका धारण कर सकता है—जैनियोंको अपनी संकीर्णता और स्वार्थपरता छोड़कर भूमंडलके

ऊँच-नीच सभी प्रकारके मनुष्योंको जैनधर्म बतलाना चाहिये, सभी देशोंमें जैनधर्मका प्रचार करना चाहिये। श्रीजिनवाणीका (जैनशास्त्रोंका) अनेक देशोंकी अनेक भाषाओंमें उल्था होकर वीर-जिनेन्द्रका शुभ समाचार और उनका पवित्र आदेश उन देश-निवासियों तक पहुँचाना चाहिये''—इस आधुनिक आन्दोलनसे अप्रसन्न और रुष्ट होकर उक्त पंडितजीने १७ फरवरी सन् १६१३ के जैन गजट अंक १५ में एक लेख दिया था, जिसका शीर्षक था 'शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये।' पंडितजीके इसी लेखके शीर्षक-वाक्यका अभिनन्दन करते हुए मैंने उपर्युक्त 'शुभचिह्न' शीर्षकलेख जैनमित्रमें दिया था।

पंडितजीने अपने इस १७ फरवरीके लेखमें एक स्थानपर लिखा था कि—

"आगम-विरुद्ध अनुमान नहीं, अनुमानाभास है। आदि-पुराणमें भरत महाराजने १६ स्वप्न देखे, उनमें एक स्वप्न यह है कि म्लेच्छकुलमें राज्य और बड़े कुलके उनकी सेवा करें। दूसरा यह कि वैश्य वर्ण जैनधर्मको धारण करे।"

इस लिखनेसे पंडितजीका अभिप्राय यह सिद्ध करनेका था कि जब यह भविष्यद्वाणी हो चुकी है और शास्त्रोंमें मौजूद है कि 'पंचमकालमें म्लेच्छ कुलमें राज्य रहेगा और वैश्य वर्ण ही जैन-धर्मको धारण करेगा' तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकों-को जैनी बनानेका प्रयत्न करना और यूरोपादि देशोंमें धर्म-प्रचारके लिये जाना बिलकुल व्यर्थ और फिजूल ही नहीं, बल्कि आगमके भी विरुद्ध है। इसमें सफलता प्राप्त होना असंभव है और यदि इन देशोंमें जाकर (जिनको पंडितजी कुग्राम लिखते हैं) बहुत कुछ परिश्रम करनेसे दो-चार, दस-बीस, जैनी बन भी गये

तो ऐसा करना अपनेको इष्ट नहीं है और इसीलिये पंडितजीने अपने लेखमें यह प्रेरणा भी की थी कि **सहस्र लाभ छोड़कर भी इन देशोंमें नहीं जाना चाहिये।**

इसपर मैंने निम्नलिखित रूपसे तीन प्रमाण पंडितजीको भेंट किये थे, जिनका स्पष्ट आशय यह था कि पंडितजीने **आदिपुराणके** हवालेसे **भरतजीके** जिन दो स्वप्नोंका जो फल लिखा है वह बिलकुल गलत है, **आदिपुराणमें** वैसा नहीं लिखा है। इस शास्त्रमें कुछ और ही रूपसे भविष्यद्वाणी की गई है और उसके अनुसार **म्लेच्छ** देशोंमें जाकर जैनधर्मके प्रचार करने की खास जरूरत पाई जाती है। साथ ही **म्लेच्छोंकी** कुलशुद्धिका विधान भी दिया गया है। मेरे वे प्रमाण इस प्रकार थे :—

(१) "५—**भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणमें** लिखते हैं कि, प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले ऐसे अनक्षर **म्लेच्छोंको** कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिये।" जिससे प्रगट है कि **म्लेच्छ** लोग केवल जैनी ही नहीं हो सकते, बल्कि उनकी कुल-शुद्धि भी हो सकती है। यथा :—

> स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
> कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥
>
> (४२—१७९)

(२) ६—उक्त **आदिपुराणमें भरतजीके** आठवें स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है कि—

> शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात्।
> प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु॥
>
> (४१—७२)

अर्थात्—मध्यमें सूखा और किनारोंपर जल लिये हुए ऐसा

तालाब देखनेसे यह फल होगा कि (पंचम कालमें) जैनधर्म आर्यदेशको छोड़कर प्रान्तदेशों (Bordering Countries) में फैलेगा और म्लेच्छ देशोंके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे। इससे प्रगट है कि अन्य दूर देशोंमें जैनधर्मके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है और उसमें कितनी अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है।

(३) ७—उक्त आदिपुराणमें भरतजीके पाँचवें स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है कि पंचमकालमें आदिक्षत्रिय-वंशोंका उच्छेद हो जायगा और उनसे कुछ हीन वश व कुलके मनुष्य पृथ्वीका पालन करेंगे। ऐसा नहीं लिखा कि म्लेच्छ कुलमें ही राज्य होगा। यथा :—

करीन्द्रकन्धरारूढशाखामृगविलोकनात्।
आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां पास्यन्त्यकुलीनकाः॥

(४१-६९)"

अब पंडितजी अपने १६ जूनके लेखमें इन तीनों प्रमाणोंमें से अन्तके दो प्रमाणोके श्लोकोंका अर्थ (विपरीत) बतलाते हैं। सबसे पहले आप अन्तिम श्लोकके अर्थके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखते हैं :—

"अकुलीन शब्दका अर्थ आपने कुछ हीन वंश ग्रहण किया है सो वह कदापि ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरणके अनुकूल शब्दके अर्थोंमेंसे योग्य अर्थ लेते हैं, "शक्यसम्बन्धो लक्षणा" 'अ' शब्द निषेधवाचक व 'ईषत्' किंचित् अर्थ वाचक है।"

बस, इस श्लोकके अर्थ-सम्बन्धमें पंडितजीने इतना ही लिखकर छोड़ दिया है। खंडनके लिये इसीको पर्याप्त समझ लिया है और इतने से ही अर्थ विपरीत सिद्ध हो गया।

पंडितजीके इन उपर्युक्त खंडन-वाक्योंसे इतना तो पता चलता है कि आपको केवल 'अकुलीन' शब्दके अर्थपर ही विवाद है। बाकी अर्थको आप ठीक मानते हैं और साथ ही यह भी पता चलता है कि 'अकुलीन' शब्दका जो अर्थ मैंने किया है वह भी इस शब्दका अर्थ जरूर है—इससे पंडितजीको इन्कार नहीं है। सिर्फ पंडितजीका इतना ही कहना है कि यह प्रकरणके अनुकूल योग्य अर्थ नहीं है। 'अकुलीन' शब्दके अर्थोंमेंसे वह दूसरा योग्य अर्थ कौन-सा है जिसको प्रकरणके अनुकूल ग्रहण करना चाहिये था? इसको बतलानेकी पंडितजीने कोई कृपा नहीं की और न यह ही प्रगट किया कि 'अ' शब्दके जो दो अर्थ (निषेध और ईषत्) आपने बतलाये हैं उनमेंसे यहाँ कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय? परन्तु पाठकोंको खुद ही समझ लेना चाहिये कि पंडितजीका अभिप्राय उसी म्लेच्छ कुलसे है। आप 'अकुलीन' शब्दका अर्थ म्लेच्छ-कुलोत्पन्न ही प्रकरणके अनुकूल समझते हैं, शायद पुनरुक्त दोषके भयसे ही आपने उसे फिर न लिखा हो।

अब देखना इस बातको है कि कौन-सा अर्थ वास्तवमें ठीक और प्रकरणके अनुकूल है? यदि 'अ' का निषेध अर्थ लेकर ही (जो पंडितजीको इष्ट मालूम होता है) अकुलीन शब्दका शब्दार्थ किया जाय तब एक अर्थ तो यह होता है कि कुले भवः 'कुलीनः' जो कुलमे उत्पन्न हो वह कुलीन और जो कुलीन नहीं वह अकुलीन अर्थात् कुलवर्जित। परन्तु यह योग्य अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य ही नही है जो कुल-रहितहो। उत्तम, मध्यम, जघन्य वा ऊँच-नीचादि कुल भेदोंमेंसे कोई न कोई कुल मनुष्यका अवश्य ही होता है। दूसरा अर्थ शब्दकल्पद्रुमके अनुसार रूढ़िसे 'कुलीन' शब्दका अर्थ 'उत्तम

कुलोद्भवः' या 'प्रशस्तवंशे जातः' स्वीकार करनेसे यह होता है कि जो उत्तम कुल या अतिश्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् जो मध्यम वा जघन्य कुलोंमें उत्पन्न हुआ हो। इस अर्थसे भी उसी अर्थका समर्थन होता है जो मैंने जैन मित्रमें दिया था; क्योंकि इसके अनुसार जो उत्तम कुल या अति श्रेष्ठ वंशसे कुछ हीन होगा वह '**कुलीन**' नहीं कहलाएगा, उसे '**अकुलीन**' कहेंगे। आदि क्षत्रिय वंश उत्तम वंश थे उनकी अपेक्षा ही दूसरे वंशोंमें उत्पन्न हुए पुरुषोंको 'अकुलीन' कहा गया है।

असल बात यह है कि उत्तम कुलकी अपेक्षा मध्यम और जघन्य दोनोको अकुलीनताकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु जघन्य कुलोत्पन्नकी अपेक्षा मध्यम कुलोत्पन्नको **अकुलीन** नहीं कह सकते—उसे तब **कुलीन** ही कहना होगा। इसी प्रकार मध्यमके बहुतसे भेद हो सकते हैं। उन्हें परस्पर अपेक्षासे ही उच्च और नीच कह सकते हैं। लोकमें भी ऐसा ही व्यवहार है। एक ही जाति और गोत्रके एक मनुष्यको बड़े कुल, बड़े खान्दान और बड़े घरानेका पुकारते हैं और दूसरेको छोटे, मामूली या साधारण कुल, खान्दान और घरानेका कहते हैं। ऊँच-नीच कुल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों ही में नहीं, बल्कि शूद्रों और म्लेच्छों तकमें भी पाये जाते हैं। कुलके ये समस्त भेद-प्रभेद अपेक्षाकृत ही होते हैं। आचार्य महोदयने इसी अपेक्षाको लेकर ही '**अकुलीन**' शब्दका प्रयोग किया है। उनके इस लिखनेसे कि (आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां पास्यन्त्यकुलीनकाः) आदिक्षत्रिय वंशोंका उच्छेद होकर **अकुलीन** पृथ्वीका पालन करेंगे यही आशय व्यक्त होता है कि जब **इक्ष्वाकुवंश, कुरुवंश, हरिवंश**

और नाथवंशादिक प्राचीन क्षत्रिय **वंशोंका** जो कि उत्तम और सर्वश्रेष्ठ वंश थे, उच्छेद हो जायगा अर्थात् उनका कोई वंशधर न रहेगा, तब उनसे दूसरे दर्जेपर घटिया और हीन वंशके क्षत्रिय ही पृथ्वीका पालन करेंगे, क्षत्रियोंका ही धर्म पृथ्वीका पालन करना है। इसलिये यही अर्थ ठीक और प्रकरणके अनुकूल जँचता है कि "**पंचमकालमें आदि क्षत्रियवंशोंका उच्छेद हो जायगा और उनसे कुछ हीन वंश वा कुलके मनुष्य पृथ्वीका पालन करेंगे।**" नही मालूम पंडितजीने यह कहाँसे निर्धारित किया है कि **म्लेच्छ कुलमें ही राज्य होगा**? और न यही मालूम होता है कि **बड़े कुलके उनकी सेवा करें**। यह अर्थ पंडितजीने कौनसे शब्दोंका निकाला है? अथवा पंडितजी किन कुलोंको बड़े कुल और किनको छोटे कुल समझते हैं?

यदि पंडितजी अपनी इच्छानुसार **म्लेच्छकुलमें** ही राज्यका होना मानेंगे तब उन्हें पंचमकालमें होनेवाले महाराजा **चामुंडराय, चन्द्रगुप्त, अमोघवर्ष, शिवकोटि, सिन्धुल, भोज, राजकुमार, शुभचन्द्र, राजा कुमारपाल** तथा दक्षिण कर्नाटक और महाराष्ट्र देशके अन्य जैन राजा—सभीको म्लेच्छ कुलोत्पन्न कहना पड़ेगा, परन्तु ऐसा नही है। न ये लोग म्लेच्छ थे और न म्लेच्छ-कुलोत्पन्न, बल्कि श्रेष्ठ वंशोंके उत्पन्न हुए राजा थे और इनमेसे कईने **जिन-दीक्षा** भी धारण की है। अफसोस! पंडितजीने इसका कुछ भी खयाल नही किया और वैसे ही बिना सोचे-समझे आँख बन्द करके लिख मारा।

दूसरे श्लोकके **अर्थ-सन्बन्धमें** पंडितजीने जो कुछ लिखा है उससे मालूम होता है कि आप इस श्लोकके अर्थसे बहुत ही विचलित हुए हैं। आपने **'प्रत्यन्त'** शब्दका अर्थ नही समझा,

इतना ही नहीं बल्कि 'प्रत्यन्त' शब्दके अर्थका (म्लेच्छ देशका) अर्थ भी आप नहीं समझ सके हैं और इसलिये आपको एकदम यहाँ तक जोश आ गया है कि आपने बिना प्रयोजन भरतक्षेत्रके खंडोंकी चौड़ाई तक लिख डाली और साथ ही योजनोंके कोस और गज भी बना डाले। इसी जोशमें आकर पंडितजी अपनेको जैन भूगोलका मर्मी समझते हुए एक स्थानपर लिखते हैं कि 'बाबू साहबने जैनका भूगोल नहीं देखा', अस्तु इसके लिये मुझे कुछ कहने या लिखनेकी जरूरत नहीं है। संभव है कि मैंने जैनका भूगोल न देखा हो और अब पंडितजीके प्रसादसे ही मुझे उसका ज्ञान प्राप्त हो जाय। परन्तु पंडितजीसे मेरा इतना निवेदन जरूर है कि वे कृपाकर इस बातको अवश्य बतलाएँ कि मेरे उस लेखमें 'म्लेच्छखंड' शब्द कहाँ पर आया है ? और मैंने उसमें किस स्थानपर किन देशोंको म्लेच्छखंड माना है ? जिसके कारण आपको यह लिखनेकी तकलीफ उठानी पड़ी कि 'जिनको बाबू साहबने म्लेच्छखंड मान लिया सो म्लेच्छखंड नहीं, वरन क्षेत्र आर्यखंड व जीव-वध करने, मांसादि खानेसे कर्मम्लेच्छ हैं'। प्रत्येक पाठक जैनमित्र अंक १० को देखकर मालूम कर सकते हैं कि मेरे उक्त लेखमें कहीं भी 'म्लेच्छखंड' का नाम व निशान नही है और न किसी स्थानपर उसमें यह स्वीकार किया गया है कि अमुक-अमुक देश म्लेच्छखड हैं। फिर नही मालूम पंडितजीने किस आधारपर ऐसा असत्य लिखनेका साहस किया है ? शायद पंडितजीने यह समझा हो कि म्लेच्छखंडों ही में म्लेच्छदेश होते हैं, आर्यखंडमें म्लेच्छदेश नहीं होते। और इसीलिये आपने अपनी कल्पनासे म्लेच्छदेशको म्लेच्छखंडमें परिवर्तित (तबदील) कर दिया हो। यदि ऐसा हुआ है तो पंडितजीने बड़ी भारी भूल की

है, **आर्यखंडमें** आर्य और म्लेच्छ दोनों प्रकारके मनुष्य निवास करते हैं। जिस प्रकार **आर्यखंडमें** आर्यदेश हैं उसी प्रकार कुछ म्लेच्छदेश भी हैं और कुछ मिश्रदेश ऐसे हैं जिनमें आर्य और म्लेच्छ दोनों निवास करते हैं। शास्त्रोंमें म्लेच्छोंके मुख्य तीन भेद वर्णन किये हैं :—(१) आर्यखंडोद्भव, (२) म्लेच्छखंडोद्भव* और (३) अन्तर-द्वीपज। आर्यखंडोद्भव (आर्यखडमें उत्पन्न होनेवाले) म्लेच्छोंके भेद शक, यवन, शबर, पुलिन्दादिक हैं। जैसा कि स्वामी **अमृत-चंद्राचार्यके** निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है :—

"आर्यखंडोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखडोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥ २१२ ॥"

(तत्त्वार्थसार)

आर्यखडके जिन देशोंमें प्रायः आर्यखंडोद्भव म्लेच्छ निवास करते हैं उन देशोंको म्लेच्छ देश कहते हैं। म्लेच्छ देशोंका सद्भाव आर्यखंडमें पहलेही से चला आता है। **भगवज्जिन-सेनाचार्य**-प्रणीत **आदिपुराणके** देखनेसे मालूम होता है कि जिस समय चतुर्थ कालके आदिमें **कोशल** आदि महादेशोंकी स्थापना हुई थी उसी समय कुछ म्लेच्छ देश भी स्वतन्त्र रूपसे स्थापित किये गये थे। इस ग्रन्थके १६ वे पर्वमें उन **कोशलादि** देशोंका नामादिक देकर उनके अन्तराल देशोंका वर्णन इस प्रकार किया है :—

"तदन्तरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः।
लुब्धकारण्यक-चरक-पुलिन्द-शबरादिभिः ॥ १६१ ॥

---

* इन दोनोंका एक नाम 'कर्मभूमिज' भी है।

अर्थात्—कोशलादिक देशोंके सिवाय उनके अन्तराल[1] देश भी स्थापित हुए थे, जिनमें लुब्धक, आरण्यक, चरक, पुलिन्द और शबरादिक लोग निवास करते थे। शास्त्रोंमें पुलिन्द और शबरादिकको म्लेच्छ वर्णन किया है। जैसा कि स्वामी अकलंकदेव प्रणीत राजवार्तिकके इस वाक्यसे प्रगट है कि 'शकयवनशबरपुलिन्दादयः म्लेच्छाः' अर्थात् शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोग म्लेच्छ होते हैं। जिन देशों में प्रायः ऐसे ही लोग निवास करते हैं वे म्लेच्छ देश कहलाते हैं। इसलिये ये पुलिन्द और शबरादिकके देश भी म्लेच्छ देश थे और इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यखंडमें पहले भी म्लेच्छोंके कुछ देश अलग थे।

पंडितजीका अपने लेखमें बिना किसी प्रमाणके यह लिखना कि 'म्लेच्छोंकी शबर, विलाल, भील और चांडाल जातियाँ पंचमकालमें ही होती हैं' बिलकुल गलत मालूम होता है। क्योंकि ऊपर उद्धृत किये हुए आदिपुराणके श्लोकसे यह साफ विदित हो रहा है कि चतुर्थकालके आदिमें भी शबर और पुलिन्दादिक जातियाँ मौजूद थी। इसके सिवाय चतुर्थकाल-सम्बधिनी सैकड़ों कथाओंमें भील और चांडालोंका जिक्र पाया जाता है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि वे पंचमकालमें ही पैदा होती हैं? इसी प्रकार पंडितजीका यह लिखना भी गलत मालूम होता है कि 'वर्तमान भूगोलके जितने देश हैं वे आर्य थे, काल-दोषसे धर्मभ्रष्ट होनेसे भीलादि कहलाने लगे।' क्योंकि ऊपरके कथनसे प्रगट है कि ये सब देश आर्य नहीं थे और चतुर्थकालमें भी यहाँ भीलादिक लोग मौजूद थे। इसके सिवाय आदिपुराणमें

---

१. सरहदी देश अर्थात् एक देशकी सीमासे दूसरे देशकी सीमा तक दरम्यान देश।

यह भी लिखा है कि 'भरत चक्रवर्तीको दिग्विजयके समय आर्य-खंडमें और महागंगाके इस पारके किनारेपर पहुँचनेसे पहले भी ऐसे नगर मिले थे, जिनमें म्लेच्छ लोग रहते थे और वहाँके म्लेच्छ राजाओंने चक्रवर्तीका अनेक प्रकारकी भेट देकर, सम्मान किया था। इस प्रकरणके दो श्लोक इस प्रकार हैं :—

"पुलिन्दकन्यकाः सैन्यसमालोकन-विस्मिताः।
अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः॥ ४१॥
चमरीबालकान् केचित्केचित्कस्तूरिकाण्डकान्।
प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः॥ ४२॥"
(आदि० पर्व २८)

अर्थात्—भरत चक्रवर्तीने दूरसे म्लेच्छोंकी उन कन्याओंको देखा जो स्वभावसे ही सुन्दराकार थीं और चक्रवर्तीकी सेनाको देखकर विस्मित हो रही थीं। इस प्रान्तके म्लेच्छ राजाओंमेंसे कुछने चमरीबाल और कुछने कस्तूरिका (मुश्कनाफे) भेंटके तौरपर पेश करके चक्रवर्तीके दर्शन किये। इससे प्रगट है कि चतुर्थकालमें भरत चक्रवर्तीके समयमें भी आर्यखंडमें म्लेच्छ देश मौजूद थे और उनमे म्लेच्छ राजा राज्य करते थे।

इन सब प्रमाणोंके सिवाय पंडितजीको इतना और समझना चाहिये कि यदि आर्यखंडका समस्त क्षेत्र आर्य ही होता (जैसा कि आप लिखते हैं) और उसमे म्लेच्छ देश न होते तो 'क्षेत्रार्याः' का लक्षण वर्णन करते हुए स्वामी अकलंकदेव राजवार्तिकमें सिर्फ इतना ही लिख देते कि 'आर्यखंडे जाताः क्षेत्रार्याः' अर्थात् जो आर्यखंडमे उत्पन्न हों वे क्षेत्रार्य कहलाते हैं। परन्तु आचार्य महोदयने ऐसा लक्षण न लिखकर यह लक्षण लिखा है कि 'काशीकोशलादिषु जाताः क्षेत्रार्याः' अर्थात् जो काशी, कोशला-

दिक देशोंमें उत्पन्न हों वे क्षेत्रार्य (क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य) कहलाते हैं। इससे साफ जाहिर है कि आर्यखंडका समस्त क्षेत्र आर्य नहीं है, बल्कि उसमें काशी, कोशलादिक देशोंको ही आर्यदेशत्वकी प्राप्ति है। इनके सिवा आर्यखंडमें जो अन्य देश हैं वे म्लेच्छ देश हैं। उन्ही म्लेच्छ देशोंका भगवज्जिनसेनाचार्यने उक्त श्लोकमें 'प्रत्यन्त' शब्द करके ग्रहण किया है। भरत क्षेत्रके जिन पाँच खंडोंको जैनियोंने म्लेच्छखंड माना है उन खंडोंके म्लेच्छदेश धर्म-कर्मके अयोग्य हैं, उन्हें शास्त्रोंमें धर्म-कर्मकी अभूमि[1] वर्णन किया है, वहाँ धर्मका प्रचार नहीं हो सकता। इसलिये उनका यहाँ ग्रहण नहीं है। नहीं मालूम, पंडितजी 'म्लेच्छदेश' का अर्थ लगानेमें अपनी उस लक्षणा और शक्य-सम्बन्ध वगैरहको क्यों भूल गये? जिसका आपने 'अकुलीन' शब्दके अर्थपर विचार करते हुए स्मरण किया था। यदि पंडितजीको उनका स्मरण हो आता तो शायद आपको इतनी दूर व्यर्थ ही उन म्लेच्छखंडोंके पीछे न दौड़ना पड़ता, जिनके मार्गादिकका आजकल कुछ भी पता नही है। वहाँ जाकर धर्मका प्रचार करना तो कैसे बन सकता है? परन्तु वास्तवमें बात कुछ और ही है। पंडितजीको अभी तक यह मालूम नही था कि आर्यखंडमे भी म्लेच्छदेश होते हैं, इसीसे उनको म्लेच्छखंडोंका भ्रम हुआ है। अब ऊपरके प्रमाणोंसे पंडितजीको स्पष्ट हो

---

१. जैसा कि आदिपुराणमें भरतजीकी म्लेच्छखंड सम्बन्धिनी दिग्विजयका वर्णन करते हुए लिखा है :—

> इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्।
> म्लेच्छराजबलैः सार्धं सेनानीर्न्यवृतत्पुनः॥
>
> —पर्व ३१, श्लोक १४२

जायगा कि आर्यखंडमें भी म्लेच्छदेश होते हैं और उन्हीं म्लेच्छ-देशोंके सम्बन्धमें लिखनेका अभिप्राय था ।

अब विवादस्थ श्लोकके अर्थविषयको लीजिये, पंडितजी ने स्पष्ट अर्थको छिपाते हुए बड़े संकोचके साथ, अपने लेखमें इस श्लोकके उत्तरार्धका अर्थात्—

"प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिपु ।"

इस वाक्यका जो अर्थ दिया है वह इस प्रकार है :—

"पंचम कालमें जैनधर्म आर्यखंडके मध्यस्थलको छोड़कर अन्त किनारेपर थोड़े क्षेत्रमें रहेगा ।"

पडितजीके इस अर्थसे यह मालूम नही होता कि आपने '**आर्यखंडके मध्यस्थल**' यह अर्थ कौनसे शब्दोंका ग्रहण किया है ? और इस मध्यस्थलकी व्याप्ति किन देशों तक है ? इसी प्रकार यह भी मालूम नही होता कि '**अन्त किनारेपर थोड़े क्षेत्रमें**' ऐसा अर्थ कौनसे शब्दोंका किया गया है ? और किन-किन देशोंका इस थोड़े क्षेत्रमे अन्तर्भाव है ? अथवा '**किनारे**' शब्द से पडितजीने आर्यखंडके अन्तिम जल-भागको ग्रहण किया है या स्थल-भागको ? यदि पडितजी मूल श्लोकके शब्दोंका ठीक अर्थ न लिखकर भी अपने अर्थमें इन अन्य समस्त बातोंका भी स्पष्टीकरण कर देते, तब भी पाठकोंको आपका आशय मालूम पड़ जाता, परन्तु पंडितजीने दूसरेके अर्थका खंडन करनेके लिये लेखनी उठाकर भी ऐसा नहीं किया । इससे मालूम होता है कि पंडितजीने जान-बूझकर असलियतको छिपानेकी चेष्टा की है और यह सूचित करना चाहा है कि 'आर्यखंडके समस्त देश आर्य ही होते हैं, और इसलिये जब जैनधर्म पंचम कालमें आर्यखंडके मध्यस्थलको छोड़ देगा तब किनारेके आर्यदेशोंमें ही रहेगा—परन्तु ऐसा नहीं

है और न इस प्रकार छिपानेसे असलियत छिपा करती है। मूल श्लोकमें साफ तौरपर '**आर्यनिवासात्**' पद आया है, जिसका स्पष्ट अर्थ है 'आर्यदेशसे' और '**प्रच्युत्य**' शब्दका अर्थ है '**च्युत होकर**' दोनोंका अर्थ हुआ 'आर्यदेशसे च्युत होकर' अर्थात् 'आर्यदेशको छोड़कर। यह अर्थ नहीं होता कि '**आर्यखंडके मध्यस्थलको छोड़-कर।**' यदि पंडितजी यह कहें कि हम आर्यखंडके मध्यस्थल ही को आर्यदेश समझते हैं और इसीलिये हमने '**आर्यदेशके**' स्थानमें '**आर्यखंडका मध्यस्थल**' यह पद प्रयुक्त किया है। तब पंडितजीको खुद ही यह मानना पड़ेगा कि मध्यस्थलके सिवाय जो इतर स्थल (किनारा वगैरह) है वह आर्यदेश नहीं है, बल्कि अनार्य वा म्लेच्छदेश है और प्रायः उसी देशके निवासियोंमें जैनधर्म पंचम कालमें रहेगा। परन्तु पंडितजी चाहे कुछ मानें या न मानें, आचार्य महोदयने मूल श्लोकमें '**स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु**' यह पद देकर इस बातको बिलकुल साफ कर दिया है कि **म्लेच्छदेशके** निवासियोंमें जैनधर्म रहेगा अर्थात् पंचम कालमें **म्लेच्छ** देशोंके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे। '**प्रत्यन्त**' शब्दका अर्थ है म्लेच्छदेश। इस अर्थकी यथार्थता जाननेके लिये कहीं दूर जानेकी जरूरत नहीं है; पाठकगण **अमरकोश** उठाकर ही देख सकते हैं। उसके द्वितीय काण्डके सप्तम श्लोकमें साफ लिखा है :—

"प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात् ......" अर्थात् 'प्रत्यन्त' म्लेच्छदेशको कहते है या यों कहिये कि 'प्रत्यन्त' और 'म्लेच्छ-देश' दोनों एकार्थवाची हैं। इसके सिवाय **शब्दकल्पद्रुम** और श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित **अभिधानचिंतामणिमे** भी ऐसा ही लिखा है। यथा :—

'**प्रत्यन्तः म्लेच्छदेशः**'

(**शब्दकल्पद्रुमः**)

'प्रत्यन्तो म्लेच्छमंडलम्' ॥९५२॥
(अभिधानचिंतामणिः)

वामन शिवराम आप्टे एम० ए० कृत संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरीमें भी लिखा है कि 'प्रत्यन्त' खास तौरपर उस देशको कहते हैं जिसमें अनार्य या म्लेच्छ लोग रहते हों। यथा :—

'प्रत्यन्तः' A bordering country aspecially a country occupied by barbarins or malechchhas.

इन सब प्रमाणोंके सिवाय खुद भगवज्जिनसेनाचार्यने **आदि-पुराण**में अन्य स्थलोंपर भी 'प्रत्यन्त' शब्दको म्लेच्छदेशोंके लिये व्यवहृत किया है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रगट है :—

"इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात्प्रत्यन्तपालकान्।
विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः॥" (३१-१५५)
"हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यन्तपालान् जयन्।
सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां षट्खण्डभूषां महीम्॥
(३२-१९८)

"कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः।
प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवात्सुः कृतसंश्रयाः॥" (३७-७०)

इस प्रकार अनेक प्रमाणोंसे यह भली प्रकार सिद्ध है कि 'प्रत्यन्त' शब्दका अर्थ म्लेच्छदेश है। 'प्रत्यन्त' शब्दके साथ 'वासिन्' शब्द लगा हुआ है, जिसका अर्थ है '**निवासी**'। दोनोंका एक समास होकर सप्तमीके बहुवचनमे '**प्रत्यन्तवासिषु**' ऐसा रूप बना है, जिसका अर्थ होता है 'म्लेच्छदेशोंके निवासियोंमें' और इसलिये पूरे वाक्यका यह अर्थ हुआ कि 'जैनधर्म आर्य-देशसे च्युत होकर म्लेच्छदेशोके निवासियोंमें रहेगा अर्थात् (पंचम कालमें) जैनधर्म प्रायः आर्यदेशको छोड़कर प्रान्त देशोंमें

फैलेगा---म्लेच्छ देशोंके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे'---यही अर्थ ठीक है। पंडितजीने असलियतको छिपाकर जो अर्थका गोल-माल किया है और स्पष्ट अर्थको विपरीत बतलानेका जो साहस किया है वह ठीक नहीं किया। उन्हें खूब समझ लेना चाहिये कि अब जमाना अन्धेरेका नहीं है और न जबानी जमाखर्चका---इस प्रकारका गोलमाल अब आगे नहीं चल सकेगा। अब आचार्योंके मूल वाक्योंपरसे ही अर्थका विवेचन और अवधारण हुआ करेगा; रूढ़ियाँ या सुनी-सुनाई बातें नहीं मानी जायँगीं। मूल शास्त्रोंको देखकर लेख लिखे जाने चाहिये, प्रमाणमें उनके वाक्य उद्धृत करने चाहिये; वैसे ही अपने खयालके मुवाफिक अटकलके तीर मार देना या अनुचित साहस कर बैठना मुनासिब नही है।

—जैनमित्र १७-८-१९१३

विवाह-क्षेत्र-प्रकाश

प्राथमिक निवेदन

सन् १९१८ में, 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामसे मैंने एक लेख-माला प्रारंभ की थी और उस समय सबसे पहले एक छोटा-सा लेख सेठ चारुदत्तके उदाहरणको लेकर लिखा गया था, जो अक्तूबर सन् १९१८ के 'सत्योदय' में प्रकाशित हुआ और जिसमे जाति-बिरादरीके लोगोंको पतित भाइयोंके प्रति अपने-अपने व्यवहार तथा बर्तावमें कुछ शिक्षा ग्रहण करनेकी प्रेरणा की गई थी। उसके बाद, वसुदेवजीके उदाहरणको लेकर, दूसरा लेख लिखा गया और उसमें विवाह-विषयपर कितना ही प्रकाश डाला गया। यह लेख सबसे पहले अप्रैल सन् १९१९ के 'सत्योदय' में, और बादको सितम्बर सन् १९२० के 'जैनहितैषी' पत्रमें भी प्रकाशित हुआ था। इन्हीं दोनों लेखोंको आगे-पीछे संग्रह करके, ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ, दरीबाकलाँ, देहलीने 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामसे एक पुस्तक प्रकाशित की और उसे बिना मूल्य वितरण किया है। इस पुस्तक-पर जैन अनाथाश्रम देहलीके प्रचारक पं० मक्खनलालजीने एक समालोचना (!) लिखकर उसे पुस्तककी शकलमें प्रकाशित कराया है, और वे उसका जोरोंके साथ प्रचार कर रहे हैं। प्रचारकजीकी वह समालोचना कितनी नि:सार, निर्मूल, निर्हेतुक, बेतुकी और समालोचकके कर्त्तव्योंसे गिरी हुई है, और उसके द्वारा कितना अधिक भ्रम फैलाने तथा सत्यपर पर्दा डालनेकी जघन्य चेष्टा की गई है, इन सब बातोंको अच्छी तरहसे बतलाने

और जनताको मिथ्या तथा अविचारितरम्य समालोचनासे उत्पन्न होनेवाले भ्रमसे सुरक्षित रखनेके लिये ही यह उत्तर-लेख लिखा जाता है। इससे विवाह-विषयपर और भी ज्यादा प्रकाश पड़ेगा---वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा---और उसे इस उत्तर-का आनुषंगिक फल समझना चाहिये।

सबसे पहले, मैं अपने पाठकोंसे यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जिस समय प्रचारकजीकी उक्त समालोचना-पुस्तक मुझे पहले-पहल देखनेको मिली और उसमें समालोच्य पुस्तककी बाबत यह पढ़ा गया कि वह "अत्यन्त मिथ्या, शास्त्रविरुद्ध और महापुरुषोंको केवल झूठा कलंक लगानेवाली" तथा "अस्पृश्य"[१] है और उसमें "बिल्कुल झूठ," "मनगढंत," "सर्वथा मिथ्या और शास्त्रविरुद्ध" कथाएँ लिखकर अथवा "सफेद झूठ" या "भारी झूठ" बोलकर "धोखा" दिया गया है, तो मेरे आश्चर्य-की सीमा नहीं रही। क्योंकि, मैं अब तक जो कुछ लिखता रहा हूँ वह यथाशक्ति और यथासाधन बहुत-कुछ जाँच-पड़तालके बाद लिखता रहा हूँ। यद्यपि मेरा यह दावा नहीं है कि मुझसे भूल नही हो सकती, भूल जरूर हो सकती है और मेरा कोई विचार अथवा नतीजा भी ग़लत हो सकता है; परन्तु यह मुझसे नहीं हो सकता कि मैं जानबूझकर कोई ग़लत उल्लेख करूँ अथवा किसी बातके असली रूपको छिपाकर उसे नकली या बनावटी शकलमें पाठकोंके सामने उपस्थित करूँ। अपने लेखोंकी ऐसी प्रकृति और परिणतिका मुझे सदा ही गर्व रहता है। मैं सत्य

---

१. समालोचकजी खुद पुस्तकको छूते हैं, दूसरोंको पढ़ने-छूनेके लिये देते हैं, कितनी ही बार श्रीमन्दिरजीमें भी उसे ले गये, परन्तु फिर भी अस्पृश्य बतलाते हैं ! 'किमाश्चर्यमतः परम्' !!

बातको कभी छिपाना नहीं चाहता—अवसर मिलनेपर उसे बड़ी निर्भयताके साथ प्रगट कर देता हूँ—और असत्य उल्लेखका सख्त विरोधी हूँ। ऐसी हालतमें उक्त समालोचनाको पढ़कर मेरा आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था।

मुझे यह खयाल पैदा हुआ कि कहीं अनजानमें मेरेसे कोई ग़लत उल्लेख तो नही हो गया, यदि ऐसा हुआ हो तो फ़ौरन अपनी भूलको स्वीकार करना चाहिये, और इसलिये मैंने बड़ी सावधानीसे अपनी पुस्तकके साथ समालोचनाकी पुस्तकको खूब ही ग़ौरसे पढ़ा और उल्लेखित ग्रन्थों आदिपरसे उसकी यथेष्ट जाँच-पड़ताल भी की। अन्तको मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि समालोच्य पुस्तकमे एक भी ऐसी बात नहीं है जो खास तौरपर आपत्तिके योग्य हो। जिनसेनाचार्य-कृत हरिवंशपुराणके अनुसार, **'देवकी'** अवश्य ही वसुदेवकी 'भतीजी' थी, परन्तु उसे "सगी भतीजी" लिखना यह समालोचकजीकी निजी कल्पना और उनकी अपनी उपज है—लेखकसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; **'जरा'** जरूर म्लेच्छकन्या थी और म्लेच्छोंका वही आचार है जो **आदिपुराणमें** वर्णित हुआ है; **'प्रियंगुसुन्दरी'** एक व्यभिचारजातकी ही पुत्री थी, और **'रोहिणी'**के वरमाला डालनेके वक्त तक **'वसुदेव'**के कुल और उनकी जातिका वहाँ (स्वयंवरमें) किसीको कोई पता नहीं था। वे एक अपरिचित तथा बाजा बजानेवालेके रूपमें ही उपस्थित थे। साथ ही, **चारुदत्त** सेठका **वसंतसेना** वेश्याको अपनी स्त्री बना लेना भी सत्य है। और इन सब बातोंको आगे चलकर खूब स्पष्ट किया जायगा।

अन्यथाकथन और समालोचकके कर्त्तव्यका अनिर्वाह

समालोचनामें पुस्तकपर बड़ी बेरहमीके साथ कुन्दी छुरी ही

नहीं चलाई गई, बल्कि सत्यका बुरी तरहसे गला घोटा गया है, पुस्तकके उद्देश्यपर एकदम पानी फेर दिया है, उसे समालोचनामें दिखलाया तक भी नहीं, उसका अपलाप करके अथवा उसको बदल कर अपने ही कल्पित रूपमें उसे पाठकोंके सामने रक्खा गया है और इस तरह समालोचकके कर्त्तव्योंसे गिरकर, बड़ी धृष्टताके साथ समालोचनाका रंग जमाया गया है! अथवा यों कहिये कि भोले भाइयोंको फँसाने और उन्हें पथभ्रष्ट करनेके लिये खासा जाल बिछाया गया है। यह सब देखकर, समालोचकजीकी बुद्धि और परिणतिपर बड़ी ही दया आती है। आपने पुस्तक-लेखकके परिणामोंका फोटू खींचनेके लिये समालोचनाके पृष्ठ ३९-४० पर, "जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं" इत्यादि रूपसे कुछ वाक्योंको भी उद्धृत किया है, परन्तु वे वाक्य आगे-पीछेके सम्बन्धको छोड़कर ऐसे खण्डरूपमें उद्धृत किये गये हैं जिनसे उनका असली मतलब प्रायः गुम हो जाता है और वे एक असम्बद्ध प्रलाप-सा जान पड़ते हैं। यदि समालोचकजीने प्रत्येक लेखके अन्तमें दिये हुए उदाहरणके विवेचन अथवा उसके शिक्षा-भागको ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया होता तो वे अपने पाठकोंको पुस्तकके आशय तथा उद्देश्यका अच्छा ज्ञान कराते हुए उन्हें लेखकके तज्जन्य विचारोंका भी कितना ही परिचय करा सकते थे; परन्तु जान पड़ता है उन्हें वैसा करना इष्ट नहीं था, वैसा करनेपर समालोचनाका सारा रंग ही फीका पड़ जाता अथवा उन अधिकांश कल्पित बातोंकी सारी कलई ही खुल जाती, जिन्हें प्रकृत पुस्तकके आधारपर लेखकके विचारों या उद्देश्योंके रूपमें नामांकित किया गया है। इसीसे उक्त विवेचन अथवा शिक्षा-भागपर, जो आधी पुस्तकके बराबर होते हुए भी सारी

पुस्तककी जान थी, कोई समालोचना नहीं की गई, सिर्फ उन असम्बद्ध खण्डवाक्योंको देकर इतना ही लिख दिया है कि—

"बाबू साहबके उपर्युक्त वाक्योंसे आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि उनका हृदय कैसा है और वह समाजमें कैसी प्रवृत्ति चलाना (गोत्र-जाति-पांति, नीच-ऊँच, भंगी, चमार, चांडालादि भेद मेटकर हर एकके साथ विवाहकी प्रवृत्ति करना) चाहते हैं"।

इन पंक्तियोंमें समालोचकने, ब्रैकटके भीतर, जिस प्रवृत्तिका उल्लेख किया है उसे ही लेखककी पुस्तकका ध्येय अथवा उद्देश्य प्रकट करते हुए वे आगे लिखते हैं :—

"उपर्युक्त प्रवृत्तिको चलानेके लिये ही बाबू साहबने वसुदेवजीके विवाहकी चार घटनाओंका (जो कि बिलकुल झूठ हैं) उल्लेख करके पुस्तकको समाप्त कर दिया था लेकिन फिर बाबू साहबको खयाल आया कि भतीजीके साथ भी शादी उचित बता दी तथा नीच, भील और व्यभिचारजात दस्सोंके साथ भी जायज बता दी किन्तु वेश्या तो रह ही गई, यह सोचकर आपने फिर शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरणका दूसरा हिस्सा लिखा और खूब ही वेश्यागमनकी शिक्षा दी है"।

इसी तरहके और भी कितने ही वाक्य समालोचना-पुस्तकमें जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं, जिनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

(१) "लेकिन बाबूजीको लोगोंके लिए यह दिखलाना था कि भतीजीके साथ विवाह करनेमें कोई हानि नहीं है"। (पृ० ४)

(२) "उन्हें (बाबू साहबको) तो जिस तिस तरह अपना मतलब बनाना है और कामवासनाकी हवस मिटानेके लिये यदि बाहरसे कोई कन्या न मिले तो अपनी ही बहिन, भतीजी आदिके साथ विवाह कर लेनेकी आज्ञा दे देना है।" (पृ० ११)

(३) [देवकीकी कथासे] "यह सिद्ध करना चाहा है कि विवाहमें जाति-गोत्रका पचड़ा व्यर्थ है । यदि कामवासनाकी हवस पूरी करनेके लिये अन्य गोत्रकी कन्या न मिले तो फिर अपनी ही बहिन, भतीजी आदिसे विवाह कर लेनेमें कोई हानि नहीं है ।" (पृ० ३७)

(४) "जराकी कथासे आप सिद्ध करना चाहते हैं कि भंगी, चमार आदि नीच मनुष्य व शूद्रोके साथ ही विवाह कर लेनेमें कोई हानि नहीं है ।" (पृ० ३८)

(५) "बाबू साहबको तो लोगोको भ्रममें डालकर और सबको वेश्यागमनका खुल्लम-खुल्ला उपदेश देकर अपनी हवस पूरी करना है उन्हे इतनी लम्बी समझसे क्या काम ।" (पृ० ४५-४६)

(६) "बाबू साहबने जो चारुदत्तकी कथासे वेश्या तकको घरमें डाल लेनेकी प्रवृत्ति चलाना चाहा है, यह प्रवृत्ति सर्वथा धर्म और लोकविरुद्ध है । ऐसी प्रवृत्तिसे पवित्र जैनधर्मको कलङ्क लग जायगा ।" (पृ० ४६)

(७) "लाला जौहरीमलजी जैन सर्राफ सरीखे कुछ मनचले लोगोंने······बाबू जुगलकिशोरजीके लिखे अनुसार "गृहस्थके लिये स्त्रीकी जरूरत होनेके कारण चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये" इसी उद्देश्यको उचित समझा" (भूमिका)

अब देखना चाहिये कि इन सब वाक्योंके द्वारा पुस्तकके प्रतिपाद्य विषय, आशय, उद्देश्य और लेखकके तज्जन्य विचारों आदिके सम्बन्धमें जो घोषणा की गई है वह कहाँ तक सत्य है—दोनों लेखोंपरसे उसकी कोई उपलब्धि होती है या कि नहीं—और यह तभी बन सकता है अथवा इस विषयका अच्छा अनुभव पाठकोंको तभी हो सकता है जबकि उनके सामने प्रत्येक लेखका

वह अंश मौजूद हो जिसमें उस लेखके उदाहरणका नतीजा निकाला गया या उससे निकलनेवाली शिक्षाको प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ पर उन दोनों अंशोंका उद्धृत किया जाना बहुत ही जरूरी जान पड़ता है।

पहले लेखमें, वसुदेवजीके विवाहोंकी चार घटनाओंका—देवकी, जरा, प्रियंगुसुन्दरी और रोहिणीके साथ होनेवाले विवाहोंका उल्लेख करके और यह बतलाकर कि ये चारों प्रकारके विवाह उस समयके अनुकूल होते हुए भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल है, जो नतीजा निकाला गया अथवा जिस शिक्षाका उल्लेख किया गया है वह निम्न प्रकार है, और लेखके इस अंशमें वे सब खंड-वाक्य भी आ जाते हैं जिन्हें समालोचकजीने समालोचनाके पृष्ठ ३६-४० पर उद्धृत किया है :—

"इन चारों घटनाओंको लिये हुए वसुदेवजीके एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोंको[1] आदिपुराणके उपर्य्युल्लिखित वाक्योंके[2] साथ मिलाकर

१. वसुदेवजीके वे वचन, जो पुस्तकके पृष्ठ ८ पर उद्धृत हैं और जिनमें स्वयंवर विवाहके नियमको सूचित किया गया हैं, इस प्रकार हैं :—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥ ११—७१॥

—जिनदासकृत हरिवंशपुराण

अर्थात्—स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसंद होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन; क्योंकि स्वयवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नही होता।

२. आदिपुराणके वे पृष्ठ ९ पर उद्धृत हुए वाक्य इस प्रकार हैं—

"सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥ ४४—३२॥

पढ़नेसे विवाह-विषयपर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुद-ब-खुद (स्वयमेव) हल हो जाती हैं। इस उदाहरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रचलित रीति-रिवाजोंको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्तवचन समझे हुए हैं अथवा जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं कि उन्हे गणित-शास्त्रके नियमोंकी तरह अटल सिद्धांत समझते हैं और इसलिये उनमें जरा भी फेरफार करना जिन्हें रुचिकर नहीं होता; जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन करना मान बैठे हैं, जिन्हें विवाहमे कुछ संख्या-प्रमाण गोत्रोंके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जानेका भय लगा हुआ है; इससे भी अधिक जो एक ही धर्म और एक ही आचार के मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खण्डेल-वाल आदि समान जातियोंमें भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते हैं—पातक अथवा पतनकी शङ्कासे

"तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पनाः।
कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥ ४५—५४॥
मार्गांश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥ ४५—५५॥

इनमेंसे पहले पद्यमें स्वयंवर-विधिको 'सनातन मार्ग' लिखनेके साथ-साथ उसे सम्पूर्ण विवाह-विधानोंमे सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है और पिछले दोनों पद्योंमें, जो भरत चक्रवर्तीकी ओरसे कहे गये पद्य हैं, यह सूचित किया गया है कि युगके आदिमें राजा अकम्पनद्वारा इस विवाह-विधि (स्वयंवर) का सबसे पहले अनुष्ठान होनेपर भरत चक्रवर्तीने उसका अभिनन्दन किया था और उन लोगोंको सत्पुरुषों-द्वारा पूज्य ठहराया था, जो ऐसे सनातन मार्गोंका पुनरुद्धार करें।

जिनका हृदय सन्तप्त है—और जो अपनी एक जातिमें भी आठ-आठ गोत्रों तकको टालनेके चक्करमें पड़े हुए हैं।

ऐसे लोगोको **वसुदेवजी**का उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बंधी वर्तमान रीति-रिवाजोंका मिलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमे नहीं रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ और अटल सिद्धांत नहीं होते, उनमें समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तनकी जरूरत हुआ करती है। इसी जरूरतने **वसुदेवजी**के समय और वर्तमान समयमें जमीन आसमानका-सा अन्तर डाल दिया है। यदि ऐसा न होता तो **वसुदेवजी**के समयके विवाहसम्बधी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते; जैसे कि वे उस समय देखे जाते थे। परन्तु ऐसा नही है और इसलिए कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवान्की आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नहीं थे और न हो सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें, यों कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोंको सर्वज्ञ-प्रणीत, सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त—माना जाय तो यह कहना पड़ेगा कि **वसुदेवजी**ने प्रतिकूल आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लंघन किया है। ऐसी हालतमें आचार्योद्वारा उनका यशोगान नहीं होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलङ्कित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नही हुआ और न होना चाहिये था, क्योंकि शास्त्रोद्वारा उस समयके मनुष्योंकी प्राय: ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे **वसुदेवजी**पर कोई कलङ्क नही आ सकता।

तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकलके सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित

नहीं हैं ? ऐसा कहने पर आजकलके रीति-रिवाजोंको एकदम उठाकर उनके स्थानमें वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा, बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोंको कलङ्कित और दोषी भी ठहराना होगा, जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमें वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तक पहुँचे। परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दुःसाहस मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्ति-युक्त ही प्रतीत होता है। इसलिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञभाषित नहीं थे। वास्तवमें गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है :—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है[1]। विवाह-कर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है—लौकिक जनोंकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके अधीन है—लौकिक जनोंकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमे नहीं रहा करती। वह देश-कालकी आवश्यकताओंके अनुसार, कभी पञ्चायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोके उदाहरणोंको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमें प्रायः कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न-भिन्न देशो, समयों और जातियोके विवाह-विधानोंमें बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है।

एक समय था जब इसी भारतभूमिपर सगे भाई-बहिन भी

---

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥—सोमदेवः।

परस्पर स्त्री-पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरनेपर उनके लिये नियमसे देवगतिका विधान किया गया है[1]। फिर वह समय भी आया, जब उक्त प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र-तो-गोत्र एक कुटुम्बमें विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नहीं किन्तु म्लेच्छो तककी कन्याओंसे विवाह करना भी अनुचित नहीं माना गया। साथ ही, मामा-फूफीकी कन्याओंसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके बाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोंका भी निषेध प्रारम्भ हुआ, उनमें भी दोष निकलने लगे--पापोंकी कल्पनायें होने लगीं--और वे सब बदलते-बदलते वर्तमानके ढाँचेमें ढल गईं। इस अर्सेमें सैकड़ो नवीन जातियों, उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना सङ्कीर्ण बन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता बहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही और क्षतिका अनुभव कर रही है--उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी-कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोंके चङ्गुलमे फँसकर संसारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई हैं--इससे अब वर्तमान रीति-रिवाजोके विरुद्ध भी आवाज उठनी शुरू हो गई है। समय उनका भी परिवर्तन चाहता है।

संक्षेपमें यदि सम्पूर्ण जगत्के भिन्न-भिन्न देशो, समयों और जातियोंके कुछ थोड़े-थोड़ेसे ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाह-विधानोंमें हजारो प्रकारके भेद-उपभेद और परिवर्त्तन

१. यह कथन उस समयका है जबकि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

दृष्टिगोचर होंगे, और इसलिये कहना होगा कि यह सब समय-समयकी ज़रूरतों, देश-देशकी आवश्यकताओं और जाति-जातिके पारस्परिक व्यवहारोंका नतीजा है; अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिको न समझकर एक ही स्थानपर खड़े रहते हैं और अपनी पोज़ीशन (Position) को नहीं बदलते—स्थितिको नहीं सुधारते—वे निःसन्देह काल-चक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते हैं अथवा संसारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इस सब कथनसे अथवा इतने ही संकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोंका बहुत कुछ रहस्य समझमें आ सकता है। साथ ही, यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते हैं। ऐसी हालतमें विवाह जैसे लौकिक धर्मों और सांसारिक व्यवहारोंके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूंढ़-खोज लगाना कि आगममें किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है। कहा भी है—

"संसार-व्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथाऽऽगमः[१]।"

अर्थात्—संसारका व्यवहार स्वतःसिद्ध होनेसे उसके लिये आगमकी जरूरत नहीं।

वस्तुतः आगम-ग्रन्थोंमें इस प्रकारके लौकिक धर्मों और लोकाश्रित विधानोका कोई क्रम निर्द्धारित नहीं होता। वे सब लोकप्रवृत्तिपर अवलम्बित रहते हैं। हाँ, कुछ **त्रिवर्णाचारों** जैसे अनार्ष ग्रन्थोंमें विवाह-विधानोंका वर्णन जरूर पाया जाता है। परन्तु वे आगम ग्रन्थ नही हैं—उन्हे आप्त भगवान्‌के वचन नहीं कह सकते और न वे आप्तवचनानुसार लिखे गये हैं—इतनेपर

---

१. यह श्रीसोमदेव आचार्य्यका वचन है।

भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेंसे बिलकुल ही जाली और बनावटी हैं; जैसा कि **'जिनसेनत्रिवर्णाचार'** और **'भद्रबाहुसंहिता'** के परीक्षा-लेखों से प्रगट हैं[1]। वास्तवमें ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ हैं। इनमे प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीति-रिवाजोंका उल्लेख मात्र समझना चाहिये, अथवा यो कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्त्ताओंको उस प्रकारके रीति-रिवाजोंको प्रचलित करना इष्ट था। इससे अधिक उन्हें और कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जासकता—वे आजकल प्रायः इतने ही कामके हैं—एक-देशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होनेसे उनका शासन सार्व-देशिक और सार्वकालिक नही हो सकता। अर्थात्, सर्व देशो और सर्व समयोके मनुष्योके लिये वे समानरूपसे उपयोगी नही हो सकते। और इसलिये केवल उनके आधारपर चलना कभी युक्ति-संगत नही कहला सकता।

विवाह-विषयमे आगमका मूल विधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थाश्रमका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आमतौरपर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी जरूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन-किन सम्बन्धोंसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिये अथवा किस तरहपर और किस प्रकारके विधानोके साथ विवाह-कर लानी चाहिये, इन सब बातोमें आगम प्रायः कुछ भी हस्तक्षेप नही करता। ये सब विधान लोकाश्रित हैं, आगमसे इनका प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। यह दूसरी बात है कि आगममें किसी घटना-विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख

---

१. ये सब लेख **'ग्रन्थपरीक्षा'** नामसे पहले जैनहितैषी पत्रमें प्रकाशित हुए थे, बादको अलग पुस्तकाकार भी छप गये हैं।

आजाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय, परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नहीं बन जाते—ऐसे कोई नियम नहीं हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्वदेशों और सर्व समयोंके मनुष्यों-के लिये बराबर जरूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना जरूर है कि आगमकी दृष्टिमें सिर्फ वे ही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती हैं जो जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों, अथवा जिनके कारण जैनियोंकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) में बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमें ही कोई दूषण लगता हो। इस दृष्टिको सुरक्षित रखते हुए, जैनी लोग प्रायः सभी लौकिक विधियोंको खुशीसे स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्तमान रीति-रिवाजोंमें देशकालानुसार यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं[1]। उनके लिये इसमें कोई बाधक नही है। अस्तु।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीन कालके विवाह-विधानोंकी विभिन्नता, उनका देश-कालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोका रहस्य, इन सब बातोंका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमें आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञ-भाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नही हैं कि जिनका परिवर्त्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो। हम, अपने सिद्धान्तोका विरोध न करते हुए, देश-काल और जातिकी आवश्यकताओंके अनुसार उन्हें हर वक्त बदल सकते हैं, वे सब हमारे ही कायम किये हुए नियम हैं और इसलिए हमें उनके बदलनेका

---

१. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥—सोमदेव।

स्वतः अधिकार प्राप्त है। इन्ही सब बातोंको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमें यह लेख लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और विवाहतत्त्वको समझ कर, जिसके समझनेके लिये 'विवाह-समुद्देश्य' नामक निबन्ध[१] भी साथमें पढ़ना विशेष उपकारी होगा, अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोंमे यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होंगे। और इस तरह कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिर-काल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रक्खेंगे।''

लेखके इस अंश अथवा शिक्षा-भागसे स्पष्ट है कि लेखका प्रतिपाद्य विषय, आशय और उद्देश्य वह नहीं है जो समालो-चकजीने प्रकट किया है—इसमें कही भी यह प्रतिपादन नहीं किया गया और न ऐसा कोई विधान किया गया है कि गोत्र, जाति-पाति, नीच-ऊँच, भंगी, चमार, चाण्डालादिके भेदोंको उठा देना चाहिये, उन्हें मेटकर हरएकके साथ विवाह कर लेना चाहिये, चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये, अथवा भंगी, चमार आदि नीच मनुष्योंके साथ विवाह कर लेनेमे कोई हानि नही है; और न कहींपर यह दिखलाया गया अथवा ऐसी कोई आज्ञा दी गई है कि आजकल अपनी ही बहिन-भतीजीके साथ विवाह करलेनेमें कोई क्षति नही है, अन्य गोत्रकी कन्या न मिलनेपर उसे कर लेना चाहिये—बल्कि बहुत स्पष्ट शब्दोंमें वसुदेवजीके समय और इस समयके रीति-रिवाजों—विवाह-विधानोमे—''जमीन आसमानका-सा अन्तर'' बतलाते हुए, उन-पर एक खासा विवेचन उपस्थित किया गया है और उसमें

---

१. यह निबन्ध अब युगवीर-निबन्धावली प्रथम खण्डमे प्रकाशित हो गया है।

रीति-रिवाजोंकी स्थिति, उनके देशकालानुसार परिवर्तन तथा लौकिक धर्मोंके रहस्यको सूचित किया गया है। साथ ही, यह बतलाया गया है कि "वर्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञ-भाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नहीं है कि जिनका परिवर्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो, हम अपने सिद्धान्तोंका विरोध न करते हुए देश-काल और जातिकी आवश्यकताओंके अनुसार उन्हें हर वक्त बदल सकते हैं, वे सब हमारे ही कायम किये हुए नियम हैं और इसलिये हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है।" परन्तु उनमें क्या कुछ परिवर्तन अथवा तबदीली होनी चाहिये, इसपर लेखकने अपनी कोई राय नही दी। सिर्फ इतना ही सूचित किया है कि वह परिवर्तन (फेरफार) "यथोचित" होना चाहिये, और 'यथोचित' की परिभाषा वही हो सकती है जिसे "आगमकी दृष्टि" बतलाया गया है और जिसे सुरक्षित रखते हुए परिवर्तन करनेकी प्रेरणा की गई है।

इसके सिवाय, **वसुदेवजीके समयके** विवाह-विधानोंकी इस समयके लिये कहींपर भी कोई हिमायत नहीं की गई, बल्कि "ऐसा नहीं है" इत्यादि शब्दोंके द्वारा उनके विषयमे यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि वे आजकल स्थिर नहीं हैं और न उस उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं जिससे कि वे उस समय देखे जाते थे और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नही थे और न हो सकते हैं। जो लोग **वसुदेवजीके** समयके रीति-रिवाजोको सर्वज्ञप्रणीत और वर्तमान रीति-रिवाजोंको असर्वज्ञभाषित कहते हों और इस तरह अपने उन पूर्वजोंको कलंकित तथा दोषी ठहराते हों जिनके

कारण वसुदेवजीके समयके वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमें वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए, उन्हें लक्ष्य करके साफ़ लिखा गया है कि उनका "ऐसा कहना और ठहराना दु:साहस मात्र होगा, वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्ति-युक्त ही प्रतीत होता है ।" इससे लेखमें वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाजोंकी कोई खास हिमायत नहीं की गई, यह और भी स्पष्ट हो जाता है । केवल प्राचीन और अर्वाचीन रीति-रिवाजोंमे बहुत बड़े अन्तरको दिखलाने, उसे दिखलाकर, रीति-रिवाजोंकी असलियत, उनकी परिवर्तनशीलता और लौकिक धर्मोके रहस्यपर एक अच्छा विवेचन उपस्थित करने और उसके द्वारा वर्त्तमान रीति-रिवाजोमे यथोचित परिवर्तनको समुचित ठहरानेके लिये ही वसुदेवजीके उदाहरणमें उनके जीवनकी इन चार घटनाओंको चुना गया था । इससे अधिक लेखमें उनका और कुछ भी उपयोग नही था । और इसीसे लेखके अन्तमें लिखा गया था कि—

"इन्ही सब बातोंको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमें यह लेख लिखा गया है ।"

लेखकी ऐसी स्पष्ट हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समालोचकजीने अपने उक्त वाक्यो और उन्ही जैसे दूसरे वाक्यों-द्वारा भी पुस्तकके जिस आशय, उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य विषयकी घोषणा की है वह पुस्तकसे बाहरकी चीज है—प्रकृत लेखसे उसका कोई सम्बन्ध नही है—और इसलिये उसे समालोचक द्वारा परिकल्पित अथवा उन्हीकी मन:प्रसूत समझना चाहिये । जान पड़ता है वे अपनी नासमझीसे अथवा किसी तीव्र कषायके वशवर्ती होकर ही ऐसा करनेमें प्रवृत्त हुए हैं । परन्तु किसी भी

कारणसे सही, इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने ऐसा करके समालोचकके कर्त्तव्यका निर्वाह नहीं किया है। समालोचकका यह धर्म नहीं है कि वह अपनी तरफ़से कुछ बातें खड़ी करके उन्हें समालोच्य पुस्तककी बातें प्रकट करे, उनके आधारपर अपनी समालोचनाका रंग जमाए और इस तरह पाठकों तथा सर्वसाधारणको धोखेमें डाले। समालोचकका कर्त्तव्य है कि पुस्तकमें जो बात जिस रूपसे कही गई है उसे प्रायः उसी रूपमें पाठकोंके सामने रक्खे और फिर उसके गुण-दोषोंपर चाहे जितना विवेचन उपस्थित करे; उसे समालोच्य पुस्तककी सीमाके भीतर रहना चाहिये—उससे बाहर कदापि नही जाना चाहिये—उसका यह अधिकार नहीं है कि जो बात पुस्तकमें विधि या निषेध रूपसे कहीं भी नहीं कही गई उसकी भी समालोचना करे अथवा पुस्तकसे घृणा उत्पन्न करानेके लिये पुस्तकके नामपर उसका स्वयं प्रयोग करे—उसे एक हथियार बनाए। भंगी, चमार और चांडालका नाम तक भी पुस्तकमें कही नही है, फिर भी पुस्तकके नामपर उनके विवाह की जो बात कही गई है वह ऐसी ही घृणोत्पादक दृष्टि अथवा अनधिकार चेष्टाका फल है। भूमिकामें एक वाक्य "बाबू जुगलकिशोरजीके लिखे अनुसार" इन शब्दोंके अनन्तर निम्न प्रकारसे डबल कामाजके भीतर दिया है और इस तरह उसे लेखकका वाक्य प्रकट किया है—

"गृहस्थके लिये स्त्रीकी जरूरत होनेके कारण चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये।"

परन्तु समालोच्य पुस्तकमें यह वाक्य कहीं पर भी नही है, और न लेखककी किसी दूसरी पुस्तक अथवा लेखमें ही पाया जाता है; और इसलिये इसे समालोचकजीकी सत्यवादिता और

अकूटलेखकताका एक दूसरा नमूना समझना चाहिये ! जान पड़ता है आप ऐसे ही सत्यके अनुयायी अथवा भक्त हैं ! और इसीलिये दूसरोंका नग्न सत्य भी आपको सर्वथा मिथ्या और सफेद झूठ नजर आता है।

यह तो हुई पहले लेखके शिक्षांशकी बात, अब दूसरे लेखके शिक्षांशको लीजिये।

द्वितीय लेखका उद्देश्य और उसका स्पष्टीकरण

समालोचकजीने पहले लेखके उदाहरणांशोको जिस प्रकार अपनी समालोचनामें उद्धृत किया है उस प्रकारसे दूसरे लेखके उदाहरणाशको उद्धृत नही किया और इसलिये यहाँ पर इस दूसरे छोटे-से लेखको पूरा उद्धृत कर देना ही ज्यादा उचित मालूम होता है, और वह इस प्रकार है :—

"**हरिवंशपुराणादि** जैनकथाग्रन्थोंमे **चारुदत्त** सेठकी एक प्रसिद्ध कथा है। यह सेठ जिस वेश्यापर आसक्त होकर वर्षोंतक उसके घरपर, बिना किसी भोजन-पानादि-सम्बन्धी भेदके, एकत्र रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी सम्पूर्ण धन-संपत्तिको भी गँवा बैठा था उसका नाम **'वसन्तसेना'** था। इस वेश्याकी माताने, जिस समय धनाभावके कारण **चारुदत्त** सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जनके लिये विदेश चला गया उस समय **वसन्तसेनाने**, अपनी माताके बहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना संबंध जोड़ना उचित नहीं समझा और तब वह अपनी माताके घरका ही परित्याग कर **चारुदत्त**के पीछे उसके घरपर चली गई।

चारुदत्तके कुटुम्बियोंने भी **वसन्तसेना**को आश्रय देनेमें कोई आना-कानी नहीं की। **वसन्तसेनाने** उनके समुदार आश्रयमें

रहकर एक आर्यिकाके पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी नीच परिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई; और वह चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई निःसंकोच भावसे उनके घरपर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धन-सम्पत्तिका स्वामी बनकर विदेशसे अपने घरपर वापिस आया और उसे वसन्तसेनाके स्वगृहपर रहने आदिका हाल मालूम हुआ तब उसने बड़े हर्षके साथ वसन्तसेनाको अपनाया—उसे अपनी स्त्रीरूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्य पर—एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको खुल्लमखुल्ला घरमें डाल लेनेके अपराध-पर—उस समयकी जाति-बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नहीं किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया। वह श्रीनेमिनाथ भगवानके चचा वसुदेवजी-जैसे प्रतिष्ठित पुरुषोंसे भी प्रशंसित और सम्मानित रहा। और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह अन्तको उसके दिगम्बर मुनि तक होनेमें भी कुछ बाधक न हो सकी। इस तरह एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्व्यवहारके कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपने उद्धारका अवसर मिला।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण-कर सकते हैं जो अपने अनुदार विचारोंके कारण जरा-जरा-सी बातपर अपने जाति-भाइयोंको जातिसे च्युत करके—उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके—उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरह अपनी जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल और निःसत्त्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोंको संघशक्तिका

रहस्य जानना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकारसे हो सकती है। यदि उस समयकी जाति-बिरादरी उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपनेमें आश्रय न देकर उन्हें अपनेसे पृथक् कर देती, घृणाकी दृष्टिसे देखती और इस प्रकार उन्हें सुधरनेका कोई अवसर न देती तो अन्तमें उक्त दोनों व्यक्तियोका जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता। अतः ऐसे अवसरोंपर जाति-बिरादरीके लोगोंको सोच-समझकर, बडी दूरदर्शिताके साथ काम करना चाहिये। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हे कम-से-कम पतितोंके उद्धारमें बाधक तो न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित-जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ।"

पाठक-जन देखे और खूब गौरसे देखें, यही वह लेख है जिसकी बाबत समालोचकजीने प्रकट किया है कि उसमें खूब ही वेश्यागमनकी शिक्षा दी गई और सबको उसका खुल्लम-खुल्ला उपदेश दिया गया है, अथवा उसके द्वारा वेश्या तकको घरमें डालनेकी प्रवृत्ति चलाना चाहा गया है। वेश्यागमनकी खूब ही शिक्षा और उपदेश देना तो दूर रहा, लेखमें एक भी शब्द ऐसा नही है जिसके द्वारा वेश्यागमनका अनुमोदन या अभिनंदन किया गया हो अथवा उसे शुभकर्म बतलाया गया हो। प्रत्युत इसके, चारुदत्त और उस वेश्याको "दो व्यसनासक्त व्यक्ति" तथा "पतित-जन" सूचित किया है, वेश्याको "नीच स्त्री" और उसकी पूर्व परिणतिको (१२ व्रतोके ग्रहणसे पहले वेश्याजीवनकी अवस्थाको) "नीच परिणति" बतलाया है और एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको खुल्लमखुल्ला घरमें डाल लेनेके

कर्मको "अपराध" शब्दसे अभिहित किया है। साथ ही, उदाहरणांश और शिक्षांशमें दिये हुए दो वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्ति अपने उद्धारसे पहले पतित-दशामें थे, बिगड़े हुए थे और उनका जीवन अधार्मिक था; एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्-व्यवहारके कारण उन्हें अपने 'उद्धार' तथा 'सुधार' का अवसर मिला और उनका जीवन अन्तमें 'धार्मिक' बन गया।

इतने पर भी समालोचकजी उक्त लेखमें वेश्यागमनके महोपदेशका स्वप्न देख रहे हैं और एक ऐसे व्यक्तिपर वेश्यागमनका उपदेश देकर अपनी हवस पूरी करनेका मिथ्या आरोप (इलजाम) लगा रहे हैं जो २५ वर्षसे भी पहलेसे वेश्याओंके नृत्य देखने तकका त्यागी है—उसके लिये प्रतिज्ञाबद्ध है—और ऐसे विवाहोमें शामिल नही होता जिनमे वेश्याएँ नचाई जाती हों। समालोचकजीकी इस बुद्धि, परिणति, सत्यवादिता और समालोचकीय कर्त्तव्य-पालनकी नि.सन्देह बलिहारी है। जान पड़ता है आप एकदम ही बहक उठे हैं और उचितानुचितको भूल गये हैं।

रही वेश्याको घरमें डालनेकी प्रवृत्ति चलानेकी बात। यद्यपि किसी घटनाका केवल उल्लेख करनेसे ही यह लाजिमी नही होता कि उसका लेखक वैसी प्रवृत्ति चलाना चाहता है, तथापि उस उल्लेखमात्रसे ही यदि वैसी प्रवृत्तिकी इच्छाका होना लाजिमी मान लिया जाय तो समालोचकजीको कहना होगा कि श्री**जिनसेनाचार्यने** एक मनुष्यके जोते-जी उसकी स्त्रीको घरमें डाल लेनेकी, दूसरेकी कन्याको हर लानेकी और वेश्यासे विवाह कर लेनेकी भी प्रवृत्तिको चलाना चाहा है, क्योंकि उन्होंने अपने

हरिवंशपुराणमें ऐसा उल्लेख किया है कि राजा **सुमुखने वीरक** सेठके जीते-जी उसकी स्त्री '**वनमाला**' को अपने घरमें डाल लिया था, **कृष्णजी रुक्मिणीको** हर कर लाये थे, और **अमोघदर्शन** राजाके पुत्र **चारुचन्द्रने** '**कामपताका**' नामकी वेश्याके साथ अपना विवाह किया था। यदि सचमुच ही इन घटनाओंके उल्लेखमात्रसे **श्रीजिनसेनाचार्य**, समालोचकजीकी समझके अनुसार, वैसी इच्छा-के अपराधी ठहरते हैं तो लेखक भी जरूर अपराधी है और उसे अपने उस अपराधके लिये जरा भी चिन्ता तथा पश्चात्ताप करनेकी जरूरत नही है । और यदि समालोचकजी **जिनसेनाचार्य**-पर अथवा उन्ही जैसे उल्लेख करनेवाले और भी कितने ही आचार्यो तथा विद्वानोपर वैसी प्रवृत्ति चलानेका आरोप लगानेके लिये तैयार नही हैं—उसे अनुचित समझते हैं—तो लेखकपर उनका वैसा आरोप लगाना किसी तरह भी न्याय-संगत नहीं हो सकता । वास्तवमें यह लेख न तो वैसे किसी आशय या उद्देश्यसे लिखा गया है और न उसके किसी शब्दपरसे ही वैसा आशय या उद्देश्य व्यक्त होता है जैसा कि समालोचकजोने प्रकट किया है । लेखका स्पष्ट उद्देश्य उसके शिक्षांशमें बहुत थोड़े-से जँचे-तुले शब्दों द्वारा सूचित किया गया है, और उनपरसे हर एक विचारशील यह नतीजा निकाल सकता है कि वह जाति-बिरा-दरीके आधुनिक दण्ड-विधानोको लक्ष्य करके लिखा गया है।

जाति-पंचायतोंका दण्ड-विधान

आजकल, हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारोंके कारण जरा-जरा-सी बातपर अपने जाति-भाइयोंको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज करके उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके—उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरहसे

अपनी जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल और निःसत्त्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोंको चारुदत्तके इस उदाहरण-द्वारा यह चेतावनी दी गई है कि वे दण्ड-विधानके ऐसे अवसरोंपर बहुत ही सोच-समझ, गहरे विचार तथा दूरदर्शितासे काम लिया करें। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हें कम-से-कम पतितोके उद्धारमें बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित-जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ। किसी पतित भाईके उद्धारकी चिन्ता न करके उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोंको भी छीन लेना ऐसा ही कर्म है जिससे वह पतित भाई, अपने सुधारका अवसर न पाकर, और भी ज्यादा पतित हो जाय, अथवा यों कहिये कि वह डूबतेको ठोकर मारकर शीघ्र डुबो देनेके समान है। तिरस्कारसे प्रायः कभी किसीका सुधार नहीं होता, उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ़ हो जाता है और तिरस्कारीके प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ़ जाती है जो जन्म-जन्मान्तरोंमे अनेक दुःखों तथा कष्टोंका कारण होती हुई दोनोंके उन्नति-पथमें बाधा उपस्थित कर देती है।

हाँ, सुधार होता है प्रेम, उपकार और सद्व्यवहार से। यदि चारुदत्तके कुटुम्बीजन, अपने इन गुणों और उदार परिणतिके कारण, वसन्तसेनाको चारुदत्तके पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते, बल्कि यह कहकर दुत्कार देते कि 'इस पापिनीने हमारे चारुदत्तका सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नहीं देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वारपर खड़े ही होने देना चाहिये,'

तो बहुत संभव था कि वह निराश्रित दशामें अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्तिके लिये मजबूर होती और तब उसका वह सुन्दर श्राविकाका जीवन न बन पाता जो उन लोगोंके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका है। इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहारको अपनाना चाहिये, उसकी नितान्त आवश्यकता है। पापी-से-पापीका भी सुधार हो सकता है, परन्तु सुधारक होना चाहिये। ऐसा कोई भी पुरुष नही है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो, परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगानेवाला अथवा उसकी योग्यतासे काम लेनेवाला 'योजक' होना चाहिये। उसीका मिलना कठिन है। इसीसे नीतिकारोने कहा है—

"अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।"

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह उसके व्यक्तित्वके प्रति भारी घृणा और तिरस्कारके भावको प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये, वह स्वयं उसका सुधार करनेके लिये असमर्थ है, अयोग्य है और उसमे योजक-शक्ति नही है। साथ ही, इस कृतिके द्वारा वह सर्व-साधारणमे अपनी उस अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है, इतना ही नही बल्कि अपनी स्वार्थ साधनाको भी प्रकट कर रही है। ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका, जो अपनेको थाम भी नही सकती, क्रमशः पतन होना कुछ भी अस्वाभाविक नही है। पापीका सुधार वही कर सकता है जो पापीके व्यक्तित्व-से घृणा नही करता, बल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करनेवाला पापीके पास नही फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोंके बीचमें मीलोंकी दूरी हो जाती है; इससे वह

पापीका कभी कुछ सुधार या उपकार नहीं कर सकता। प्रत्युत इसके, जो पापसे घृणा नहीं करता है वह सद्वैद्यकी तरह हमेशा पापी (रोगी) के निकट होता है, और बराबर उसके पापरोग-को दूर करनेका यत्न करता रहता है। यही दोनोमें भारी अन्तर है।

आजकल अधिकांश जन पापसे तो घृणा नहीं करते, परन्तु पापीसे घृणाका भाव जरूर दिखलाते हैं अथवा घृणा करते हैं। इसीसे संसारमे पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और उसकी शाति होनेमें नही आती। बहुधा जाति-बिरादरियों अथवा पचायतोकी प्राय: ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति-भाइयोंको पापकर्मसे तो नही रोकतीं और न उनके मार्गमे कोई अर्गला ही उपस्थित करती हैं; बल्कि यह कहती हैं कि 'तुम सिंगिल (इकहरा) पाप मत करो बल्कि डबल (दोहरा) पाप करो—डबल पाप करनेसे तुम्हे कोई दण्ड नहीं मिलेगा; परन्तु सिंगिल पाप करनेपर तुम जातिसे खारिज कर दिये जाओगे।' अर्थात्, वे अपने व्यवहारसे उन्हे यह शिक्षा दे रही हैं कि 'तुम चाहे जितना बड़ा पाप करो, हम तुम्हें पाप करनेसे नही रोकतीं, परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नहीं किया—पापको छिपाकर करो और उसे छिपानेके लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य भाषणादि दूसरा पाप करना पड़े उसकी तुम्हे छूट है—तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो, परन्तु वह स्थूल रूपमें किसीपर जाहिर न हो, भले ही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमें किसी स्त्रीको रख लो, परन्तु उसके साथ विवाह मत करो; और यदि तुम्हारे फेल (कर्म) से किसी विधवाको गर्भ रह जाय तो खुशीसे उसकी भ्रूणहत्या कर डालो

अथवा बालकको प्रसव कराकर उसे कहीं जंगल आदिमें डाल आओ या मार डालो, परन्तु खुले रूपमें जाति-बिरादरीके सामने यह बात न आने दो कि तुमने उस विधवाके साथ सम्बन्ध किया है, इसीमें तुम्हारी खैर है—मुक्ति है—और नहीं तो जातिसे खारिज कर दिये जाओगे।' जाति-बिरादरियों अथवा पंचायतों-की ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आजकल भारतवर्षका और उसमे भी उच्च कहलानेवाली जातियोंका बहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो रहा है। ऐसी हालतमें पापियोंका सुधार और पतितोंका उद्धार कौन करे; यह एक बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है।

एक बात और भी नोट किये जानेके योग्य है और वह यह कि यदि कोई मनुष्य पाप-कर्म करके पतित होता है तो उसके लिये इस बातकी खास जरूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये अधिक धर्म करे, उसे ज्यादा धर्मकी ओर लगाया जाय और अधिक धर्म करनेका मौका दिया जाय; परन्तु आजकल कुछ जैन-जातियों और जैन-पंचायतोंकी ऐसी उलटी रीति पाई जाती है कि वे ऐसे लोगोंको धर्म करनेसे रोकती हैं—उन्हे जिनमन्दिरोंमें जाने नही देतीं अथवा वीतराग भगवानकी पूजा-प्रक्षालन नही करने देती और-और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारोपर खड़ी कर देती हैं। समझमें नहीं आता यह कैसी पापोंसे घृणा और धर्मसे प्रीति अथवा पतितोंके उद्धार-की इच्छा है!! और किसी बिरादरी या पंचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोंमे हस्तक्षेप करनेका क्या अधिकार है!!

जैनियोंमें **'अविरत-सम्यग्दृष्टि'** का भी एक दर्जा (चतुर्थ गुणस्थान) है, और **अविरतसम्यग्दृष्टि** उसे कहते हैं जो

इंद्रियोंके विषयों तथा त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं होता—अथवा यों कहिये कि इंद्रिय-संयम और प्राणि-संयम नामक दोनों संयमोंमेंसे किसी भी संयमका धारक नही होता—परन्तु जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें श्रद्धा जरूर रखता है[1]। ऐसे लोग भी जब जैन होते हैं और सिद्धान्ततः जैनमन्दिरोंमें जाने तथा जिनपूजनादि करनेके अधिकारी हैं[2] तब एक श्रावकसे, जो जैनधर्मका श्रद्धानी है, चारित्रमोहिनीय कर्मके तीव्र उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत-सम्यग्दृष्टिसे और ज्यादा क्या खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे मन्दिरमें जाने आदिसे रोका जाता है। जान पड़ता है इस प्रकारके दड-विधान केवल नासमझी और पारस्परिक कषाय भावोंसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्यथा, जैनधर्ममें तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चांडालपुत्रको भी 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है—और उसे उस अंगारके सदृश प्रतिपादन किया है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता[3]। इसीसे बहुत प्राचीन समयमे, जब कि जैनियोंका हृदय

---

१. णो इंदयेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥—गोम्मटसार

२. जिनपूजाके कौन-कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजाधिकार मीमांसा' से जानना चाहिये। (देखो, इस निबन्धावलीका प्रथमखण्ड)

३. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥
—रत्नकरण्डक, स्वामिसमन्तभद्र

सच्ची धर्मभावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रच्छायाके नीचे सभी लोग एकत्र होते थे, मातंग (चाण्डाल) भी जैनमंदिरोंमे जाया करते थे और भगवानका दर्शन-पूजन करके अपना जन्म सफल किया करते थे। इस विषयका एक अच्छा उल्लेख श्री**जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराण**मे पाया जाता है जो इस प्रकार है :

सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूटजिनालयम् ।
एकदा वंदितुं सोऽपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तंभानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तंभमाश्रितः ।
कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥ ४ ॥
पृष्ट्या वसुदेवेन ततो मदनवेगया ।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिताः ॥ ५ ॥
अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः ।
मातंगानामपि स्वामिन्निकायान शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥
नीलांबुदचयश्यामा नीलांबरवरस्रजः ।
अमी मातंगनामानो मातंगस्तंभसंगताः ॥ १५ ॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणुविधूसराः ।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तंभमाश्रिताः ॥ १६ ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयंत्यंबराणि ये ।
पाण्डुरस्तंभमेत्यामी स्थिताः पाण्डुकखेचराः ॥ १७ ॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः ।
कानीलस्तंभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥ १८ ॥
पिंगलैर्मूर्ध्वजैर्युक्तास्तप्तकांचनभूषणाः ।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रितास्तंभं श्वपाकिनः ॥ १९ ॥

पत्रपर्णांशुकच्छन्न-विचित्रमुकुटस्रजः ।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वतं स्तंभमाश्रिताः ॥ २० ॥
वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वंशस्तंभाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥ २१ ॥
महाभुजगशोभांकसंदष्टवरभूषणाः ।
वृक्षमूलमहास्तंभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः ॥ २२ ॥
स्ववेषकृतसंचाराः स्वचिह्नकृतभूषणाः ।
समासेन समाख्याता निकायाः खचरोद्गताः ॥ २३ ॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तरः ।
शौरिर्यातो निजं स्थानं खेचराश्च यथायथम्" ॥ २४ ॥

—२६ वाँ सर्ग ।

इन पद्योंका अनुवाद पं० गजाधरलालजीने, अपने भाषा हरिवंशपुराणमें,[1] निम्न प्रकार दिया है :

"एकदिन समस्त विद्याधर अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ सिद्धकूट चैत्यालयकी वंदनार्थ गये। कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदनवेगाके साथ चल दिये ॥२॥ सिद्धकूटपर जाकर चित्र-विचित्र वेषोंके धारण करनेवाले विद्याधरोंने सानन्द भगवानकी पूजा की, चैत्यालयको नमस्कार किया एवं अपने-अपने स्तम्भोंका सहारा ले जुदे-जुदे स्थानोंपर बैठ गये ॥३॥ कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोंके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजा की और अपनी गौरी-विद्याओं-के स्तंभका सहारा ले बैठ गये ॥४॥ कुमारको विद्याधरोंकी जातिके जाननेकी उत्कंठा हुई इसलिये उन्होंने उनके विषयमें

---

१ देखो, इस हरिवंशपुराणका सन् १९१६ का छपा हुआ संस्करण, पृष्ठ २८४, २८५ ।

प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरोंकी जातियोंका इस प्रकार वर्णन करने लगी—

"प्रभो ! ये जितने विद्याधर हैं वे सब आर्यजातिके विद्याधर हैं। अब मैं मातंग [अनार्य] जातिके विद्याधरोंको बतलाती हूँ। आप ध्यानपूर्वक सुनें—

"नील मेघके समान श्याम नीली माला धारण किये मातंग स्तंभके सहारे बैठे हुए ये मातंग जातिके विद्याधर हैं ॥१४-१५॥ मुर्दोकी हड्डियों के भूषणोंसे भूषित भस्म (राख) की रेणुओंसे मटमैले और श्मशान [स्तंभ] के सहारे बैठे हुए ये श्मशान जातिके विद्याधर हैं ॥१६॥ वैडूर्यमणिके समान नीले-नीले वस्त्रों-को धारण किये पाँडुर स्तंभके सहारे बैठे हुए ये पाडुक जातिके विद्याधर हैं ॥१७॥ काले-काले मृगचर्मोको ओढ़े, काले चमड़ेके वस्त्र और मालाओको धारे कालस्तंभका आश्रय ले बैठे हुए ये काल-श्वपाकी जातिके विद्याधर हैं ॥१८॥ पीले वर्णके केशोसे भूषित, तप्त-सुवर्णके भूषणोके धारक श्वपाक विद्याओके स्तंभके सहारे बैठनेवाले ये श्वपाक जातिके विद्याधर हैं ॥१९॥ वृक्षोके पत्तों-के समान हरे वस्त्रोके धारण करनेवाले, भाँति-भाँतिके मुकुट और मालाओंके धारक, पर्वत-स्तभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्व-तेय जातिके विद्याधर हैं ॥२०॥ जिनके भूषण बाँसके पत्तोके बने हुए हैं, जो सब ऋतुओंके फूलोंकी माला पहिने हुए हैं और वंश-स्तंभके सहारे बैठे हुए हैं वे वंशालय जातिके विद्याधर हैं ॥२१॥ महासर्पके चिह्नोंसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोको धारण करनेवाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलक जातिके विद्याधर हैं ॥२२॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा द्वारा अपने-अपने वेष और चिह्नयुक्त भूषणोंसे विद्याधरोंका भेद जान

कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थान वापिस चले आये एवं अन्य विद्याधर भी अपने-अपने स्थान चले गये ॥२३-२४॥"

इस उल्लेखपरसे इतना ही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातंग जातियोंके चाण्डाल लोग भी जैनमंदिरमें जाते और पूजन करते थे; बल्कि यह भी मालूम होता है कि स्मशानभूमिकी हड्डियोंके आभूषण पहने हुए, वहाँकी राख बदनसे मले हुए, तथा मृगछाला ओढे, चमड़ेके वस्त्र पहने और चमड़ेकी मालाएँ हाथमें लिये हुए भी जैनमंदिरमे जा सकते थे[1], और न केवल जा ही सकते थे, बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके लिए स्थान भी नियत थे; जिससे उनका जैनमंदिरमें जानेका और भी ज्यादा नियत अधिकार पाया जाता है[2]। जान पड़ता है उस समय सिद्धकूट-जिनालयमें, प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बड़ा विशाल मंडप होगा और उसमें स्तम्भोके विभागसे सभी आर्य-अनार्य जातियोंके लोगोंके बैठनेके लिए जुदा-जुदा स्थान नियत कर रखा गया होगा। आजकल जैनियोमे उक्त सिद्धकूट-जिनालयके ढंगका—

---

१. यहाँ इस उल्लेखपरसे किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिये कि लेखक आजकल ऐसे अपवित्र वेषमें जैन-मंदिरोमे जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

२. श्री जिनसेनाचार्य ने, ९ वीं शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी, ऐसे लोगोंका जैनमंदिर में जाना आदि आपत्तिके योग्य नहीं ठहराया और न उससे मंदिरके अपवित्र होजानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनंदन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा?

उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला—एक भी जैनमन्दिर नहीं है[1]। लोगोंने बहुधा जैनमन्दिरोंको देव-सम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें अपनी ही चहल-पहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है, वे प्राय: उन महौदार्य-सम्पन्न लोकपिता वीतराग भगवानके मन्दिर नही जान पड़ते, जिनके समवसरणमें पशु तक भी जाकर बैठते थे, और न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, औदार्य तथा साम्यभावादि गुणोंका कहीं कोई आदर्श ही नज़र आता है। इसीसे वे लोग उनमें चाहे जिस जैनीको आने देते हैं और चाहे जिसको नही। कई ऐसे जैनमन्दिर भी देखनेमें आये हैं जिनमें ऊनी वस्त्र पहने हुए जैनियोको घुसने भी नहीं दिया जाता। इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कही कुछ ठिकाना है! ऐसे सब लोगोंको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोके धर्म-साधनमे विघ्न करना—बाधक होना—, उनका मन्दिर जाना बन्द करके उन्हें देवदर्शन आदिसे विमुख रखना, और इस तरहसे उनकी आत्मोन्नतिके कार्यमें रुकावट डालना बडा भारी पाप है।

अंजना सुन्दरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़े ही कालके लिए, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन-पूजनमें अन्तराय डाला था, जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको

---

१. चाँदनपुर महावीरजीके मन्दिरमे तो वर्ष भरमें दो-एक दिनके लिये यह हवा आ जाती है कि सभी ऊँच-नीच जातियोके लोग बिना किसी रुकावटके अपने प्राकृत वेषमे—जूते पहने और चमड़े के ढोल आदि चीजे लिये हुए वहाँ चले जाते हैं और अपनी भक्तिके अनुसार दर्शन-पूजन तथा परिक्रमण करके वापिस आते हैं।

अपने इस जन्ममें २२ वर्ष तक पतिका दु:सह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्यकृत 'पद्मपुराण' के देखनेसे मालूम हो सकता है। 'रयणसार' ग्रन्थके निम्न वाक्यमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि—'दूसरोंके पूजन और दान-कार्यमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्म-जन्मान्तरमे क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत-उष्ण (सरदी-गर्मी) के आताप और (कुयोनियोंमे) परिभ्रमण आदि अनेक दु:खोकी प्राप्ति होती है—

खयकुट्ठसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो-
सीदुण्हवह्मराई पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥३३॥

इसलिए जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पंचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमे न जाने अथवा जिनपूजादि धर्म-कार्योंसे वचित रखनेका दण्ड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लंघन ही नही करती, बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वयं अपराधिनी बनती है। ऐसी जाति-बिरादरियोंके पंचोंकी निरंकुशताके विरुद्ध आवाज उठानेकी जरूरत है और उसका वातावरण ऐसे ही लेखों-के द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन-पंचायतोने 'जाति-बहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको, जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमे ले रक्खा है और बिना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बलादिक और देशकालकी स्थितिको समझे, जहाँ-तहाँ, यद्वातद्वा रूपमें उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयंकर तथा हानिकारक है। इस विषयमें श्रीसोमदेवसूरि अपने 'यशस्तिलक' ग्रन्थ[१] में लिखते हैं :—

१. यह ग्रंथ शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है।

नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् ।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥
यतः समयकार्यार्थो नानापंचजनाश्रयः ।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नरः ।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥

इन पद्योंका आशय इस प्रकार है :—

'ऐसे-ऐसे नवीन मनुष्योंसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये, जो संदिग्धनिर्वाह हैं—जिनके विषयमें यह संदेह है कि वे जातिके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान् जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है? चूँकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्म-कार्योंका प्रयोजन नाना पंचजनोंके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है—अतः समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमे लगाना चाहिये—जातिसे पृथक् न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वान्‌की—उपेक्षा की जाती है—उसे जातिमें रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे पृथक् किया जाता है—तो उस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पड़ता है। तत्त्वसे दूर जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ़ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है—अर्थात्, समाजके साथ-साथ धर्मको भी भारी हानि उठानी पड़ती है, उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नहीं हो पाता।'

आचार्य महोदयने अपने वाक्यों-द्वारा जैन जातियों और पंचायतोंको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। जब-जब इस प्रकारके सदुपदेशों और सत्परामर्शोंपर ध्यान दिया

गया है तब-तब जैन-समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछ-से-कुछ होती रही है—इसमें अच्छे-अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए, और जैनियोंने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमें यथेष्ट प्रगति की—'परन्तु जबसे उन उपदेशों तथा परामर्शोंकी उपेक्षाकी गई तभीसे जैन-समाजका पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतितावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धिकी प्रायः सभी बातें स्वप्न-जैसी मालूम होती हैं, और यदि कुछ पुरातत्त्वज्ञों अथवा ऐतिहासिक विद्वानों-द्वारा थोड़ा-सा प्रकाश न डाला जाता तो उनपर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था। ऐसी हालतमें, अब जरूरत है कि जैनियोंकी प्रत्येक जातिमें ऐसे वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हों जो बड़े ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पंचों तथा मुखियाओंको उनके कर्त्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित-विरोधनी निरंकुश प्रवृत्तिको नियंत्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होनेपर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमें फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा, जिसका बहना अब बंद हो रहा है और उसके कारण समाजका सांस घुट रहा है।

समाजके दंड-विधान और उसके परिणाम-विषयक इन्हीं सब बातोंको थोड़े-से सूत्र-वाक्यों-द्वारा सुझाने अथवा उनका संकेतमात्र करनेके उद्देश्यसे ही यह चारुदत्तवाला लेख लिखा गया था।

समालोचकजीको यदि इन सब बातोंका कुछ भी ध्यान होता तो वे ऐसे सदुद्देश्यसे लिखे हुए इस लेखके विरोधमे जरा भी लेखनी न उठाते। आशा है लेखोद्देश्यके इस स्पष्टीकरणसे उनका बहुत कुछ समाधान हो जायगा और उनके-द्वारा सर्वसाधारणमें जो भ्रम फैलाया गया है वह दूर हो सकेगा।

वेश्याओंसे विवाह

पुस्तकके आशय-उद्देश्यका विवेचन और स्पष्टीकरण करने आदिके बाद अब मैं उदाहरणोंकी उन बातोंपर विचार करता हूँ, जिनपर समालोचनामे आक्षेप किया गया है, और सबसे पहले इस चारुदत्तवाले उदाहरणको ही लेता हूँ। यही पहले लिखा भी गया था, जैसा कि शुरूमे जाहिर किया जा चुका है। समालोचकजीने जो इसे वसुदेवजीवाले उदाहरणके बाद लिखा बतलाया है वह उनकी भूल है।

इस उदाहरणमें सिर्फ दो बातोंपर आपत्ति की गई है। एक तो वसंतसेना वेश्याको अपनी स्त्रीरूपसे स्वीकृत करने अथवा खुल्लमखुल्ला घरमे डाल लेनेपर, और दूसरी इस बातपर कि चारुदत्तके साथ कोई घृणाका व्यवहार नही किया गया। इनमेसे दूसरी बातपर जो आपत्ति की गई है वह तो कोई खास महत्त्व नहीं रखती। उसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि 'सप्तव्यसनोंमें वेश्या-सेवन भी एक व्यसन है, इस व्यसनको सेवन करनेवाले बहुतसे मनुष्य हो गये हैं परंतु उनमे चारुदत्तका ही नाम जो खास तौरसे प्रसिद्ध चला आता है वह इस बातको सूचित करता है कि इस व्यसनके सेवनमें चारुदत्तका नाम जैसा बदनाम हुआ है वैसा दूसरेका नही। नामकी यह बदनामी ही चारुदत्तके प्रति घृणा और तिरस्कार है, इसलिये उस समयके लोग भी जरूर उसके प्रति घृणा और तिरस्कार किये बिना न रहे होंगे।' इस प्रकारके अनुमानको प्रस्तुत करनेके सिवाय, समालोचकजीने दूसरा कोई भी प्रमाण किसी ग्रन्थसे ऐसा पेश नहीं किया जिससे यह मालूम होता कि उस वक्तकी जाति-बिरादरी अथवा जनताने चारुदत्तके व्यक्तित्वके प्रति घृणा और तिरस्कारका अमुक व्यवहार किया

है। और अनुमान जो आपने बाँधा है वह समुचित नहीं है। क्योंकि एक वेश्या-व्यसनीके रूपमें चारुदत्तका जो कथानक प्रसिद्ध है वह एक रोगीमें व्यक्त होनेवाले रोगके परिणामोंको प्रदर्शित करनेकी तरह, चारुदत्तके उस दोषका फल प्रदर्शन अथवा उससे होनेवाली मुसीबतोंका उल्लेखमात्र है और उसे ज्यादा-से-ज्यादा उसके उस दोषकी निन्दा कह सकते हैं। परन्तु उससे चारुदत्तके व्यक्तित्व (शखसियत Personality) के प्रति घृणा या तिरस्कारका कोई भाव नहीं पाया जाता, जिसका निषेध करना उदाहरणमें अभीष्ट था और न किसीके एक दोषकी निन्दासे उसके व्यक्तित्वके प्रति घृणा या तिरस्कारका होना लाजिमी आता है। दोषकी निन्दा और बात है और व्यक्तित्वके प्रति घृणा या तिरस्कारका होना दूसरी बात। श्रीजिनसेनाचार्य-विरचित हरिवंशपुराणादि किसी भी प्राचीन ग्रन्थमे ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता जिससे यह पाया जाता हो कि चारुदत्तके व्यक्तित्वके साथ उस वक्त जनताका व्यवहार तिरस्कारमय था। प्रत्युत इसके, यह मालूम होता है कि **चारुदत्त**का काका स्वयं वेश्या-व्यसनी था, **चारुदत्तकी** माता **सुभद्राने**, **चारुदत्त**को स्त्री-संभोगसे विरक्त देखकर, इसी काकाके-द्वारा वेश्याव्यसनमें लगाया था[1]; वेश्याके घरसे निकाले जानेपर जब **चारुदत्त** अपने घर आया तो उसकी स्त्रीने व्यापारके लिये उसे अपने गहने दिये और वह मामाके साथ विदेश गया; विदेशोमें चारुदत्त अनेक देवों तथा विद्याधरोसे पूजित, प्रशंसित और सम्मानित हुआ; उसे प्रामाणिक

---

१. ब्रह्मनेमिदत्तने भी आराधनाकथाकोशमें लिखा है :—

तदा स्वपुत्रस्य मोहेन संगतिं गणिकादिभिः।
सुभद्रा कारयामास तस्योच्चैर्लम्पटैर्जनैः॥

और धार्मिक पुरुष समझकर 'गंधर्वसेना' नामकी विद्याधर-कन्या उसके समर्थ भाइयों-द्वारा विवाह कर देनेके लिये सौंपी गई और जिसे चारुदत्तने पुत्रीकी तरह रक्खा। चारुदत्तके पीछे वसन्तसेना वेश्या उसकी माताके पास आती रही और माताकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए निःसंकोच भावसे उसके वहाँ रहनेपर कहीसे भी कोई आपत्ति नही की गई; चारुदत्तके विदेशसे वापिस आनेपर माता-दिक कुटुम्बीजन और चम्पापुरी नगरीके सभी लोग प्रसन्न हुए और उन्होने चारुदत्तके साथ महती तथा अद्‌भुत प्रीतिको धारण किया[१]। चारुदत्तने उस वसंतसेना वेश्याको अंगीकार किया जो उसीको एक पति मानकर उसके घरपर रहने लगी थी, 'किमिच्छक' दान देकर दीनो और अनाथों आदिको संतुष्ट किया, गंधर्वसेनाकी प्रतिज्ञानुसार उसका पति निश्चत करनेके लिये अनेक बार गंधर्वविद्याके जानकार विद्वानोंकी सभाएँ जुटाई, प्रतिज्ञा पूरी होनेपर वसुदेवके साथ उसका विवाह किया, और बराबर जैनधर्मका पालन करते हुए अन्तको **जैनमुनि** दीक्षा धारण की[२]। इसके सिवाय, वसुदेवजीने चारुदत्तका वेश्या-

---

१. ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोशमें चम्पापुरीके लोगो आदिकी इस प्रीतिका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

भानुः श्रेष्ठी सुभद्रा सा चारुदत्तागमे तदा।
अन्ये चम्पापुरीलोकाः प्रीतिं प्राप्ता महाद्भुताम्॥

२. **चारुदत्तः सुधीश्चापि भुक्त्वा भोगान्स्वपुण्यतः।**
समाराध्य जिनेंद्रोक्तं धर्मं शर्मकरं चिरं॥९२॥
ततो वैराग्यमासाद्य सुन्दराख्यसुताय च।
दत्वा श्रेष्ठिपदं पूतं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः॥९३॥

—नेमिदत्त-कथाकोश,

व्यसनादि सहित सारा पूर्व वृत्तांत सुनकर और उससे सन्तुष्ट होकर चारुदत्तकी प्रशंसामें निम्न वाक्य कहे—

चारुदत्तस्य चोत्साहं तुष्टस्तुष्टाव यादवः ॥ १८१॥
अहो चेष्टितमार्यस्य महौदार्यसमन्वितम् ।
अहो पुण्यबलं गण्यमनन्यपुरुषोचितम् ॥ १८२ ॥
न हि पौरुषमीदृक्षं बिना दैवबलं तथा ।
ईदृक्षान् विभवान् शक्याः प्राप्तुं ससुरखेचराः ॥ १८३ ॥

—हरिवंशपुराण

इसकी हिन्दी-भाषामें पं० गजाधरलालजीने इन्ही प्रशंसा-वाक्योंको निम्न प्रकारसे अनुवादित किया है :—

"कुमार वसुदेवको परम आनंद हुआ, उन्होंने चारुदत्तकी इस प्रकार प्रशंसा कर [की] कि—आप उत्तम पुरुष हैं, आपकी चेष्टा धन्य है, उदारता भी लोकोत्तर है, अन्य पुरुषोके लिये सर्वथा दुर्लभ यह आपका पुण्यवल भी अचिन्त्य है ॥१८१-१८२॥ बिना भाग्यके, ऐसा पौरुष होना अति कठिन है, ऐसे उत्तमोत्तम भोगोंको मनुष्योंकी तो क्या बात, सामान्य देव विद्याधर भी प्राप्त नही कर सकते" ।

और हरिवंशपुराण के २१ वे सर्गके अन्तमे श्रीजिनसेना-चार्यने चारुदत्तको भी वसुदेवकी तरह रूप और विज्ञानके सागर तथा धर्म-अर्थ-कामरूपी त्रिवर्गके अनुभवी अथवा उसके अनुभवसे संतुष्टचित्त प्रकट किया है, और इस तरहपर दोनोको एक ही विशेषणों-द्वारा उल्लेखित किया है:—

इत्यन्योन्यस्वरूपज्ञा रूपविज्ञानसागराः ।
त्रिवर्गानुभवप्रीताश्चारुदत्तादयः स्थिताः ॥ १८५ ॥

इन सब बातोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि चारुदत्त अपने

कुटुम्बीजनों, पुरजनों और इतरजनोंमेंसे किसीके भी द्वारा उस वक्त तिरस्कृत नही थे और न कोई उनके व्यक्तित्वको घृणाकी दृष्टिसे देखता था। इसीसे लेखकने लिखा था कि "उस समयकी जाति-बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नही किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया।" परन्तु समालोचकजी अपने उक्त दूषित अनुमानके भरोसेपर इसे सफेद झूठ बतलाते हैं और इसलिये पाठक उक्त सपूर्ण कथनपरसे उनके इस सफेद सत्यका स्वयं अनुमान कर सकते हैं और उसका मूल्य जॉच सकते हैं।

अब पहली बातपर की गई आपत्तिको लीजिये। समालोचकजीकी यह आपत्ति बड़ी ही विचित्र मालूम होती है! आप यहाँ तक तो मानते हैं कि चारुदत्तका वसंतसेना वेश्याके साथ एक व्यसनी-जैसा सम्बन्ध था, वसन्तसेना भी चारुदत्तपर आसक्त थी और उसके प्रथम दर्शन-दिवससे ही यह प्रतिज्ञा किए हुए थी कि इस जन्ममे मैं दूसरे पुरुषसे संभोग नही करूँगी, चारुदत्त उससे लड-भिड़कर या नाराज होकर विदेश नही गया, बल्कि वेश्याकी माताने धनके न रहनेपर जब उसे अपने घरसे निकाल दिया तो वह धन कमानेके लिये ही विदेश गया था, उसके विदेश जानेपर वसन्तसेनाने, अपनी माताके बहुत कुछ कहने-सुननेपर भी, किसी दूसरे धनिक पुरुषसे अपना सम्बन्ध जोड़ना उचित नही समझा और अपनी माताको यही उत्तर दिया कि चारुदत्त मेरा कुमारकालका पति है, मैं उसे नही छोड़ सकती, उसे छोड़कर दूसरे कुबेरके समान धनवान पुरुषसे भी मेरा कोई मतलब नही है, और फिर अपनी माताके घरका ही परित्याग

कर वह **चारुदत्तके** घरपर जाकर रही और उसकी मातादिककी सेवा करती हुई **चारुदत्तके** आगमनकी प्रतीक्षा करने लगी। साथ ही, उसने एक आर्यिकासे श्रावकके व्रत लेकर इस बातकी और भी रजिष्ट्री कर दी कि वह एक पतिव्रता है और भविष्यमें वेश्यावृत्ति करना नहीं चाहती। इसके बाद चारुदत्तजी विदेशसे विपुल धन-सम्पत्तिके साथ वापस आए और वसन्तसेनाके अपने घरपर रहने आदिका सब हाल मालूम करके उससे मिले और उन्होंने उसे बडी खुशीके साथ अपनाया—स्वीकार किया। परन्तु यह सब कुछ मानते हुए भी, आपका कहना है कि इस अपनाने या स्वीकार करनेका यह अर्थ नही है कि चारुदत्तने वसन्तसेनाको स्त्रीरूपसे स्वीकृत किया था या घरमे डाल लिया था बल्कि कुछ दूसरा ही अर्थ है, और उसे आपने निम्न दो वाक्यो द्वारा सूचित किया है :—

(१) "चारुदत्तने उपकारी और व्रतधारण करनेवाली समझ कर ही वसन्तसेनाको अपनाया था।"

(२) "असल बात यह है कि वसन्तसेना सेवा-शुश्रूषा करनेके लिये आई थी, और चारुदत्तने उसे इसी रूपमें अपना लिया था।"

इनमें पहले वाक्यसे तो अपनानेका कोई विसदृश अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। हाँ, दूसरे वाक्यसे इतना जरूर मालूम होता है कि आपने वसन्तसेनाको स्त्रीसे भिन्न सेवा-शुश्रूषा करनेवालीके रूपमें अपनानेका विधान किया है अथवा यह प्रतिपादन किया है कि चारुदत्तने उसे एक खिदमतगारनी या नौकरनीके तौरपर अपने यहाँ रक्खा था। परन्तु रोटी बनाने, पानी भरने, बर्तन मांजने, बुहारी देने, तैलादि मर्दन करने, नहलाने, बच्चोंको

खिलाने या पंखा झलने आदि किस सेवा-शुश्रूषाके कामपर वह वेश्यापुत्री रक्खी गई थी, इसका आपने कहींपर भी कोई उल्लेख नहीं किया और न कहीपर यही प्रकट किया कि चारुदत्त अमुक अवसरपर अपनी उस चिरसगिनी और चिरभुक्ता वेश्यासे पुन: संभोग न करने या उसमे काम-सेवा न लेनेके लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे अथवा उन्होने अपनी एक स्त्रीका ही व्रत ले लिया था। यही आपकी इस आपत्तिका सारा रहस्य है, और इसके समर्थनमें आपने **जिनसेनाचार्यके** हरिवंशपुराणसे सिर्फ एक श्लोक उद्धृत किया है, जो आपके ही अर्थके साथ इस प्रकार है :—

"तां सु [[1]शु] श्रूषाकरी [रीं] स्वस्रू: [श्वश्रूवा:] आर्या ते व्रतसंगतां[2] ।
श्रुत्वा वसंतसेनां च प्रति: [प्रीत:] स्वीकृतवानहम् ॥"

"अर्थ—[3]वेश्या वसन्तसेना अपनी माँका घर परित्याग कर मेरे घर आगई थी। और उसने आर्यिकाके पास जो श्रावकके व्रत धारण कर मेरी माँ और स्त्रीकी पूर्ण सेवा की थी इसलिए मैं उससे भी मिला उसे सहर्ष अपनाया।"

---

१. ब्रैकटोंमें जो रूप दिये हैं वे समालोचकजीके दिये हुए उन अक्षरों-के शुद्ध पाठ हैं जो उनसे पहले पाये जाते हैं।

२. इसकी जगह "सदणुव्रतसंगताम्" ऐसा पाठ देहलीके नये मंदिरकी प्रतिमें पाया जाता है।

३. मूल श्लोकके शब्दोसे उसका स्पष्ट और संगत अर्थ सिर्फ इतना ही होता है :—

'और वसंतसेनाके विषयमें सासकी (मेरी माताकी) सेवा करने तथा आर्यिकाके पाससे व्रत ग्रहण करनेका हाल सुनकर मैंने प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार किया—अंगीकार किया।'

पं० दौलतरामजीने अपने हरिवंशपुराणमें, इस श्लोककी भाषा टीका इस प्रकार दी है :—

"और वह कलिगसेना वेश्याकी पुत्री वसंतसेना पतिव्रता मेरे विदेश गए, पीछे अपनी माताका घर छोडि आर्यानिके निकट श्रावकव्रत अंगीकार करि मेरी मातानिके निकट आय रही। मेरी माताकी अर स्त्रीकी वानै अति सेवा करी। सो दोऊ हीं वातैं अतिप्रसन्न भई। अर जगतिमे बहुत वाका जस भया सो मैं हूँ अति प्रसन्न होय वाहि अंगीकार करता भया।"

यह श्लोक **चारुदत्तजीने, वसुदेवजीको** अपना पूर्व परिचय देते हुए, उस समय कहा है जब कि गंधर्वसेनाका विवाह हो चुका था और चारुदत्तको विदेशसे चम्पापुरी वापिस आए बहुतसे दिन बीत चुके थे—गंधर्वविद्याके जानकार विद्वानोंकी महीने-दर-महीनेकी कई सभाएँ भी हो चुकी थी।

इस सपूर्ण वस्तुस्थिति, कथनसम्बन्ध और प्रकरणपरसे यद्यपि, यही ध्वनि निकलती है और यही पाया जाता है कि चारुदत्तने वसन्तसेनाको अपनी स्त्री बना लिया था, और कोई भी सहृदय विचारशील इस बातकी कल्पना नही कर सकता कि चारुदत्तने वसतसेनाको, उससे काम-सेवाका कोई काम न लेते हुए, केवल एक खिदमतगारिनी या नौकरनीके तौरपर अपने पास रक्खा होगा—ऐसी कल्पना करना उस सद्विचारसम्पन्नाके साथ न्याय न करके उसका अपमान करना है; फिर भी समालोचकजीकी ऐसी ही विलक्षण कल्पना जान पड़ती है। इसीसे आप अपनी ही बातपर जोर देते हैं और उसका आधार उक्त श्लोकको बतलाते हैं। परन्तु समझमें नहीं आता, उक्त श्लोकमें ऐसी कौन-सी बात है जिसका आप आधार लेते हों अथवा जिससे आपके अर्थका समर्थन

हो सकता हो। किसी भी विरुद्ध कथनके साथमें न होते हुए, एक स्त्रीको अंगीकार करनेका अर्थ उसे स्त्री बनानेके सिवाय और क्या हो सकता है ? क्या **'स्वीकृतवान्'** पदसे पहले **'स्त्रीरूपेण'** ऐसा कोई पद न होनेसे ही आप यह समझ बैठे हैं कि वसतसेनाकी स्त्रीरूपसे स्वीकृति नही हुई थी या उसे स्त्रीरूपसे अंगीकार नही किया गया था ? यदि ऐसा है तो इस समझपर सहस्र धन्यवाद है ! जान पड़ता है अपनी इस समझके भरोसेपर ही आपने श्लोकमे पड़े हुए 'श्वश्र्वाः' पदका कोई ख़याल नही किया और न 'स्वीकृति' या 'स्वीकार' शब्दके प्रकरणसंगत अर्थपर ही ध्यान देनेका कुछ कष्ट उठाया। श्लोकमे **'श्वश्र्वाः'** पद इस बातको स्पष्ट बतला रहा है कि चारुदत्तने वसुदेवसे बाते करते समय अपनी माताको वसन्तसेनाकी **'सास'** रूपसे उल्लेखित किया था और इससे यह साफ़ जाहिर है कि वसुदेवके साथ वार्तालाप करनेसे पहले चारुदत्तका वसतसेनाके साथ विवाह हो चुका था। स्वीकरण, स्वीकृति और स्वीकार शब्दोका अर्थ भी विवाह होता है—इसीसे वामन शिवराम आप्टेने अपने कोश मे इन शब्दोका अर्थ Espousal, wedding तथा marriage भी दिया है और इसीलिये उक्त श्लोकमें **'स्वीकृतवान्'** से पहले **'स्त्रीरूपेण'** पदकी या इसी आशयको लिये हुए किसी दूसरे पदके देनेकी कोई जरूरत नही थी—उसका देना व्यर्थ होता। स्वयं श्रीजिनसेनाचार्यने अन्यत्र भी, अपने हरिवंशपुराणमें, 'स्वीकृत' को 'विवाहित (ऊढ)' अर्थमें प्रयुक्त किया है, जिसका एक स्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है :—

[1]यागकर्मणि निर्वृत्ते सा कन्या राजसूनुना।
स्वीकृता तापसा भूपं भक्तं कन्यार्थमागताः॥ ३०॥

---

१. जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणमें भी 'स्वीकृत' को 'ऊढ'

कौशिकायात्र तैस्तस्यां याचितायां नृपोऽवदत् ।
कन्या सोढा कुमारेण यातेत्युक्तास्तु ते ययुः ॥ ३१ ॥

—२९ वाँ सर्ग ।

ये दोनों पद्य उस यज्ञप्रकरणके हैं जिसमें राजा अमोघ-दर्शनने रंगसेना वेश्याकी पुत्री 'कामपताका' वेश्याका नृत्य कराया था और जिसे देखकर कौशिक ऋषि भी क्षुभित हो गये थे । इन पद्योंमें बतलाया है कि 'यज्ञकर्मके समाप्त होनेपर उस (कामपताका) कन्याको राजपुत्र (चारुचन्द्र) ने स्वीकार कर लिया । (इसके बाद) कुछ तापस लोग कन्याके लिये भक्त राजाके पास आये और उन्होंने 'कौशिक' के लिए उसकी याचना की । इसपर राजाके इस उत्तरको पाकर कि 'वह कन्या तो राजपुत्रने विवाह ली है' वे लोग चले गये ।

इस उल्लेखपरसे स्पष्ट है कि श्रीजिनसेनाचार्यने पहले पद्यमें जिस बातके लिए **'स्वीकृता'** पद्यका प्रयोग किया था, उसी बातको अगले पद्यमे **'ऊढा'** पदसे जाहिर किया है, जिससे **'स्वीकृता'** (स्वीकार करली) और **'ऊढा'** (विवाह ली) दोनो पद एक ही अर्थके वाचक सिद्ध होते हैं । पं० दौलतरामजीने **'स्वीकृता'** का अर्थ 'अङ्गीकार करी' और **'ऊढा'** का अर्थ **'वरी'** दिया है । और समालोचकजीके श्रद्धास्पद पं० गजाधरलालजीने, उक्त पद्योंका

(विवाहित) अर्थमें प्रयुक्त किया है । यथा :—

ततः कदाचित्सा कन्या स्वीकृता राजसूनुना ।
तापसास्तेपि कन्यार्थं नृपपार्श्वं समागताः ॥ ३० ॥
प्रार्थितायां नृपोऽवादीत्तस्यां सोढा विधानतः ।
कुमारेण ततो यूयं यात स्वस्थानमुत्सुकाः ॥ ३१ ॥

—१० वाँ सर्ग ।

अर्थ देते हुए, **'स्वीकृता'** की तरह **'ऊढा'** का अर्थ भी 'स्वीकार करली' किया है और इस तरह यह घोषित किया है कि **'ऊढा'** (विवाहिता) और **'स्वीकृता'** दोनों एकार्थवाचक पद हैं।

ऐसी हालतमे यह बात बिलकुल निर्विवाद और निःसन्देह जान पड़ती है कि चारुदत्तने वसन्तसेना वेश्याके साथ विवाह किया था—उसे अपनी स्त्री बनाया था—और उसी बातका उल्लेख उनकी तरफसे उक्त श्लोकमे किया गया है। और इसलिए उक्त श्लोकमे प्रयुक्त हुए **"स्वीकृतवान्"** पदका स्पष्ट अर्थ **'विवाहितवान्"** समझना चाहिए।

खेद है कि इतना स्पष्ट मामला होते हुए भी, समालोचकजी लेखकके व्यक्तित्वपर आक्षेप करते हुए लिखते हैं—

"चारुदत्तने वसन्तसेनाको घरमे नही डाल लिया था और न उसे स्त्रीरूपसे स्वीकृत किया था, जैसा कि बाबूसाहबने लिखा है। ये दोनो बातें शास्त्रोंमें नही हैं। न जाने बाबूसाहबने कहाँसे लिख दी हैं, बाबूसाहबकी यह पुरानी आदत है कि जिस बातसे अपना मतलब निकलता देखते हैं उसी बातको अपनी ओर मिलाकर झट लोगोंको धोखेमे डाल देते हैं।"

समालोचकजीके इस लिखनेका क्या मूल्य है, और इसके द्वारा लेखकपर उन्होंने कितना झूठा तथा निन्द्य आक्षेप किया है, इसे पाठक अब स्वयं समझ सकते हैं। समझमें नही आता कि एक वेश्यासे विवाह करने या उसे स्त्री बना लेनेकी पुरानी बातको मान लेनेमे उन्हें क्यों संकोच हुआ और उसपर क्यो इतना पाखड रचा गया ? वेश्याओंसे विवाह करलेनेके तो और भी कितने ही उदाहरण जैनशास्त्रोंमे पाये जाते हैं, जिनमेंसे 'कामपताका' वेश्याका उदाहरण ऊपर दिया ही जा चुका है; और 'पुण्यास्रवकथा-

कोश[1] 'में लिखा है कि '**पंचसुगंधिनी**' वेश्याकी '**किन्नरी**' और '**मनोहरी**' नामकी दो पुत्रियाँ थीं, जिनके साथ जयंधरके पुत्र प्रतापंधर अपरनाम 'नागकुमार' ने, पिताकी आज्ञासे, विवाह किया था[2]। ये नागकुमार जिनपूजन किया करते थे, उन्होंने अन्तको जिनदीक्षा ली और वे केवलज्ञानी होकर मोक्ष पधारे[3]। उनकी इस कृतिसे—साक्षात् व्यभिचारजात वेश्या-पुत्रियोंको अपनी स्त्री बना लेनेसे—जैनधर्मको कोई कलंक नही लगा, जिसके लग जानेकी समालोचकजीने समालोचनाके अन्तमें आशंका की है, वे बराबर जिन-पूजा करते रहे और उससे उनकी जिन-दीक्षा तथा आत्मोन्नतिको चरम सीमा तक पहुँचानेके कार्यमें भी कोई बाधा नही आ सकी। इसलिए एक वेश्याको स्त्री बना लेना आजकलकी दृष्टिसे भले ही लोक-विरुद्ध हो, परन्तु वह जैनधर्मके सर्वथा विरुद्ध नही कहला सकता और न पहले जमानेमें सर्वथा लोक-विरुद्ध ही समझा जाता था। आजकल भी बहुधा देशहितैषियोंकी यह धारणा पाई जाती है कि भारतकी सभी वेश्याएँ,

---

१. यह पुण्यास्रवकथाकोश केशवनन्दि मुनिके शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षुका बनाया हुआ है। इसका भाषानुवाद पं० नाथूरामजी प्रेमीने किया है और वह सन् १९०७ में प्रकाशित भी हो चुका है।

२. यथा—"**एकदा राजास्थानं पंचसुगंधिनीनामवेश्या समागत्य भूपं विज्ञापयतिस्म देव! मे सुते द्वे किन्नरी मनोहरी च वीणावाद्यमद-गर्विते नागकुमारस्यादेशं देहि तयोर्वाद्यं परीक्षितुं।......ते चात्यासक्ते पितृवचनेन परिणीतवान् प्रतापंधरः सुखमास।**"—पुण्यास्रव०।

३. "**...प्रतापंधरो मुनिश्चतुःषष्ठिवर्षाणि तपश्चकार कैलासे केवली यज्ञे।**"—पुण्यास्रव।

अर्थात्—प्रतापंधर (नागकुमार) ने मुनि होकर ६४ वर्ष तप किया और फिर कैलास पर्वतपर केवलज्ञानको प्राप्त किया।

वेश्यावृत्तिको छोड़कर, यदि अपने-अपने प्रधान प्रेमीके घर बैठ-जायँ—गृहस्थधर्ममें दीक्षित होकर गृहस्थन बन जायँ अथवा ऐसा बननेके लिये उन्हें मजबूर किया जासके और इस तरह भारतसे वेश्यावृत्ति उठ जाय तो इससे भारतका नैतिकपतन रुककर उसका बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। वे वेश्यागमन या व्यसनकी अपेक्षा एक वेश्यासे वेश्यावृत्ति छुड़ाकर, शादी कर लेनेमे कम पाप समझते हैं। और, काम-पिशाचके वशवर्ती होकर, वेश्याके द्वारपर पड़े रहने, ठोकरें खाने, अपमानित तथा पददलित होने और अनेक प्रकारकी शारीरिक तथा मानसिक यंत्रणाएँ सहते हुए अन्तको पतितावस्थामें ही मर जानेको घोर पाप तथा अधर्म मानते हैं। अस्तु।

कुटुम्बमें विवाह

चारुदत्तके उदाहरणकी सभी आपत्तियोंका निरसनकर अब मैं दूसरे—**वसुदेव**जीवाले—उदाहरणकी आपत्तियोंको लेता हूँ।

इस उदाहरणमें सबसे बडी आपत्ति '**देवकी**के विवाह' पर की गई है। **देवकी**का **वसुदेव**के साथ विवाह हुआ, इस बातपर, यद्यपि कोई आपत्ति नही है, परन्तु '**देवकी** रिश्तेमें **वसुदेव**की भतीजी थी' यह कथन ही आपत्तिका खास विषय बनाया गया है और इसे लेकर खूब ही कोलाहल मचाया गया तथा जमीन-आसमान एक किया गया है। इस आपत्तिपर विचार करनेसे पहले, यहाँ प्रकृत आपत्ति-विषयक कथनका कुछ थोड़ा-सा पूर्व इतिहास दे देना उचित मालूम होता है और वह इस प्रकार है :—

(१) सन् १९१० में, लाहौरसे पं० दौलतरामजी-कृत भाषा हरिवंशपुराण प्रकाशित हुआ और उसकी विषय-सूचीमें

देवकी और **वसुदेवके** पूर्वोत्तर सम्बन्धोंको निम्न प्रकारसे घोषित किया गया :—

"**वसुदेव**का अपने बाबाके भाई राजा **सुवीर**की (पड़) पोती **कंस**की बहन **देवकी**से विवाह हुआ ।"

इस घोषणाके किसी भी अंशपर उस समय आपत्तिकी कहीसे भी कोई आवाज नहीं सुन पड़ी ।

(२) १७ फरवरी सन् १६१३ के **जैनगजट**में सरनऊ निवासी प० रघुनाथदासजीने, **"शास्त्रानुकूल प्रवर्तना चाहिये"** इस शीर्षकका एक लेख लिखा था और उसमें कुछ रूढ़ियोंपर अपने विचार भी प्रगट किये थे। इसपर लेखककी ओरसे "**शुभ चिह्न**" नामका एक लेख लिखा गया और वह २४ मार्च सन् १६१३ के **'जैनमित्र'** में प्रकाशित हुआ, इस लेखमे पंडितजीके उक्त **'शास्त्रानुकूल प्रवर्तना चाहिये'** वाक्यका अभिनंदन करते हुए और समाजमें रूढ़ियों तथा रस्म-रिवाजोंका विवेचन प्रारम्भ होनेकी आवश्यकता बतलाते हुए, कुछ शास्त्रीय प्रमाण पंडितजीको भेट किये गये थे और उनपर निष्पक्षभावसे विचारनेकी प्रेरणा भी की गई थी। उन प्रमाणोंमें चौथे नम्बरका प्रमाण इस प्रकार था :—

"उक्त (जिनसेनाचार्यकृत) हरिवंशपुराणमें यह भी लिखा है कि **वसुदेव**जीका विवाह **देवकी**से हुआ । **देवकी** राजा **उग्रसेन**-की लडकी और महाराज **सुवीर**की पडपोती (प्रपौत्री) थी और **वसुदेव**जी महाराजा सूरके पोते थे। **सूर** और **सुवीर** दोनों सगे भाई थे—अर्थात् श्रीनेमिनाथके चचा **वसुदेव**जीने अपने चचाज़ाद भाईकी लड़कीसे विवाह किया। इससे प्रकट

है कि उस समय विवाहमे गोत्रका विचार वा बचाव नही किया जाता था , नहीं मालूम परवारोमे आजकल आठ-आठ वा चार-चार साके (शाखाएँ) किस आधारपर मिलाई जाती हैं ।''

इस लेखके उत्तरमे पडितजीने दूसरा लेख, वही **'शुभ चिह्न'** शीर्षक डालकर, १६ जून सन् १९१३ के **जैनगजट**मे प्रकाशित कराया, उसमें इस प्रमाणके किसी भी अंशपर कोई आपत्ति नही की गई और न दो श्लोकोके अर्थपर[1] आपत्ति करनेके सिवाय, दूसरे ही किसी प्रमाणको अप्रमाण ठहराया गया । **जैनमित्र**के सम्पादक ब्र०शीतलप्रसादजीने भी उक्त प्रमाणपर कोई आपत्ति नही की, हालाँकि उन्होने लेखपर दो सम्पादकीय नोट भी लगाये थे ।

(३) इसके छह वर्ष बाद, **'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण'** नं० २ के नामसे **वसुदेव**जीके उदाहरणका यह प्रकृत लेख लिखा गया और अप्रैल सन् १९१९ के **'सत्योदय'**मे प्रकाशित हुआ । उस वक्त इस लेखपर **'पद्मावतीपुरवाल'** के सम्पादक पं० **गजाधरलालजी** न्यायतीर्थने अपना विस्तृत विचार प्रकट किया था और उसमें इस बातको स्वीकार किया था कि **देवकी उग्रसेन**की पुत्री और वसुदेवकी भतीजी थी । उनका वह विचार-लेख श्रावण मासके **'पद्मावतीपुरवाल'** अक न० ५ मे प्रकाशित हुआ था । इसके बाद सितम्बर सन् १९२० के **'जैनहितैषी'** मे यही लेख प्रकाशित हुआ और वहाँसे चार वर्षके बाद अब इस पुस्तकमे उद्धृत किया गया है ।

इस तरह देवकी और वसुदेवके सम्बन्धका यह विषय इस

---

१. अर्थ-विषयक इस आपत्तिका उत्तर 'अर्थ-समर्थन' नामके लेख-द्वारा दिया गया, जो १७ सितम्बर सन् १९१३ के 'जैनमित्र' मे प्रकाशित हुआ था और जो अब इसी निबन्धावली द्वितीय भाग पृष्ठ ३१ पर मुद्रित है ।

पुस्तकमें कोई नया नही है, बल्कि वह समाजके चार प्रसिद्ध पत्रो और एक ग्रन्थमें चर्चा होकर बहुत पहलेसे समाजके विद्वानोंके सामने रक्खा जा चुका है और उसकी सत्यतापर इससे पहले कोई आपत्ति नही की गई। अथवा यो कहिये कि समाजके विद्वानोने उसे आपत्तिके योग्य नही समझा। ऐसी हालतमें समालोचकजीका इस विषयको लेकर व्यर्थका कोलाहल मचाना और लेखकके व्यक्तित्वपर भी आक्रमण करना उनके अकाण्डताण्डव तथा अविचारको सूचित करता है। लेखकने देवकीके विवाहकी घटनाका उल्लेख करते हुए लिखा था—

"**देवकी** राजा **उग्रसेन**की पुत्री, नृप**भोजकवृष्टि**की पौत्री और महाराज **सुवीर**की प्रपौत्री थी। **वसुदेव** राजा **अन्धकवृष्टि**के पुत्र और नृप**शूर**के पौत्र थे। ये नृप '**शूर**' और **देवकी**के प्रपितामह '**सुवीर**' दोनों सगे भाई थे। दोनोंके पिताका नाम 'नरपति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेनाचार्यने अपने हरिवशपुराणमे सूचित किया है और इससे यह प्रकट है कि राजा उग्रसेन और वसुदेवजी दोनों आपसमें चचा-ताऊज़ाद भाई लगते थे और इसलिये **उग्रसेन**की लड़की '**देवकी**' रिश्तेमें वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका विवाह हुआ, जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमे गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओंका टालना तो दूर रहा एक वंश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नही रक्खा गया।"

इस कथनसे स्पष्ट है कि इसमें **देवकी** और **वसुदेव**की रिश्तेदारीका—उनके पूर्व सम्बन्धका जो कुछ उल्लेख किया गया है वह सब श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणके आधारपर किया गया है। और इसलिए एक समालोचककी हैसियतसे समालोचकजीको

इसपर यदि कोई आपत्ति करनी थी तो वह या तो जिनसेनाचार्यको लक्ष्य करके करनी चाहिये थी—उनके कथनको मिथ्या ठहराना अथवा यह बतलाना चाहिए था कि वह अमुक-अमुक जैनाचार्यो तथा विद्वानोंके कथनोके विरुद्ध है—और या वह इस रूपमे ही होनी चाहिए थी कि लेखकका उक्त कथन जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणके विरुद्ध है, और ऐसी हालतमें जिनसेनाचार्यके उन विरोधी वाक्योंको दिखलाना चाहिए था। परन्तु समालोचकजीने यह सब कुछ भी न करके उक्त कथनको "सफेद झूठ" लिखा है और उसे वैसा सिद्ध करनेके लिए जिनसेनाचार्यका एक भी वाक्य उनके हरिवंशपुराणसे उद्धृत नही किया, यह बड़ी ही विचित्र बात है। हाँ, अन्य विद्वानोके बनाये हुए पाडवपुराण, नेमिपुराण, हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण और आराधनाकथाकोश नामक कुछ दूसरे ग्रन्थोके वाक्य जरूर उद्धृत किये हैं और उन्हीके आधारपर लेखकके कथनको मिथ्या सिद्ध करना चाहा है, यह समालोचनाकी दूसरी विचित्रता है। और इन दोनों विचित्रताओंमे समालोचकजीकी इस आपत्तिका सारा रहस्य आ जाता है। सहृदय पाठक इसपरसे सहजमें ही इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि समालोचकजी, इस आपत्तिको करते हुए, समालोचकके दायरेसे कितने बाहर निकल गये और उसके कर्त्तव्यसे कितने नीचे गिर गये हैं। उन्हे इतनी भी समझ नही पडी कि लेखक अपने कथनको जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणके आधारपर स्थित कर रहा है और इसलिए उसके विपक्षमे दूसरे ग्रन्थोके वाक्योंको उद्धृत करना व्यर्थ होगा, उनसे वह कथन मिथ्या नही ठहराया जासकता, उसे मिथ्या ठहरानेके लिए जिनसेनाचार्यके वाक्य ही पर्याप्त हो सकते हैं और यदि वैसे कोई विरोधी वाक्य उपलब्ध नहीं हैं तो या तो

हमें कोई आपत्ति ही न करनी चाहिए और या जिनसेनाचार्यको ही अपनी आपत्तिका विषय बनाना चाहिए।

जैन कथा-ग्रन्थोंमें सैकड़ों बातें एक दूसरेके विरुद्ध पाई जाती हैं, और वह आचार्यों-आचार्योंका परस्पर मतभेद है। पंडित टोडरमलजी आदिके सिवाय, पं० भागचन्दजीने भी इस भेद-भाव-को लक्षित किया है और नेमिपुराणकी अपनी भाषाटीकाके अन्तमें उसका कुछ उल्लेख भी किया है[1]। परन्तु यहाँपर हम एक बहुत प्रसिद्ध घटनाको लेते हैं, और वह यह है कि सीताको उत्तरपुराणमें रावणकी पुत्री और पद्मपुराणादिकमें राजा जनककी पुत्री बतलाया है। अब यदि कोई पुस्तक-लेखक अपनी पुस्तकमे इस बातका उल्लेख करे कि 'श्रीगुणभद्राचार्य-प्रणीत उत्तरपुराणके अनुसार सीता रावणकी बेटी थी, तो क्या उस पुस्तककी समा-लोचना करते हुए किसी भी समालोचकको ऐसा कहने अथवा इस प्रकारकी आपत्ति करनेका कोई अधिकार है कि पुस्तककारका वह लिखना झूठ है; क्योंकि पद्मपुराणादिक दूसरे कितने ही ग्रन्थोमे सीताको राजा जनककी पुत्री लिखा है ? कदापि नही। उसे उक्त कथनको झूठा बतलानेसे पहले यह सिद्ध करना चाहिये कि वह उस उत्तरपुराणमे नही है जिसका पुस्तकमें हवाला दिया

---

१. यथाः—"यहाँ इतना और जानना इस पुराणकी कथा [और] हरिवंशपुराणकी कथा कोई-कोई मिलै नाही जैसे हरिवंशपुराण विषै तो भगवानका जन्म सौरीपुर कह्या और इहा द्वारिकाका जन्म कह्या, बहुरि हरिवंशमे कृष्ण तीसरे नरक गया कह्या, इहा प्रथम नरक गया कह्या और भी नाम-ग्रामादिकमें फेर है सो इहा भ्रम नाही करना। यह छद्मस्थ आचार्यनके ज्ञानमें फेर पर्‌या है।"—नेमिपुराण भाषा नानौताके एक मंदिरकी प्रति।

गया है, अथवा पुस्तककारपर झूठका आरोप न करके, उस विषयमे, सीधा उत्तरपुराणके रचयितापर ही आक्रमण करना चाहिये। यदि वह ऐसा कुछ भी नही करता, बल्कि उस पुस्तक-कारके उक्त कथनको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए पद्मपुराणादि दूसरे ग्रन्थोके अवतरणोंको ही उद्धृत करता है, तो विद्वानोकी दृष्टिमे उसकी वह कृति (समालोचना) निरी अनधिकार चर्चाके सिवाय और कुछ भी महत्त्व नही रख सकती और न उसके उन अवतरणोका ही कोई मूल्य हो सकता है। ठीक वही हालत हमारे समालोचकजी और उनके उक्त अवतरणो (उद्धृत वाक्यो) की समझनी चाहिये। उन्हे या तो लेखकके कथनके विरुद्ध जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणमे कोई वाक्य उद्धृत करके बतलाना चाहिए था और या वैसे (चचा-भतीजी-जैसे) सम्बन्ध-विधानके लिये जिनसेनाचार्यपर ही कोई आक्षेप करना चाहिये था; यह दोनो बाते न करके जो आपने, लेखकके कथनको असत्य ठहरानेके लिये, पाण्डवपुराणादि दूसरे ग्रन्थोके वाक्य उद्धृत किये हैं वे सब असगत, गैरमुताल्लिक और आपकी अनधिकार चर्चाका ही परिणाम जान पडते हैं, सद्विचार-सम्पन्न विद्वानोंकी दृष्टिमें उनका कुछ भी मूल्य नही है, वे समझ सकते हैं कि ऐसे अप्रस्तुत गैरमुताल्लिक (irrelevant) हजार प्रमाणोसे भी लेखकका वह उल्लेख असत्य नही ठहराया जा सकता। और न ये दूसरे ग्रन्थोके प्रमाण, जिनके लिये समालोचनाके सात पेज रोके गये हैं, कथञ्चित् मतभेद अथवा विशेष कथनको प्रदर्शित करनेके सिवाय, जिनसेनाचार्यके वचनोपर ही कोई आपत्ति करनेके लिए समर्थ हो सकते हैं; क्योकि ये सब ग्रन्थ जिनसेनाचार्य-प्रणीत हरिवंशपुराणसे बादके बने हुए हैं—जिनसेनका हरिवंशपुराण

शक सं० ७०५ में, उत्तरपुराण शक सं० ८२० के लगभग, काष्ठासंघी भट्टारक यशःकीर्तिका प्राकृत हरिवंशपुराण वि० सं० १५०० में और शुभचन्द्र भट्टारकका पाण्डवपुराण वि० सं० १६०८ में बनकर समाप्त हुआ; बाकी ब्रह्मनेमिदत्तके नेमिपुराण और आराधनाकथाकोश तथा जिनदास ब्रह्मचारीका हरिवंशपुराण ये सब ग्रन्थ विक्रमकी प्रायः १६ वीं शताब्दीके बने हुए हैं—ऐसी हालतमें इन ग्रन्थोंका जिनसेनके स्पष्ट कथनपर कोई असर नही पड सकता और न प्राचीनताकी दृष्टिसे इन्हें जिनसेनके हरिवशपुराणसे अधिक प्रामाणिक ही माना जा सकता है। इनमें उत्तरपुराणको छोड़कर शेष ग्रन्थ तो बहुत कुछ आधुनिक हैं, भट्टारको तथा[1] भट्टारक-शिष्योके रचे हुए हैं और उन्हे जिनसेनके हरिवंशपुराणके मुकाबलेमे कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। रहा उत्तरपुराण, उसके कथनसे यह मालूम नही होता कि देवकी और वसुदेवमे चचा-भतीजीका सम्बन्ध नही था—बल्कि उस सम्बन्धका होना ही अधिकतर पाया जाता है, और इस बातको आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। साथ ही, उत्तरपुराण और जिनसेनके हरिवशपुराणकी सम्मिलित रोशनीसे दूसरे प्रमाणोंपर भी यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यहाँपर, इस वक्त मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि समालोचकजीने लेखकको सम्बोधन करके उसपर यह कटाक्ष किया है कि वह पं० गजाधरलालजीके भाषा किये हुए हरिवशपुराणके कुछ अगले पृष्ठोंको यदि पलट कर देखता तो उसे पता लग जाता कि उसके ३३६ वे पृष्ठकी २४ वीं लाइनमें स्पष्ट लिखा है कि—

---

१. ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके और जिनदास ब्रह्मचारी भट्टारक सकलकीर्त्तिके शिष्य थे।

"रानी नन्दयशा इस दशार्ण नगरमें देवसेनकी धन्या नामक स्त्रीसे यह देवकी उत्पन्न हुई है।"

बेशक, समालोचकजी! लेखकको इस भाषा-हरिवंशपुराणके पृष्ठोको पलट कर प्रकृत पृष्ठको देखनेका कोई अवसर नही मिला। परन्तु अब आपकी सूचनाको पाकर जो उसे देखा गया तो उसमें बड़ी ही विचित्रताका दर्शन हुआ है। वहाँ पं० गजाधरलालजीने उक्त वाक्यको लिये हुए, एक श्लोकका जो अनुवाद दिया है वह इस प्रकार है :—

"और रानी नन्दयशाने उन्ही पुत्रोंकी माता होनेका तथा रेवती धायने उनकी धाय होनेका निदान बाँधा। सो ठीक ही है—पुत्रोका स्नेह छोड़ना बड़ा ही कठिन है। इसके बाद वे सब लोग समीचीन तपके प्रभावसे महाशुक्र स्वर्गमे सोलह सागर आयुके भोक्ता देव हुये। वहाँसे आयुके अन्तमें चयकर शंखका जीव रोहिणीसे उत्पन्न बलभद्र हुआ है। रानी नन्दयशा श्रेष्ठ इस दशार्ण नगरमें देवसेनकी धन्या नामक स्त्रीसे यह देवकी उत्पन्न हुई है और धाय भद्रिलसा नगरमें सुदृष्टी नामक सेठकी अलका नामकी स्त्री हुई है ॥१६७॥"

यह जिनसेनके जिस मूल श्लोक नं० १६७ का अनुवाद किया गया है वह हरिवंशपुराणके ३३वें सर्गमे निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

"धात्री मानुष्यकं प्राप्ता पुरे भद्रिलसाह्वये।
सुदृष्टिश्रेष्ठिनो भार्या वर्तते ह्यलकाभिधा ॥"

कोई भी संस्कृतका विद्वान् इस श्लोकका वह अनुवाद नही कर सकता जो कि पं० गजाधरलालजीने किया है और न इसका वह कोई भावार्थ ही हो सकता है। इस श्लोकका सीधा-

सादा आशय सिर्फ इतना ही होता है कि 'वह धाय (रेवती) मनुष्य जन्मको प्राप्त हुई, इस समय भद्रिलसा नामक नगरमें सेठ सुदृष्टिकी अलका नामकी स्त्री है।' और यह आशय उक्त अनुवादके अन्तिम वाक्यमें आ जाता है, इसलिये अनुवादका शेषांश, जिसमें समालोचकजीका बड़े दर्पके साथ प्रदर्शित किया हुआ वह वाक्य भी शामिल है, मूलग्रन्थसे बाहरकी चीज जान पड़ता है। मूलग्रन्थमें, इस श्लोकसे पहले या पीछे, दूसरा कोई भी श्लोक ऐसा नही पाया जाता, जिसका आशय 'रानी नन्दयशा' से प्रारम्भ होनेवाला उक्त वाक्य हो सके[1]। इस श्लोकसे पहले "**कुर्वन्निर्नामकस्तीव्रं**" नामका पद्य और बादको '**गंगाद्या देवकीगर्भे**' नामका पद्य पाया जाता है, जिन दोनोंका अनुवाद, इसी क्रमसे—उक्त अनुवादसे पहले पीछे—प्रायः ठीक किया गया है। परन्तु उक्त पद्यके अनुवादमें बहुत-सी बाते ऊपरसे मिलाई गई हैं, यह स्पष्ट है, और इस प्रकारको मिलावट और भी सैकड़ों पद्योंके अनुवादमें पाई जाती है। जो न्यायतीर्थ पं० गजाधरलालजी, पं० दौलतरामजीकी भाषा-टीकापर आक्षेप करते हैं[2] वे स्वयं भी ऐसा गलत अथवा मिलावटको लिये हुए अनुवाद प्रस्तुत कर सकते हैं, यह बडे ही खेदका विषय है। प० दौलतरामजीने तो अपनी भाषा-वचनिकामें इतना ही लिखा है कि "राणी नदियसाका जीव यह देवकी भई" और वह भी उक्त पद्यकी टीकामें नहीं; बल्कि अगले पद्यकी टीकामें वहाँ उल्लेखित 'देवकी' का पूर्व सम्बंध

---

१. देखो, देहलीके नये मंदिर और पंचायती मंदिरके हरिवंशपुराणकी दोनों प्रतियोंके क्रमशः पत्र नं० २०७ और १५१।

२. देखो, गजाधरलालजीके भाषा-हरिवंशपुराणकी 'प्रस्तावना' पृष्ठ नं० २।

व्यक्त करनेके लिये लिखा है[1]। परन्तु गजाधरलालजीने इसपर अपनी ओरसे देवकीके माता-पिता और उत्पत्ति स्थानके नामोकी मगजी भी चढ़ा दी है, और उसमे दशार्ण नगरसे पहले उनका 'इस' शब्दका प्रयोग और भी ज्यादा खटकता है; क्योकि देवकी और वसुदेवजीसे यह सब कथा कहते हुए अतिमुक्तक मुनि उस समय दशार्ण नगरमे उपस्थित नही थे; बल्कि मथुराके पासके सहकार वनमें उपस्थित थे। इसलिये उनकी ओरसे 'इस' आशयके शब्दका प्रयोग नही बन सकता। परन्तु यहाँपर अनुवादकी भूले प्रकट करना कोई इष्ट नही है; मैं इस कथनपरसे सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि जिस बातको समालोचकजीने बड़े दर्पके साथ लेखकको दिखलाना चाहा था, उसमे कुछ भी सार नही है, वह जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे बाहरकी चीज है और इसलिये उसके आधारपर कोई आपत्ति नही की जा सकती। समालोचकजीके सामने जिनसेनका हरिवशपुराण मौजूद था—उन्होने उसके कितने ही वाक्य समालोचनामे दूसरे अवसरोपर उद्धृत किये हैं—वे स्वय इस बातको जानते थे कि पं० गजाधरलालजीने जो बात अनुवादमे कही है वह मूलमे नही है—यदि मूलमे होती तो वे सबसे पहले उस मूलको उद्धृत करते और तब कही पीछेसे अनुवादका नाम लेते—फिर भी उन्होने गजाधरलालजीके मिथ्या अनुवादको प्रमाणमे पेश किया, यह बड़े ही दुःसाहसकी बात है। उन्हें इस बातका जरा भी

---

१. यथाः—'तहाँ ते चयकरि रेवती धायका जीव भद्दलपुर विषै सुदृष्टि नामा सेठके अलका नामा स्त्री है ॥ ६७ ॥ अर राणी नंदियसाका जीव यह देवकी भई ताकै वे गगदेव आदि पूर्वले पुत्र स्वर्गतै चयकरि याजन्मविषै भी पुत्र होइंगे ॥" १६८ ॥

खयाल नहीं हुआ कि जिस धोखादेहीका मैं दूसरोंपर झूठा इलजाम लगा रहा हूँ उसका अपनी इस कृतिसे स्वयं ही सचमुच अपराधी बना जा रहा हूँ और इसलिये मुझे अपने पाठकोंके सामने 'उसी **हरिवंशपुराण**'[1] या जिनसेन[2]के नामपर ऐसी मिथ्या बातको रखते हुए शर्म आनी चाहिये। परन्तु जान पड़ता है, समालोचकजी सत्य अथवा असलियतपर पर्दा डालनेकी धुनमें इतने मस्त थे कि उन्होंने शर्म और सद्विचारको उठाकर एकदम बालाए-ताक रख दिया था, और इसीसे वे ऐसा दु.साहस कर सके हैं।

हम समालोचकजीसे पूछते हैं कि, आपने तो पं० गजाधर-लालजीके भाषा किये हुए हरिवंशपुराणके सभी पत्रोको खूब उलट-पलट कर देखा है तब आपको उसके ३६५ वे पृष्ठपर ये पंक्तियाँ भी जरूर देखनेको मिली होगी, जिनमे नवजात बालक कृष्णको मथुरासे बाहर लेजाते समय वसुदेवजी और कंसके बंदी पिता राजा उग्रसेनमे हुई वार्तालापका उल्लेख है:—

"पूज्य ! इस रहस्यका किसीको भी पता न लगे, इस देवकीके पुत्रसे नियमसे आप बंधनसे मुक्त होगे। उत्तरमें उग्र-सेनने कहा—अहा ! यह मेरे भाई देवसेनकी पुत्री देवकीका पुत्र है। मैं इसकी बात किसीको नही कह सकता। मेरी अंतरंग कामना है कि यह दिनोदिन बढ़े और वैरीको इसका पता तक न लगे।"

इस उल्लेख द्वारा यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि **'देवकी'** उन **देवसेन**की पुत्री थी जो कंसके पिता **उग्रसेन**के भाई थे और इसलिये **उग्रसेन**की पुत्री होनेसे **देवकी** और **वसुदेवमें** जो चचा-भतीजीका सम्बंध घटित होता है वही **देवसेनकी** पुत्री होनेसे भी

---

१. देखो, समालोचनाका पृष्ठ ३ रा और ६ ठा।

घटित होता है—उसमें रंचमात्र भी अन्तर नही पड़ता—क्योंकि **उग्रसेन** और **देवसेन** दोनो सगे भाई थे। फिर **देवकी**के 'भतीजी' होनेसे क्यों इनकार किया गया? और क्यो इस उल्लेखको छिपाया गया? क्या इसीलिये कि इससे हमारे सारे विरोधपर पानी फिर जायगा?

देवसेन राजा **उग्रसेन**के सगे भाई और **वसुदेव**के चचाज़ाद भाई थे, यह बात श्रीजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले।
यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपतिभास्कर: ॥ ६ ॥
सुतो नरपतिः तस्मादुद्भूद्भवधूपतिः।
यदुस्तस्मिन्भुवं न्यस्य तपसा त्रिदिवं गतः ॥ ७ ॥
सूरश्चापि सुवीरश्च शूरौ वीरौ नरेश्वरौ।
स तौ नरपतिः राज्ये स्थापयित्वा तपोभजत् ॥ ८ ॥
सूरः सुवीरमास्थाप्य मथुरायां स्वयं कृती।
स चकार कुशद्येषु पुरं सौर्य्यपुरं परम् ॥ ९ ॥
शूराश्चान्धकवृष्ट्याद्याः सूराद्भवन्सुताः।
वीरो भोजकवृष्ट्याद्याः सुवीरान्मथुरेश्वरात् ॥ १० ॥
ज्येष्ठपुत्रे विनिक्षिप्तक्षितिभारो यथायथम्।
सिद्धौ सूरसुवीरौ तौ सुप्रतिष्ठेन दीक्षितौ ॥ ११ ॥
आसीदन्धकवृष्टेश्च सुभद्रा वनितोत्तमा।
पुत्रास्तस्या दशोत्पन्नास्त्रिदशाभा दिवश्च्युताः ॥ १२ ॥
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तथा स्तिमितसागरः।
हिमवान्विजयश्चान्योऽचलो धारणपूरणौ ॥ १३ ॥
अभिचंद्र इहाख्यातो वसुदेवश्च ते दश।
दशार्हाः सुमहाभागाः सर्वेप्यन्वर्थनामकाः ॥ १४ ॥

---

१. देखो, नया मंदिर, देहलीकी प्रति।

कुन्तीमद्री च कन्ये द्वे मान्ये स्त्रीगुणभूषणे।
लक्ष्मीसरस्वतीतुल्ये भगिन्यौ वृष्टिजन्मिनाम् ॥ १५ ॥
राज्ञो भोजकवृष्टेर्या पत्नी पद्मावती सुतान्।
उग्रसेन-महासेन-देवसेनानसूत सा ॥ १६ ॥

—हरिवंशपुराण, १८ वाँ सर्ग।

इन वाक्योंके-द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'हरिवंशमें राजा 'यदु' का उदय हुआ, उसीसे यादव वंशकी उत्पत्ति हुई और वह अपने पुत्र 'नरपति' को पृथ्वीका भार सौंप कर, तपश्चरण करता हुआ, स्वर्ग-लोकको प्राप्त हुआ। नरपतिके 'सूर' और 'सुवीर' नामके दो पुत्र हुए, जिन्हें राज्यपर स्थापित करके उसने तप ले लिया। इसके बाद सूरने अपने भाई सुवीरको मथुरामें स्थापित करके स्वयं सौर्यपुर नगर बसाया; सूरसे 'अन्धकवृष्टि' आदि शूर पुत्र उत्पन्न हुए और मथुराके स्वामी सुवीरसे 'भोजकवृष्टि' आदि वीर पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई, सूर और सुवीर दोनोंने अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र (अन्धकवृष्टि भोजकवृष्टि) को राज्य देकर सुप्रतिष्ठ मुनिसे दीक्षा ली और सिद्धपदको प्राप्त किया, अन्धकवृष्टिकी सुभद्रा स्त्रीसे समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमितसागर, हिमवान, विजय, अचल, धारण, पूरण, अभिचन्द्र, और **वसुदेव** नामके दस महाभाग्यशाली पुत्र उत्पन्न हुए, साथ ही, **कुन्ती** और **मद्री** नामकी दो कन्याएँ भी हुईं, और राजा भोजकवृष्टिकी पद्मावती स्त्रीसे उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामके तीन पुत्र[1] उत्पन्न हुए।'

---

१. समालोचकजीने, तीन पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्रीके भी नामोल्लेखका पृष्ठ ३ पर उल्लेख किया है। परन्तु देहलीके नये मंदिरकी प्रतिमें, यहाँपर, पुत्रीका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। हाँ, उत्तरपुराण

यही वह सब वंशावली है जिसका सार लेखकने वसुदेवजीके उदाहरणको प्रारम्भ करते हुए दिया था। उसमे 'उग्रसेन'की जगह 'देवसेन' बना देनेसे वह उक्त उल्लेखपर भी ज्यों-की-त्यो घटित हो सकती है। इस वशावलीमे आगे समुद्रविजयादि तथा उग्रसेनादिकी सततिका कोई उल्लेख नही है। उसका उल्लेख ग्रन्थमे खंड-रूपसे पाया जाता है और उन खड-कथनोपरसे ही देवकी नृप भोजकवृष्टिकी पौत्री तथा राजा सुवीरकी प्रपौत्री और इसलिए वसुदेवकी भतीजी निश्चित होती है।

यहाँ, उन खण्ड-कथनोका उल्लेख करनेसे पहले, मैं अपने पाठकोको इतना और बतला देना चाहता हूँ कि, यद्यपि भाषा हरिवशपुराणके पृष्ठ ३३६ और ३६५ वाले उक्त दोनो उल्लेखोपरसे यह पाया जाना है कि प० गजाधरलालजीने **देवकी**को राजा **उग्रसेन**के भाई **देवसेन** (राजा) की पुत्री बतलाया है और **देवसेन**की स्त्रीका नाम **'धन्या'** (धनदेवी) तथा उनके वासस्थानका नाम 'दशार्णपुर' प्रकट किया है। परन्तु उनका यह कथन सन् १९१६ का है, जिस सालमे कि उनका भाषा हरिवंशपुराण प्रकाशित हुआ था। इससे करीब तीन वर्ष बाद—

पर्व ७० मे 'गाधारी' नामकी पुत्रीका उल्लेख जरूर मिलता है। परन्तु वहाँ वसुदेवके पिता और उग्रसेनके पिता दोनोको सगे भाई बतलाया है। और दोनोके पिताका नाम शूरवीर तथा पितामहका सूरसेन दिया है। यथा :—

> अथार्य निजशौर्येण निर्जिताशेषविद्विषः।
> ख्यातशौर्यपुराधीशसूरसेनमहीपतेः॥ ९३॥
> सुतस्य शूरवीरस्य धरिण्याश्च तनूद्भवौ।
> विख्याताऽन्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिनरादिवाक्॥९४॥

सन् १९१९ में—,'पद्मावती पुरवाल'के द्वितीय वर्षके ५वें अंकमें 'शिक्षाप्रद-शास्त्रीय-उदाहरण' नामके प्रकृत लेखपर अपना विचार प्रकट करते हुए, उन्होंने स्वयं देवकीको राजा **उग्रसेन**की पुत्री और **वसुदेव**की भतीजी स्वीकार किया है। आपके उस विचार-लेखका एक अंश इस प्रकार है :—

"जिस समय राजा वसुदेव आदि सरीखे व्यक्तियोंका अस्तित्व पृथ्वीपर था, उस समय अयोग्य व्यभिचार नहीं था। जिस स्त्रीको ये लोग स्वीकार कर लेते थे उसके सिवाय अन्य स्त्रीको माँ, बहिन, पुत्रीके समान मानते थे। इसलिये उस समय देवकी और वसुदेव सरीखे विवाह भी स्वीकार कर लिये जाते थे। अर्थात् यद्यपि कुटुम्बके नाते राजा उग्रसेन वसुदेवके भाई लगते थे, परन्तु किसी अन्य कुटुम्बसे आई हुई स्त्रीसे उत्पन्न उग्रसेनकी पुत्रीका भी वसुदेवने पाणिग्रहण कर लिया था। लेकिन उसके बाद फिर ऐसा जमाना आता गया कि लोगोंके हृदयोंसे धार्मिक-वासना विदा ही हो गई, लोग खास पुत्री और बहिन आदिको भी स्त्री बनानेमें संकोच न करने लगे, तो गोत्र आदि नियमोंकी आवश्यकता समझी गई। लोगोंने अपनेमे गोत्र आदिकी स्थापना कर चचा-ताऊजात बहिन-भाईके शादी-सम्बन्धको बंद किया। वही प्रथा आजतक बराबर जारी है।"

इस अवतरणसे इतना ही मालूम नहीं होता कि पण्डित गजाधरलालजीने देवकीको राजा उग्रसेनकी पुत्री तथा वसुदेवको उग्रसेनका कुटुम्बके नाते भाई स्वीकार किया है और दोनोंके विवाहको उस समयकी दृष्टिसे उचित प्रतिपादन किया है, बल्कि यह भी स्पष्ट जान पड़ता है कि उन्होंने उस समय चचा-ताऊजाद बहिन-भाईके शादी-सम्बन्धका रिवाज माना है और यह स्वीकार किया

है कि उस समय विवाहमे गोत्रादिके नियमोंकी कोई कल्पना नहीं थी, जरूरत पडनेपर बादको उनकी सृष्टि की गई और तभीसे उस प्रकारके कुटुम्बमें होनेवाले शादी-सम्बन्ध बद किये गये ।

इस अवतरणके बाद पंडितजीने, आजकल वैसे विवाहोकी योग्यताका निषेध करते हुए यह विधान किया है कि यदि धर्मके वास्तविक स्वरूपको समझकर लोगोमे धर्मकी स्वाभाविक—(पहले जैसी) प्रवृत्ति हो जाय तो आजकल भी ऐसे विवाहोसे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती । यथा—

"इसलिये यह बात सिद्ध है कि वसुदेव और देवकी कैसे विवाहोंकी इस समय योग्यता नही ।·· लेकिन हाँ, यदि हम इस बातकी ओर लीन हो जायँ कि जो कुछ हमारा हितकारी है वह धर्म है । हम वास्तविक धर्मका स्वरूप समझ निकले हिताहितका विवेक हो जाय हमारे धार्मिक कार्य किसी प्रेरणासे न होकर स्वभावत. हो निकले, विषय-लालसाको हम अपने सुखका केन्द्र न समझें । उस समय **देवकी** और **वसुदेव** कैसे विवाहोसे हमारी कोई हानि नही हो मकती ।"

इम सब कथनसे कोई भी पाठक क्या यह ननीजा निकाल सकता है कि पण्डित गजाधरलालजीने **देवकी** और **वसुदेव**के पूर्व-सम्बन्धके विषयमे लेखकमे कोई भिन्न बात कही है अथवा कुटुम्ब-के नाते **देवकी**को **वसुदेव**की भनीजी माननेसे इन्कार किया है ? कभी नही, बल्कि उन्होने तो अपने लेखके अन्तमें इनके विवाहकी बावत लिखा है कि वह "अयुक्त न था, उस समय यह रीति-रिवाज जारी थी ।" और उसकी पुष्टिमे अग्रवालोका दृष्टात दिया है । फिर नही मालूम समालोचकजीने किस बिरतेपर उनका वह 'रानी-

नन्दयशा' वाला वाक्य बड़े दर्पके साथ प्रमाणमें पेश किया था ? क्या एक वाक्यके छलसे ही आप अपने पाठकोंको ठगना चाहते थे ? भोले भाई भले ही आपके इस जालमें फँस जायँ परन्तु विशेषज्ञोंके सामने आपका ऐसा कोई जाल नही चल सकता। समझदारोने जिस समय यह देखा था कि आपने और जगह तो जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणके वाक्योको उद्धृत किया है, परन्तु इस मौकेपर, जहाँ जिनसेनके वाक्यको उद्धृत करनेकी खास जरूरत थी, वैसा न करके अनुवादके एक वाक्यसे काम लिया है, वे उसी वक्त ताड गये थे कि जरूर इसमें कोई चाल है—अवश्य यहाँ दालमे कुछ काला है—और वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं जान पड़ती। खेद है कि जो समालोचकजी, अपनी समालोचनामें पण्डित गजाधरलालजीके वाक्योको बड़ी श्रद्धा-दृष्टिसे पेश करते हुए नजर आते हैं उन्होंने उक्त पण्डितजीकी एक भी बात मानकर न दी—न तो **देवकी**को राजा **उग्रसेन**की लडकी माना और न **उग्रसेन**के भाई **देवसेन**की पुत्री ही स्वीकार किया ! प्रत्युत इसके, जिन-सेनाचार्यके कथनको छिपाने और उसपर पर्दा डालनेका भरसक यत्न किया है ! इस हठधर्मी और बेहयाईका भी क्या कही कुछ ठिकाना है ? जान पडता है विधर्मीजनोंकी कुछ कहा-सुनीके खयालने समालोचकजीको बुरी तरहसे तंग किया है और इसीसे समालोचनाके पृष्ठ चारपर वे लेखकपर यह आक्षेप करते हैं कि उसने—"यह नही विचार किया कि इस असत्य लेखके लिखने-से विधर्मीजन पवित्र जैनधर्मको कितनी घृणापूर्ण दृष्टिसे अव-लोकन करेंगे।"

महाशयजी ! आप अजैनोंकी—अपने विधर्मीजनोंकी—चिन्ता न कीजिये, वे सब आप जैसे नासमझ नहीं हैं जो किसी

रीति-रिवाज अथवा घटना-विशेषको लेकर पवित्र धर्मसे भी घृणा कर बैठें, उनमें बडे-बडे समझदार तथा न्याय-निपुण लोग मौजूद हैं और प्राचीन इतिहासकी खोजका प्रायः सारा काम उन्हीके-द्वारा हो रहा है। उनमें भी यह सब हवा निकली हुई है और वे खूब समझते हैं कि पहले जमानेमे विवाह-विषयक क्या, कुछ नियम-उपनियम थे और उनकी शकल बदलकर अब क्या-से-क्या हो गई है। और यदि यह मान लिया जाय कि उनमे भी आप-जैसी समझके कुछ लोग मौजूद हैं तो क्या उनके लिये—उनकी निःसार कहा-सुनीके भयसे—सत्यको छोड़ दिया जाय? सत्यपर पर्दा डाल दिया जाय? अथवाउ से असत्य कह डालनेकी धृष्टता की जाय? यह कहाँका न्याय है? क्या यही आपका धर्म है? ऐसी ही सत्यवादिताके आप प्रेमी हैं? और उसीका आपने अपनी समालोचनामे ढोल पीटा है? महाराज! सत्य इस प्रकार छिपायेमे नही छिप सकता, उसपर पर्दा डालना व्यर्थ है, आप जैनधर्मकी चिन्ता छोड़िये और अपने हृदयका सुधार कीजिये। जैनधर्म किसी रीति-रिवाजके आश्रित नही है—वह अपने अटल-सिद्धान्तोंऔर अनेकान्तात्मक स्वरूपको लिये हुए वस्तु-तत्त्वपर स्थित है—उसे कृपया अपने रीति-रिवाजोंकी दलदलमे मत घसीटिये, उसपरसे अपनी कुत्सित प्रवृत्तियो और सकीर्ण विचारोका आवरण हटाकर लोगोको उसके नग्नस्वरूपका दर्शन होने दीजिये, फिर किसीकी ताव नही कि कोई उसे घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन कर सके।

और इस देवकी-वसुदेवके सम्बन्धपर ही आप इतने क्यो उद्विग्न होते हैं? यह चचा-भतीजीका सम्बन्ध तो कई पीढ़ियोंको लिये हुए है—देवकी वसुदेवकी सगी भतीजी नही थी, सगी

भतीजी तब होती जब समुद्रविजयादि वसुदेवके ९ सगे भाइयोंमेंसे वह किसीकी लड़की होती—परन्तु आप इससे भी करीबी-सम्बन्धको लीजिये, और वह राजा उग्रसेनके पोते-पोतियोका सम्बन्ध है। कहा जाता है कि अग्रवाल-वंशकी जिन राजा **अग्रसेनसे** उत्पत्ति हुई है, उनके १८ पुत्र थे। इन पुत्रोका विवाह तो राजा अग्रसेनने दूसरे राजाओंकी राज-कन्याओसे कर दिया था; परन्तु राजा अग्रसेनकी युद्धमे मृत्यु होनेके साथ उनका राज्य नष्ट हो जानेके कारण जब इन राज्य-भ्रष्ट १८ भाइयोंको अपनी-अपनी सततिके लिये योग्य विवाह-सम्बन्धका संकट उपस्थित हुआ तो इन्होने अपने पिताके पूज्य गुरु पतजलि और मंत्री-पुत्रोके परामर्शसे अपनेमे १८ (एक प्रकारसे १७॥) गोत्रोकी कल्पना करके आपसमें विवाह-सबध करना स्थिर किया—अर्थात्, यह ठहराव किया कि अपना गोत्र बचाकर दूसरे भाईकी संततिसे विवाह कर लिया जाय—और तदनुसार एक भाईके पुत्र-पुत्रियोंका दूसरे भाईके पुत्र-पुत्रियोके साथ विवाह होगया, अथवा यो कहिये कि सगे चचा-ताऊजाद भाई-बहनोका आपसमे विवाह होगया। इसके बाद भी कुटुम्ब तथा वंशमे विवाहका सिलसिला जारी रहा—कितने ही भाई-बहनों तथा चचा-भतीजियोका आपसमे विवाह हुआ—और उन्ही विवाहोका परिणाम यह आजकलका विशाल अग्रवाल-वंश है, जिसमे जैन और अजैन दोनो प्रकारकी जनता शामिल है। और इससे अजैनोके लिए जैनोके किसी पुराने कौटुम्बिक विवाहपर आपत्ति करने या उसके कारण जैनधर्मसे ही घृणा करनेकी कोई वजह नही हो सकती। आज भी अग्रवाल लोग, उसी गोत्र-पद्धतिको टालकर, अपने उसी एक वंशमें—अग्रवालोके ही साथ विवाह-सम्बन्ध करते हैं, यह प्राचीन रीति-रिवाज तथा

घटना-विशेषको प्रदर्शित करनेवाला कितना स्पष्ट उदाहरण है। बाबू बिहारीलालजी अग्रवाल जैन बुलन्दशहरीने अपने **'अग्रवाल इतिहास'** मे भी अग्रवालोकी उत्पत्तिका यह सब इतिहास दिया है। इतनेपर भी समालोचकजी प्राचीन कालके ऐसे विवाह-सम्बन्धोपर, जिनके कारण बहुत-सी श्रेष्ठ जनताका इस समय अग्रवाल वंशमे अस्तित्व है, घृणा प्रकाशित करते हैं और उनपर पर्दा डालना चाहते हैं, यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है !!

पाठकजन, यह बात मानी हुई है और इसमे किसीको आपत्ति नही कि **'कंस'** उन यदुवंशी राजा **उग्रसेन**का पुत्र था, जिनका उल्लेख ऊपर उद्धृत की हुई वंशावलीमे **भोजक-वृष्टि**के पुत्ररूपमे पाया जाता है। यह **कंस** गर्भमे आते ही माता-पिताको अतिकष्टका कारण हुआ और अपनी आकृतिसे अत्युग्र जान पड़ता था, इसलिये पैदा होते ही एक मजूषामें **बन्द** करके इसे यमुनामे बहा दिया गया था। दैवयोगमे, **कौशाम्बी**मे यह एक कलाली (मद्यकारिणी) के घर पला, शस्त्र-विद्यामे **वसुदेव**का शिष्य बना और **वसुदेव**की सहायतासे इसने महाराज **जरासंध**के एक शत्रुको बाँधकर उनके सामने उपस्थित किया। इसपर **जरासंधने** अपनी **कालिन्दसेना** रानीमे उत्पन्न **'जीवद्यशा'** पुत्रीका विवाह **कंस**से करना चाहा। उस वक्त **कंस**का वश-परिचय पानेके लिये जब वह मद्यकारिणी बुलाई गई और वह मंजूषा सहित आई तो उस मंजूषाके लेखपरसे **जरासंध**को यह मालूम हुआ कि **कंस** मेरा भानजा है—मेरी बहन **पद्मावती**से **उग्रसेन**-द्वारा उत्पन्न हुआ है—और इसलिये उसने बड़ी खुशीके साथ अपनी पुत्रीका विवाह उसके साथ कर दिया। इस विवाहके अवसरपर **कंस**को अपने पिता **उग्रसेन**की इस निर्दयताका हाल मालूम करके—कि उसने

पैदा होते ही उसे नदीमें बहा दिया—बड़ा क्रोध आया और इसलिए उसने **जरासंधसे मथुराका** राज्य माँगकर सेना आदि साथ ले **मथुराको** जा घेरा। और वहाँ पिताको युद्धमें जीतकर बाँध लिया तथा अपना बंदी बनाकर उसे **मथुराके** द्वारपर रक्खा। इस पिछली बातको जिनसेनाचार्यने नीचे लिखे तीन पद्योंमें जाहिर किया है :—

> सद्योजातं पिता नद्यां मुक्तवानिति च क्रुधा।
> वरीत्वा मथुरां लब्ध्वा सर्वसाधनसंगतः॥ २५॥
> कंसः कालिन्दसेनायाः सुतया सह निर्घृणः।
> गत्वा युद्धे विनिर्जित्य बबन्ध पितरं द्रुतं॥ २६॥
> महोग्रो भग्नसंचारं उग्रसेनं निगृह्य सः।
> अतिष्ठिपत्कनिष्ठः सः स्वपुरद्वारगोचरे॥ २७॥
>
> —हरिवंशपुराण, ३३वाँ सर्ग।

इसके बाद **कंसने** सोचा कि यह सब (**जीवद्यशासे** विवाहका होना और मथुराका राज्य पाना) **वसुदेवका** उपकार है, मुझे भी उनके साथ कुछ प्रत्युपकार करना चाहिये और इसलिये उसने प्रार्थना-पूर्वक अपने गुरु **वसुदेवको** बडी भक्तिके साथ **मथुरामें** लाकर उन्हें गुरुदक्षिणाके तौरपर अपनी बहन **'देवकी'** प्रदान की—अर्थात्, अपनी बहन **देवकीका** उनके साथ विवाह कर दिया।

विवाहके पश्चात् वसुदेवजी **कंसके** अनुरोधसे **देवकीसहित मथुरामें** रहने लगे। एक दिन **कंसके** बड़े भाई **'अतिमुक्तक'** मुनि[1]

---

१. ये 'अतिमुक्तक' मुनि राजा उग्रसेनके बड़े पुत्र थे और पिताके साथ किये हुए कंसके व्यवहारको देखकर संसारसे विरक्त हो गये थे, ऐसा

आहारके लिये **कंसके** घरपर आए। उस समय **कंसकी** रानी **जीवद्यशा** उन्हें प्रणाम कर बड़े विभ्रमके साथ उनके सामने खड़ी हो गयी और उसने **देवकी**का रजस्वल वस्त्र मुनिके समीप डालकर हँसी-दिल्लगी उडाते हुए उनसे कहा 'देखो ! यह तुम्हारी बहन **देवकी**का आनन्द वस्त्र है'।

इसपर संसारकी स्थितिके जाननेवाले मुनिराजने अपनी वचन-गुप्तिको भेदकर खेद प्रकट करते हुए, कहा '**अरी क्रीडन-शीले** ! तू शोकके स्थानमें क्या आनद मना रही है, इस **देवकी**के गर्भसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होनेवाला है जो तेरे पति और पिता दोनोके लिये काल होगा, इसे भवितव्यता समझना।' मुनिके इस कथनसे **जीवद्यशा**को बड़ा भय मालूम हुआ और उसने अश्रुभरे लोचनोमे जाकर वह सब हाल अपने पतिसे निवेदन किया। **कंस** भी मुनि-भाषणको सुनकर डर गया और उसने शीघ्र ही **वसुदेव**के पास जाकर यह वर माँगा कि 'प्रसूतिके' समय देवकी मेरे घरपर रहे'। **वसुदेव**को इस सब वृत्तान्तकी कोई खबर नही थी और इसलिये उन्होने **कंस**की वर-याचनाके गुप्त रहस्यको न समझकर वह वर उसे दे दिया। सो ठीक है 'सहोदरके घर बहनके किसी नाशकी कोई आशंका भी नही की

जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणसे मालूम होता है, जिसका एक पद्य इस प्रकार है:—

उग्रसेनात्मजो ज्येष्ठोऽतिमुक्तक इतोरितः।
भवस्थितिमिमां वीक्ष्य दध्याविति निजे हृदि ॥१२–६१॥

परन्तु ब्रह्मनेमिदत्त अपने कथाकोशमे इन्हें कंसका छोटा भाई लिखते हैं। यथा—

"तदा कंसलघुभ्राता दृष्ट्वा संसारचेष्टितम्।
अतिमुक्तकनामासौ संजातो मुनिसत्तमः॥

जाती'—**कंस देवकीका** सहोदर (सगा भाई) था, उसके घरपर **देवकीके** किसी अहितकी आशंकाके लिये **वसुदेवके** पास कोई कारण नही था, जिससे वे किसी प्रकार उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार करनेके लिये बाध्य हो सकते, और इसलिये उन्होंने खुशीसे **कंसकी** प्रार्थनाको स्वीकार करके उसे वचन दे दिया।

यह सब कथन जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणसे लिया गया है। इस प्रकरणके कुछ प्रयोजनीय पद्य प० दौलतरामजीकी भाषा-टीका सहित इस प्रकार है :—

> **वसुदेवोपकारेण हृतः प्रत्युपकारधीः।**
> **न वेत्ति किं करोमीति किंकरत्वमुपागतः ॥ २८ ॥**
> **अभ्यर्थ्य गुरुमानीय मथुरां पृथुभक्तितः।**
> **स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम् ॥ २९ ॥**

टीका—"कंस मथुराका राज पाय अर विचारी यह सब उपगार वसुदेवका है। सो मैं हू याकी कुछ सेवा करूँ ॥२८॥ तब प्रार्थना करि **वसुदेव** कूं महाभक्तिते (सू) मथुराविषैं लाया अर अपनी वहन देवकी वसुदेवकूं परनाई ॥२९॥"

> "जातुचिन्मुनिवेलायामतिमुक्तकमागतम्।
> कंसज्येष्ठं मुनिं नत्वा पुरः स्थित्वा सविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
> हसंती नर्मभावेन जगौ जीवद्यशा इति।
> आनन्दवस्त्रमेतत्ते देवक्याः स्वसुरीक्षताम् ॥ ३३ ॥

टीका—"एक दिन आहारके समै कंसके बड़े भाई अतिमुक्तक नामा मुनि कसके घर आहारकूं आए ॥ ३२ ॥ तब नमस्कार करि जीवंयशा चंचल भावकरि हँसती थकी देवकीके रजस्वलापनेके वस्त्र स्वामीके समीप डारे अर कहती भई। ए तिहारी वहनके आनन्दके वस्त्र हैं सो देषहु ॥ ३३ ॥"

"भविता यो हि देवक्या गर्भेऽवश्यमसौ शिशुः ।
पत्युः पितुश्च ते मृत्युरितीयं भवितव्यता ॥ ३६ ॥
ततो भीतमतिर्मुक्त्वा मुनिं साश्रुनिरीक्षणा ।
गत्वा न्यवेदयत्सैतत्सत्यं यतिभाषितम् ॥ ३७ ॥
श्रुत्वा कंसोऽपि शंकावानाशु गत्वा पदानतः ।
वसुदेवं वरं वव्रे तीव्रधीः सत्यवाग्व्रतम् ॥ ३८ ॥
स्वामिन्वरप्रसादो मे दातव्यो भवता ध्रुवम् ।
प्रसूतिसमये वासो देवक्या मद्गृहेऽस्त्विति ॥ ३९ ॥
सोऽप्यविज्ञातवृत्तान्तो दत्तवान्वरमस्तधीः ।
नापायः शंक्यते कश्चित्सोदरस्य गृहे स्वसुः ॥ ४० ॥"

टीका—" (मुनिने कहा) या देवकीके गर्भ विषैं ऐसा पुत्र होयगा जो तेरे पतिकूँ अर पिताकूँ मारेगा ॥ ३६ ॥ तब यह जीवजशा अश्रुपात करि भरे हैं नेत्र जाके सो जायकरि अपने पतिकूँ मुनिके कहे हुए वचन कहती भई ॥ ३७ ॥ तब कंस ए वचन सुनकरि शंकावान होय तत्काल वसुदेव पै गया अर वर मांग्या ॥ ३८ ॥ कही हे स्वामी, मोहि यह वर देहु जो देवकीकी प्रसूति मेरे घर होय। सो वसुदेव तो यह वृत्तान्त जाने नाही ॥ ३९ ॥ विना जाने कही तिहारे ही घर प्रसूतिके समै वह निवास करहु । यामे दोष कहा । बहन का जापा भाईके घर होय यह तो उचित ही है । या भाँति वचन दिया ॥ ४० ॥"

इन पद्योंमेंसे २९वें, ३३वें और ४०वें पद्यमें यह स्पष्टरूपसे घोषित किया गया है कि **देवकी कंस**की बहन थी, **कंस**के बड़े भाई **अतिमुक्तक**की बहन थी और कंस उसका **'सोदर'** था। **'सोदर'** शब्दको यहाँ आचार्य महाराजने खासतौरपर अपनी ओरसे प्रयुक्त किया है और उसके-द्वारा **देवकी** और **कंस**में बहन-भाईके अत्यन्त निकट सम्बन्धको घोषित किया है। **'सोदर'** कहते

हैं 'सहोदर' को—सगे भाईको—जिनका उदर तथा गर्भाशय समान है—एक है—अथवा जो एक ही माताके पेटसे उत्पन्न हुए हैं वे सब '**सोदर**' कहलाते हैं। और इसलिए सोदर, समानोदर, सहोदर, सगर्भ, सनाभि और सोदर्य ये सब एकार्थ-वाचक शब्द हैं। 'शब्द कल्पद्रुम' मे भी सोदरका यही अर्थ दिया है। यथा:—

"सोदरः, (सह समानं उदरं यस्य। सहस्य सः।) सहोदरः इति शब्दरत्नावली।" "सहोदरः, एकमातृगर्भजातभ्राता। तत्पर्यायः—, सहजः, सोदरः, भ्राता, सगर्भः, समानोदर्यः, सोदर्यः इति जटाधरः।"

वामन शिवराम आप्टेने भी अपने कोशमे इसी अर्थका विधान किया है। यथा :—

"सोदर a. [समानमुदरं यस्य समानस्य सः] Born from the same womb (गर्भ, गर्भाशय), uterine. —रः a uterine brother."

"Uterine, सहोदर, सोदर, समानोदर, सनाभि."

ऐसी हालतमें, **देवकी कंसकी** बहन ही नही, किन्तु सगी बहन हुई और इसलिये उसे राजा **उग्रसेनकी** पुत्री, नृप **भोजक-वृष्टिकी** पौत्री, महाराजा **सुवीरकी** प्रपौत्री और (सुवीरके सगे भाई सूरके पोते) **वसुदेवकी** भतीजी कहना कुछ भी अनुचित मालूम नही होता।

वंशावलीके बादके इन्ही सब खण्ड-उल्लेखोंको लेकर **देवकीको** राजा **उग्रसेनकी** पुत्री लिखा गया था। परन्तु हालमे जिनसेना-चार्यके हरिवंशपुराणसे एक ऐसा वाक्य उपलब्ध हुआ है जिससे

मालूम होता है कि **देवकी** खास **उग्रसेन**की पुत्री नहीं, किन्तु **उग्रसेन**के भाईकी पुत्री थी और वह वाक्य इस प्रकार है:—

प्रवर्द्धतां भ्रातृशरीरजायाः सुतोऽयमज्ञेयमरेरितीष्टाम् ।
तदौग्रसेनीमभिनंद्य वाचममू विनिर्जग्मतुराशु पुर्याः ॥ २६ ॥

—३५ वाँ सर्ग ।

यह वाक्य उस अवसरका है जब कि नवजात बालक कृष्णको लिये हुए वसुदेव और बलभद्र दोनो मथुराके मुख्य-द्वार-पर पहुँच गये थे, बालककी छीकका गंभीर नाद होनेपर द्वारके ऊपरमे राजा उग्रसेन उसे यह आशीर्वाद दे चुके थे कि 'तू चिरकाल तक इस ससारमे निर्विघ्न रूपसे जीता रहो' और इस प्रिय आशीर्वादसे संतुष्ट होकर **वसुदेव**जी उनसे यह निवेदन कर चुके थे कि 'कृपया इस रहस्यको गुप्त रखना, 'देवकीके इस पुत्र-द्वारा आप बंधनमे छूटोगे (**विमुक्तिरस्मात्तव दैवकेयात्**) ।' इस कथनके अनन्तरका ही उक्त पद्य है । इसके पूर्वार्धमे राजा **उग्रसेन**जी **वसुदेव**जीकी प्रार्थनाके उत्तरमे पुनः आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—'यह मेरे भाईकी पुत्रीका पुत्र शत्रुसे अज्ञात रहकर वृद्धिको प्राप्त होओ' और उत्तरार्धमें ग्रन्थकर्त्ता आचार्य बतलाते हैं कि 'तब **उग्रसेन**की इस इष्ट वाणीका अभिनन्दन करके—उसकी सराहना करके—वे दोनो—वसुदेव और बलभद्र—नगरी (मथुरा) से बाहर निकल गये । '

इस वाक्यसे जहाँ इस विषयमें कोई संदेह नही रहता कि **देवकी** राजा **उग्रसेन**के भाईकी पुत्री थी वहाँ यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वह **वसुदेव**की भतीजी थी ; क्योकि **उग्रसेन** आदि **वसुदेव**के चचाजाद भाई थे और इसलिये **उग्रसेन**की पुत्री न होकर **उग्रसेन**के भाईकी पुत्री होनेसे **देवकी**के उस सम्बन्धमें रंचमात्र भी अन्तर नही पड़ता ।

राजा **उग्रसेन**के दो सगे भाई थे—**देवसेन** और **महासेन**—जैसा कि पहले उद्धृत की हुई वंशावलीसे प्रकट है। उनमेसे, यद्यपि, यहाँपर किसीका नाम नही दिया, परन्तु पं० दौलतरामजी-ने अपनी भाषा-टीकामे **उग्रसेन**के इस भाईका नाम '**देवसेन**' सूचित किया है। यथा:—

"हे पूज्य यह रहस्य गोप्य राखियों। या देवकीके पुत्र तैं तिहारा वंदिगृह तैं, छूटना होयगा। तब उग्रसेन कही यह मेरे भाई देवसेनकी पुत्रीका पुत्र वैरीकी बिना जानमे सुखतैं रहियो।"

पं० गजाधरलालजीने भी इस प्रसंगपर, अपने अनुवादमें, '**देवसेन**' का ही नाम दिया है जिसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है और उनकी, प० दौलतरामजी वाली इन पंक्तियोके आशयसे मिलती-जुलती, पक्तिया भी ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं। हो सकता है कि उनका यह नामोल्लेख पं० दौलतरामजीके कथनका अनुकरण मात्र हो, क्योकि तीन साल बादके अपने विचार-लेखमे, जिसका एक अश '**पद्मावतीपुरवाल**' से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, उन्होने स्वयं **देवकी**को राजा **उग्रसेन**की पुत्री स्वीकार किया है। परन्तु कुछ भी हो, पं० दौलतरामजीने **उग्रसेन**के उस भाईका नाम जो **देवसेन** सूचित किया है वह ठीक जान पडता है और उसका समर्थन उत्तरपुराण (पर्व ७०) के निम्न वाक्योसे होता है :—

> अथ स्वपुरमानीय वसुदेवमहीपतिम्।
> देवसेनसुतामस्मै देवकीमनुजां निजाम् ॥३६९॥"
> विभूतिमद्वितीयैवं काले कंसस्य गच्छति।
> अन्येद्युरतिमुक्ताख्यमुनिर्भिक्षार्थमागमत् ॥३७०॥"
> राजगेहं समीक्ष्यैनं हासाज्जीवद्यशा मुदा।
> देवकीपुष्पजानन्दवस्त्रमेतत्तवानुजा ॥३७१॥

स्वस्याश्चेष्टितमेतेन प्रकाशयति ते मुने।
इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सकोपः सोऽपि गुप्तिभित् ॥३७२॥

इन वाक्यों-द्वारा यह बतलाया गया है कि—'**कंसने** नृप **वसुदेव**को अपने नगरमे लाकर उन्हें **देवसेन**की पुत्री अपनी छोटी बहन '**देवकी**' प्रदान की (विवाह दी)। इसके बाद कुछ काल बीतनेपर एक दिन 'अतिमुक्त' नामके मुनि भिक्षाके लिये कसके राजभवनपर आए। उन्हें देखकर (कंसकी रानी) जीवद्यशा प्रसन्न हो हँसीसे कहने लगी देखो! यह देवकीका रजस्वल आनन्द वस्त्र है और इसके-द्वारा तुम्हारी छोटी बहन (देवकी) अपनी चेष्टाको तुमपर प्रकट कर रही है।' इसे सुनकर मुनिको क्रोध आ गया और वे अपनी वचनगुप्तिको भग करके कहने लगे, क्या कहने लगे, यह अगले पद्योमे बतलाया गया है।

यहाँ देवकीके लिये दो जगहपर '**अनुजा**' विशेषणका जो प्रयोग किया गया है वह खासतौरसे ध्यान देने योग्य है। अनुजा कहते हैं कनिष्ठा भगिनी[1] को—younger sister[2]को—जो अपने बाद पैदा हुई हो (अनु पश्चात् जाता इति अनुजा।) और यह शब्द प्रायः अपनी सगी बहन अथवा अपने सगे ताऊ-चचाकी लडकीके लिये प्रयुक्त होता है। **कंस उग्रसेन**का पुत्र था और **उग्रसेन, देवसेन** दोनो सगे भाई थे, यह बात इस ग्रन्थ (उत्तर-पुराण) मे भी इससे पहले मानी गई है[3] और इसलिये कंसने

---

१. देखो 'शब्दकल्पद्रुम' कोश। २. देखो वामन शिवराम आप्टेकी संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

३. **पद्मावत्या द्वितीयस्य वृष्टेश्च तनयास्त्रयः।**
उग्र देव-महाद्युक्तिसेनान्ताश्च गुणान्विताः ॥ १०० ॥

× × ×

देवसेनकी पुत्री अपनी छोटी बहन **देवकी** (देवसेनसुतां निजां अनुजां देवकी) वसुदेवको प्रदान की, इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि कंसने अपने चचा देवसेनकी पुत्री देवकी वसुदेवसे ब्याही। भावनगरकी एक पुरानी जीर्ण प्रतिमें, प्रथम पद्यमें आए हुए 'देवसेन' नामपर टिप्पणी देते हुए, लिखा है—

"उग्रसेन-देवसेनमहासेनास्त्रयो नरवृष्णेः पुत्रा ज्ञातव्याः" अर्थात्—उग्रसेन, देवसेन और महासेन ये तीन नरवृष्णि[1] (भोजकवृष्टि) के पुत्र जानने चाहिये। इससे उक्त अर्थका और भी ज्यादा समर्थन हो जाता है और किसी संदेहको स्थान नही रहता। अस्तु; यह देवसेन मृगावती देशके अन्तर्गत दशार्णपुरके राजा थे, 'धनदेवी' इनकी स्त्री थी और इसी धनदेवीसे देवकी उत्पन्न हुई थी; ऐसा उत्तरपुराणके निम्नवाक्यसे प्रकट है :—

मृगावत्याख्यविषये दशार्णपुरभूपतेः।
देवसेनस्य चोत्पन्ना धनदेव्याश्च देवकी ॥

७१ वाँ पर्व।

और इसलिये ब्रह्मनेमिदत्तके नेमिपुराण, जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराण, भट्टारक शुभचन्द्रके पाण्डवपुराण और भ० यशःकीर्तिके प्राकृत हरिवंशपुराणमे देवकीके पिता, धनदेवीके

इति तद्वचनं श्रुत्वा मंजूषान्तस्थपत्रकं।
गृहीत्वा वाचयित्वोच्चैरुग्रसेनमहीपतेः ॥ ३६५ ॥
पद्मावत्याश्च पुत्रोयमिति ज्ञात्वा महीपतिः।
वितताार सुतां तस्मै राज्यार्धं च प्रतुष्टवान् ॥ ३६६ ॥
कंसोऽप्युत्पत्तिमात्रेण स्वस्य नद्यां विसर्जनात्।

—उत्तरपुराण, ७० वाँ पर्व।

१. उत्तरपुराणमे भोजकवृष्टि (वृष्णि) की जगह नरवृष्णि या नरवृष्टि ऐसा नाम दिया है।

पति और दशार्णपुरके राजा रूपसे जिन देवसेनका उल्लेख पाया जाता है और जिनके उल्लेखोको, इन ग्रंथोसे, समालोचनामे उद्धृत किया गया है वे ये ही राजा **उग्रसेन**के भाई देवसेन हैं— उनसे भिन्न दूसरे कोई नही हैं। नेमिपुराणमें तो उत्तरपुराणकी उक्त दोनो पंक्तियाँ भी ज्यो-की-त्यो उद्धृत पाई जाती है बल्कि इनके बादकी "त्वंसा नन्दयशा स्त्रीत्वमुपगम्य निदानत:" यह तीसरी पंक्ति भी उद्धृत है और ग्रन्थके प्रारभमे अपने पुराण-कथनको प्रधानत. गुणभद्रके पुराण (उत्तरपुराण) के आश्रित सूचित किया है। यथा :—

> यत्पुराणं पुरोक्तं गुणभद्रादिसूरिभिः।
> तद्वक्ष्ये तुच्छबोधोऽहं किमाश्चर्यमतः परं ॥ २८ ॥

पाण्डवपुराणमे, गुणभद्रकी स्तुतिके बाद स्पष्ट लिखा ही है कि उनके पुराणार्थका अवलोकन करके यह पुराण रचा जाता है। यथा :—

> गुणभद्रभदंतोऽत्र भगवान् भातु भूतले।
> पुराणाद्रौ प्रकाशार्थं येन सूर्यायितं लघु ॥ १९ ॥
> तत्पुराणार्थमालोक्य धृत्वा सारस्वतं श्रुतम्।
> मानसे पाण्डवानां हि पुराण भारतं ब्रुवे ॥ २० ॥

जिनदास ब्रह्मचारीका हरिवंशपुराण प्राय जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणको सामने रखकर लिखा गया है और उसमे जिनसेनके वाक्योका बहुत कुछ शब्दानुसरण पाया जाता है। जिनदासने स्वयं लिखा भी है कि गौतमगणधरादिके बाद हरिवंशके चरित्रको जिनसेनाचार्यने पृथ्वीपर प्रसिद्ध किया है। और उन्हीके वाक्योपरसे यह चरित्र अपने तथा दूसरोके सुख-बोधार्थ यहाँ उद्धृत किया गया है। यथा :—

ततः क्रमाच्छ्रीजिनसेननाम्नाचार्येण जैनागमकोविदेन ।
सत्काव्यकेलीसदनेन पृथ्व्यां नीतं प्रसिद्धिं चरितं हरेश्च ॥३५॥
श्रीनेमिनाथस्य चरित्रमेतदाननं (?) नीत्वा जिनसेनसूरेः ।
समुद्धृतं स्वान्यसुखप्रबोधहेतोश्चिरं नन्दतु भूमिपीठे ॥४१॥"

—४० वाँ सर्ग।

और यश.कीर्तिने भी अपने प्राकृत हरिवंशपुराणको जिनसेनके आधारपर लिखा है। वे उसके शब्द-अर्थका सम्बंध जिनसेनके शास्त्र (हरिवंशपुराण) से बतलाते हैं। यथा.—

अइ महंत पिक्खिवि जणु संकिउ। ता हरिवंसु मइंमिउंहिंकिउ।
सद्द-अत्थसंबंधु फुरंतउ। जिणसेणहो सत्तहो यहु पयडिउ॥

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि उक्त नेमिपुराणादि चारों ग्रंथ जिनसेनके हरिवंशपुराण और गुणभद्रके उत्तरपुराणके आधारपर लिखे गये हैं और इसलिये इनमेंसे यदि किसीमें देवकीको कसकी या कंसके भाई अतिमुक्तककी बहन (स्वसा), छोटी बहन (अनुजा) अथवा राजा **उग्रसेनके** भाईकी पुत्री (भ्रातृशरीरजा, इत्यादि) नही लिखा हो तो इतने परसे ही वह किसी दूसरे देवसेनकी पुत्री नही ठहराई जा सकती, जबतक कि कोई स्पष्ट कथन ग्रथमे इसके विरुद्ध न पाया जाता हो। और यदि इन ग्रथोमेसे किसीमे ऐसा कोई विरोधी कथन हो भी तो वह उस ग्रन्थकारका अपना तथा अर्वाचीन कथन समझना चाहिये, उसे जिनसेनके हरिवंशपुराण और गुणभद्रके उत्तरपुराणपर कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। परन्तु इन ग्रन्थोमे ऐसा कोई भी विरोधी कथन मालूम नही पड़ता, जिससे देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेनसे भिन्न किसी दूसरे देवसेनकी पुत्री ठहराई जा सके[1]।

---

१. जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणमें तो उन तीनों अवसरोंपर

फिर भी समालोचकजी नेमिपुराणमें यह स्वप्न देख रहे हैं कि उसमें देवकीको कंसके मामाकी पुत्री लिखा है और उसीके निम्न वाक्योंके आधारपर यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि देवकी कंसके मामाकी लड़की थी, इसलिये कंस उसे बहन कहता था और इसीसे जिनसेनाचार्यने, हरिवंशपुराणमें, उसे कंसकी बहन रूपसे उल्लेखित किया है:—

तत. स्वयं समादाय पितुः राज्यं स कंसवाक्।
गौरवेण समानीय वसुदेवं स्वपत्तनम् ॥ ८६ ॥
तदा मृगावतीदेशे भूभुंजादेशनं (?) पुन्त्।
कंसमातुलजानीता[ता]धनदेव्या[व्यां]समुद्भवा[वां] ॥८७॥
देवकी[कीं]नामतां[तः]कन्यां कांचिदन्य [न्यां]सुरांगना[नां]।
महोत्सवैर्ददौ तस्मै सोऽपि सार्धं तया स्थितः ॥ ८८ ॥

इन पद्योंमेसे मध्यका पद्य नं० ८७, यद्यपि, ग्रन्थकी सब प्रतियोमे नही पाया जाता—देहलीके नये मदिरकी एक प्रतिमे भी वह नही है—और न इसके अभावसे ग्रन्थके कथन सम्बधमे ही कोई अन्तर पड़ता है, हो सकता है कि यह 'क्षेपक' हो। फिर भी

देवकीको कंस तथा अतिमुक्तककी बहन ही लिखा है जिनपर जिनसेनके हरिवंशपुराणमे वैसा लिखा गया है। यथा:—

"आनीय मथुरां भक्त्याऽभ्यर्चयाथ प्रददौ निजां।
स्वसारं देवकीं तस्मै सम्मान्य मृदुभाषया ॥ ६८ ॥
"सविभ्रमा हसंतीति प्राह जीवद्यशा स्वसुः।
देवक्या वीक्ष त्वं वस्त्रमृतुकालविडंबितम् ॥ ७१ ॥
"वरमज्ञातवृत्तान्तः प्रददौ स्वच्छधीः स्वयं।
तथेत्युक्त्वा स्वसुर्भ्रातृगेहे किं च न कुत्सितं ॥ ८० ॥"
—१२ वाँ सर्ग।

१. इस प्रकारकी ब्रैकटोंके भीतर जो पाठ दिया है वह शुद्ध पाठ है और ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंमें पाया जाता है।

हमें इस पद्यके अस्तित्वपर आपत्ति करनेकी कोई जरूरत नही है। इसमें '**कंसमातुलजानीतां**' नामका जो विशेषण पद है उससे यह बात नहीं निकलती कि देवकी कंसके मामाकी लड़की थी, बल्कि कंसके मातुलपुत्र द्वारा वह लाई गई थी (कंसमातुलजेन आनीता तां = कंसमातुलजानीतां), यह उसका अर्थ होता है। कंसका मामा जरासंध था। जरासंधके किसी पुत्र-द्वारा देवकी दशार्णपुरसे मथुरा लाई गई होगी, उसीका यहाँपर उल्लेख किया गया है। पिछले दोनों पद्योंमें '**कन्यां**' पदके जितने भी विशेषण पद हैं वे सब द्वितीया विभक्तिके एकवचन हैं और इसलिये "**कंसमातुल-जानीतां**" पद[१]का दूसरा कोई अर्थ नहीं होता, जिससे देवकीको कंसके मामाकी पुत्री ठहराया जा सके। इस नेमिपुराणकी भाषा-टीका पंडित भागचन्दजीने की है। उन्होने भी इन पद्योंकी टीकामें देवकीको कंसके मामाकी पुत्री अथवा दशार्णपुरके देवसेन राजाको कंसका मामा नही बतलाया, जैसा कि उक्त टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है :—

"मृगावती देशविषै दशार्णपुर तहाँ देवसैन राजा अर धनदेवी रानी तिनकी देवकीनामा पुत्री मँगाय मानों दूसरी देवाँगनाही है ताहि महोत्सवकर सहित वसुदेवके अर्थ देता भया। वसुदेव ता सहित तिष्ठै।"

—नानौताके एक जैनमंदिरकी प्रति।

---

१. देहलीके नये मंदिरकी दूसरी प्रति और पंचायती मंदिरकी प्रतिमें भी मध्यका श्लोक जरूर है परन्तु उनमें इस पदकी जगह "कंसमातुल आनीता [ता]" ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ होता है 'कंसके मामा द्वारा लाई हुई'। परन्तु वह मामा द्वारा लाई गई हो या मामाके पुत्र द्वारा, किन्तु मामाकी पुत्री नहीं थी, यह स्पष्ट है।

जान पड़ता है समालोचकजीने वैसे ही बिना समझे उक्त पद-परसे देवकीको कंसके मामाकी पुत्री और देवसेनको कंसका मामा कल्पित कर लिया है और अपनी इस निःसार कल्पनाके आधारपर ही आप अपने पाठकोंका यह सदेह दूर करनेके लिये तैय्यार हो गये हैं कि जिनसेनने हरिवंशपुराणमें देवकीको कंसकी बहन क्योंकर लिखा है ! यह कितने साहसकी बात है ! आपने यह नही सोचा कि जिनसेनाचार्य तो स्वयं देवकीको राजा उग्रसेनके भाईकी पुत्री बतला रहे हैं और देवसेन उग्रसेनका सगा भाई था, फिर वह कंसके मामाकी लड़की कैसे हो सकती है ? वह तो कंसके सगे चचाकी लड़की हुई । परन्तु आप तो सत्य पर पर्दा डालनेकी धुनमे मस्त थे आपको इतनी समझ-बूझसे क्या काम ?

यहाँपर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि पहले जमानेमे मामाकी लड़कीसे विवाह करनेका आम रिवाज था और इसलिये मामाकी लड़कीको उस वक्त कोई बहन नही कहता था । और न शास्त्रोमे बहन रूपसे उसका उल्लेख पाया जाता है । समालोचकजी लिखनेको तो लिख गये कि देवकी कंसके मामाकी लडकी थी और इसलिये **कंस** उसे बहन कहता था परन्तु पीछेसे यह बात उन्हे भी खटकी जरूर है और इसलिये आप समालोचनाके पृष्ठ ११ पर लिखते हैं :—

"देवकी कंसके मामाकी बेटी थी। आजकल मामाकी बेटीको भी बहन मानते हैं । शायद इसपर बाबूसाहब यह कह सकते हैं पहले मामाकी बेटी बहन नही मानी जाती थी, क्योकि लोग मामाकी बेटीके साथ विवाह करते थे और दक्षिणदेशमे अब भी करते हैं, परन्तु इस सन्देहको आराधनाकथाकोशके श्लोक अच्छी तरह दूर कर देते हैं साथमें बाबूसाहबके खास गाँव देवबंदमें जो

आराधनाकथाकोश छपा है उससे भी यह संदेह साफ तौरसे काफूर हो जाता है।"

इससे जाहिर है कि समालोचकजीने देवकीको यदुवंशसे पृथक् करने और उसे भोजकवृष्टिकी पौत्री न माननेका अपना अन्तिम आधार आराधनाकथाकोशके कुछ श्लोकों और उनके भाषापद्यानुवाद पर रक्खा है। आपके वे श्लोक इस प्रकार हैं:—

> अथेह मृत्तिकावत्यां पुर्यां देवकि[क]भूपतेः।
> भार्याया धनदेव्यास्तु देवकीं चारुका[क]न्यकाम् ॥८५॥
> प्रतिपन्नस्वभगिनीं [म्रीन्द्रां] तां विवाहप्रयुक्तितः।
> कंसोऽसौ वा[व]सुदेवाय कुरुवंशो[श्यो]द्भवां ददौ ॥८६॥

ये दोनों जिस आराधना-कथाकोशके श्लोक हैं वह उन्ही नेमिदत्त ब्रह्मचारीका बनाया हुआ है जो नेमिपुराणके भी कर्ता हैं और जिन्होंने नेमिपुराणमें देवकीको न तो कुरुवंशमें उत्पन्न हुई लिखा और न इस बातका ही विधान किया कि कंसने उसे वैसे ही बहन मान लिया था—वह उसके कुटुम्बकी बहन नहीं थी। परन्तु समालोचकजी उनके इन्ही पद्योंपरसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि देवकी कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी और कंस उसे वैसे ही बहन करके मानता था। इसीसे आपने इन पद्योंका यह अर्थ किया है :—

"मृतिकापुरीके राजा देवकी [?] की रानी धनदेवीके एक देवकी नामकी सुन्दर कन्या थी। वह कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी। और कंस उसे बहन करके मानता था। उसने वह कन्या वसुदेवको ब्याह दी।"

परन्तु "वह कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी और कंस उसे बहन करके मानता था" यह जिन दो विशेषण पदोंका अर्थ किया

गया है उन्हें समालोचकजीने ठीक तौरसे समझा मालूम नहीं होता। आपने यह भी नही खयाल किया कि इन श्लोकोंका पाठ कितना अशुद्ध हो रहा है और इसलिये मुझे उनका शुद्ध पाठ मालूम करके प्रस्तुत करना चाहिये—वैसे ही अशुद्धरूपमें आराधनाकथाकोशकी छपी हुई प्रतिपरसे नकल करके उसे पाठकोंके सामने रख दिया है। "**देवकभूपतेः**" की जगह "**देवकिभूपतेः**" पाठ देकर आपने देवकीके पिताका नाम 'देवकी' बतलाया है परन्तु वह 'देवक' है—देवकी नहीं। हिन्दुओंके यहाँ भी देवकीके पिताका नाम 'देवक' दिया है और **कंसके** पिता उग्रसेनका सगा भाई बतलानेसे यदुवंशी भी सूचित किया है; जैसा कि उनके महाभारतान्तर्गत हरिवंशपुराणके निम्न वाक्योंमे प्रकट है:—

आहुकस्य तु काश्यायां द्वौ पुत्रौ संबभूवतुः ॥ २६ ॥
देवकश्चोग्रसेनश्च देवपुत्रसमावुभौ।
देवकस्याभवन्पुत्राश्चत्वारस्त्रिदशोपमाः ॥ २७ ॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देवरक्षितः।
कुमार्यः सप्त चाप्यासन्वसुदेवाय ता ददौ ॥ २८ ॥
देवकी शांतिदेवा च सुदेवा देवरक्षिता।
वृकदेव्युपदेवी च सुनाम्नी चैव सप्तमी ॥ २९ ॥
नवोग्रसेनस्य सुतास्तेषां कंसस्तु पूर्वजः।
न्यग्रोधश्च सुनामा च कंकः शंकुः सुभूमिपः ॥ ३० ॥

—३७ वाँ अध्याय।

और इसलिये देवक देवसेनका ही लघुरूप है। उसी लघु नामसे यहाँ उसका उल्लेख किया गया था, जिसे समालोचकजीने नहीं समझा और देवकीके पिताको भी देवकी बना दिया! "**वासुदेवाय**" पाठ भी अशुद्ध है, उसका शुद्ध रूप है "**वसुदेवाय**"

तभी **'वसुदेवको'** देवकीके दिये जानेका अर्थ बन सकता है अन्यथा, **'वासुदेवाय'** पाठसे तो यह अर्थ हो जाता है कि देवकी 'वासुदेव'को—वसुदेवके पुत्र श्रीकृष्णको—ब्याही गई, और यह कितना अनर्थकारी अर्थ है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इसी तरह **"प्रतिपन्नस्वभगिनीं"** पाठ भी अशुद्ध है। श्लोकमें छठा अक्षर गुरु और पहले तथा तीसरे चरणका सातवाँ अक्षर भी गुरु होता है[1], परन्तु यहाँ उक्त पहले चरणमें छठा और सातवाँ दोनों ही अक्षर लघु पाये जाते हैं और इसलिये वे इस पदके अशुद्ध होनेका खासा संदेह उत्पन्न करते हैं। लेखकके पुस्तकालयमे इस ग्रन्थकी एक जीर्ण प्रति सं० १७६५ की लिखी हुई है, उसमें **"प्रतिपन्नस्वभग्नीभ्रां"** ऐसा पाठ पाया जाता है। इस पाठमें **"भगिनी"** की जगह **"भग्नी"** शब्दका जो प्रयोग है वह ठीक है और उससे उक्त दोनों अक्षर, छन्दःशास्त्रकी दृष्टिमे, गुरु हो जाते हैं परन्तु अन्तका **"भ्रां"** अक्षर कुछ अशुद्ध जान पड़ता है और उसे अधिक अक्षर नही कहा जा सकता। क्योंकि उसे पृथक् करके यदि **"भग्नी"** का **"भग्नीं"** पाठ माना जावे तो उससे छंद-भंग हो जाता है—आठकी जगह सात ही अक्षर रह जाते हैं—इसलिये **"भग्नी"** के बाद आठवाँ अक्षर पदकी विभक्तिको लिये हुए जरूर होना चाहिये। मालूम होता है वह अक्षर **"न्द्रां"** था, प्रति लेखककी कृपासे **"भ्रां"** बन गया है। और इसलिये उक्त पदका शुद्ध रूप **"प्रतिपन्नस्वभग्नीन्द्रां"** होना चाहिए, जिसका अर्थ होता है 'अपनी बहनोंमें इन्द्रा पदको प्राप्त'—अर्थात् इन्द्राणी जैसी। नेमिदत्तने अपने 'नेमिपुराणमें

---

१. श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ १० ॥ —श्रुतबोध।

भी देवकीको 'सुरांगणा' लिखा है जैसा कि ऊपर उदधृत किये हुए उसके पद्य नं० ८८ से प्रकट है। उसी बातको उन्होंने यहाँ-पर इस पदके-द्वारा व्यक्त किया है और उसे अपनी बहनोंमें इन्द्रा (शची) जैसी बतलाया है। वह **कंस**की वैसे ही मानी हुई—कल्पित की हुई—बहन थी, यह अर्थ नही बनता और न उसका कहीसे कोई समर्थन होता है।

देवकी यदि कंसकी कल्पित भगिनी थी तो उससे यह लाजिमी नही आता कि वह **कंस**के भाई **अतिमुक्तक**की भी कल्पित भगिनी थी—क्योकि **अतिमुक्तक**जीने उसी वक्त जिनदीक्षा धारण करली थी जब कि कंसने मथुरा आकर अपने पिताको बंदीगृहमे डाला था—और इसलिए कंसने **देवकी**को अपनी बहन बनाया तो वह उसके बादका कार्य हुआ। फिर अतिमुक्तकके भिक्षार्थ आनेपर कंसकी स्त्रीने उनसे यह क्यो कहा कि यह तुम्हारी बहन (स्वसा अथवा अनुजा) देवकीका आनन्द वस्त्र है ? इस वाक्यप्रयोगसे तो यही जाना जाता है कि अतिमुक्तकका **देवकी**के साथ भाई-बहनका कौटुम्बिक सम्बन्ध था और इसीसे जीवद्यशा निःसंकोच-भावसे उस सम्बन्धका उनके सामने उल्लेख कर सकी है अथवा उक्त वाक्यके कहनेमे उसकी प्रवृत्ति हो सकी है। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार दूसरेके पुत्रको गोद (दत्तक) लेकर अपना पुत्र बना लिया जाता है और तब कुटुम्बवालोंपर भी उस सम्बन्धकी पाबन्दी होती है—वे उसके साथ गोद लेनेवाले व्यक्तिके सगे पुत्र जैसा ही व्यवहार करते हैं—उसी प्रकारसे कंसने भी देवकीको अपनी बहन बना लिया था, तो प्रथम तो इस प्रकारसे बहन बनानेका कही कोई उल्लेख नही मिलता—हरिवंश-पुराण (जिनसेनकृत) और उत्तरपुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थोंसे यही

पाया जाता है कि देवकी उन राजा **देवसेन**की पुत्री थी जो **कंसके** पिता **उग्रसेनके** सगे भाई थे—दूसरे, यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो कंसकी ऐसी दत्तकतुल्य बहन वसुदेवकी भतीजी ही हुई—उसमें तथा कंसकी सगी बहनमे सम्बन्धकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं होता—और इसलिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि वसुदेवने अपनी भतीजीसे विवाह नहीं किया। ऐसा कहना मानो यह प्रतिपादन करना है कि 'एक भाईके दत्तकपुत्रसे दूसरा भाई अपनी लड़की ब्याह सकता है अथवा उस दत्तकपुत्रकी लड़कीसे अपना या अपने पुत्रका विवाह कर सकता है'। क्योंकि वह दत्तक (गोद लिया हुआ) पुत्र उस भाईका असली पुत्र नहीं है किन्तु माना हुआ पुत्र है। परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं समालोचकजीको यह भी इष्ट नही हो सकता, फिर नहीं मालूम उन्होने क्यों—इतने स्पष्ट प्रमाणोंकी मौजदगीमें भी—यह सब व्यर्थका आडम्बर रचा है ?

रही कुरुवंशमें उत्पन्न होनेकी बात, वह भी ठीक नही है। '**कुरुवंशोद्भवां**' का शुद्ध रूप है '**कुरुवंश्योद्भवां**', जिसका अर्थ होता है '**कुरुवंश्या** स्त्रीमें उत्पन्न' (कुरुवंश्यायां उद्भवा या तां कुरुवश्योद्भवा)—अर्थात्, देवकीकी माता धनदेवी कुरुवंश्या थी—कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी—न कि देवकी कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी। समालोचकजीने भाषाके जो निम्न छंद उद्धृत किये हैं उनसे भी आपके इस सब कथनका कोई समर्थन नहीं होता :—

अब नगरी मृतिकावती, देवसेन महाराज।
धनदेवी ताके तिया, कुरुवंशन सिरताज॥
ताके पुत्री देवकी, उपजी सुन्दर काय।
सो वसुदेव कुमार संग, दीनी कंस सु ब्याह॥

यहाँ '**कुरुवंशन सिरताज**' यह स्पष्ट रूपसे '**धनदेवी**' का विशेषण जाना जाता है और इसको धनदेवीके अनन्तर प्रयुक्त करके कविने यह साफ सूचित किया है कि धनदेवी कुरुवंशमे उत्पन्न हुई स्त्रियोमे प्रधान थी। बाकी देवकी कसकी मानी हुई बहन थी, इस बातका यहाँ कोई उल्लेख ही नही है। इतनेपर भी समालोचकजी इन भाषा-छदोपरसे सदेहका काफूर होना मानते हैं और लिखते हैं :—

"यह सब कोई जानता है कि वसुदेव यदुवशी थे, और देवकी कुरुवशकी थी। परन्तु बाबू साहबने तो उसे सगी भतीजी बना ही दी।"

परन्तु महाराज ! सब लोग तो देवकीको कुरुवंशकी नही जानते, और न हरिवंशपुराण तथा उत्तरापुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थोसे ही उसका कुरुवशी होना पाया जाता है—यह तो आपके ही दिमाग शरीफसे नई बात उतरी अथवा आपकी ही नई ईजाद मालूम होती है। और आपकी ही कदाग्रह तथा बेहयाईका चश्मा चढी हुई आँखे इस बातको देख सकती हैं कि बाबू साहब (लेखक) ने कहाँ अपने लेखमे देवकी वसुदेव की 'सगी' भतीजी लिख दिया है, लेखमे दी हुई वंशावलीपरसे तो कोई भी नेत्रवान उसमे सगी भतीजीका दर्शन नही कर सकता। सच है 'हठग्राही मनुष्य युक्तिको खीच खांचकर वही लेजाता है जहाँ पहलेसे उसकी मति ठहरी हुई होती है, परन्तु जो लोग पक्षपात रहित होते हैं वे अपनी मतिको वहाँ ठहराते हैं जहाँतक युक्ति पहुँचती है।' इसीसे एक आचार्य महाराजने, ऐसे हठ-ग्राहियोंकी बुद्धिपर खेद प्रकट करते हुए, लिखा है :—

"आग्रही बत ! निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशन् ॥"

हाँ, समालोचकजीकी एक दूसरी, बिलकुल नई, ईजादका उल्लेख करना तो रह ही गया, और वह यह है कि उन्होंने लेखक-पर इस बातका आक्षेप करते हुए कि उसने भाषाके छंदोबद्ध 'आराधना' कथाकोशके कथनपर जानबूझकर ध्यान नही दिया, यह विधान किया है कि उसने उक्त ग्रथका स्वाध्याय अवश्य किया होगा, क्योंकि वह उसके खास गाँव (!) देववन्द-का छपा हुआ है[१]। और इस तरहपर यह घोषणा की है कि जिस नगर या ग्राममें कोई ग्रंथ छपता है वहाँका प्रत्येक पढ़ा लिखा निवासी इस बातका जिम्मेवार है कि वह ग्रंथ उसने पढ़ लिया है और वह उसके सारे कथनको जानता है। और इसलिये बम्बई, कलकत्ता आदि सभी नगर ग्रामोके पढ़े, लिखोंको अपनी इस जिम्मेदारीके लिये सावधान हो जाना चाहिये ! और यदि किसीको यह मालूम करनेकी जरूरत पड़े कि बम्बईमें कौन-कौन ग्रन्थ छपे हैं और उनमें क्या कुछ लिखा है तो वहाँके किसी एक ही पढ़े-लिखेको बुलाकर अथवा उससे मिलकर सारा हाल मालूम कर लेना चाहिये ! यह कितना भारी आविष्कार समालोचकजीने कर डाला है ! और इससे पाठकोंको कितना लाभ पहुँचेगा !! परन्तु खेद है लेखक तो कई बार अपने अनेक स्थानोके मित्रोंको वहाँके छपे हुए ग्रंथोंकी बाबत कुछ हाल दर्याफ्त करके ही रह गया और उसे यही उत्तर मिला कि 'हमें

---

१. "बाबू साहबके खास गाँव देववन्दमें जो 'आराधनाकथाकोश' छपा है उससे भी यह संदेह साफ तौरसे काफूर हो जाता है क्या बाबू साहबने अपने यहाँसे प्रकाशित हुए ग्रन्थोंका भी स्वाध्याय न किया होगा ? किया अवश्य होगा। परन्तु उन्हें तो जिस-तिस तरह अपना मतलब बनाना है।"

उन ग्रंथोंका कुछ हाल मालूम नही है।' शायद समालोचकजी ही एक ऐसे विचित्र व्यक्ति होंगे जिन्होंने कम-से-कम देहलीसे, जहाँ आपका अक्सर निवास रहता है, प्रकाशित होने वाली सभी पुस्तकों तथा ग्रन्थोंको—परिचय, इच्छा, और संप्राप्ति आदिके न होते हुए भी पढ़ा होगा और आपको उनका पूर्ण विषय भी कण्ठस्थ होगा ! रही लेखककी ग्रंथोंके पढ़नेकी बात, यद्यपि उसका अधिकांश समय ग्रंन्थोंके पढ़ने और उनमेंसे अनेक तत्त्वों तथा तथ्योंका अनुसंधान करनेमे ही व्यतीत होता है, फिर भी वह देववन्दसे प्रकाशित हुए ऐसे साधारण सभी ग्रन्थोंको तो क्या पढ़ता, स्वयं उसकी लाइब्रेरीमें पचासों अच्छे ग्रन्थ इस वक्त भी मौजूद हैं जिन्हे पूरी तौरपर अथवा कुछको अधूरी तौरपर भी पढ़ने-देखनेका अभीतक उसे अवसर नही मिल सका। इसलिये समालोचकजीका उक्त आक्षेप व्यर्थ है और वह उनके दुराग्रहको सूचित करता है।

यहाँ तकके इस सब कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि देवकी न तो कुरुवंशमे उत्पन्न हुई थी, न कंसके मामाकी लड़की थी और न वैसे ही कंस-द्वारा कल्पना की हुई बहन थी, बल्कि वह **कंस**के पिता **उग्रसेन**के सगे भाई अथवा **कंस**के सगे चाचा **देवसेन**की पुत्री थी—यदुवशमें उत्पन्न हुई थी—और इसीलिये नृप भोजकवृष्टि (या नरवृष्णि) तथा भोजक-वृष्टिके भाई अंधकवृष्टि (वृष्णि) की पौत्री थी और उसे अधकवृष्टिके पुत्र वसुदेवकी भतीजी समझना चाहिये। इसी **देवकी**के साथ वसुदेवका विवाह होनेसे साफ जाहिर है कि उस वक्त एक कुटुम्बमें भी विवाह हो जाता था और उसके मार्गमें आजकल-जैसी गोत्रोंकी परिकल्पना कोई बाधक नहीं थी।

अग्रवाल जैसी समृद्ध जाति भी इन्हीं कौटुम्बिक विवाहोंका परिणाम है। उसके आदिपुरुष राजा **अग्रसेनके** सगे पोते पोतियों का—अथवा यों कहिये कि उसके एक पुत्रकी संततिका दूसरे पुत्रकी संततिके साथ—आपसमें विवाह हुआ था। आजकल भी अग्रवाल-अग्रवालोंमें ही विवाह करके अपने एक ही वंशमें विवाहकी प्रथाको चरितार्थ कर रहे हैं और राजा **अग्रसेनकी** दृष्टिसे सब अग्रवाल उन्हीके एक गोत्री हैं। समालोचकजीने विरोधके लिये जिन प्रमाणोंको उपस्थित किया था उनमेंसे एक भी विरोधके लिए स्थिर नहीं रह सका; प्रत्युत इसके सभी लेखकके कथनकी अनुकूलतामें परिणत हो गये और इस बातको जतला गये कि समालोचकजी सत्यपर पर्दा डालनेकी धुनमें समालोचनाकी हदसे कितने बाहर निकल गये—समालोचकके कर्तव्यसे कितने गिर गये—उन्होंने सत्यको छिपाने तथा असलियतपर पर्दा डालनेकी कितनी कोशिश की, परन्तु फिर भी वे उसमें सफल नही हो सके! साथ ही, उनके शास्त्र-ज्ञान और दंभ-विधानकी भी सारी कलई खुल गई। अस्तु।

यह तो हुई उदाहरणके प्रथम अंश—'**देवकीसे विवाह**'—के आक्षेपोंकी बात, अब उदाहरणके दूसरे अंश—'**जरासे** विवाह'—को लीजिये।

म्लेच्छोंसे विवाह

लेखकने लिखा था कि—"जरा किसी म्लेच्छराजाकी कन्या थी, जिसने गंगा-तटपर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था। पं० दौलतरामजीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजाको '**म्लेच्छखण्डका राजा**' बतलाया है और पं० गजाधरलालजी

'उसे भीलोंका राजा' सूचित करते हैं। वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छराजा, और चाहे उसे भीलोंका राजा कहिये, परन्तु इसमे सन्देह नही कि वह आर्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नही था। और इसलिये उसे अनार्य तथा म्लेच्छ कहना कुछ भी अनुचित नही होगा। म्लेच्छोंका आचार आमतौरपर हिंसामें रति, मांसभक्षणमे प्रीति और जबरदस्ती दूसरोकी धनसम्पत्तिका हरना, इत्यादिक होता है; जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रकट है :—

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥ ४२-१८४ ॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानते हुए भी, बिना किसी झिझक और रुकावटके बड़ी खुशीके साथ इस म्लेच्छराजाकी उक्त कन्यासे विवाह किया और उनका यह बिवाह भी उस समय कुछ अनुचित नही समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकारके विवाहोका आम दस्तूर था। अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोने म्लेच्छ राजाओकी कन्याओसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोंसे जैन-साहित्य परिपूर्ण है।''

उदाहरणके इस अंशसे प्रकट है कि लेखकने जितनी बार अपनी ओरसे जराके पिताका उल्लेख किया है वह ''म्लेच्छराजा'' पदके-द्वारा किया है, जिसमें 'म्लेच्छ' विशेषण और 'राजा' बिशेष्य है (म्लेच्छः राजा म्लेच्छराजा) और उसका अर्थ होता है 'म्लेच्छ-जाति-विशिष्ट-राजा—अर्थात् म्लेच्छ जातिका राजा, वह राजा जिसकी जाति म्लेच्छ है, न कि वह राजा जो

आर्य जातिका होते हुए म्लेच्छोंपर शासन करता है। परन्तु समालोचकजीने दूसरे विद्वानोके अवतरणोंको लेकर और उन्हें भी न समझ कर उनके शब्द-छलसे लेखकपर यह आपत्ति की है कि उसने म्लेच्छखंडोंपर शासन करनेवाले आर्य जातिके चक्रवर्ती राजाओंको भी म्लेच्छ ठहरा दिया है! आप लिखते हैं :—

"खूब [!] क्या मलेक्षोंका राजा भी मलेक्ष ही होगा ? और भीलोंका राजा भी भील ही हो, इसका क्या प्रमाण ? यदि कोई हिन्दुस्तानका राजा हो तो हिन्दू ही हो सकता है क्या ? और जरमनका जरमनी तथा मुसलमानोंका मुसलमान ही हो सकता है क्या ? यदि ऐसा ही नियम होता तो चक्रवर्ती जो कि मलेक्षखण्डके भी राजा होते हैं, लेखक महोदयके विचारानुसार वे भी मलेक्ष कहे जाने चाहिये। इस नियमानुसार पूज्य तीर्थंकर श्री शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जो कि चक्रवर्ती थे, लेखक महोदयकी सम्मति अनुसार वे भी इसी कोटिमें आसकेंगे ? अतः इसका कोई नियम नहीं है कि किसी जाति या देशका राजा भी उसी जातिका हो अतः इस लेखसे यह सिद्ध होता है कि जरा कन्या भील जातिकी नही थी।"

पाठकजन देखा! समालोचकजी कितनी भारी समझ और अनन्य साधारण बुद्धिके आदमी हैं। उन्होंने लेखकके कथनकी कितनी बढ़िया समालोचना कर डाली। और कितनी आसानीसे यह सिद्ध कर दिखाया कि 'जरा' भील जातिकी कन्या नहीं थी। हम पूछते हैं यह कौन कहता है और किसने कहाँपर विधान किया कि म्लेच्छोंका राजा म्लेच्छ ही होता है, भीलोंका राजा भील ही होता है, हिन्दुस्तानका राजा हिन्दू ही होता है और मुसलमानोंका

राजा मुसलमान ही हुआ करता है? फिर क्या अपनी ही कल्पना-की समालोचना करके आप खुश होते हैं? क्या जिस राजाकी बाबत यह कहा जाता हो कि यह 'हिन्दूराजा' है आप उसे 'मुसलमान' समझते? और जिसे **'मुसलमान राजा'** के नामसे पुकारा अथवा उल्लेखित किया जाता हो उसे 'हिन्दू' खयाल करते हैं? यदि नही तो फिर एक 'म्लेच्छराजा' को म्लेच्छ न मानकर आप **'आर्य'** कैसे कह सकते हैं? 'हिन्दू' और 'मुसलमान' जिस प्रकार जातिवाचक शब्द हैं उसी प्रकारसे **'मलेच्छ'** भी एक जाति-वाचक शब्द है। और ये तीनो ही राजा शब्दके पूर्ववर्ती होनेपर अपने-अपने उत्तरवर्ती राजाकी जातिको सूचित करते हैं। स्वयं श्रीजिनसेनाचार्यने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजाको स्पष्टरूपसे 'मलेच्छराज' लिखा है। यथा :—

> चंपा-सरसि, संप्राप्य तस्यां सोऽमात्यदेहजाम् ॥ ४ ॥
> तोयक्रीडारतस्तत्र स हृतः सूर्पकाऽरिणा।
> विमुक्तश्च पपातासौ भागीरथ्यां मनोरथी ॥ ५ ॥
> पर्य्यटन्नटवीं तत्र म्लेच्छराजेन वीक्षितः।
> परिणीय सुतां तस्य जराख्यां तत्र चावसत् ॥ ६ ॥
> जरत्कुमारमुत्पाद्य तस्यामुन्नतविक्रमः।

इन पद्योमे यह बतलाया गया है कि—'चंपापुरीमे वहाँके मंत्रीकी पुत्रीसे विवाह करके, एक दिन **वसुदेव** चंपा नगरीके सरोवरमें जलक्रीडा कर रहे थे, उनका शत्रु सूर्पक उन्हे हर कर लेगया और ऊपरसे छोड़ दिया। वे भागीरथी (गगा) नदीमें गिरे और उसमेसे निकल कर एक वनमे घूमने लगे। वहाँ एक म्लेच्छराजासे उनका परिचय हुआ, जिसकी **'जरा'** नामकी कन्यासे विवाह करके वे वहाँ रहने लगे और उस स्त्रीसे उन्होंने **'जरत्कुमार'** नामका पुत्र उत्पन्न किया।'

'**म्लेच्छराज**'से श्रीजिनसेनाचार्यका अभिप्राय '**म्लेच्छजाति**' विशिष्ट राजा'का है, यह बात उनके इसी ग्रन्थके दूसरे उल्लेखों-से भी पाई जाती है। यथा :—

म्लेच्छराजसहस्राणि वीक्ष्य पूर्ववरूथिनीम्।
क्षुभितान्यभिगम्याशु योधयामासुरश्रमात्॥ ३०॥
ततः क्रुद्धो युधि म्लेच्छैरयोध्यो दंडनायकः।
युध्वा निर्धूय तानाशु दध्रे नामार्थसंगतम्॥ ३१॥
भयान्म्लेच्छास्ततो याताः शरणं कुलदेवताः।
घोरान्मेघमुखान्नागान्दर्भशय्याधिशायिनः॥ ३२॥
ततो मेघमुखैर्म्लेच्छाः प्रोक्ताः संहृतवृष्टिभिः।
चक्रिणं शरणं जग्मुरादाय वरकन्यकाः॥ ३८॥

—११वाँ सर्ग।

यहाँ, उत्तर भारतखण्डके म्लेच्छोंके साथ भरत चक्रवर्ती-के सेनापति जयकुमारके युद्धका वर्णन करते हुए, पहले पद्यमें जिन सहस्रो म्लेच्छ राजाओंका "**म्लेच्छराजसहस्राणि**" पदके द्वारा उल्लेख किया है उन्हें ही अगले पद्योंमें "**म्लेच्छैः**" और "**म्लेच्छाः**" पदोंके-द्वारा स्पष्टरूपसे '**म्लेच्छ**' सूचित किया है। और इससे साफ जाहिर है कि '**म्लेच्छराजा**' का अर्थ म्लेच्छ जातिके राजासे है। और इसलिये जराका पिता म्लेच्छ था। पं० दौलतरामजीने इस राजाको जो म्लेच्छखण्डका राजा[1] बतलाया है उसका अभिप्राय '**म्लेच्छखंडोद्भव**' (म्लेच्छखण्डमें उत्पन्न हुए) राजासे है—म्लेच्छखण्डोंको जीतकर उनपर अपना आधिपत्य रखनेवाले चक्रवर्ती राजासे नही जान पड़ता

---

१. "सो गंगाके तीर एक म्लेच्छखंडका राजा तानें देखो। सो अपनी जरा नामा पुत्री वसुदेवको परनाई।"

है। '**म्लेछराज**' शब्दपरसे ही उन्होंने उसे म्लेच्छखण्डका राजा समझ लिया है। और पं० गजाधरलालजीने जो उसे 'भीलोंका राजा'[1] लिखा है उसका आशय भील जातिके राजा (भिल्लराज) से–सर्दारसे–है जो म्लेच्छोकी एक जाति[2] है—भीलोंपर शासन करनेवाले किसी आर्यराजासे नहीं। जरासे उत्पन्न हुए जरत्कुमारका आचरण एक बार भील जैसा हो गया था, इसीपरसे शायद उन्होंने जराको भील कन्या माना है। आप '**पद्मावती-पुरवाल**' (वर्ष २रा अंक ५वाँ) में प्रकाशित अपने उसी विचार-लेखमें लिखते भी हैं :—

"वास्तवमें उस समय भी संतानपर मातृपक्षका संस्कार पहुँचता था। आपने हरिवंशपुराणमे पढा होगा कि जिस समय कृष्णकी मृत्युकी बात मुनिराजके मुखसे सुन जरत्कुमार वनमें रहने लगा था उस समय उसके आचार-विचार भील सरीखे हो गये थे, वह शिकारी हो गया था। पीछे, युधिष्ठिर आदिके समझानेमे उसने भीलके वेषका परित्याग किया था।"

इससे स्पष्ट है कि पं० गजाधरलालजीने **जराके** पिताको आर्य जातिका राजा नही समझा, बल्कि '**भील**' समझा है और

---

१. यथा :—"नदीको पार कर कुमार किसी वनमें पहुँचे वहाँपर घूमते हुए उन्हें किसी भीलोंके राजाने देखा उनके सौंदर्यपर मुग्ध हो वह बड़े आदरसे उन्हें अपने घर ले गया और उसने अपनी जरा नामकी कन्या प्रदान की।"

२. भिल्लः, म्लेच्छजातिविशेषः। भील इति भाषा। यथा हेमचन्द्रे—माला भिल्लाः, किराताश्च सर्वाऽपि म्लेच्छजातयः।

—इति शब्दकल्पद्रुमः।

इसलिये उनके 'भीलोंका राजा' शब्दोंके छलको लेकर समालोचकजीने जो आपत्ति की है वह बिलकुल निःसार है। पं० गजाधरलालजी तो अपने उक्त लेखमें स्वयं स्वीकार करते हैं कि उस समय म्लेच्छ किंवा भीलों आदिकी कन्यासे भी विवाह होता था। यथा :—

"उस समय राजा लोग यद्यपि म्लेच्छ किंवा भील आदिकी कन्याओंमे भी पाणिग्रहण कर लेते थे तथापि उनके समान स्वयं म्लेच्छ तथा धर्म-कर्मसे विमुख न बन जाते थे, किन्तु उन कन्याओंको अपने पथपर ले आते थे। और वे प्रायः पति-द्वारा स्वीकृत धर्मका ही पालन करती थी। इसलिये **वसुदेवने** जो **जरा** आदि म्लेच्छ कन्याओके साथ विवाह किया था उसमे उनसे धार्मिक रीति-रिवाजोंमें जरा भी फर्क न पड़ा था।"

इस उल्लेख-द्वारा पं० गजाधरलालजीने **जराको** साफ तौरसे 'म्लेच्छ कन्या' भी स्वीकार किया है और उसके बाद 'आदि' शब्दका प्रयोग करके यह भी घोषित किया है कि **वसुदेवने 'जरा'** के सिवाय और भी म्लेच्छ कन्याओसे विवाह किया था। समालोचकजीके पास यदि लज्जादेवी हो तो उन्हे, इन सब उल्लेखोंको देखकर, उसके आँचलमे अपना मुंह छुपा लेना चाहिये और फिर कभी यह दिखलानेका साहस न करना चाहिये कि पंडितजीके उक्त शब्दोका वाच्य 'भील' राजासे भिन्न कोई 'आर्य' राजा है।

मालूम होता है समालोचकजीको इस खयालने बड़ा परेशान किया है कि भील लोग बड़े काले, डरावने और बदसूरत होते हैं, उनकी कन्यासे **'वसुदेव'** जैसे रूपवान और अनेक रूपवती स्त्रियोंके पति पुरुष क्यों विवाह करते। और इसीसे आप यहाँ-

तक कल्पना करनेके लिये मजबूर हुये हैं कि यदि वह कन्या (जरा) भीलोंने ही **वसुदेव**को दी हो तो वह जरूर किसी दूसरी जातिके राजाकी लड़की होगी और भील उसे छीन लाये होंगे। यथा :—

" भील लोग जंगलोंमे रहने वाले जिनके विषयमें शास्त्रोंमें लिखा है कि वे बड़े काले, बदसूरत डरावने होते हैं। तो वसुदेवजी ऐसे पराक्रमी और सुन्दर कामदेवके समान जिनके रूपके सामने देवाङ्गनाये भी लज्जित हो जावे, ऐसी राजाओंकी अनेक रूपवती और गुणवती कन्याओके साथ विवाह किया। उनको क्या जरूरत थी कि ऐसे बदसूरत भीलकी लडकीके साथ शादी करते। हाँ, यह जरूर हो सकता है कि भील किसी राजाकी लडकीको छीन लाये हों और उसे सुन्दर खूबसूरत समझ कर वसुदेवको दे दी हो। इससे सिद्ध है कि वह भीलकी कन्या तो थी नही।"

परन्तु सभी भील बड़े काले, बदसूरत और डरावने होते हैं, यह कौनसे शास्त्रमे लिखा है और कहाँसे आपने यह नियम निर्धारित किया है कि भीलोकी सभी कन्याएँ काली, बदसूरत तथा डरावनी ही होती हैं? क्या रूप और कुलके साथ कोई अविनाभाव सम्बन्ध है? हम तो यह देखते हैं कि अच्छे-अच्छे उच्च कुलोंमे बदसूरत भी पैदा होते हैं और नीचातिनीच कुलों में खूबसूरत बच्चे भी जन्म लेते हैं। कुलका सुभग, दुर्भग और सौभाग्यके साथ कोई नियम नहीं है। इसी बातको श्रीजिन-सेनाचार्यने **वसुदेव**के मुखसे, रोहिणीके स्वयंवरके अवसरपर कहलाया है। यथा :—

कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः सुभगोऽपरः।
कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिबन्धोऽस्ति कश्चन ॥ ५५ ॥

हरिवंशपुराण ३१वाँ सर्ग।

पं० गजधरलालजीने इस पद्यका अनुवाद यों किया है :—

"कोई-कोई महाकुलीन होनेपर भी बदसूरत होता है, दूसरा अकुलीन होनेपर भी बडा सुन्दर होता है, इसलिये कुलीन और सौभाग्यकी आपसमें कोई व्याप्ति नही, अर्थात् जो कुलीन हों वह सुन्दर ही हो और अकुलीन बदसूरत ही हो, यह कोई नियम नही ॥ ५५ ॥"

इसके सिवाय, जैनशास्त्रोंमें भील कन्याओंसे विवाहके स्पष्ट उदाहरण भी पाये जाते हैं, जिनमेंसे एक उदाहरण राजा उपश्रेणिकका लीजिये। ये राजा श्रोणिकके पिता थे। इन्हें एक बार किसी दुष्ट अश्वने ले जाकर भीलोंकी पल्लीमें पटक दिया था। उस पल्लीके भील राजाने जब इन्हें दुःखितावस्थामें देखा तो वह इन्हे अपने घर ले गया और उसने दवाई, भोजन पानादि-द्वारा सब तरहसे इनका उपचार किया। वहाँ ये उसकी '**तिलक-सुन्दरी**' नामकी पुत्रीपर आसक्त हो गये और उसके लिये इन्होने याचना की। भील राजाने उपश्रोणिकसे अपनी पुत्रीके पुत्रको राज्य दिये जानेका वचन लेकर उसका विवाह उनके साथ कर दिया और फिर उन्हें राजगृह पहुँचा दिया। यथा :—

उपश्रेणिको (क ?) वैरिनृपसोमदेवप्रेषितदुष्टाऽश्वेनोपश्रेणिको नीत्वा भिल्लपल्यां क्षिप्तो दुःखितो भिल्लराजेन दृष्टो गृहमानीत उपचरितः। तत्सुतां तिलकसुन्दरीमीक्षित्वा तां तं ययाचे। एतस्याः सुतं राजानं करिष्यामीति भाषां नीत्वा परिणाय्य तेन राजगृहं प्रापितः।

—गद्यश्रेणिकचरित्र (देहलीके नयेमंदिरकी पुरानी जीर्ण प्रति)

इसी भील कन्यासे '**चिलातीय**' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसे 'चिलातिपुत्र' भी कहते हैं। प्रतिज्ञानुसार इसीको राज्य दिया गया और इसने अन्तको जिन-दीक्षा भी धारण की थी।

इसलिये समालोचकजीका यह कोरा भ्रम है कि सभी भील-कन्याएँ काली, बदसूरत तथा डरावनी होती हैं अथवा उनके साथ उच्च-कुलीनोंका विवाह नहीं होता था। परन्तु जरा भील-कन्या थी, यह बात जिनसेनाचार्यके उक्त वाक्योंको लेकर निश्चितरूपसे नहीं कही जा सकती। उनपरसे जराके सिर्फ म्लेच्छ कन्या होनेका ही पता चलता है, म्लेच्छोंकी किसी जाति विशेषका नहीं। हो सकता है कि प० गजाधर-लालके कथनानुसार वह भील-कन्या ही हो। परन्तु प० दौलतरामके कथनानुसार वह म्लेच्छखडके किसी म्लेच्छराजा-की कन्या मालूम नहीं होती, क्योंकि जिनसेनाचार्यने साफ तौरसे वसुदेवके चंपापुरीसे उठाये जाने और भागीरथी गंगा नदीमें पटके जानेका उल्लेख किया है और यह वही गंगा नदी है जो युक्तप्रान्त और बंगालमें बहती है—वह महागंगा नहीं है जो जैन शास्त्रानुसार आर्यखण्डका म्लेच्छखण्डसे अथवा, उत्तरभारतमें, म्लेच्छखण्डका म्लेच्छखंडसे विभाग करती—इसका 'भागीरथी' नाम ही इसे उस महागंगासे पृथक् करता है, वह 'अकृत्रिम' और यह, 'भागीरथ'-द्वारा लाई हुई है (भगीरथेन सानीता तेन भागीरथी स्मृता)। चंपा नगरी भी इसके पास है। अत: 'जरा' इसी भागीरथी गंगाके किनारेके किसी म्लेच्छ राजाकी पुत्री थी और इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पहले म्लेच्छ-खण्डोंके म्लेच्छोंकी कन्याओंसे ही नहीं, किंतु यहाँके आर्य-खण्डोद्भव म्लेच्छोंकी कन्याओंसे भी विवाह होता था। उपश्रेणिक-का भील-कन्यासे विवाह भी उसे पुष्ट करता है। इसके सिवाय यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्यने सीरिया-के म्लेच्छराजा **'सिल्यूकस'** की कन्यासे विवाह किया था। ये

सम्राट् **'चंद्रगुप्त' 'भद्रबाहु'** श्रुतकेवलीके शिष्य थे, इन्होंने जैन मुनिदीक्षा भी धारण की थी, जिसका उल्लेख कितने ही जैनशास्त्रों तथा शिलालेखोंमें पाया जाता है। और जैनियोंकी क्षेत्रगणना-के अनुसार सीरिया भी आर्यखण्डका ही एक प्रदेश है। ऐसी हालतमें यह बात और भी निर्विवाद तथा निःसन्देह हो जाती है कि पहले आर्यखण्डके म्लेच्छोंके साथ भी आर्यों अथवा उच्च कुलीनोका विवाह-सम्बंध होता था।

हमारे समालोचकजीका चित्त **'जरा'** के विषयमें बहुत ही डांवाडोल मालूम होता है—वे स्वयं इस बातका कोई निश्चय नही कर सके कि जरा किसकी पुत्री थी—कभी उनका यह खयाल होता है कि जराका पिता म्लेच्छ या भील न होकर म्लेच्छों अथवा भीलोपर शासन करनेवाला कोई आर्य राजा होगा और उसीने अपनी कन्या **'वसुदेव'** को दी होगी, कभी वे सोचते हैं कि यह कन्या **'वसुदेव'** को दी तो होगी भीलने ही परन्तु वह कहीसे उसे छीन लाया होगा—उसकी वह अपनी कन्या नही होगी—, और फिर कभी उनके चित्तमे यह खयाल भी चक्कर लगाता है कि शायद **जरा** हो तो म्लेच्छकन्या ही, परन्तु वह क्षेत्र-म्लेच्छकी—म्लेच्छखंडके म्लेच्छकी—कन्या होगी, उसका कुलाचार बुरा नही होगा अथवा उसके आचरणमे कोई नीचता नही होगी! खेद है कि ऐसे अनिश्चित और संदिग्ध चित्तवृत्तिवाले व्यक्ति भी सुनिश्चित बातोकी समा-लोचना करके उनपर आक्षेप करनेके लिये तैयार हो जाते हैं और उन्हे मिथ्या तक कह डालनेकी धृष्टता कर बैठते हैं! अस्तु; समालोचकजी, उक्त अवतरणके बाद, अपने खयालोंकी इसी उधेड़बुनमें लिखते हैं:—

"यदि थोड़ी देरके लिये यह मान लिया जाय कि किसी मलेक्षकी ही कन्या होगी तो मलेक्ष भी कितने ही प्रकारके शास्त्रोमें कहे हैं। जिनमे एक क्षेत्र-मलेक्ष भी हैं जो कि देश अपेक्षा मलेक्ष कहाते हैं। लेकिन कुलाचार बुरा ही होता है, ऐसा नियम नही। जैसे पजाबमे रहनेवाले हर एक कौमके पजाबी कहाते हैं, और बंगालमे रहनेवालोको बगाली तथा मदरासमें रहनेवालोको मदरासी कहते हैं किन्तु उन सबका आचरण एक-सा नही होता। इन देशोमे सब ही ऊँच-नीच जातियोके मनुष्य रहते हैं फिर यह कहना कि अमुक मनुष्य एक मदरासी या पंजाबी लड़कीके साथ शादी कर लाया, यदि उसीकी जातिकी ऊंच खानदानकी लड़की हो तो क्या हर्ज है। इसलिये बाबू साहब जो लिखते हैं कि वह कन्या नीच थी, यह बात सिद्ध नही हो सकती नीच हम जब ही मान सकते हैं जब कि कन्याके जीवनचरित्रमे कुछ नीचता दिखलाई हो।"

अपने इन वाक्यो-द्वारा समालोचकजीने यह सूचित किया है कि वे म्लेच्छखडो (म्लेच्छक्षेत्रो) को पंजाब, बंगाल तथा मदरास जैसी स्थितिके देश समझते हैं, उनमे सब ही ऊँच-नीच जातियोंके आर्य-अनार्य मनुष्योका निवास मानते हैं और यह जानते हैं कि वहाँ ऐसे लोग भी रहते हैं जिनका कुलाचार बुरा नही है। इसीलिये सभव है कि **'वसुदेव'** वहीसे अपनी ही जातिकी और किसी ऊँचे वंशकी यह कन्या (जरा) विवाह कर ले आए हों। परन्तु समालोचकजीका यह कोरा भ्रम है और जैनशास्त्रोसे उनकी अनभिज्ञताको प्रकट करता है। **'वसुदेव'** **'जरा'** को किसी म्लेच्छ-खंडसे विवाह कर नही लाए, बल्कि वह चंपापुरीके निकट प्रदेशमें भागीरथी गंगाके आसपास रहने-

वाले किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, यह बात तो ऊपर श्रीजिन-सेनाचार्यके वाक्योंसे सिद्धकी जा चुकी है। अब मैं इस भ्रमको भी दूरकर देना चाहता हूँ कि जैनियोंके-द्वारा माने हुए[1] म्लेच्छ-खण्डोंमें आर्य जनताका भी निवास है :—

श्रीअमृतचन्द्राचार्य, तत्त्वार्थसारमें, मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेदोका वर्णन करते हुए, लिखते हैं :—

> आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः ।
> म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तर्द्वीपजा अपि ॥२१२॥

अर्थात्—आर्य खण्डमे जो लोग उत्पन्न होते हैं वे **'आर्य'** कहलाते हैं परन्तु उनमे जो कुछ शकादिक[2] (शक, यवन, शबर, पुलिन्दादिक) लोग होते हैं वे म्लेच्छ कहे जाते हैं और जो लोग म्लेच्छखण्डोमे तथा अन्तर्द्वीपोमे उत्पन्न होते हैं उन सबको **'म्लेच्छ'** समझना चाहिये।

इससे प्रकट है कि आर्य-खण्डमे जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे तो आर्य और म्लेच्छ दोनो प्रकारके होते हैं, परन्तु म्लेच्छ-खण्डोंमे एक ही प्रकारके मनुष्य होते हैं और वे म्लेच्छ ही होते हैं। भावार्थ—म्लेच्छोके मूल भेद तीन हैं :—(१) आर्यखण्डोद्भव, (२) म्लेच्छखण्डोद्भव[3] और (३) अन्तर्द्वीपज। और आर्योका मूल-भेद एक आर्यखण्डोद्भव ही है। जब यह बात है तब म्लेच्छखण्डोमें

---

१. आधुनिक भूगोलवादियोंको इन म्लेच्छखण्डोका अभी तक कोई पता नहीं चला। अब तक जितनी पृथ्वीकी खोज हुई है वह सब, जैनियोंकी क्षेत्र-गणनाके अनुसार अथवा उनके मापकी दृष्टिसे, आर्य-खण्डके ही भीतर आ जाती है।

२. "शकयवनशबरपुलिंदादयः म्लेच्छाः"।

३. इन पहले दो भेदोका नाम 'कर्मभूमिज' भी है।

आर्य राजाओंका होना और उनकी कन्याओंसे चक्रवर्ती आदिका विवाह करना अथवा वसुदेवका वहाँसे अपनी ही जातिकी कन्याका ले आना कैसे बन सकता है? कदापि नहीं। और इसलिये यह समझना चाहिए कि जिन लोगोंने—चाहे वे कोई भी क्यो न हों—म्लेच्छखंडोकी कन्याओंसे विवाह किया है उन्होने म्लेच्छोकी म्लेच्छ-कन्याओसे विवाह किया है। म्लेच्छत्व-की दृष्टिसे कर्मभूमिके सभी म्लेच्छ समान हैं और उनका प्रायः वही समान आचार है जिसका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने उस पद्यमें किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणांशमें दिया हुआ है। समालोचकजीको वह म्लेच्छाचार देखकर बहुत ही क्षोभ हुआ मालूम होता है। आपने जराके पिताको किसी तरह पर उस म्लेच्छाचारसे सुरक्षित रखनेके लिये जो प्रपच रचा है उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य तथा खेद होता है! आप सबसे पहले लेखकपर इस बातका आक्षेप करते हैं कि उसने उक्त पद्यके आगे-पीछेके दो-चार श्लोकोको लिखकर यह नही दिख-लाया कि उसमे कैसे म्लेच्छोका आचार दिया हुआ है। परन्तु स्वयं उन श्लोकोको उद्धृत करके और सबका अर्थ देकर भी आप उक्त पद्यके प्रतिपाद्य विषय अथवा अर्थ-सबंधमे किसी भी विशे-षताका उल्लेख करनेके लिये समर्थ नही होसके—यह नही बतला सके कि वह—हिसामे रति, मांसभक्षणमे प्रीति और जबरदस्ती दूसरोकी धनसम्पत्तिका हरना, इत्यादि—म्लेच्छोका प्रायः साधारण आचरण न होकर अमुक जातिके म्लेच्छोका आचार है! और न यह ही दिखला सके कि लेखकके उद्धृत किये हुए उक्त पद्यका अर्थ किसी दूसरे पद्यपर अवलम्बित है, जिसकी वजहसे उस दूसरे पद्यको भी उद्धृत करना

जरूरी था और उसे उद्धृत न करनेसे उसके अर्थमें अमुक बाधा आ गई। वास्तवमे वह अपने विषयका एक स्वतंत्र पद्य है और उसमें **'म्लेच्छाचारो हि'** और **'इति स्मृतम्'** ये शब्द साफ बतला रहे हैं कि उसमें **'हिंसायां रतिः'** (हिंसामें रति) आदि रूपमे जिस आचारका कथन है वह निश्चयसे म्लेच्छाचार है—म्लेच्छोंका सर्व सामान्याचार है। **'इति स्मृतम्'** शब्दोंका अर्थ होता है ऐसा कहा गया, प्रतिपादन किया गया अथवा स्मृति-शास्त्र-द्वारा विधान किया गया। हाँ, अगले पद्यका अर्थ इस पद्यपर अवलम्बित जरूर है और वह अगला पद्य, जिसे समालोचकजीने भी उदधृत किया है, इस प्रकार है :—

सोऽस्त्यमीषां च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः।
तादृशं बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः॥ ४२–१८५॥

इस पद्यमे बतलाया गया है कि 'वह (पूर्व पद्यमे कहा हुआ) म्लेच्छाचार इन (अक्षर-म्लेच्छो) में भी पाया जाता है, क्योंकि ये अधमद्विज अपनी जातिके घमडमे आकर वेदशास्त्रो-के अर्थको उस रूपमें बहुत मानते हैं जो उक्त म्लेच्छाचारका प्रतिपादक है।' और इस तरहपर जो लोग वेदार्थका सहारा लेकर यज्ञों तथा देवताओंकी बलिके नामसे बेचारे मूक पशुओं-की घोर हिंसा करते तथा मांस खाते हैं उनके उस आचारको म्लेच्छाचारकी उपमा दी गई है और उन्हे कथचित् अक्षर-म्लेच्छ[1] ठहराया गया है। इससे अधिक इस कथनका ग्रन्थमें कोई दूसरा प्रयोजन नही है। इस पद्यके **"सोस्त्यमीषां च"** शब्द साफ बतला रहे हैं कि इससे पहले म्लेच्छोंके सर्वसाधा-

---

१. ऐसे लोगोंको, किसी भी रूपमे उनकी जातिको सूचित किये बिना, केवल म्लेच्छ नामसे उल्लेखित नहीं किया जाता।

रण आचारका उल्लेख किया गया है और उसी म्लेच्छाचारसे इन अधम द्विजोंके आचारकी तुलना की गई है—न कि इन्ही-का उक्त पद्यमें आचार बतलाया गया है। इसी प्रकरणके एक दूसरे पद्यमें भी इन लोगोके आचारको म्लेच्छाचारकी उपमा दी गई है। लिखा है कि 'तुम निर्व्रत हो (अहिसादिव्रनोके पालनसे रहित हो), निर्नमस्कार हो, निर्दय हो, पशुघाती हो और (इसी तरहके और भी) म्लेच्छाचारमे परायण हो, तुम्हे धार्मिक द्विज नही कह सकते। यथा :—

> निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः।
> म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने धार्मिका द्विजाः ॥ १९० ॥

इससे भी '**हिसामे रति**' आदि म्लेच्छोके साधारण आचरणका पता चलता है। परन्तु इतनेपर भी समालोचकजी लेखककी इस बातको स्वीकार करते हुए कि "अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित, उच्च कुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोने म्लेच्छराजाओं-की कन्याओसे विवाह किया है", लिखते हैं.—

"ठीक है हम भी इस बातको मानते हैं कि चक्रवर्ती म्लेच्छ-खंडके राजाओकी कन्याओसे विवाह कर लाते थे लेकिन वे क्षेत्रकी अपेक्षासे म्लेच्छ राजा कहाते थे। यह बात नहीं है कि उनके आचरण भी नीच हो या वे मॉसखोर व शराबखोर हो अथवा आपके लिखे अनुसार हिसामे रति, मॉसभक्षणमे प्रीति रखने वाले और जबरदस्ती दूसरोका धन हरण करने वाले हों। बाबू साहब, आपकी लिखी हुई यह बाते उन म्लेच्छ राजाओमें कभी नही थीं। आपने जो म्लेच्छोंके आचरण संबन्धी श्लोक दिया है वह केवल जनतामें भ्रम फैलानेके लिये ऊपर-नीचेका संबन्ध छोड़कर दिया है"।

इसके बाद म्लेच्छोंके इस आचारकी कुछ सफाई पेश करके, आप फिर लिखते हैं:—

"उन मलेक्षोंमें हिसा, माँसभक्षण आदिकी प्रवृत्ति सर्वथा नही थी।"

"बहुतसे लोग जो म्लेच्छोंको नीच और कदाचरणी समझ रहे हैं उनकी वह समझ बिलकुल मिथ्या है।"

"इन मलेक्ष राजाओको नीच, हिसक, मांसखोर आदि कहना सर्वथा मिथ्या और शास्त्र-विरुद्ध है।"

पाठकजन, देखा! समालोचकजीने म्लेच्छखण्डके म्लेच्छो-को किस टाइपके म्लेच्छ समझा है। कैसी विचित्र सृष्टिका अनुसंधान किया है! आपको तो शायद स्वप्नमें भी उसका कभी खयाल न आया हो। अच्छा होता यदि समालोचकजी उन म्लेच्छोका एक सर्वांगपूर्ण लक्षण भी दे देते। समझमे नही आता जब वे लोग हिसा नही करते, माँस नही खाते, शराब नही पीते, जबरदस्ती दूसरोंका धन नही हरते, अन्याय नही करने, ये सब बाते उनमे कभी थी नही, वे इनकी प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं और साथ ही नीच तथा कदाचरणी भी नहीं हैं, तो फिर उन्हे 'म्लेच्छ' क्यों कहा गया? उनकी पवित्र भूमिको 'म्लेच्छखण्ड' की सज्ञा क्यों दी गई? क्या उनसे किसी आचार्य-का कोई अपराध बन गया था या वैसे ही किसी आचार्यका सिर फिर गया था जो ऐसे हिसादि पापोसे अस्पृष्ट पूज्य मनुष्योको भी 'म्लेच्छ' लिख दिया? उनसे अधिक आर्योंके और क्या कोई सींग होते हैं, जिससे मनुष्य जातिके आर्य और म्लेच्छ दो खास विभाग किये गये हैं? महाराज! आपकी यह सब कल्पना किसी भी समझदारको मान्य नही हो सकती। म्लेच्छ प्राय:

मलिन और दूषित आचार वाले मनुष्यों का ही नाम है, जिन लोगोंमे कुल-परम्परासे ऐसे कदाचार रूढ हो जाते हैं उन्हीको म्लेच्छ संज्ञा पड़ जाती है। श्रीविद्यानंदाचार्य, कर्मभूमिज म्लेच्छोंका वर्णन करते हुए, जिनमें आर्यखडोद्भव और म्लेच्छ-खण्डोद्भव दोनों प्रकारके म्लेच्छ शामिल हैं, साफ लिखते हैं :—

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचार-पालनाद्बहुधा जना ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक।

अर्थात्—कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए जो म्लेच्छ हैं उनमें यवनादिक तो प्रसिद्ध ही हैं बाकी यवनादिकसे भिन्न जो दूसरे बहुतसे म्लेच्छ हैं वे सब यवनादिको (यवन, शवर, पुलिंदादिको) के आचारका ही पालन करते हैं और इसीसे म्लेच्छ कहलाते हैं।

इससे साफ जाहिर है कि म्लेच्छखण्डोके म्लेच्छोका आचार यहाँके शक, यवन, शवरादि म्लेच्छोके आचारसे भिन्न नही है और इसलिये यह कहना कि 'म्लेच्छखंडोंके म्लेच्छोमें हिंसा तथा मासभक्षणादिकी सर्वथा प्रवृत्ति नही', आगमे बाग लगाना है। श्रीविद्यानदाचार्य म्लेच्छोके नीचगोत्रादिकी उदय भी बतलाते हैं—लिखते हैं 'उच्च-गोत्रादिकके उदयसे आर्य और नीच-गोत्रादिके उदयसे म्लेच्छ होते हैं।' यथा :—

"उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्या नीचैर्गोत्रादेश्च म्लेच्छाः।"

तब, क्या समालोचकजी इन विधानोके कारण, अपने उक्त वाक्योंके अनुसार, श्री विद्यानंदाचार्यकी समझको "बिलकुल मिथ्या" और उनके इस नीच आदि कथनको "सर्वथा मिथ्या और शास्त्र-विरुद्ध" कहनेका साहस करते हैं? यदि नही तो उन्हें अपने उक्त निरर्गल और निःसार वाक्योके लिये पश्चात्ताप

होना चाहिये। और खेद है कि समालोचकजीने बिना सोचे समझे, जहाँ जो जीमे आया, लिख मारा है! लेखकके शास्त्रीय वर्णनोंको इसी तरह 'सर्वथा मिथ्या' और 'शास्त्रविरुद्ध' बतलाया गया है, और यह उनके सर्वथा मिथ्या और शास्त्रविरुद्ध कथन-टाइपका एक नमूना है—उसकी खास बानगी है। खाली इस बातको छिपानेके लिये कि **'जरा'** ऐसे मनुष्यकी कन्या थी जो म्लेच्छ होनेसे हिंसक और मांस-भक्षक कहा जा सकता है, आपने म्लेच्छाचारको ही उलट देना चाहा है, यह कितना दुःसाहस है! म्लेच्छोंका आचार तो हिन्दू ग्रन्थोंसे भी मांसभक्षणादिरूप पाया जाता है, जैसा कि 'प्रायश्चित्ततत्त्व' में कहे हुए उनके बोधायन आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहु भाषते।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥

अर्थात्—जो गो-मांस भक्षण करता है, बहुत कुछ विरुद्ध बोलता है और सर्व धर्माचारसे रहित है उसे म्लेच्छ कहते हैं।

अब समालोचकजीकी उस सफाईको भी लीजिये, जो आपने उस म्लेच्छोंके आचार-विषयमें पेश की है, और वह आदिपुराणके वे दो श्लोक हैं, जिनमें म्लेच्छखण्डोंके उन म्लेच्छोंका उल्लेख किया गया है जिन्हें भरत चक्रवर्तीके सेनापतिने जीतकर उनसे अपने स्वामीके भोग-योग्य कन्यादि रत्नोंका ग्रहण किया था :—

इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः।
तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत्॥१४१
धर्म-कर्म-बहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
अन्यथान्यैः समाचारैरार्यावर्त्तेन ते समाः॥१४२

इन पद्योंमेसे पहले पद्यमें तो म्लेच्छ राजाओंको जीतने और

उनसे कन्यादि रत्नोंके ग्रहण करनेका वही हाल है जो ऊपर बतलाया गया है और दूसरे पद्यमें लिखा है कि ये लोग धर्म (अहिंसादि) और कर्म (निरामिष-भोजनादिरूप सदाचार) से बहिर्भूत हैं—भ्रष्ट हैं—इसलिये इन्हें 'म्लेच्छ' कहते हैं, अन्यथा, दूसरे आचरणो (असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प और विवाहादि कर्मो) की दृष्टिसे आर्यावर्त्तकी जनताके समान हैं, (अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंके समान नही)।

बस, इस एक श्लोकपरसे ही समालोचकजी अपने उस सब कथनको सिद्ध समझते हैं जिसका विधान उन्होने अपने उक्त वाक्योमे किया है ! परन्तु इस श्लोकमें तो साफ तौरपर उन म्लेच्छोंको धर्म-कर्मसे बहिर्भूत ठहराया है, और इससे अगले ही निम्न पद्यमें उनके निवासस्थान म्लेच्छखण्डको 'धर्म-कर्मकी अभूमि' प्रतिपादन किया है। अर्थात् यह बतलाया है कि वह भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है—वहाँ अहिंसादि धर्मोंका पालन और सत्कर्मोंका अनुष्ठान नही बनता :—

> इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्।
> म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृतत्पुनः ॥१४३॥
>
> —आदिपुराण, ३१ वाँ पर्व।

फिर समालोचकजी किस आधारपर यह सिद्ध समझते हैं कि उन म्लेच्छोंमें हिंसा तथा मांसभक्षणादिककी प्रवृत्ति सर्वथा नहीं है ? हिंसा तो अधर्मका ही नाम है और मांसभक्षणादिकको असत्कर्म कहते हैं, ये दोनो ही जब वहा नही और वे लोग नीच तथा कदाचरणी भी नही तब तो वे खासे धर्मात्मा, सत्कर्मी और आर्यखण्डके मनुष्योंसे भी श्रेष्ठ ठहरे, उन्हें धर्म-कर्मसे बहिर्भूत कैसे कहा जा सकता है ? क्या धर्म-कर्मके और कोई सीग-पूँछ

होते हैं जो उनमें नहीं हैं और इसलिए वे धर्म-कर्मसे बहिर्भूत करार दिये गये हैं ? जान पड़ता है यह सब समालोचकजीकी विलक्षण समझका परिणाम है, जो आप उन्हें म्लेच्छ भी मानते हैं, धर्म-कर्मसे बहिर्भूत भी बतलाते हैं और फिर यह भी कहते हैं कि वे हिंसा तथा मांसभक्षणादिकसे अलिप्त हैं—उनमें ऐसे पापों तथा कदाचरणोंकी प्रवृत्ति ही नही । समालोचकजीकी इस समझपर एक फार्सी कविका यह वाक्य बिलकुल चरितार्थ होता है :—

"बरीं अक्लोदानिश ब-बायद गरीस्त ।"

अर्थात्—ऐसी बुद्धि और समझपर रोना चाहिये ।

आप लिखते हैं "यदि वे (म्लेच्छ) नीच होते तो 'उनके अन्य सब आचरण आर्यखण्डके समान होते हैं' ऐसा आचार्य कभी नही लिखते ।" परन्तु खेद है आपने यह समझनेकी जरा भी कोशिश नही की कि वे आचरण कौन-से हैं और उनकी समानतासे क्या वह नीचता दूर हो सकती है । इसी देशमें भी जिन्हें आप नीच समझते हैं उनके कुछ आचरणोंको छोड़कर शेष सब आचरण ऊँच-से-ऊँच कहलानेवाली जातियोंके समान हैं; तब क्या इस समानतापरसे ही वे ऊँच हो गये और आप उन्हें माननेके लिये तैयार हैं ? यदि समानताका ऐसा नियम हो तब तो फिर कोई भी नीच नही रह सकता और श्रीविद्यानन्दाचार्यने गलतीकी जो म्लेच्छोंके नीच-गोत्रादिका उदय बतला दिया ! परन्तु ऐसा नही है; वास्तवमें ऊँचता और नीचता खास-खास गुण-दोषोंपर अवलम्बित होती है—दूसरे आचरणोंकी समानतासे उसपर प्रायः कोई असर नहीं पड़ता ।

लेखकने, यद्यपि अपने लेखमें यह कहीं नहीं लिखा था कि 'जरा नीच थी,' जैसा कि समालोचकजीने अपने पाठकोंको

सुझाया है किन्तु उसके पिताकी बाबत सिर्फ इतना ही लिखा था कि 'वह आर्य तथा उच्च जातिका मनुष्य नही था', फिर भी समालोचकजीने, जराकी नीचताका निषेध करते हुए, जो यह लिखनेका कष्ट उठाया है कि "नीच हम (उसे) तब ही मान सकते हैं जब कि उस कन्याके जीवन-चरितमें कुछ नीचता दिखलाई हो," इसका क्या अर्थ है वह कुछ समझमे नही आता ! क्या समालोचकजी इसके द्वारा यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि 'किसी तरहपर अच्छे सस्कारोमे रहनेके कारण नीचजातिमे उत्पन्न हुई कन्याओके जीवनचरितमे यदि नीचताकी कोई बात न दिखलाई पडती हो तो हम उन्हे ऊँच मानने, उनसे ऊँच जातियोंकी कन्याओ जैसा व्यवहार करने और ऊँच जातिवालोंके साथ उनके विवाह-सम्बन्धको उचित ठहरानेके लिये तैयार हैं ? यदि ऐसा है तब तो आपका यह विचार कितनी ही दृष्टियोसे अभिनन्दनीय हो सकता है, और यदि वैसा कुछ आप प्रतिपादन करना नही चाहते तो आपका यह लिखना विल्कुल निरर्थक और अप्रासगिक जान पडता है ।

हमारे समालोचकजीको एक बडे फिक्रने और भी घेरा है और वह है भरत-चक्रवर्तीका म्लेच्छ कन्याओसे माना हुआ (admitted) विवाह । आपकी समझमे, म्लेच्छोको उच्च-जातिके न माननेपर यह नामुमकिन (असम्भव) है कि भरतजी नीचजातिकी कन्याओसे विवाह करते, और इसीलिये आप लिखते हैं :—

"यह कभी सम्भव नही हो सकता कि जो भरत गृहस्था-वस्थामें अपने परिणाम ऐसे निर्मल रखते थे कि जिन्हे दीक्षा लेते ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और जिनके लिये "भरत

घरमें ही वैरागी'' आदि अनेक प्रकारकी स्तुतियें प्रसिद्ध हैं, वे भरत नीच-कन्याओसे विवाह करें। ऐसे महापुरुषोंके लिये नीच-कन्याओंके साथ विवाहकी बात कहना केवल उनका अपमान करना है, उन्हे कलंक लगाना है।''

इसके उत्तरमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि **भरतजी** किसी वक्त घरमें वैरागी जरूर थे, परन्तु वे उस वक्त वैरागी नही थे जब कि दिग्विजय कर रहे थे, युद्धमे लाखों जीवोका विध्वंस कर रहे थे और हजारो स्त्रियोंसे विवाह कर रहे थे। यदि उस समय, यह सब कुछ करते हुए, भी वे वैरागी थे तो उनके उस सुदृढ वैराग्यमें एक नीच-जातिकी कन्यासे विवाह कर लेनेपर कौन-सा फर्क पड़ जाता है और वह किधरसे विगड जाता है ? महाराज ! आप भरतजीकी चिन्ताको छोड़िये, वे आप जैसे अनुदार विचारके नहीं थे। उन्होंने राजाओंको क्षात्र-धर्मका उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है :—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥१७९॥

—आदिपुराण, पर्व ४२ वाँ।

अर्थात्—अपने देशमे जो अज्ञानी म्लेच्छ हों और प्रजाको बाधा पहुँचाते हों—लूटमार करते हों—उन्हें कुलशुद्धि-प्रदानादिक-के द्वारा क्रमशः अपने बना लेने चाहिये।

यहाँ कुल-शुद्धिके-द्वारा अपने बना लेनेका स्पष्ट अर्थ म्लेच्छोंके साथ विवाह-संबंध स्थापित करने और उन्हें अपने धर्ममें दीक्षित करके अपनी जातिमें शामिल कर लेनेका है। साथ ही यह भी जाहिर होता है कि म्लेच्छोंका कुल शुद्ध नहीं। और

जब कुल ही शुद्ध नहीं तब जाति-शुद्धिकी कल्पना तो बहुत दूरकी बात है।

भरतजीने, अपने ऐसे ही विचारोके अनुसार, यह जानते हुए भी कि म्लेच्छोका कुल शुद्ध नही है, उनकी बहुत-सी कन्याओसे विवाह किया, जिनकी संख्या आदिपुराणमे, मुकुटबद्ध राजाओंकी सख्या जितनी बतलाई है। साथ ही, **भरत**जीकी कुलजातिसपन्ना स्त्रियोकी सख्या उससे अलग दी है। यथा :—

> कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः।
> रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥३४॥
> म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः।
> अप्सरःसंकथाः क्षोणी यकाभिरवतारिताः ॥३५॥

—३७ वाँ पर्व।

इनमेसे पहले पद्यमे आर्य-जातिकी स्त्रियोंका उल्लेख है और उन्हें **'कुलजात्यभिसंपन्ना'** लिखा है। और दूसरे पद्यमें म्लेच्छ-जातिके राजादिकोंकी दी हुई स्त्रियोका वर्णन है। इसमे जाहिर है कि भरत-चक्रवर्तिने म्लेच्छोकी जिन कन्याओसे विवाह किया वे कुल-जातिसे सपन्न नही थीं—अर्थात्, उच्च कुल-जातिकी नही थी। साथ ही, **'म्लेच्छराजादिभिः'** पदमें आए हुए **'आदि'** शब्दसे यह भी मालूम होता है कि वे म्लेक्छ-कन्याएँ केवल म्लेच्छ-राजाओकी ही नही थी, बल्कि दूसरे म्लेच्छोकी भी थी। ऐसी हालतमे समालोचकजीकी उक्त समझ कहाँ तक ठीक है और उनके उस लिखनेका क्या मूल्य है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। लेखक तो यहाँपर सिर्फ इतना और बतला देना चाहता है कि पहले जमानेमे दुष्कुलोंसे भी उत्तम कन्याएँ ले ली जाती थी और उन्हें अपने सस्कारों द्वारा उसी तरहपर ठीक कर

लिया जाता था जिस तरह कि एक रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है अथवा सुवर्ण-धातु संस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है। इसीसे यह प्रसिद्धि चली आती है—"**कन्यारत्नं दुष्कुलादपि**"। अर्थात् दुष्कुलसे भी कन्यारत्न ले लेना चाहिए। उस समय पितृकुल और मातृकुलकी शुद्धिको लिये हुए 'सज्जाति' दो प्रकारकी मानी जाती थी—एक शरीर-जन्मसे और दूसरी संस्कार-जन्मसे। शरीर-जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जातिका सद्भाव प्रायः आर्यखण्डोमे माना जाता था[1]—म्लेच्छखण्डोंमें नही। म्लेच्छखण्डोंमे तो संस्कार-जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जातिका भी सद्भाव नही बनता, क्योंकि वहाँकी भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है—उसका वातावरण ही बिगड़ा हुआ है। हाँ, वहाँके जो लोग यहाँ आ जाते थे वे सस्कारके बलसे सज्जातिमें परिणत किये जा सकते थे और तब उनकी म्लेच्छसंज्ञा नही रहती थी। यहाँकी जो व्यक्तियाँ शरीर-जन्मसे अशुद्ध होती थीं उन्हे भी अपने धर्ममे दीक्षित करके, संस्कार-जन्मके योगसे सज्जातिमें परिणत कर लिया जाता था और इस तरहपर नीचों-को ऊँच बना लिया जाता था। ऐसे लोगोंका वह संस्कार-जन्म

---

१. सज्जन्मप्रतिलंभोऽयमार्यावर्त्ते विशेषतः।
सतां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता।
एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८॥
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते।
यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९॥
—आदिपुराण, ३८वाँ पर्व।

'अयोनिसम्भव' कहलाता था[1]। म्लेच्छोंके त्रास अथवा दुर्भिक्षादि किसी भी कारणसे यदि किसीके सत्कुलमें कोई वट्टा लग जाता था—दोष आ जाता था—तो राजा अथवा पचों आदिकी सम्मतिसे उसकी कुल-शुद्धि हो सकती थी और उस कुलके व्यक्ति तब उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कारके योग्य समझे जाते थे। इस कुल-शुद्धिका विधान भी आदिपुराणमे पाया जाता है। यथा :—

> कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
> सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलं ॥१६८॥
> तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ।
> न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥
>
> —४०वाँ सर्ग।

शुद्धिका यह उपदेश भी भरत चक्रवर्तीका दिया हुआ आदि-पुराणमें बतलाया गया है और इससे दस्सों तथा हिन्दूसे मुसलमान बने हुए मनुष्योंकी शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। ऐसी हालतमे समालोचकजी भरत महाराजके अपमान और कलककी बातका क्या खयाल करते हैं, वे उनके उदार विचारोंको नही पहुँच सकते, उन्हे अपनी ही सँभाल करनी चाहिये। जिसे वे अपमान और दूषण (कलंक) की बात समझते हैं वह **भरतजी**के लिये अभिमान और भूषणकी बात थी। वे समर्थ थे, योजक थे, उनमे योजनाशक्ति थी और अपनी उस शक्तिके अनुसार वे प्रायः किसी भी मनुष्यको अयोग्य नही समझते थे—सभी भव्यपुरुषोंको योग्यतामे परिणत करने अथवा

---

1. अयोनिसंभवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवं।
सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥९८॥
—आदिपुराण, पर्व ३९वां।

उनकी योग्यतासे काम लेनेके लिये सदा तैयार रहते थे। और यह उन्ही जैसे उदारहृदय योजकोके उपदेशादिका परिणाम है जो प्राचीन-कालमें कितनी ही म्लेच्छजातियोके लोग इस भारतवर्षमें आए और यहाँके जैन, बौद्ध, अथवा हिन्दू धर्मोमे दीक्षित होकर आर्य जनतामे परिणत हो गये। और इतने मखलूत हुए (मिल गये) कि आज उनके वंशके पूर्व पुरुषोका पता चलाना भी मुश्किल हो रहा है। समालोचकजीको भारतके प्राचीन इतिहास-का यदि कुछ भी पता होता तो वे एक म्लेच्छकन्याके विवाह-पर इतना न चौकते और न सत्यपर पर्दा डालनेकी जघन्य चेष्टा ही करते। अस्तु।

इन सब कथनसे साफ जाहिर होता है कि—जिस जराका वसुदेवके साथ विवाह हुआ, जिसके पुत्र जरत्कुमारने राजपाट छोडकर जैन मुनि-दीक्षा तक धारण की और जिसकी सन्ततिमें होनेवाले **जितशत्रु** राजासे भगवान **महावीर**की बुआ व्याही गई वह एक म्लेच्छ-राजाकी कन्या थी, भील भी म्लेच्छोकी एक जाति होनेसे वह भील कन्या भी हो सकती है; परन्तु वह म्लेच्छ-खडके किसी म्लेच्छ-राजाकी कन्या नही थी किन्तु आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ-राजाकी कन्या थी, जो चम्पापुरीके पासके इलाकेमें रहता था। म्लेच्छ-खंडोंमे आर्योका उद्भव नही। म्लेच्छोका सर्व सामान्याचार वही हिसा करना और मासभक्षणादिक है। म्लेच्छखडोके म्लेच्छ भी उस आचारसे खाली नहीं हैं, वे खास तौरपर धर्म-कर्मसे बहिर्भूत हैं और उनका क्षेत्र धर्म-कर्मके अयोग्य माना गया है वहाँ सज्जातिका उत्पाद भी प्रायः नहीं बनता। म्लेच्छोंमें नीचगोत्रादिकका उदय भी बतलाया गया है और इससे यह नही कहा जा सकता कि वे उच्चजातिके होते

हैं। भरत **चक्रवर्तीने** (तदनुसार और भी **चक्रवर्तियोने**) म्लेच्छ-राजादिकोंकी बहुत-सी कन्याओसे विवाह किया है, वे हीन-कुल-जातिकी कन्याओसे विवाह कर लेना अनुचित नही समझते थे, उन्होने म्लेच्छोंकी कुलशुद्धि करने और जिनके कुलमे किसी वजहसे कोई दोष लग गया हो उन्हें भी शुद्ध कर लेनेका विधान किया है। उस वक्तसे न मालूम कितने म्लेच्छ शुद्ध होकर आर्य-जनतामे परिणत हुए। इतिहाससे कितने ही म्लेच्छ-राजादिकोका आर्य-जनतामे शामिल होनेका पता चलता है। पहले जमानेमे दुष्कुलोसे भी उत्तम कन्याएँ ले ली जाती थी, राजा **श्रेणिकके** पिताने भील कन्यासे विवाह किया और सम्राट् **चन्द्रगुप्तने** एक म्लेच्छ-राजाकी कन्यासे शादी की। ऐसी हालतमे समालोचकजीने उदाहरणके इस अंशपर जो कुछ भी आक्षेप किये हैं वे सब मिथ्या तथा व्यर्थ हैं और उनकी पूरी नासमझी प्रकट करते हैं।

अब उदाहरणके तृतीय अंश—'प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह'—को लीजिये।

व्यभिचारजातों और दस्सोंसे विवाह

लेखकने लिखा था कि "**प्रियंगुसुन्दरीके** पिताका नाम **'एणीपुत्र'** था। यह एणीपुत्र **'ऋषिदत्ता'** नामकी एक अविवाहिता तापस-कन्यासे व्यभिचारद्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसव-समय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जंगलमे अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पाल-पोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सपुर्द कर दिया। इससे **प्रियंगुसुन्दरीका** पिता **'एणीपुत्र'** व्यभिचारजात था, जिसको आजकलकी भाषामें

'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिये । वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्र-सम्मत नहीं समझा और इसलिये उन्होने बड़ी खुशीके साथ **प्रियंगुसुन्दरी**का भी पाणिग्रहण किया ।''

उदाहरणके इस अंशपर जो कुछ भी आपत्ति की गई है उसका सारांश सिर्फ इतना ही है कि एणीपुत्र व्यभिचारजात नही था, किन्तु गन्धर्व-विवाहसे उत्पन्न हुआ था । परन्तु **ऋषि-दत्ता**का **शीलायुध**मे गन्धर्व-विवाह हुआ था, ऐसा उल्लेख जिन-सेनाचार्यने अपने हरिवंशपुराणमें कहाॅ किया है, इस बातको समालोचकजी नही बतला सके । आपने उक्त हरिवंशपुराणके आधारपर कई पृष्ठोमें ऋषिदत्ताकी कुछ विस्तृत कथा देते हुए भी, जिनसेनाचार्यका एक भी वाक्य ऐसा उद्धृत नही किया जिससे गधर्व-विवाहका पता चलता । सारी कथामेसे नीचे लिखे कुल दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं जो दो पद्योके दो चरण हैं :—

"ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदि स्यां गर्भधारिणी ।"
"पृष्ठस्तथा [तः] सतामाह या [मा] कुशाभूः प्रिये शृणु"

इनमेसे पहले चरणमे ऋषिदत्ताके प्रश्नका एक अंश और दूसरेमें शीलायुधके उत्तरका एक अंश है । समालोचकजी कहते हैं कि कामक्रीडाके अनन्तरकी बातचीतमे जब **ऋषिदत्ताने शीलायुध**को 'आर्यपुत्र' कहकर और **शीलायुधने ऋषिदत्ता**को 'प्रिये' कहकर सबोधन किया तो इससे उनके गंधर्व-विवाहका पता चलता है—यह मालूम होता है कि उन्होने आपसमें पति-पत्नी होनेका ठहराव कर लिया था और तभी भोग किया था, क्योकि "आर्यपुत्र जो विशेषण है यह पतिके लिये ही होता है" और "जो प्रिये विशेषण है यह पत्नीके लिये ही होता है ।" इसी

प्रकार जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणसे सिर्फ एक **वाक्य** (**"इति पृष्ठः सतामूचे मा भैषी शृणु वल्लभे"**) उद्धृत करके उसमें आए हुए **'वल्लभे'** विशेषणकी बाबत लिखा है—"ये भी पत्नीके लिये ही होता है।" परन्तु ये विशेषण पति-पत्नीके लिये ही प्रयुक्त होते है–अन्यके लिये नही—ऐसा कही भी कोई नियम नही देखा जाता। शब्दकोषके देखनेसे मालूम होता है कि आर्य-पुत्र **"आर्यस्य पुत्र"**—आर्यके पुत्रको, **"मान्यस्य पुत्र"**—मान्यके पुत्रको और **"गुरुपुत्र"**—गुरुके पुत्रको भी कहते हैं (देखो 'शब्दकल्पद्रुम')। 'आर्य' शब्द पूज्य, स्वामी, मित्र, श्रेष्ठ, आदि कितने ही अर्थोमें व्यवहृत होता है और इसलिये 'आर्यपुत्र' के और भी कितने ही अर्थ तथा वाच्य होते हैं। वामन शिवराम आप्टेने, अपने कोशमे, यह भी बतलाया है कि आर्यपुत्र 'बड़े भाईके पुत्र' और 'राजा' के लिये भी एक गौरवान्वित विशेषणके तौरपर प्रयुक्त होता है। यथा :—आर्यपुत्रः—honorrific designation of the son of the elder brother; or of a prince by his general &c.

ऐसी हालतमें एक मान्य और प्रतिष्ठित जन तथा राजा समझकर भी उक्त सम्बोधन पदका प्रयोग हो सकता है और उससे यह लाजिमी नही आता कि उनका विवाह होकर पति-पत्नी संबंध स्थापित हो गया था। इसी तरह पर **'प्रिया'** और **'वल्लभा'** शब्दोंके लिये भी, जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं, ऐसा नियम नही है कि वे अपनी विवाहिता स्त्रीके लिये ही प्रयुक्त होते हो—वे साधारण स्त्रीमात्रके लिये भी व्यवहृत होते हैं, जो अपनेको प्यारी हो। इसीसे उक्त आप्टे साहबने 'प्रिया' का अर्थ a woman in general और वल्लभा

a beloved female भी दिया है। कामीजन तो अपनी कामुकियों अथवा प्रेमिकाओंको इन्हीं शब्दोंमें क्या इनसे भी अधिक प्रेम-व्यंजक शब्दोमें सम्बोधन करते हैं। ऐसी हालतमे ऋषि-दत्ताके प्रेमपाशमे बँधे हुए उस कामांध शीलायुधने यदि उसे **'प्रिये'** अथवा **'वल्लभे'** कहकर सम्बोधन किया तो इसमें कौन आश्चर्यकी बात है ? इन सम्बोधन-पदोंसे ही क्या दोनोंका विवाह सिद्ध होता है ? कभी नही। केवल भोग करनेसे भी गंधर्व-विवाह सिद्ध नही हो जाता, जब तक कि उससे पहले दोनोंमें पति-पत्नी बननेका दृढ संकल्प और ठहराव न हो गया हो। अन्यथा, कितनी ही कन्याएँ कुमारावस्थामें भोग कर लेती हैं और वे फिर दूसरे पुरुषोमे व्याही जाती हैं। इसलिए गंधर्व विवाहके लिये भोगसे पहले उक्त संकल्प तथा ठहरावका होना जरूरी और लाजिमी है। समालोचकजी कहते भी हैं कि उन दोनोंने ऐसा निश्चय करके ही भोग किया था; परन्तु जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणमें उस संकल्प, ठहराव अथवा निश्चयका कही भी कोई उल्लेख नही है। भोगके पश्चात भी ऋषिदत्ताकी ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती जिससे यह मालूम होता हो कि उसने आजन्मके लिये शीलायुधको अपना पति बनाया था।

समालोचकजी एक बात और भी प्रकट करते हैं और वह यह कि ऋषिदत्ता पंचाणुव्रतधारिणी थी और 'सम्यक्त्वसहित' मरी थी "इसीलिये यह बिना किसीको पति बनाये कभी कामसेवन नही कर सकती थी।" परन्तु सकने और न सकनेका सवाल तो बहुत टेढा है। हम सिर्फ इतना ही पूछना चाहते हैं कि यह कहाँका और कौनसे शास्त्रका नियम है कि जो सम्यक्त्व-

सहित मरण करे उसका सम्पूर्ण जीवन पवित्र ही रहा हो—उसने कभी व्यभिचार न किया हो ? किसी भी शास्त्रमे ऐसा नियम नही पाया जाता। और न यही देखनेमें आता है कि जिसने एक वार अणुव्रत धारण कर लिये वह कभी उनसे भ्रष्ट न हो सकता हो। अणुव्रतीकी तो बात ही क्या अच्छे-अच्छे महाव्रती भी काम-पिशाचके वशवर्ती होकर कभी-कभी भ्रष्ट हो गये हैं। **चारुदत्त** भी तो अणुव्रती थे और श्रावकके इन व्रतोको लेनेके वाद ही वेश्यासक्त हुए थे। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ऋषिदत्तासे व्यभिचार नही बन सकता था। श्रीजिनसेनाचार्यने तो साफ लिखा है कि उन दोनोके पारस्परिक प्रेमने चिरकालकी मर्यादाको तोड़ दिया था। यथा :—

> [1]शांतायुधसुतः श्रीमांश्रावस्तीपतिरेकदा।
> शीलायुध इति ख्यातः संयातस्तापसाश्रमम्॥ ३६॥
> एकयैव कृतातिथ्यस्तया तापसकन्यया।
> रूच्याहारैर्मनोहारि-सवल्कलकुचश्रिया॥३७॥
> अतिविश्रंभतः प्रेम तयोरप्रतिरूपयोः।
> विभेद निजमर्यादां चिर समनुपालिताम्॥३८॥

---

१. जिनदास ब्रह्मचारीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इन चारो पद्योंकी जगह नीचे लिखे तीन पद्य दिये है :—

> शांतायुधात्मजो जातु श्रावस्तीनगरीपतिः।
> शीलायुधाभिधोऽयासीत्तं तापसजनाश्रमं॥३६॥
> तयैकयैव विहितातिथ्यस्तापसकन्यया।
> वन्याहारैः परां प्रीतिं स तया सह संगतः॥३७॥
> ततो रहसि निःशंकस्तामसौ तापसात्मजां।
> बुभुजे कामनाराचवशाल्पीकृतविग्रहाम्॥३८॥

गते रहसि निःशंकं निःशंकस्तामसौ युवा।
अरीरमद्यथाकामं कामपाशवशो वशां ॥३९॥

—हरिवंशपुराण।

अर्थात्—एक दिन **शांतायुधका** पुत्र **शीलायुध,** जो श्रावस्ती नगरीका राजा था, तापसाश्रममें गया। वहाँ वह तापसकन्या **ऋषिदत्ता** अकेली थी और उसने ही सुन्दर भोजनसे राजाका अतिथि-सत्कार किया। ये दोनो अति रूपवान् थे, इनके परस्पर केलिकलह उपस्थित होने—अथवा स्नेहके बढ़नेसे—दोनोंके प्रेमने चिरकालसे पालन की हुई मर्यादाको तोड़ डाला। और वह कामपाशके वश हुआ युवा **शीलायुध** उस कामपाशवशवर्तिनी **ऋषिदत्ताको** एकान्तमें लेजाकर उससे निःशक हुआ यथेष्ट काम-क्रीड़ा करने लगा।

पं० दौलतरामजी भी अपनी टीकामें लिखते हैं—"**ऋषि-दत्ता** तापसकी कन्या अकेली हुती तानैं **शीलायुधको** मनोहर आहार कराया, ए दोऊ ही अतुल रूप, सो इनके प्रेम बढ़ा, सो चिरकालकी मर्यादा हुती सो भेदी गई। एकांत विषै दोऊ निःशक भये यथेष्ट रमते भये।" और पं० गजाधरलालजी ३८ वें पद्यके अनुवादमें लिखते हैं—"वे दोनों गाढ प्रेम-बंधनमें बँध गये, उनके उस प्रेम-बंधनने यहाँ तक दोनोंपर प्रभाव जमा दिया कि न तो ऋषिदत्ताको अपनी तपस्विमर्यादाका ध्यान रहा और न राजा **शीलायुधको** ही अपनी वंशमर्यादा सोचनेका अवसर मिला।" और इसके बाद आपने यह भी जाहिर किया है कि "**ऋषिदत्ताको** अपने अविचारित कामपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ, मारे भयके उसका शरीर थरथर कॉपने लगा।"

श्रीजिनसेनाचार्यके वाक्यों और उक्त टीका-वचनोंसे यह

स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि **ऋषिदत्ता** और **शीलायुधने** विवाह न करके व्यभिचार किया था। हरिवंशपुराणके उक्त चारों पद्योंमें **शीलायुधके** आश्रममें जाने और भोग करने तकका पूरा वर्णन है। परन्तु उसमें कही भी पति-पत्नीके संबंध-विषयक किसी ठहराव, संकल्प, प्रतिज्ञा या विवाहका कोई उल्लेख नही है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इन दोनोका गंधर्व-विवाह हुआ था? समालोचकजी, कथाका पूर्णाश (?) देते हुए लिखते हैं :—

"चूँकि राजपुत्र भी तरुण तथा रूपवान था और कन्या भी सुन्दरी व लावण्यवतो थी। इनका आपसमे एक दूसरेपर विश्वास हो गया। (पति-पत्नी बननेकी वार्ता हो गई) जो कि गन्धर्व-विवाहसे भली-भाँति घटित होता है। और इन्होने परस्परमे काम-क्रीडा की।"

मालूम होता है यह आपने उक्त ३८ वे और ३९ वें पद्योका पूर्णाश नही किन्तु साराश दिया है और इसमे चिरपालित मर्यादाको तोड़नेकी बात आप कतई छिपा गये! अथवा यो कहिये कि, कथाका उपयुक्त सारांश देनेपर भी, कथाके अशको छिपानेका जो इलज़ाम आपने लेखकपर लगाया था उसके स्वयं मुलज़िम और मुजरिम (अपराधी) बन गये। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि ३८ वे पद्यमे आए हुए "**अतिविश्रंभतः**" पदका अर्थ आपने 'विश्वास हो गया' समझा उसे ही पति-पत्नी बननेकी वार्ता होना मान लिया! और फिर उसीको गंधर्व-विवाहमे घटित कर लिया!! वाह! क्या ही अच्छा आसान नुसख़ा आपने निकाला! कुछ भी करना धरना न पड़े और मुफ्तमें पाठकोको गंधर्व-विवाहका पाठ पढ़ा दिया जाय!! महाराज! इस प्रकारकी कपट-कलासे कोई नतीजा नही है।

मूलग्रन्थमें **'अतिविश्रंभतः'** यह स्पष्ट पद है, इसमें पति-पत्नी बननेकी कोई वार्ता छिपी हुई नहीं है और न गंधर्व-विवाह ही अपना मुँह ढाँपे हुए बैठा है। **'विश्रंभ'** शब्दका अर्थ, यद्यपि, विश्वास भी होता है परन्तु 'केलिकलह' (Love quarrel) और 'प्रणय' (स्नेह) भी उसके अर्थ हैं ([1]**विश्रंभः केलिकलहे, विश्वासे प्रणये वधे**)। और ये ही अर्थ यहाँपर प्रकरण-संगत जान पड़ते हैं। 'अतिविश्वाससे प्रेमने मर्यादा तोड़ दी' यह अर्थ कुछ ठीक नही बैठता। हाँ, स्नेहके अतिरेकसे अथवा केलिकलहके बढ़नेसे—प्रेम-प्रस्तावके लिये अधिक छेड़-छाड, हँसी-मजाक और हाथापाईके होनेसे—प्रेमने उनकी चिरपालित मर्यादा तोड़ दी', यह अर्थ सगत मालूम होता है।

परन्तु कुछ भी सही, आप अपने 'विश्वास' अर्थपर ही विश्वास रक्खे, फिर भी तो उसमेसे पति-पत्नी होनेकी कोई बात-चीत सुनाई नही पड़ती और न गन्धर्व-विवाहके ही मुखका कहीसे दर्शन होता है। यदि दोनोंका गन्धर्व-विवाह हुआ होता तो कोई वजह नही थी कि क्यो ऋषिदत्ता प्रसवसे पहले ही शीलायुधके घरपर न पहुँच गई होती—खासकर ऐसी हालतमें जब कि उसने शीलायुध-द्वारा भोगे जानेका हाल अपने माता-पितासे भी उसी दिन कह दिया था। साथ ही, समालोचकजीके शब्दोंमें (मूलग्रन्थके शब्दोमे नही) यह भी कह दिया था कि "मैं एकान्तमें राजा **शीलायुध**की पत्नी हो चुकी हूँ।" ऐसी दशामें तो जितना भी शीघ्र बनता वे प्रकट रूपसे उसका बाकायदा (नियमानुसार) विवाह **शीलायुध**के साथ कर देते और उसके

---

१. यह श्री हेमचन्द्र और श्रीधरसेनाचार्योंका वाक्य है। मेदिनी-कोशमें भी 'केलिकलह' और 'प्रणय' दोनों अर्थ दिये हैं।

घर भेज देते। **ऋषिदत्ता**को तब क्या जरूरत थी वह डरती और घबराती हुई यह प्रश्न करती कि ऋतुमती होनेसे यदि मेरे गर्भ रह गया हो तो मैं उसका क्या करूँगी ? एक विवाहिता स्त्री गर्भ रह जानेपर क्या किया करती है ? जब वह खुद बालिग (प्राप्तवयस्क) थी, अपनी खुशीसे उसने विवाह किया था और एक ऐसे समर्थ पुरुषके साथ विवाह किया था जो कि राजा था तो फिर उसके लिये डरने, घबराने और थर-थर कांपनेकी क्या जरूरत थी ? **प्रियंगुसुन्दरी**का भी तो **वसुदेव**के साथ पहले गन्धर्व विवाह ही हुआ था। वह तो तभीसे उनके साथ रहने लगी थी। और बादको उसका बाजाब्ता विवाह भी हो गया था। हो सकता है कि ऋषिदत्ता अपने तापसी जीवनमें ही रहना चाहती हो और इसीलिये केवल पुत्रके वास्ते उसने पूछ लिया हो कि उसके होनेपर क्या किया जाय ? ऐसी हालत-मे उसका वह कर्म गन्धर्व-विवाह नही कहला सकता। शीलायुधने उसके प्रश्नका जो उत्तर दिया उससे भी यह बात नही पाई जाती कि उनका परस्पर विवाह हो गया था। वह कहता है 'प्रिये ! डरो मत, मैं श्रावस्ती नगरीका इक्ष्वाकुवंशी राजा हूँ और **शीलायुध** मेरा नाम है; जब तेरे पुत्र हो तब तू पुत्र-सहित मेरे पास आइयो—अथवा मुझमे मिलियो।' वाह ! क्या अच्छा उत्तर है ! क्या अपनी पत्नीको ऐसा ही उत्तर दिया जाता है ? यदि विवाह हो चुका था तो क्यों नही उसने दृढ़ताके साथ कहा कि मैं तुझे अभी अपने घरपर बुलाये लिये लेता हूं ? क्यों तापसाश्रममे ही अपने पुत्रका जन्म होने दिया ? और क्यों उसने फिर अन्त तक उसकी कोई खबर नही ली ? वह तो उसे यहाँ तक भूल गया कि जब वह मरकर देवी हुई और उसी तापसी

वेषमें पुत्रको लेकर **शीलायुधके** पास गई तो उसने उसे पहिचाना तक भी नही। क्या इन्ही लक्षणोंसे यह जाना जाता है कि दोनोंका विवाह हो गया था! और भोगसे पहले पति-पत्नी बननेकी सब बातचीत तै हो गई थी? कभी नही। उत्तरसे तो यह मालूम होता है कि भोगसे पहले शीलायुधने अपना इतना भी परिचय उसे नही दिया कि वह कौनसे वंशका और कहाँका राजा है,—इस परिचयके देनेकी भी उसे बादको ही जरूरत पडी—उसने तो अपने वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रकी रक्षा आदिके प्रबन्धके लिये ही यह कह दिया मालूम होता है कि तुम उसे लेकर मेरे पास आ जाइयो। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि दोनोका परिचय और विवाहकी बातचीत होकर भोग हुआ था? यदि दोनोका गन्धर्व-विवाह हुआ होता तो श्रीजिनसेनाचार्य उसका उसी तरहसे स्पष्ट उल्लेख करते जिस तरहसे कि उन्होंने इसी प्रकरणमे **प्रियंगुसुन्दरीके** गधर्व-विवाहका उल्लेख किया है[1]। अस्तु; उक्त प्रश्नोत्तरके श्लोक निम्न प्रकार हैं और वे ऊपर उद्धृत किये हुए पद्योके ठीक बाद पाये जाते हैं :—

> व्यजिज्ञपत्ततस्तं सा साध्वी साध्वसपूरिता।
> ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदि स्यां गर्भधारिणी॥ ४०॥
> तदा वद विधेयं मे किमिहाकुलचेतसः।
> पृष्टस्ततः सतामाह माकुलाभूः प्रिये शृणु॥ ४१॥
> इक्ष्वाकुकुलजो राजा श्रावस्त्यामस्तशात्रवः।
> शीलायुधस्त्वयावश्यं द्रष्टव्योहं सपुत्रया॥ ४२॥

---

1. प्रियंगुसुन्दरी सौरिं रहसि प्रत्यपद्यत।
सा गंधर्वविवाहादिसहसन्मुखपंकजा॥६८॥

यशःकीर्ति भट्टारकके बनाये हुए अपभ्रंशभाषात्मक प्राकृत हरिवंशपुराणमे यही प्रश्नोत्तर इस प्रकारसे दिया हुआ है :—

रिउसंपण्णी काइ करेसमि।
हुउसो गब्भु का सुयउ देसमि।
सोलाउहु णिउ हउं साविच्छिहिं।
सो णंदणु महु आणिवि दिज्जहिं।

अर्थात्—(**ऋषिदत्ताने** पूछा) मैं ऋतुसम्पन्ना हूँ, यदि मेरे गर्भ रह गया तो मैं क्या करूँगी और उस पुत्रको किसे दूँगी ? (उत्तरमे **शीलायुधने** कहा) मैं श्रावस्ती (नगरी) मे **शीलायुध** (नामका) राजा हूँ सो यह पुत्र तुम मुझे आकर दे देना।

इसके बाद लिखा है कि 'राजा अपने नगर चला गया और **ऋषिदत्ताने** वह सब वृत्तात अपने माता-पितासे कह दिया।' यथा—

यस कहेवि सो गउ णिय णयरहो।
थिउ वित्तंतु कहिउ तिणि पियरहो॥

इस प्रश्नोत्तरसे, यद्यपि, यह बात और **भी** साफ जाहिर होती है कि **ऋषिदत्ता** और **शीलायुधका** आपसमें विवाह नही हुआ था, किन्तु भोग हुआ था और उस भोगसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रका ही इस प्रश्नोत्तर-द्वारा निपटारा किया गया है कि उसका क्या बनेगा। अन्यथा—विवाहकी हालतमे—ऐसे विलक्षण प्रश्नोत्तरका अवतार ही नही बन सकता। परन्तु इस प्रश्नोत्तरसे ठीक पहले शीलायुधके तापसाश्रममे जाने आदिका जो वर्णन दिया है उसमे '**विवाहिय**' पद खटकता है और वह वर्णन इस प्रकार है :—

सीछाउहणरवइ तहिं पत्तउ।
वनकीलइ सो ताए विदिट्ठिउ।

अतिहिं धरि विहुय तहो अणुराइय।
तेंसि हि सक्खि करेवि विवाहिय।

समालोचकजीने इस पद्यके अर्थमें लिखा है कि—"किसी समय **शीलायुध** राजा वहाँ वन-क्रीड़ाके लिये आया वह [उसे] **ऋषिदत्ताने** देखा। उन दोनोंमें परस्पर अनुराग हो गया और उन्होंने तेंसिको साक्षीकर विवाह कर लिया।" साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'तेंसि' का अर्थ हमें मिला नहीं, यह निःसन्देह कोई अचेतन पदार्थ जान पड़ता है जिसको साक्षी करके विवाह किया गया है।

यहाँ, मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त प्रश्नोत्तरवाला पद्य इस बातको प्रकट कर रहा अथवा माँग रहा है कि उससे पहले पद्यमें भोगका उल्लेख होना चाहिये, तब ही गर्भकी शंका और तद्विषयक प्रश्न बन सकता है। परंतु इस पद्यमें भोगका कोई उल्लेख न होकर केवल विवाहका उल्लेख है और विवाहमात्रसे यह लाजिमी नही आता कि भोग भी उसी वक्त हुआ हो। मात्र विवाहके अनन्तर ही उक्त प्रश्नोत्तरका होना बेढंगा मालूम होता है। ऐसी हालतमें यहाँ '**विवाहिय**' पदका जो प्रयोग पाया जाता है वह संदिग्ध जान पडता है। बहुत-सम्भव है कि यह पद अशुद्ध हो और भोग किया, काम-क्रीडा की अथवा रमण किया, ऐसे ही किसी अर्थके वाचक शब्दकी जगह लिखा गया हो। '**तेंसिहि सक्खि**' पाठ भी अशुद्ध मालूम होता है—उसके अर्थका कहीसे भी कोई समर्थन नहीं होता। **ऋषिदत्ताकी** कथाको लिये हुए सबसे प्राचीन ग्रन्थ, जो अभी तक उपलब्ध हुआ है वह, जिनसेनाचार्य-का हरिवंशपुराण ही है—काष्ठासंघी यशःकीर्ति भट्टारकका

प्राकृत हरिवंशपुराण उससे ६६० वर्ष बादका बना हुआ है—परन्तु उसमें तेंसि (?) की साक्षीसे तो क्या वैसे भी विवाह करनेका कोई उल्लेख नहीं है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। इसके सिवाय, भट्टारकजीने स्वयं यह सूचित किया है कि मेरे इस ग्रन्थके शब्द-अर्थका सम्बन्ध जिनसेनाचार्यके शास्त्र (हरिवंशपुराण) से है। यथा :—

सद्द अत्थ संबंध फुरंतउ।
जिणसेणहो सुत्तहो यहु पयडिउ।

और जिनसेनाचार्यने साफ तौरपर विवाहका कोई उल्लेख न करके उक्त अवसरपर भोगका उल्लेख किया है और "**अरीरमत्**" पद दिया है। जिनसेनाचार्यके अनुसार अपने हरिवंशपुराणकी रचना करते हुए, ब्रह्मचारी जिनदासने भी वहाँ "**बुभुजे**" पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है 'भोग किया' अथवा भोगा और इसलिये वह जिनसेनके '**अरीरमत्**' पदके अर्थका ही द्योतक है। परन्तु यहाँ "**करेवि विवाहिय**" शब्दोसे वह अर्थ नही निकलता, जिससे पाठके अशुद्ध होनेका खयाल और भी ज्यादा दृढ़ होता है। यदि वास्तवमें पाठ अशुद्ध नही है, बल्कि भट्टारकजीने इसे इसी रूपमें लिखा है और वह ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोमे भी ऐसे ही पाया जाता है तो मुझे इस कहनेमें कोई संकोच नही होता कि भट्टारकजीने जिनसेनाचार्यके शब्दोंका अर्थ समझनेमें गलती की और वे अपने ग्रन्थमे शब्द-अर्थके सम्बन्धको ठीक तौरसे व्यवस्थित नहीं कर सके—यह भी नही समझ सके कि विवाहके अनन्तर उक्त प्रश्नोत्तर कितना बेढंगा और अप्राकृतिक जान पड़ता है। आपका ग्रन्थ है भी बहुत कुछ साधारण।

इसके सिवाय, जब हमारे सामने मूलग्रंथ मौजूद है तब उसके आधारपर लिखे हुए सारांशों, आशयों, अनुवादों अथवा संक्षिप्त ग्रंथोंपर ध्यान देनेकी ऐसी कोई जरूरत भी नहीं है, वे उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं जहाँ तक कि वे मूल-ग्रंथोंके विरुद्ध नही है। उनके कथनोंको मूलग्रथोंपर कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। जिनसेनाचार्यने साफ सूचित किया है कि उन दोनोके प्रेमने चिरपालित मर्यादाको भी तोड़ दिया था, वे एकान्तमें जाकर रमने लगे, भोगके अनन्तर **ऋषिदत्ता**को बड़ा भय मालूम हुआ, वह घबराई और उसे अपने गर्भकी फिकर पड़ी। **शीलायुध**के वंशादिकका परिचय भी उसे बादको ही मालूम पडा। ऐसी हालतमें विवाह होनेका तो खयाल भी नही आ सकता। अस्तु।

इस सब कथन और विवेचनसे साफ जाहिर है कि ऋषि-दत्ता और शीलायुधका कोई विवाह नही हुआ था, उन्होने वैसे ही काम-पिशाचके वशवर्ती होकर भोग किया और इसलिये वह भोग व्यभिचार था। उससे उत्पन्न हुआ **एणीपुत्र** एक दृष्टिसे **शीलायुध**का पुत्र होते हुए भी, **ऋषिदत्ता**के साथ **शीला-युध**का विवाह न होनेसे, व्यभिचारजात था। उसकी दशा उस जारज पुत्र-जैसी थी जो किसी जारसे उत्पन्न होकर कालान्तरमें उसीको मिल जाय। अविवाहिता कन्यासे जो पुत्र पैदा होता है उसे "कानीन" कहते हैं (**कानीनः कन्यकाजातः; कन्यायां अनूढायां जातो वा**), 'अनूढा-पुत्र' भी उसका नाम है और वह व्यभिचारजातोंमें परिगणित है।

'एणीपुत्र' भी ऐसा ही 'कानीन' पुत्र था और इसलिये उसकी पुत्री **'प्रियंगुसुन्दरी'** एक व्यभिचारजातकी, अनूढा-पुत्रकी

अथवा कानीनकी पुत्री थी, जिसे आजकलकी भाषामें दस्सा या गाटा भी कह सकते हैं। मालूम नही समालोचकजीको एक व्यभिचारजात या दस्सेकी पुत्रीसे विवाहकी बातपर क्यों इतना क्षोभ आया, जिसके लिये बहुत कुछ यद्वा-तद्वा लिखकर समालोचनाके बहुत-से पेज रगे गये हैं—जब कि साक्षात् व्यभिचारजात वेश्या-पुत्रियों तकसे विवाहके उदाहरण जैनशास्त्रोमे पाये जाते हैं और जिनके कुछ नमूने ऊपर दिये जा चुके हैं। क्या जो लोग म्लेच्छ-कन्याओं तकसे विवाह कर लेते थे उनके लिये एक दस्से या व्यभिचारजातकी आर्य-कन्या भी कुछ गई-बीती हो सकती है ? कदापि नही। आजकल यदि कोई वेश्यापुत्रीसे विवाह कर ले तो वह उसी दम जातिसे खारिज किया जाकर दस्सा या गाटा बना दिया जाय। साथमें उसके साथी और सहायक भी यदि दस्से बना दिये जायँ तो कुछ आश्चर्य नही। अत: आजकलकी दृष्टिमें जिन लोगोने पहले वेश्याओसे विवाह किये वे सब दस्से[1] होने चाहिये।

ऋषिदत्ताके पिता अमोघदर्शनने भी अपने पुत्र **चारुचंद्र**का विवाह '**कामपताका**' नामकी वेश्या-पुत्रीसे किया था, जिसके कथनको भी समालोचकजी कथाका पूर्णांश देते हुए छिपा गये! और इसलिये **ऋषिदत्ता** दस्सेकी पुत्री और दस्सेकी बहन भी हुई। तब उसकी उक्त प्रकारसे उत्पन्न हुई सतानको आजकलकी

१. दस्सा केवल व्यभिचारजातका ही नाम नही है बल्कि और भी कितने ही कारणोसे 'दस्सा' संज्ञाका प्रयोग किया जाता है, और न सर्व व्यभिचारजात ही दस्सा कहलाते हैं; क्योंकि कुंड संतान जो भर्तारके जीते-जी ओर पास मौजूद होते हुए जारसे पैदा होती हैं वह व्यभिचारजात होते हुए भी दस्सा नहीं कहलाती।

भाषामें दस्सेके सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? परन्तु पहले जमानेमें 'दस्से-बीसे' का कोई भेद नहीं था और न जैन-शास्त्रोंमें इस भेदका कहीं कोई उल्लेख मिलता है। यह सब कल्पना बहुत पीछेकी है जब कि जनताके विचार बहुत कुछ संकीर्ण, स्वार्थमूलक और ईर्षा-द्वेष-परायण हो गये थे। प्राचीन समयमें तो दो-दो वेश्या-पुत्रियोंसे भी विवाह करने वाले '**नागकुमार**' जैसे पुरुष समाजमें अच्छी दृष्टिसे देखे जाते थे, नित्य भगवानका पूजन करते थे और जिनदीक्षाको धारण करके केवलज्ञान भी उत्पन्न कर सकते थे। परन्तु आज इससे भी बहुत कम हीन विवाह कर लैने वालोंको जातिसे खारिज करके उनके धर्म-साधनके मार्गोंको भी बन्द किया जाता है, यह कितना भारी परिवर्तन है। समयका कितना अधिक उलटफेर है। और इससे समाजके भविष्यका चिन्तवन कर एक सहृदय व्यक्तिको कितना महान् दु.ख तथा कष्ट होता है।

यहाँपर मैं समालोचकजीको इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि दस्सो और बीसोंमे परस्पर विवाहकी प्रथा सर्वथा बन्द नही है। हूमड आदि कई जैन जातियोंमें वह अब भी जारी है और उसका बराबर विस्तार होता जाता है। बम्बईके सुप्रसिद्ध 'जैनकुल भूषण' सेठ मणिकचन्दजी जे० पी० के भाई पानाचन्दका विवाह भी एक दस्सेकी पुत्रीसे हुआ था। इसलिये आपको इस चितासे मुक्त हो जाना चाहिये कि यदि जैनजातिमें इस प्रथाका प्रवेश हुआ तो वह रसातलको चली जायगी। दस्सोंसे विवाह करना आत्मपतनका अथवा आत्मोन्नतिमें बाधा पहुँचानेका कोई कारण नहीं हो सकता। दस्सोंमें अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित और धर्मात्मा जन मौजूद हैं—वे बीसोंसे

किसी बातमें भी कम नहीं है—उन्हें हीन-दृष्टिसे देखना अथवा उनके प्रति असद्भाव रखना अपनी क्षुद्रता प्रकट करना है। अस्तु।

यह तो हुई तृतीय अशके आक्षेपोंकी बात, अब उदाहरण का शेष चौथा अंश—'**रोहिणीका स्वयंवर**' भी लीजिये।

स्वयंवर-विवाह

उदाहरणका यह चौथा अंश इस प्रकार लिखा गया था :—

"**रोहिणी**" अरिष्टपुरके राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयंवर रचाया गया था, जिसमे **जरासन्धादिक** बडे-बडे प्रतापी राजा दूर देशान्तरोसे एकत्र हुए थे। स्वयंवरमण्डपमें **वसुदेवजी**, किसी कारणविशेषसे अपना वेष बदल कर 'पणव' नामका वादित्र हाथमें लिये हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन बाजन्त्री (बाजा बजाने वाला) के रूपमे उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहा उनके वास्तविक कुल, जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नही था। **रोहिणीने** सम्पूर्ण उपस्थित राजाओं तथा राजकुमारोको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेसे किसीको भी अपने योग्य वर पसद नही किया, तव उसने सब लोगोंको आश्चर्यमें डालते हुए, बड़े ही नि.संकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञात कुल-जाति नामा व्यक्ति (**वसुदेव**) के गलेमे ही अपनी वरमाला डाल दी। **रोहिणीके** इस कृत्यपर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और **रोहिणीके** पिता तथा **वसुदेवसे** लड़नेके लिये तैयार हो गये। उस समय विवाह नीतिका उल्लंघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको

सम्बोधन करके, **वसुदेवजीने** बड़ी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं :—

> कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरम् ।
> कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥
>
> —सर्ग ११, श्लोक ७१ ।

अर्थात्—स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नही होता। ये वाक्य सकलकीर्त्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमे उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्य-कृत हरिवंशपुराणमे भी प्रायः इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं। **वसुदेव**जीके इन वचनोंसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाहकी नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वयंवर-विवाह, जिसमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमें **'सनातनमार्ग'** लिखा है और सम्पूर्ण विवाह-विधानोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है[1]। युगकी आदिमें सबसे पहले जब राजा **अकम्पन**-द्वारा इस (स्वयंवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तब **भरत** चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनन्दन

---

१. सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥४४-३२॥

किया था। साथ ही, उन्होने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धार-कर्त्ताओंको सत्पुरुषों-द्वारा पूज्य भी ठहराया था[१]।"

उदाहरणके इस अंशपर सिर्फ तीन खास आपत्तियाँ की गई हैं जिनका सारांश इस प्रकार है:—

(१) एक बाजंत्रीके रूपमें उपस्थित होनेपर **वसुदेव**को "रंक तथा अकुलीन" क्यो लिखा गया। "क्या बाजे बजानेवाले सब अकुलीन ही होते हैं? बड़े-बड़े राजे और महाराजे तक भी बाजे बजाया करते हैं।" ये रंक तथा अकुलीनके शब्द अपनी तरफ़से जोडे गये हैं। **वसुदेवजी** अपने वेषको छिपाये हुए ज़रूर थे "किन्तु इस वेषके छिपानेसे उनपर कंगाल या अकुलीनपना लागू नही होता।"

(२) "यह बाबूजीका लिखना कि "**रोहिणी**ने बड़े ही नि:सकोच भावसे बाजंत्री रूपके धारक अज्ञात कुल-जाति रङ्क व्यक्तिके गलेमे माला डाल दी" सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है"।

(३) "जो श्लोकका प्रमाण दिया वह **वसुदेवजी**ने क्रोधमे कहा है किसी आचार्यने आज्ञारूप नही कहा जो प्रमाण हो,"।

इसमेसे पहली आपत्तिकी बाबत तो सिर्फ इतना ही निवेदन है कि लेखकने कही भी **वसुदेव**को रक तथा अकुलीन नही लिखा और न यही प्रतिपादन किया कि उनपर कंगाल या अकुलीनपना लागू होता है। 'कंगाल' शब्दका तो प्रयोग भी उदाहरणभरमे कही नही है और इसलिये उसे समालोचकजीकी

---

१. तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
कः प्रवर्त्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातन ॥ ४५ ॥
मार्गांश्चिरतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥
—आ० पु० पर्व ४५।

अपनी कर्तूत समझना चाहिये। लेखकने जिसके लिये रंक तथा अकुलीन शब्दोंका प्रयोग किया है वह **वसुदेव**जीका तात्कालीन वेष था, न कि स्वयं **वसुदेव**जी, और यह बात ऊपरके उदाहरणांशसे स्पष्ट ज़ाहिर है। वेषकी बातको व्यक्तित्वमें घटा लेना कोरी भूल है। यह ठीक है कि कभी-कभी कोई राजा-महाराजा भी अपने दिल-बहलावके लिये बाजा बजा लेते हैं। परन्तु उनका वह विनोदकर्म प्रायः एकान्तमें होता है—सर्वसाधारण सभा-सोसाइटियों अथवा महोत्सवोंके अवसरपर नहीं—और उससे वे **'पाणविक'**—बाजंत्री—नहीं कहलाते। **वसुदेव**जी, अपना वेष बदल कर **'पणव'** नामका वादित्र हाथमें लिये हुए, साफ़ तौरपर एक पाणविकके रूपमें वहाँ (स्वयंवर मडपमे) उपस्थित थे—राजाके रूपमे नहीं—और पाणविकोंकी—बाजन्त्रियोंकी—श्रेणीके भी अन्तमें बैठे हुए थे, जैसा कि जिनसेनके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

[1]वसुदेवोऽपि तत्रैव भ्रात्रलक्षितवेषभृत्।
तस्थौ पाणविकांतस्थो गृहीतपणवो गृही: (?)॥

---

१. इसी पद्यको जिनदास ब्रह्मचारीने निम्न प्रकारसे बदलकर रक्खा है :—

भ्रात्रलक्षितवेषोऽपि तत्रैव यदुनन्दनः।
गृहीतपणवस्तस्थौ मध्ये सर्वकलाविदाम्॥

यहाँ 'सर्वकलाविदाम्' पद वादित्र-विद्याकी सर्व कलाओंके जाननेवाले पाणविकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। जिनदासने वसुदेवको उन पाणविकों—बाजंत्रियोंके अन्तमें न बिठलाकर मध्यमें बिठलाया है, यही भेद है और वह कुछ उचित मालूम न होता। उस वक्तकी स्थितिको देखते हुए एक अपरिचित और अनिमंत्रित व्यक्तिके रूपमें वसुदेवका पाणविकोंके अन्तमें—पीछेकी ओर—बैठ जाना या खड़े रहना ही उचित जान पड़ता है।

उनके इस वेषके कारण ही बहुतसे राजा उन्हें 'पाणविकवर' कहनेके लिये समर्थ होसके थे और यह कह सके थे कि 'कन्याने बड़ा अन्याय किया जो एक बाजंत्रीको वर बनाया। यथा:—

मात्सर्योपहताश्चान्ये जगुः पाणविकं वरम्।
कुर्वंत्या पश्यतात्यन्तमन्यायः कन्यया कृतः ॥४८॥

बाजंत्रीके रूपमे उपस्थित होनेकी वजहसे ही उन ईर्षालु राजाओंको यह कहनेका भी मौका मिला कि यह अकुलीन है, कोई नीच वंशी (कोऽपि नीचान्वयोद्भवः) है, अन्यथा यह अपना कुल प्रकट करे; क्योंकि उस समय बाजा बजानेका काम या पेशा करनेवाले शूद्र तथा अकुलीन समझे जाते थे। ऐसी हालतमें **वसुदेव**के उक्त वेषको रंक तथा अकुलीन कहना कुछ भी अनुचित नही जान पडता। समालोचकजी स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि प्रतिस्पर्धी राजाओंने **वसुदेव**को रंक तथा अकुलीन कहा था[1]। और उनके इस कथनका जैनशास्त्रोंमें उल्लेख भी मानते हैं, फिर उनका यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है कि लेखकने इन शब्दोंको अपनी तरफसे जोड़ दिया, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। साथ ही, इस बातका भी अनुभव कर सकते हैं कि समालोचकजीने जो यह कल्पना की है कि स्वयंवर-मडपमे राजाओके सिवाय कोई दूसरा प्रवेश नही कर सकता था और इसलिये बाजा बजानेवाले भी वहाँ राजा ही होते थे, **वसुदेव**जी उन्ही बाजा बजानेवाले राजाओमे जाकर बैठ गये थे[2]

---

१. "रङ्क और अकुलीन तो केवल प्रतिस्पर्धी राजाओने स्पर्धावश बतौर अपशब्दोंके कहा है"।

२. यथा:—"स्वयंवरमंडपमें सब राजा ही लोग आया करते थे और जो इस योग्य हुआ करते थे उन्हीको स्वयंवरमंडपमें प्रवेश किया जाता

वह कितनी विलक्षण तथा निःसार मालूम होती है। आपने राजाओंको अच्छा '**पाणविक**' बनाया और उन्हें खूब बाजंत्रीका काम दिया ! और एक बाजंत्रीका ही काम क्या, जब स्वयंवरमें राजाओं तथा राजकुमारोंके सिवाय दूसरेका प्रवेश ही नही होता था तब तो यह कहना चाहिये कि पानी पिलाने, जूठे वर्तन उठाने और पंखा झोलने आदि दूसरे सेवा-चाकरीके कामोंमें भी वहाँ राजा लोग ही नियुक्त थे ! यह आगन्तुक राजाओंका अच्छा सम्मान हुआ ! मालूम नहीं, रोहणीके पिताके पास ऐसी कौन-सी सत्ता थी, जिससे वह कन्याका पाणिग्रहण करनेकी इच्छासे आए हुए राजाओको ऐसे शूद्र कर्मोमे लगा सकता ! जान पड़ता है यह सब समालोचकजीकी कोरी कल्पना ही कल्पना है, वास्तविकतासे इसका कोई सम्बंध नही। ऐसे महोत्सवके अवसरपर आगन्तुकजनोंके विनोदार्थ और मांगलिक कार्योके सम्पादनार्थ गाने-बजानेका काम प्रायः दूसरे लोग ही किया करते हैं, जिनका वह पेशा होता है—स्वयंवरोत्सवकी रीति-नीति, इस विषयमे, उनसे कोई भिन्न नही होती। इसके सिवाय, समालोचकजी एक स्थानपर लिखते हैं :—

"**रोहिणीने** जिस समय स्वयंवरमण्डपमें किसी राजाको नही वरा और धायसे बातचीत कर रही थी उस समय मनोहर वीणाका शब्द सुनाई पड़ा"।

इससे यह भी साफ जाहिर होता है कि स्वयंवरमंडपमें वसुदेवजी एक राजाकी हैसियतसे अथवा राजाके वेषमे पस्थित

था।" "उन्होंने [वसुदेवने] स्वयंवरमंडपमें प्रवेश किया और जहाँ ऐसे राजा बैठे हुए थे जो कि वादित्र-विद्याविशारद थे उन्हींमें जाकर बैठ गए।"

नहीं थे और इसीसे **'रोहिणीने** स्वयंवरमंडपमे किसी राजाको नहीं वरा' इन शब्दोका प्रयोग हो सका है। स्वयवरमडपमें स्थित जब सब राजाओका परिचय दिया जा चुका था और रोहिणीने उनमेसे किसीको भी अपना वर पसंद नही किया था तभी **वसुदेव**जीने वीणा बजाकर **रोहिणी**की चित्तवृत्तिको अपनी ओर आकर्षित किया था। अतः समालोचकजीकी इस कल्पना और आपत्तिमे कुछ भी दम मालूम नही होता।

दूसरी आपत्तिके विषयमें, यद्यपि, अब कुछ विशेष लिखनेकी जरूरत बाकी नही रहती, फिर भी यहाँपर इतना प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि समालोचकजीने उसमे लेखकका जो वाक्य दिया है वह कुछ बदल कर रक्खा है उसमे 'अज्ञातकुलजाति' के बाद 'रङ्क' शब्द अपनी ओरसे बढाया है और उससे पहले 'एक अपरिचित' आदि शब्दोंको निकाल दिया है। इसी प्रकारका और भी कुछ उलटफेर किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणाँशपरसे सहजमें ही जाना जा सकता है। मालूम नही, इस उलटा-पलटीसे समालोचकजीने क्या नतीजा निकाला है। शायद इस प्रकारके प्रयत्न-द्वारा ही आप लेखकके लिखनेको "सर्वथा शास्त्रविरुद्ध" सिद्ध करना चाहते हो! परन्तु ऐसे प्रयत्नोसे क्या हो सकता है? समालोचकजीने कही भी यह सिद्ध करके नही बतलाया कि वरमाला डालनेके वक्त **वसुदेवजी** एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति व्यक्ति नही थे। जिनसेनाचार्यने तो वरमाला डालनेके बाद भी आपको "**कोऽपि गुप्तकुलः**" विशेषणके-द्वारा उल्लेखित किया है और तदनुसार जिनदास ब्रह्मचारीने भी आपके लिये "**कोऽपि गूढ़कुलः**" विशेषणका प्रयोग किया है, जिससे जाहिर है कि उनका

कुल वहाँ किसीको मालूम नहीं था। **वसुदेव**जीके कुलीन या अकुलीन होनेका राजाओंमें विवाद भी उपस्थित हुआ था और उसका निर्णय उस वक्तसे पहले नहीं हो सका जब तक कि युद्धमें **वसुदेवने** समुद्रविजयको अपना परिचय नहीं दिया! इससे स्पष्ट है कि वरमाला डालनेके वक्त **वसुदेवसे** कोई परिचित नहीं था, न वहाँ उनके कुल-जातिका किसीको कुछ हाल मालूम था; और वे एक बाजंत्री (पाणविक) के वेषमें उपस्थित थे, यह बात उपर बतलाई ही जा चुकी है। उसी बाजंत्री वेषमे उनके गलेमें वरमाला डाली गई और वरमालाको डाल कर **रोहिणी**, सबोको आश्चर्यमे डालते हुए, उन्हींके पास बैठ गई। ऐसी हालतमें लेखकका उक्त लिखना किधरसे सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, समालोचकजीने इतना जरूर प्रकट किया है कि **वसुदेवने** वीणा बजाकर **रोहिणीको** यह संकेत किया था कि "तेरे मनको हरण करनेवाला राजहंस यहाँ बैठा हुआ है" इस संकेतमात्रका अर्थ ज्यादा-से-ज्यादा इतना ही हो सकता है कि **रोहिणीके** दिलमें यह खयाल पैदा हो गया हो कि वह कोई राजा अथवा राजपुत्र है। परन्तु राजा तो म्लेच्छ भी होते हैं, अकुलीन भी होते हैं, सगोत्र भी होते हैं, विजातीय भी होते हैं और असवर्ण भी होते हैं! जब इन सब बातोंका कोई निर्णय नहीं किया गया और वरमाला एक अपरिचित तथा अज्ञात-कुल-जाति व्यक्तिके ही गलेमें—चाहे वह राजलक्षणोंसे मंडित या अपने मुखमंडलपरसे अनुमानित होने वाला राजा ही क्यों न हो—डाल दी गई तब तो यही कहना चाहिये कि स्वयंबरमें एक अकुलीन, सगोत्र, विजातीय अथवा असवर्णको भी बरा जा सकता है। फिर

समालोचकजीकी जिनदास ब्रह्मचारीके उक्त श्लोकपर आपत्ति कैसी ? उसमें तो यही बतलाया गया है कि स्वयंवरमें कन्या अपनी इच्छानुसार वर पसंद करती है, उसमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता और इसका समर्थन ऊपर-की घटनासे भले प्रकार हो जाता है !

परन्तु तीसरी आपत्तिमे समालोचकजी उक्त श्लोकको क्रोधमें कहा हुआ ठहरा कर अप्रामाणिक बतलाते हैं और आप स्वयं, दूसरे स्थानपर, एक कामीजन-द्वारा अपनी कामुकीके प्रति, काम-पिशाचके वश-वर्ती होकर, कहा हुआ वाक्य प्रमाणमें पेश करते हैं और उसमे आए हुए '**प्रिये**' पदपरसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उन दोनोमे पति-पत्नीका सम्बन्ध स्थापित हो गया था—उनका विवाह हो चुका था—,यह कितने आश्चर्य-की बात है ! अस्तु; मैं अपने पाठकोको यह भी बतला देना चाहता हूँ कि उक्त श्लोक क्रोधमे नहीं कहा गया, किन्तु क्षुभित राजाओको शांत करते हुए उन्हे स्वयम्वरकी नीतिका स्मरण करानेके लिये कहा गया है। जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवश-पुराणमे उक्त श्लोकसे पहले यह श्लोक पाया जाता है :—

> वसुदेवस्ततो धीरो जगाद क्षुभितान्नृपान् ।
> मद्वचः श्रूयतां यूयं दृप्ताहंकारकारिणः ॥ ७० ॥

इसमे वसुदेवका 'धीर' विशेषण दिया है और उसके-द्वारा यह सूचित किया गया है कि वे क्षुभित तथा अहंकारी राजाओंको स्वयंवरकी नीतिको सुनाते हुए स्वयं धीर थे—क्षुभित अथवा कुपित नही थे। श्री जिनसेनाचार्यने तो इस विषयमें और भी स्पष्ट लिखा है। यथा :—

> वसुदेवस्ततो धीरः प्रोवाच क्षुभितान्नृपान् ।
> श्रूयतां क्षत्रियैर्दृप्तैः साधुभिश्च वचो मम ॥ ५२ ॥

स्वयंवरगता[1] कन्या वृणीते रुचितं वरम् ।
कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥ ५३ ॥
अक्षान्तिरत्र नो युक्ता पितुर्भ्रातुर्निजस्य वा ।
स्वयंवरगतिज्ञस्य परस्येह विशेषतः ॥ ५४ ॥
कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः सुभगोऽपरः ।
कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिबन्धोस्ति कश्चन ॥ ५५ ॥
तदत्र यदि सौभाग्यमविज्ञातस्य मेऽनया ।
अभिव्यक्तं न वक्तव्यं भवद्भिरिह किंचन ॥ ५६ ॥

हरिवंशपुराण ।

अर्थात्—क्षुभित राजाओंको अनेक प्रकारसे कोलाहल करते हुए देखकर, धीर-वीर वसुदेवजीने, गर्वित क्षत्रियों और साधुजनों दोनोको अपनी बात सुननेकी प्रेरणा करते हुए कहा—'स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण करती—स्वीकार करती—है जो उसे पसंद होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन; क्योंकि स्वयंवरमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नहीं होता । (अतः) इस समय कन्याके पिता तथा भाईको, अपने सम्बन्धी या दूसरे किसी व्यक्तिका और खासकर ऐसे शख्सोंको, जो स्वयंवरकी गति—उसकी रीति-नीति—से परिचित है, कुछ भी अशान्ति करनी उचित नहीं है । कोई महाकुलीन होते हुए भी दुर्भग होता है और दूसरा महा अकुलीन होनेपर भी सुभग हो जाता है, इससे कुल और सौभाग्यका यहाँ कोई प्रतिबंध नहीं है ! और इसलिये स्वयंवरमें मुझ अविज्ञात (अज्ञातकुल-जाति अथवा अपरिचित) व्यक्तिका इस कन्याने यदि केवल सौभाग्य ही अनुभव किया है, कुलादिक नहीं—(और उसीको लक्ष्य करके

---

१. जिनदास ब्रह्मचारीने इसी श्लोकको, कुछ अक्षरोंको आगे पीछे करके, अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किया है ।

वरमाला डाली गई है) तो उसकी इस कृतिमें आप लोगोंको कुछ भी बोलने—या दखल देनेका ज़रा भी अधिकार नहीं है।

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि वसुदेवने इन वाक्योंको, जिनमें उक्त श्लोक भी अपने असली रूपमें शामिल हैं, [१]क्रोधके किसी आवेशमें नहीं कहा, बल्कि बडी शांतिके साथ, दूसरोंको शांत करते हुए, इनमें स्वयवर-विवाहकी नीतिका उल्लेख किया है। उन्होने ये वाक्य साधुजनोंको भी लक्ष्य करके कहे हैं जिनके प्रति क्रोधकी कोई वजह नहीं हो सकती, और ५४ वे पद्यमे आया हुआ "**स्वयंवरगतिज्ञस्य**" पद इस बातको और भी साफ़ बतला रहा है कि इन वाक्यो-द्वारा स्वयंवरकी गति, विधि अथवा नीतिका ही निर्देश किया गया है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य-महोदय आगे चलकर किसी-न-किसी रूपमें उसका निषेध जरूर करते, परन्तु ऐसा नही किया गया और इसलिये यह कहना चाहिये कि श्रीजिनसेनाचार्यने स्वयंवर-विवाहकी रीति-नीतिका ऐसा ही विधान किया है कि उसमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता और न कुल-सौभाग्यका कोई प्रति-बंध ही रहता है। अतः उक्त श्लोकको अप्रमाण कहना अपनी नासमझी प्रकट करना है।

विज्ञ पाठकजन, जब स्वयंवर-विवाहकी ऐसी उदार नीति है और वह संपूर्ण विवाह-विधानोमे श्रेष्ठ तथा सनातनमार्ग माना गया है, तब यह कहना शायद कुछ अनुचित न होगा कि बहुत

---

१. यदि क्रोधके आवेशमें कहा होता तो जिनसेनाचार्य वसुदेवको 'धीर' न लिखकर 'क्रुद्ध' प्रकट करते, जैसा कि ५८ वे पद्यमे उन्होने जरासंधको प्रकट किया है। यथा :—

"**तच्छ्रुत्वाशु जरासंधः क्रुद्धः प्राह नृपाग्रतः।**"

प्राचीनकालमें विवाहके लिये कुल, गोत्र अथवा जतिका ऐसा कोई खास नियम नहीं था जो हर हालतमें सबपर क़ाबिल पाबंदी हो—अथवा सबको समान रूपसे तदनुसार चलनेके लिये बाध्य कर सके—और उसका उल्लंघन करनेपर कोई व्यक्ति जाति-बिरादरीसे पृथक अथवा धर्मसे च्युत किया जा सकता हो। ऐसी हालतमें, आजकल एक विवाहके लिये कुल-गोत्र अथवा जाति-वर्णको जो महत्त्व दिया जाता है वह कहाँ तक उचित है और उसमें कोई योग्य फेरफार बन सकता है या कि नहीं, इसका आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

प्रथमावृत्ति, अगस्त १९२५

दण्डविधान-विषयक समाधान : ५ :

श्री मोहनलालजी बड़जात्याका 'धर्म और दण्ड' शीर्षक लेख[1] पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई और साथ ही, खेद भी। प्रसन्नता इसलिये कि लेख सद्भावको लिये हुए है—उसमें शिष्ट तथा सभ्य शब्दों-द्वारा मेरे लेखपर आपत्ति की गई है—और इसीसे वह मेरी विचार-प्रवृत्तिको अपनी ओर खींच सका है। और खेद इसलिये कि, लेखक महाशयने मेरे लेखको अच्छी तरहसे समझा नहीं। मालूम होता है, बड़जात्याजीको मेरे लेखपरसे कहीं यह गलत खयाल पैदा हो गया है कि मैं दण्ड-विधानको बिलकुल ही उठा देना चाहता हूँ। इसीसे आप लिखते हैं—"ऐसा तो नहीं कि आप दण्ड-विधानको बिलकुल उड़ाना चाहते हो।" और जान पड़ता है, इसीलिये आपको अपने लेखकी भूमिकामे व्यर्थ ही यह दिखलानेका परिश्रम उठाना पडा कि, दण्ड-विधान प्राचीनकालसे चला आता है और वह मुनियोमें भी होता आया है। अन्यथा, उसकी कोई जरूरत नहीं थी। मैंने अपने लेखमे कहीं भी यह जाहिर नहीं किया कि पहले कोई दण्ड-विधान नही होता था, किन्तु हालके जैनियो अथवा जैन-पंचायतोने उसकी नई ईजाद की है, फिर नहीं मालूम दण्डमात्रकी प्रथाको प्राचीन सिद्ध करनेका कष्ट क्यो उठाया गया! मेरे लेखसे कोई भी सहृदय अथवा समझदार मानव यह नतीजा निकाल सकता है कि वह आज-कलकी कुछ जाति-पंचायतोके ऐसे दण्ड-विधानोको लक्ष्य करके लिखा गया है जो अनुचित हैं। अथवा यों कहिये कि उसमे ऐसी

---

१. यह लेख ६ अप्रैल १९२६ के जैन जगतमें प्रकाशित हुआ है।

जाति-पंचायतोंके अनुचित दण्ड-विधानोंकी जनरल (व्यापक) समालोचना है—उनपर टीका-टिप्पणी की गई है—किसी एक ही व्यक्ति-विशेष या खास पंचायतसे उसका सम्बन्ध नहीं है। मेरे लेखका जो वाक्य बड़जात्याजीने उद्धृत किया है उससे भी यही स्पष्ट ध्वनि निकलती है। उसमें 'जरा-जरा-सी बातपर' ये शब्द अपराधकी लघुताको और 'जातिसे च्युत तथा बिरादरीसे खारिज करके—उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके—उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे है' ये शब्द दण्डकी गुरुता एवं अनुचितताको प्रकट कर रहे हैं। साथ ही, जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल और निःसत्व बनानेकी जो उसमें बात कही गई है वह भी दण्डकी अनुचितताको घोषित करती है; क्योंकि उचित अथवा सम्यक्‌दंडका वैसा परिणाम नही होता। और अनुचित दण्ड अवश्य ही अवहेलना किये जानेके योग्य है। उसपर हमेशासे आपत्ति होती आई है, होती रहेगी और होनी चाहिये। अतः उस आपत्तिसे विचलित होनेकी अथवा 'दंडको ही उड़ाया जाता है' या 'दोषीको दंड देना उसे सन्मार्गसे पीछे हटाना बताया जाता है' इस प्रकारकी दुहाई देनेकी जरूरत नही है। हाँ, उस दंडकी उपयुक्तता और समुचितताके पक्षमे यदि कोई युक्ति-बल हो तो उसे प्रकट करना चाहिए। बड़जात्याजीने ऐसा कुछ भी नहीं किया—कोरी सिद्धान्तकी बातें की हैं। उनका सारा लेख योग्य दंडकी उपयोगिताके उल्लेखोंसे भरा हुआ हो तो भला, योग्य-दंडकी उपयोगितासे किसीको कब इनकार हो सकता है ? अथवा इसमे किसीको क्या आपत्ति हो सकती है कि, दण्ड यथादोष, यथोचित, समुचित और सम्यक् होना चाहिए; उसके प्रणयनमें तिलका ताड़ और ताड़का तिल न करना चाहिए; दंडदाताको

उसमें निजका कुछ भी स्वार्थ न रखना चाहिए और न उसके द्वारा अपने अनुचित राग-द्वेषादिको पुष्ट करना चाहिए; उसे पंच-परमेश्वरकी गद्दीपर बैठकर न्याय ही करना चाहिये, और वह न्याय अथवा दंड दोषकी विशुद्धि तथा क्षेमादिकका साधक होना चाहिए और इसी दृष्टिसे उसका विधान किया जाना चाहिए। समझमे नही आता, इन सब सिद्धान्तोंको लिखकर मेरे लेखपर कौन-सी आपत्ति की गई है ? मेरे लेखके किस अंशमे इनका विरोध पाया जाता था। मैं इस बातको मानता हूँ कि दण्ड ऐसा ही होना चाहिये और दण्ड-विधाताको इसी रूपसे प्रवर्त्तना चाहिये अथवा ऐसा ही करना चाहिए! परन्तु प्रश्न तो यह है कि समाजमे हो क्या रहा है, अधिकाश पंच-जन कर क्या रहे हैं, उनकी प्रवृत्ति किस ओर जा रही है, वे बहुधा व्यक्तिगत राग-द्वेष, ईर्षा-घृणा, पक्षपात और अज्ञानादिके वशवर्ती होकर दड-विधान करते हैं या कि नही और वह दड-विधान समुचित, सम्यक् अथवा यथादोष कहलाये जानेके योग्य है या कि नही ? खेद है कि बडजात्याजीने इन सब लोक-व्यवहारकी बातोंपर कोई ध्यान नही दिया, जिनपर ध्यान देनेकी जरूरत थी; और न यही सोचा कि आजकल लोकमें नैतिकदृष्टिसे दड-पात्रों और दंड-विधायकोंकी पारस्परिक क्या स्थिति है। यदि वे ऐसा करते तो उन्हें उक्त लेखके लिखनेकी नौबत ही न आती और न व्यर्थका परिश्रम उठाना पड़ता।

यह ठीक है कि शरीरका कोई अंग यदि गल जाय या अन्य प्रकारसे किसी भयंकर स्थितिको प्राप्त हो जाय और वह किसी तरह भी बहाल (स्वस्थ) न किया जा सकता हो; साथ ही, उसके कायम रखनेसे दूसरे अंगोंको भी गलने, सड़ने, बिगड़ने

अथवा पीड़ितकी जानके ही खतरेमें पड़नेका अंदेशा हो तो उसका काट डालना कथंचित् न्याय्य है। परन्तु एक अनाड़ी डाक्टर—वैद्य या जर्राह—जरासे विकारके कारण किसी स्वस्थ होने योग्य अंगको यदि काट डाले तो उसका वह कृत्य न्याय्य अथवा उचित नही कहला सकता और न यही कहा जा सकता है कि उसने यथादोष शस्त्रका प्रयोग किया है। साथ ही, यदि यह मालूम पड़े कि वह डाक्टर आदि अपने आत्मीयजनो तथा इष्ट-मित्रादिके शरीरकी वैसी ही हालत होते हुए उनके शरीरपर वह क्रूर कर्म (अनुचित शस्त्र-प्रयोग) नहीं करता और न करना उचित समझता है तो उसकी निर्दोषता और भी ज्यादा आपत्तिके योग्य हो जाती है; और यदि कही यह पता चल जाय कि उसने जान-बूझकर, अपने किसी कषायभावको पूरा करनेके लिए, उसे नुकसान पहुंचानेकी नीयतसे वैसा किया है तब तो उसकी सदोषताका फिर कुछ ठिकाना ही नही रहता और वह महानिन्दा तथा अवज्ञाका पात्र ठहरता है। ठीक ऐसी ही हालत समाजके बहिष्कार-सम्बन्धी दण्ड-विधानोंकी है। वे उचित और अनुचित दोनों प्रकारके हो सकते हैं। परन्तु आजकल अधिकांशमे वे अनुचित ही पाये जाते हैं और उनकी हालत प्राय: ऐसी है जैसी कि उपायान्तरसे निर्विष होने योग्य सर्पडसी अंगुलीको सहसा काट डालना, या बर्र-मक्खी आदिसे काटी हुई अंगुलीको भी सर्पडसी अंगुलीकी तरह काट डालना, अथवा मूषक आदि किसी अविषैले जन्तुद्वारा काटी हुई अंगुलीको सर्पडसी समझकर काट डालना और या सर्पडसी अंगुलीको न काटकर उसकी जगह या उसके अतिरिक्त नाक काट डालना। इस प्रकारके दण्डविधानोंको '**समुचित**' अथवा '**यथादोष दण्डप्रणयन**' नहीं कह सकते।

कल्पना कीजिये, हमारा एक भाई धार्मिक भावोंको लेकर नित्य मन्दिरजीमें जाता है और बड़ी विनय-भक्तिके साथ भगवान्की पूजा-वन्दना करता है; वह वहाँ जाकर कभी देवताका अविनय अथवा देवमूर्तिको कोई प्रकारका उपद्रव नही करता, दूसरोंकी पूजा-भक्तिमें बाधक नहीं होता और न किसीके साथ बलात्कार या व्यभिचार ही करता है और इसलिये इस योग्य नहीं कि उसका मन्दिरजीमे आना-जाना बन्द किया जाय; परन्तु वही भाई एक दिन बिरादरीकी किसी ऐसी जोनारमें शामिल नही होता जिसमें बेटीवालेने कई हजार रुपये लेकर अपनी सुकुमार कन्याको एक बूढ़ेके साथ ब्याहनेकी योजना की हो; उसे ऐसी जोनारमें जीमना अधर्म तथा अन्यायका पोषण मालूम होता है और इसलिये अपने अन्तःकरणकी आवाज या प्रतिज्ञाके विरुद्ध पंचोके कहनेको भी नही मानता। इसपर पचलोग, अपना अपमान समझकर नाराज हो जाते हैं और उसका मन्दिर जाना बन्द कर देते हैं। अब बतलाइये कि क्या ऐसा दण्ड-विधान **'समुचित'** अथवा **'यथादोष'** कहला सकता है? कदापि नहीं। उसे अंगुलीकी जगह नाक काट डालने जैसा ही कहना चाहिये; क्योंकि उस भाईने मन्दिर-सम्बन्धी कोई अपराध नही किया था। मन्दिर-बहिष्कारके दंड प्रायः ऐसी ही नीतिका अनुसरण करनेवाले देखे जाते हैं और उनमे कुछ भी तथ्य तथा सार मालूम नहीं होता। दूसरे बहिष्कारोंकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है। जो लोग जरा-सी बातपर आगबगूला होकर और अपनी पोजीसन (Position) तथा पदस्थकी जिम्मेदारी आदिका कोई खयाल न करके इस प्रकारके कठोर दण्ड दे डालते हैं वे कदापि पंच-परमेश्वर कहलाये जानेके योग्य नहीं हो सकते और न उनकी

दण्डाज्ञा मान्य किये जानेकी क्षमता ही रख सकती है। ऐसे अविचारित दण्ड-विधानोंसे समाजको कोई लाभ नही पहुँच सकता, उलटा शक्तिका दुरुपयोग होता है और उससे हानि ही होती है। इसीलिये मैने अपने लेखमें ऐसे पंचोंकी इस प्रकारकी निरंकुश प्रवृत्तिके विरुद्ध आवाज उठानेकी प्रेरणा की थी और लिखा था कि—

"आजकल जैन पंचायतोंने 'जातिबहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और बिना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बलादिक और देश-कालकी स्थितिको समझे, जहां-तहाँ यद्वा-तद्वा रूपमे, उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिए बड़ा ही भयंकर तथा हानिकारक हैं।" ......"ऐसी हालतमें, अब जरूरत है कि जैनियोंकी प्रत्येक जातिमें वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हो जो बड़े ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पंचों तथा मुखियाओको उनके कर्त्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित विरोधिनी निरंकुश प्रवृत्तिको नियंत्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करे। ऐसा होनेपर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमें फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद, जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा, जिसका बहना अब बन्द हो रहा है और उसके कारण समाजका साँस घुट रहा है।"

मेरे इन शब्दोसे मेरे लेखका शुद्ध आशय बिलकुल स्पष्ट है और उससे यह सहजमें ही जाना जाता है कि वह अनुचित दंड-विधानोंके विरोधमे लिखा गया हैं, जो दंड समुचित और यथा-दोष हों उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; और इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि लेखक दोषीकी हिमायत नहीं करता,

बल्कि दोषीको अनुचित और अयथादोष दंड दिये जानेके विरोधकी हिमायत करता है ।

अनुचित दंड-विधानोंके मूलमें हमेशा अज्ञान, अविवेक, व्यक्तिगत राग-द्वेष, पक्षपात और ईर्षा-घृणाका भाव भरा रहता है और जिस हृदयमें इस प्रकारका भाव भरा होता है वह उदार न रहकर अनुदार बन जाता है—क्षुद्र हो जाता है—और उसमे एकान्तताकी तूती बोलने लगती है । अनुदार हृदय मानव कभी गंभीर नही होता, उसे जल्दी ही क्षोभ तथा कोप हो आता है, न्यायासनपर बैठे हुए उसे; यदि अपराधीने कोई अप्रिय शब्द कह दिया तो इतनेपरसे ही वह अपना सतुलन खोकर बिगड़ बैठता है और सारे न्यायको उलट देता है, ककड़ीके चोरको कटार भी मार देता है और अपने थोथे खयालोके विरुद्ध कोई कृत्य करने वालों—यथा छपे ग्रन्थ पढ़नेवालोंको जातिसे बहिष्कृत किये जानेका दड भी दे डालता है, वह बाह्य प्रभावोंसे अभिभूत होता है, दुसरोकी सिफारिश सुनता है और उनका दबाव भी मानता है; उसकी दृष्टि संकुचित और तुला-निरपेक्ष होती है और इसलिये वह किसी भी विषयका ठीक तथा गहरा विचार नही कर सकता अथवा यो कहिये कि उससे सम्यक् न्याय नही बन सकता । सम्यक् दंड-प्रणयनके लिए उदार हृदय अथवा उदार विचारोकी बडी जरूरत है—उनके साथमें उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है—और इसीलिये अनुचित दण्ड-विधानोंका कारण अनुदार विचारोको बतलाया गया था । बड़जात्याजी इस कारणको ठीक समझ नही सके, इसका मुझे खेद है ! लेखमे तो एक जगह **'उदार'** का एक अर्थ कोष्ठके भीतर **'अनेकान्तात्मक'** दिया गया था। उसपरसे यदि **'अनुदार'** का अर्थ **'एकान्त विचार'** समझ

लिया जाता तो इतनेसे भी काम चल सकता था; क्योंकि एकान्त विचार मिथ्या होते हैं और इसलिये उनके आधारपर किया हुआ दंड-विधान सम्यक् अथवा समुचित नहीं हो सकता। परन्तु बड़जात्याजीने इसपर भी कुछ ध्यान दिया मालूम नही होता। अस्तु; अब आशा है कि इस विवेचनसे उनकी समझमें यह बात भले प्रकार आ जायगी कि किसीको दंड देनेमे दंडदाताके हृदयकी उदारता या अनुदारताका क्या सम्बन्ध है और उसका कितना अर्थ है।

दण्ड दोषकी शुद्धि एवं दोषी तथा समाजकी हित-वृद्धिके लिये दिया जाता है। उसके इस उद्देश्यकी रक्षा तथा सफलताके लिये इस बातकी खास जरूरत है कि दण्ड-विधाता स्वयं शुद्ध तथा निर्दोष हो—कम-से-कम उसी अपराधका अथवा उसी कोटि या उतने ही महत्त्वके किसी दूसरे अपराधका, गुप्त या प्रकट रीतिसे, अपराधी न होना चाहिये और न उसका हृदय उस समय व्यक्तिगत राग-द्वेष, पक्षपात, तिरस्कार या किसी दूसरे अनुचित प्रभावसे अभिभूत ही होना चाहिए। इसके सिवाय, दोषका सच्चा ज्ञान, देश-कालकी स्थिति तथा दंडके परिणामका विवेक, समाज-की हित-साधनाका भाव और दोषीके व्यक्तित्वके प्रति प्रेमका होना भी उसके लिये अनिवार्य है। बहिष्कारकी हालतमे वह खासतौरसे समाजका सच्चा प्रतिनिधि भी होना चाहिए। 'बिना इन सब गुणोके दण्डका विधान करना कोरी विडम्बना है और उससे समाजमें सन्तोष तथा क्षेमकी वृद्धि नही हो सकती। जो लोग स्वयं अनेक प्रकारके अन्याय, अत्याचार, अनाचार, व्यभि-चार, छल-कपट, झूठ, फरेब, धोखादेही, बेईमानी, दगाबाजी, जालसाजी और भ्रूण तथा बाल-हत्याएँ तक करते-कराते हों

उन्हें न्यायासनपर बिठलाना अथवा उनसे वैसे ही किसी विषयका न्याय कराना कभी शोभा नहीं दे सकता। एक चोरका दूसरेके चौर-कर्मका विचारक बनना और उसे दण्ड देना निःसन्देह दण्ड-नीतिका उपहास करना है। समाजका अधिकांश वातावरण आजकल ऐसे ही दोषोंसे दूषित और कलुषित है। जाति-पंचायतों-की वह आधुनिक नीति भी, जिसका मैंने अपने लेखमें उल्लेख किया था और जो प्रायः सर्वत्र पाई जाती है, इसी विषयकी पुष्टि करती है। ऐसी हालतमें बहिष्कार जैसे तीक्ष्ण-शस्त्रके प्रयोगकी किसीको सत्ता देना भय तथा अनिष्टकी सभावनासे खाली नही है। इसके लिए सबसे पहले समाजके वातावरणको शुद्ध करनेकी जरूरत है, जिसका प्रारम्भ मुखियाओंके सुधारसे होना चाहिए और वह तब ही हो सकता है जब कि, मेरे सूचित क्रमानुसार, ऐसे पंचोंकी निरंकुश प्रवृत्तिका घोर विरोध किया जाय और उनके अन्यायको चुपचाप सहन न करके उन्हे सन्मार्गपर लाया जाय। आशा है समाजके दृढ़प्रतिज्ञ वीर-पुरुष मेरी उस सूचना अथवा प्रेरणापर ध्यान देकर जरूर मैदानमे आयेंगे और समाजमें जो दण्ड-विषयक गोलमाल तथा अत्याचार चल रहा है उसे अब और आगे न चलने देंगे। ऐसा करनेपर वे समाजमें शुद्ध न्याय और शुद्ध दण्ड-विधानकी व्यवस्था ही नही कर सकेंगे बल्कि असंख्य दुःखित और पीड़ित प्राणियोंके आशीर्वाद ग्रहण करनेमें भी समर्थ हो सकेंगे।

—जैन जगत, १६–४–१९२६

जय जिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार : ६ :

दूसरे लोगोंमें जिस प्रकार परस्पर जयगोपाल, जयश्रीकृष्ण, जयसीताराम और जयरामजी, इत्यादि वचन-व्यवहार चलता है उसी तरह जैनियोंमें 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार प्रचलित है। परन्तु कुछ लोगोंको इस व्यवहारमें अर्वाचीनताकी गन्ध आती है और इसलिये वे इस सुन्दर, सारगर्भित तथा सद्भाव-द्योतक वचन-व्यवहारको उठाकर उसकी जगह 'जुहारु' तथा 'इच्छाकार'का प्रचार करना चाहते हैं। पाँच महीनेके करीब हुए, भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजीने अपना ऐसा ही मंतव्य प्रकट किया था, जो १७ दिसम्बर सन् १९२५ के **जैन मित्र** अंक नं० ८ में, 'अवश्य बाँचने योग्य' शीर्षकके साथमे प्रकाशित हुआ है, और ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने उसे पढ़कर '**जुहारु**' पर प्राचीनताकी अपनी मुहर भी लगाई थी। मैं चाहता था कि उस समय उसपर कुछ लिखूँ, परन्तु अनवकाशने वैसा नहीं करने दिया। हालके **जैन मित्र** अंक नं० २७ मे इसी विषयका प्रश्न रामपुर स्टेटके भाई लक्ष्मीप्रसादजीकी ओरसे उपस्थित किया गया है और उससे मालूम होता है कि ऐलक पन्नालालजी भी 'जयजिनेन्द्र' का निषेध करते हैं और उसकी जगह 'जुहारु' का उपदेश देते हैं। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने उक्त प्रश्नके उत्तरमें लिखा है कि "परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है" और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि आप भी 'जयजिनेन्द्र' का निषेध और उसके स्थान पर 'जुहारु' का विधान चाहते हैं। अतः आज इस विषयपर कुछ विचार करना ही उचित मालूम होता है और नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है।

रामपुरवाले भाईका वह प्रश्न इस प्रकार है :—'जैन समाजमे जो 'जयजिनेन्द्र' का शब्द प्रचलित है और हर एक व्यक्ति एक दूसरेसे समागमके समय 'जयजिनेन्द्र' करता है। यहाँ पर जब श्री १०५ पूज्य ऐलक पन्नालालजी महाराज पधारे तो उन्होंने इसका निषेध किया कि इस तरह जिससे जयजिनेन्द्र कहा जाय वह जिनेन्द्र हो जाता है। इसलिये बजाय जयजिनेन्द्रके जुहारु करना चाहिये। क्योंकि यहाँकी समाजकी समझमे यह बात न ठीक आई है और न इसका अर्थ यह समझमे आता है इसलिये विद्वान महोदय इसका जबाब दे।'

इस प्रश्नमे ऐलकजीके जिस हेतुका उल्लेख किया गया है, उसमे कुछ भी सार मालूम नही होता। समझमे नही आता कि जिसे 'जयजिनेन्द्र' कहा जाता है वह कैसे जिनेन्द्र हो जाता है। क्योंकि लोकमे किसीको 'राम राम' या 'जय रामजी' कहनेसे वह 'राम' हो जाता है अथवा समझा जाता है? और पारस्परिक अभिवादनमे जय गोपाल' या 'जय श्रीकृष्ण' शब्दोके उच्चारणमे क्या कोई गोपाल या श्रीकृष्ण बन जाता अथवा उस पदको प्राप्त हो जाता है? यदि ऐसा कुछ नही है तो फिर परस्परमे 'जय जिनेन्द्र' कहनेसे ही कोई कैसे जिनेन्द्र हो जाता है, यह एक बहुत ही मोटी-सी बात है। कहनेवालेका अभिप्राय भी उस व्यक्तिविशेष-को जिनेन्द्ररूपमे सम्बोधन करनेका नही होता, बल्कि उसके सम्बोधनका पद यदि होता है तो वह अलग होता है—जैसे, भाई साहब! जयजिनेन्द्र!, प्रेमीजी! जयजिनेन्द्र, महाशय! जयजिनेन्द्र, 'जयजिनेन्द्र' साहब! जयजिनेन्द्रजी! अजी जयजिनेन्द्र इत्यादि। ऐसी हालतमे रामपुरके जैन समाजकी समझमे यदि ऐलकजीकी उक्त बात नही आई और न 'जयजिनेन्द्र' शब्दोपरसे उन्हे वैसे अर्थका

कुछ बोध ही हुआ तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। निःसन्देह ऐलकजीकी उक्त बात निरी बच्चोंको बहकाने जैसी जान पड़ती है—युक्ति और आगमसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। मालूम नही ब्रह्मचारीजीने उक्त प्रश्नके उत्तरमें जो सिर्फ इतना ही लिख दिया कि "परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है।" उसमें उन्होने ऐलकजीके हेतुको भी स्वीकार किया या कि नही। जहाँ तक मैं समझता हूँ ब्रह्मचारीजीके इस उत्तरमें उक्त हेतुका कोई आधार नही है बल्कि उसका मूल कुछ दूसरा ही है जो आगे चलकर मालूम होगा। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि उनका यह संक्षिप्त उत्तर प्रश्नका समाधान करनेके लिये पर्याप्त नहीं है।

'जयरामजी' और 'जयश्रीकृष्ण' का अर्थ जिस प्रकार 'रामजीकी जय' और 'कृष्णजीकी जय' होता है। उसी प्रकार 'जयजिनेन्द्र' का भी एक अर्थ 'जिनेन्द्रकी जय' होता है।' इसीसे कुछ भाई कभी-कभी 'जयजिनेन्द्रदेवकी' ऐसा भी बोलते हुए देखे जाते हैं। हिन्दुओमे भी 'जयरामजीकी' ऐसा बोला जाता है। सिक्ख-भाइयोने भी इसी आशयको लेकर अपने व्यवहारका सामान्य मन्त्र 'वाह गुरुकी फतह' रक्खा हैं। इस अर्थ में, 'जयजिनेन्द्र' यह 'जयोऽस्तु जिनेन्द्रस्य' शब्दोंका हिन्दी रूप है! दूसरा अर्थ होता है 'जिनेन्द्र जयवन्त हों' और इस अर्थ-में जयजिनेन्द्रको 'जयतु जिनेन्द्रः' का हिन्दी रूपान्तर समझना चाहिये। प्रायः इन्ही दोनों अर्थोंमें 'जयजिनेन्द्र' वाक्यका व्यवहार होता है, और ये दोनों अर्थ एक ही आशयके द्योतक हैं। इनके सिवाय, एक तीसरा, अर्थ भी हो सकता है जो पारस्परिक व्यवहारमें अभिप्रेत नहीं होता किन्तु विशेष रूपसे जिनेन्द्रकी

स्तुति आदिके समय ग्राह्य होता है और वह यह कि 'हे जिनेन्द्र आप जयवन्त हों'। इस अर्थमें जयजिनेन्द्रको 'जय त्वं जिनेन्द्र' इन शब्दोंका संक्षिप्त रूप कह सकते हैं। इस अर्थका भी वही आशय है जो ऊपरके दोनों अर्थोंका है। भेद केवल इतना ही है कि इसमें जिनेन्द्रदेवको सम्बोधन करके उनका जयघोष किया गया है और पहले दोनों अर्थों-द्वारा बिना सम्बोधनके ही उनकी जय मनाई गई है। बात असलमें एक ही है। इस तरह 'जय-जिनेन्द्र' का उच्चारण बहुत कुछ सार्थक है। वह जिनेन्द्रकी स्मृतिको लिए हुए हैं—उनकी यादको ताजा करा देता है और जिनेन्द्रकी स्मृतिको स्वामी समन्तभद्रने क्लेशाम्बुधिसे—दुख समुद्रसे—पार करनेके लिये नौकाके समान बताया है[1]। इससे 'जयजिनेन्द्र' का उच्चारण मंगलमय होनेसे उपयोगी भी है। हम जितनी बार भी जिनेन्द्रका स्मरण करे उतना ही अच्छा है। हमें प्रत्येक सत्कार्यकी आदिमे, सुव्यवस्था लाने अथवा सफलता प्राप्त करनेके लिये, जिनेन्द्रका—उस देवताका—स्मरण करना चाहिये जो सम्पूर्ण दोषोसे विमुक्त और गुणोसे परिपूर्ण है। परस्परमे 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार इसका एक बहुत बडा साधन है। एक भाई जब दूसरे भाईको 'जयजिनेन्द्र' कहता है तो वह उसके द्वारा केवल जिनेन्द्र भगवानका स्मरण ही नही करता बल्कि दूसरे भाईको अपने साथ प्रेमके एक सूत्रमे बाधता है—उसे अपना बन्धु मानता है। कितने ही अंशोमे उसे अभय प्रदान करता और अपनी सहायताका आश्वासन देता है, वह अपने और उसके मध्यकी खाईको एक प्रकारसे पाट देता है अथवा उसपर एक सुन्दर पुल खड़ा कर देता है। उसके जयघोषका यह अर्थ

१. '(येषां) स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः'—स्तुतिविद्या

नहीं होता कि वह जिनेन्द्रका कुछ हित चाहता है या उनकी किसी अधूरी जयको पूरा करनेकी भावना करता है। जिनेन्द्र भगवान तो स्वयं कृतकृत्य हैं, विजयी और जयवन्त हैं, वे अपने संपूर्ण कर्मशत्रुओंको जीत चुके, उनका कोई शत्रु नहीं और न विश्वभरमे उन्हें कुछ जीतना या करना बाकी रहा है; वे राग-द्वेषसे बिलकुल रहित हैं और यह भी इच्छा नहीं रखते कि कोई उनका जयघोष करे; फिर भी उनका जो जयघोष किया जाता है वह दूसरे ही सदाशयको लिये हुए है और उसके द्वारा जयघोष करने वाला वह भाई, व्यक्त अथवा अव्यक्त रूपसे यह सूचित करता है कि तुम्हारे, मेरे अथवा विश्वभरके हृदयमे जिनेन्द्र व्याप्त हो जायँ, उनके निर्मल गुण हमारे अन्तःकरणको जीत लेवें, सबों-पर उनका प्रभाव अंकित हो जाय अथवा सिक्का बैठ जाय, और इस तरह सब लोग जिनेन्द्रके गुणोमें अनुरक्त होकर अपना आत्म-कल्याण करने और अपने जीवन-मार्गको सुगम तथा प्रशस्त बनाने-मे समर्थ हो जायँ। इससे 'जयजिनेन्द्र' मे कितना सुन्दर भाव भरा है, कितनी उच्च कोटिका उत्तम भावना संनिहित है और कैसी ललित विश्व-प्रेमकी धारा उसमेंसे बह रही है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। ऐसी हालतमे क्या जयजिनेन्द्रका पारस्परिक व्यवहार उत्थापन किये जाने अथवा उठा देनेके योग्य हो सकता है? कदापि नही। मुझे तो सच्चे हृदयसे उच्चारित होनेपर यह अपनी तथा दूसरोंकी शुद्धिका प्यारा मंत्र मालूम होता है और इसीलिये सबोंके-द्वारा अच्छी तरहसे आराधन किये जानेके योग्य जान पड़ता है।

वास्तवमें जयघोष करना जैनियोंकी प्रकृतिमें दाखिल है। उनका जन्म ही जयके लिये हुआ है, उनकी जन्मघुटीमें जयका

समावेश है, वे जयके उपासक हैं और जय ही उनका लक्ष्य है।

इसीसे वे अपनी नित्य-क्रियाओं—भक्तिपाठोंमें कहते हैं।

जिय-भय-जिय-उवसग्गे जिय-इंदिय-परिसहे जिय-कसाए।
जिय-राय-दोस-मोहे जिय-सुह-दुक्खे णमंसामि ॥

अर्थात्—जिन्होने भयोंको जीत लिया, उपसर्गोंको जीत लिया, इन्द्रियोंको जीत लिया, परीषहोंको जीत लिया, कषायोंको जीत लिया, राग-द्वेषको जीत लिया, मोहको जीत लिया और सुख-दुःखको जीत लिया उन योगि-प्रवरोंको नमस्कार है।

इसके सिवाय, जिस पूज्य देवताके नामपर उनका "जैन" ऐसा नाम-संस्कार हुआ है वह भी "जिन" है, और 'जिन' कहते हैं जीतनेवाले (विजेता) अथवा जयशीलको—जो कर्म-शत्रुओंको निर्मूल करके पूर्णरूपसे अपना आध्यात्मिक विकास करता है वही 'जिन' कहलाता है। जिनके उपासक होने अथवा जिन-पदको प्राप्त करना सबोको इष्ट होनेसे जैनियोंका भी लक्ष्य वही जय—आध्यात्मिक विजय—पाना है अथवा उसी जयके उन्हें उपासक कहना चाहिये जो भौतिक विषयसे बहुत ऊँचे दर्जे-पर है और जिसके आगे भौतिक विजय हाथ बाँधे खड़ी रहती है। और इसलिये जय-पूर्वक जिनेन्द्र शब्दका व्यवहार करना जैनियोके लिये बहुत ही अनुकूल जान पडता है। परन्तु खेद है कि आज जैनियोने अपनी इस प्रकृतिको भुला दिया, वे अपने स्वरूपको भुलाकर सिहसे गीदड़ बन गये, उन्हें अपने लक्ष्यका ध्यान नही रहा और इसीसे वे विजेता न रह कर विजित, पराजित और गुलाम बने हुए हैं। वे इन्द्रिय-विषयोंके गुलाम हैं कषायोंके गुलाम हैं, परिस्थितियोके गुलाम हैं, रूढ़ियोंके गुलाम हैं, अथवा अज्ञानके वशवर्ती होकर बाह्य पदार्थोंके गुलाम हैं। उनमें कोई

राजा तक नहीं और न परिस्थितियों तथा रूढ़ियोंको बदलने या उनपर विजय प्राप्त करनेकी ही किसीकी इच्छा है। उनके हृदय भय-विह्वल और आशाएँ दुर्बल हैं। ऐसी हालतमे उनसे 'जयजिनेन्द्र' के व्यवहारका छुड़ाना उन्हें और भी अपने कर्त्तव्यसे च्युत करना है। क्या आश्चर्य है जो इस 'जयजिनेन्द्र'के घोषमें ही जैनियोंको कभी अपनी जयशीलताका बोध हो जाय और वे अपनी अकर्मण्यताको छोड़कर सच्चे हृदयसे जिनेन्द्रका महान् जयघोष करते हुए अपने कर्त्तव्य-पथपर आरूढ़ हो जायें—अपनी आत्म-निधिको प्राप्त करनेके यत्नमे लग जायँ। ऐसा होनेपर जैनी आज भी अपने आध्यात्मिक बलसे संसारको विजित करके जिनेन्द्रकी तरफ उसका हित-साधन कर सकते हैं। और इसीलिये 'जयजिनेन्द्र' के इस पारस्परिक व्यवहारको उठा देना किसी तरह भी युक्तिसंगत मालूम नही होता।

अब मैं **भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजीके** वक्तव्यको लेता हूँ। उन्होंने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है— "आजकल विशेषतर जैनजाति पुरुष व स्त्रियोमे परस्पर और चिट्ठी-पत्रीमे जयजिनेन्द्र बोलने-लिखनेका रिवाज वहुत प्रचलित हुआ है। उसका कारण यह है कि कौन-सी जगह कौन-सा नमस्कार करना, व रूढ़ी न समझकर जयजिनेन्द्र बोलनेका रिवाज पड़ गया है। सो यह रिवाज पूर्वके अनुसार और शास्त्रके वचनके अनुसार नही है। शास्त्रोमे ऐसा कहा है :—

नमोस्तु गुरुवे कुर्याद्वंदना ब्रह्मचारिणे।
इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वन्दामीत्यर्जिकादिषु॥ १॥

अर्थ :—गुरुओको नमोस्तु कहना, ब्रह्मचारियोको वन्दना कहना, साधर्मियोंको परस्पर इच्छाकार कहना और आर्यिकाओंको

बंदामि कहना चाहिये। गृहस्थियोंको एवं सार्धमियोको परस्पर जुहारु शब्द भी कहा है।

> जिणवरधम्मं गहियं हणेइ दुट्ठट्ठ-कम्माणं।
> रुंधइ आसवद्वारं जुहारो जिणवरो भणीयं ॥ १ ॥
> जुगादि ऋषभं देवं हारिणं सर्वसंकटान्।
> रक्षन्ति सर्वजीवानां तस्माज्जुहारुरुच्यते ॥ २ ॥
> श्राद्धाः परस्परं कुर्युरिच्छाकारं स्वभावतः।
> जुहारुरिति लोकेस्मिन्नमस्कारं स्वसज्जनाः ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रावकगण परस्परमें एक दूसरेसे इच्छाकार करें तथा लोक-व्यवहारमें सज्जनवर्गको 'जुहारु' इस तरहका नमस्कार करना शास्त्रोंमें बतलाया है। सो बोलने, चिठ्ठिये तथा पाठ-शाला, वोर्डिग, कन्याशाला, श्राविकाश्रम हर जगह यह पद्धति प्रचलित होनी चाहिये। हम बार-बार कहते हैं कि इसका प्रचार होना चाहिये।"

भट्टारकजीके इस संपूर्ण वक्तव्यका सार सिर्फ इतना ही है कि 'जैनियोमें परस्पर जयजिनेन्द्र बोलनेका जो रिवाज है वह पहले-के रिवाजके अनुसार नही है और न शास्त्र-वचनोंके ही अनुसार है। उसका कारण नासमझी है। पहले उनमें इच्छाकार तथा जुहारु बोलनेका रिवाज था, शास्त्रोमे भी उसका विधान मिलता है और इसलिये अब भी उसीका सर्वत्र प्रचार होना चाहिये।' आपने प्रमाणमे शास्त्रोके चार पद्य भी उद्धृत किये हैं, परन्तु उनकी बाबत यह बतलानेकी कृपा नहीं की कि वे कौन-से शास्त्र-के वाक्य हैं अथवा किसके द्वारा रचे गये हैं; और न यही बत-लाया कि 'जयजिनेन्द्र'का रिवाज कबसे प्रचलित हुआ और किस आधारपर वे उसके प्रचलित होनेके समयको निश्चित करनेमें

समर्थ हो सके हैं, जिससे किसी रिवाजके पहले या पीछे प्रचलित होनेकी बातकी जाँच की जा सकती अथवा यही निश्चय किया जा सकता कि वे वाक्य कहाँ तक मान्य किये जानेके योग्य हैं। आपने यह भी नही बतलाया कि 'जुहारु'का रिवाज 'इच्छाकार' से पहले हुआ या पीछे। यदि पीछे हुआ तो वह पहले रिवाजके मौजूद होते हुए क्यो मान्य किया गया? यदि पहले हुआ तो उसकी मौजूदगीमें इच्छाकारके विधानकी क्या जरूरत पैदा हुई और वह क्यो स्वीकार किया गया? और यदि दोनोंका विधान युगपत् आरम्भ हुआ और युगपत् ही चलता है तो फिर उस ग्रन्थमें जुहारुका विधान क्यो नही, जिसका 'नमोस्तु' पद्य उद्धृत किया गया है? यदि एकके बाद दूसरा अच्छा रिवाज भी पहलेके स्थानपर प्रचलित हुआ करता है और वह आपत्तिके योग्य नही होता तो फिर 'जयजिनेन्द्र'के रिवाजपर ही आपत्ति कैसी? उसमें कौन-सी बुराई है? साथ ही, इस बातका भी कोई अच्छा स्पष्टीकरण नही किया कि दोनोमेसे जुहारुका किस जगह और इच्छाकारका कहाँपर व्यवहार होना चाहिये, जिससे यहाँ तो उस नासमझीको अवसर न रहता, जिसकी आप जयजिनेन्द्रके सम्बन्धमे शिकायत करते हैं।

जुहारुकी बाबत जो तीन पद्य आपने उद्धृत किये हैं उनसे भी प्रकृत विषयका कोई स्पष्टीकरण नही होता। उनकी स्वयं स्थिति बहुत कुछ संदिग्ध जान पड़ती है। तीसरे पद्यका जो अर्थ भट्टारकजीने किया है वह ठीक नही है। उससे यह पाया जाता है कि श्रावकजन परस्परमे तो 'इच्छाकार' करे और दूसरे (अजैनादि) सज्जनोंके प्रति उन्हें 'जुहारु' नामका नमस्कार करना चाहिए। परन्तु मूलमें 'सज्जनाः' पद प्रथमान्त पड़ा है,

और 'श्राद्धाः' पदके समकक्ष है। इससे श्रावकगण सज्जन-वर्गको जुहारु करे, यह अर्थ नही बनता बल्कि सज्जनजन परस्पर-में जुहारु करें, ऐसा अर्थ निकलता है। परन्तु श्रावकजनोंसे भिन्न दूसरे वे सज्जन-जन कौन-से हैं जिनके लिये परस्परमे जुहारु-का यह पृथक् विधान किया गया है, यह बात कुछ समझमे नही आती और न इससे श्रावकोमें परस्पर या दूसरोके प्रति जुहारुकी बात ही कायम रहती है। अतः इस पद्यको हालत संदिग्ध है और वह प्रकृत विषयका समर्थन करनेके लिये समर्थ नही हो सकता।

रहे शेष दो पद्य, उनकी हालत और भी ज्यादा खराब है। वे किसी ग्रन्थ-विशेषके पद्य भी मालूम नही होते; बल्कि 'जुहारु' की सार्थकता सिद्ध करनेके लिये किसी अनाड़ीके-द्वारा खंडरूर-मे गढ़े गये जान पड़ते हैं। इसीसे उनके शब्द-अर्थका सम्बन्ध कुछ ठीक नही बैठता—कहाँ **'जुगादि'**, कहाँ **'ऋषभं देवं हारिणं'** ये द्वितीयाके एकवचनान्त पद, कहाँ **'रक्षन्ति'** बहुवचनान्त क्रिया और कहाँ **'जुहारः उच्यते'** पदोंकी **'जुहाररुच्यते'** यह विचित्र सृष्टि (संधि)! व्याकरणकी रीतिसे इन सबकी परस्पर कोई संगति नही बैठती। इसी तरह गाथाके **'जुहारो जिणवरो भणीयम्'** और **'धम्मं गहियं'** पद भी दूषित जान पड़ते हैं। और इसलिये **'जुहारु'** शब्दकी जिस निरुक्ति-कल्पनाके लिये इन पद्यो-की रचना हुई है उसकी भी इनसे यथेष्ट रूपमे कोई सिद्धि नही होती। बाकी जुहारुके परस्पर व्यवहारका इनमें कोई विधान नही, यह स्पष्ट ही है। यदि ये दोनों पद्य किसी ग्रन्थ-विशेषके होते और उसमें जुहारुका विधान किया गया होता तो भट्टारक-जी उन पद्योंको भी जरूर साथमें उद्धृत करते। इससे भी ये

पद्य किसी ग्रन्थ-विशेषके अंश मालूम नही होते। भट्टारकजी ने इन दोनो पद्योका कोई अर्थ भी नही दिया। नही मालूम, इसका क्या कारण है और इस तरह क्या बात सिद्ध करनेके लिये इन्हे उद्धृत किया गया है? हॉ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने, अपने सम्पादकीय नोटमें, इनका अर्थ जरूर दिया है और यों भट्टारकजीके लेखकी कमीको पूरा करनेका प्रयत्न किया है। आपका वह नोट इस प्रकार है :—

"जुहारुका अर्थ ऊपरकी गाथा तथा श्लोकमे यह है कि जिनवर-धर्मको ग्रहण करो, अष्ट कर्मोंका नाश करो तथा आस्रव-के द्वारको रोको। और 'जु' से युगकी आदि ऋषभदेव, 'हा' से जो सर्व कष्टोको हरने वाले हैं, 'र' से जो सबकी रक्षा करते हैं। जुहारुका प्राचीन रिवाज मालूम होता है।"

इस नोटमे अन्तका एक वाक्य तो ब्रह्मचारीजीकी सम्मति-का है, बाकी सब गाथा तथा श्लोकका क्रमश: अर्थ है; परन्तु ब्रह्मचारीजीने गाथाका जो अर्थ किया है वह ठीक नही है। गाथामे ऐसा कोई क्रिया-पद नही, जिसका अर्थ 'ग्रहण करो', 'नाश करो' अथवा 'रोको' होवे। जान पड़ता है गाथामे **'धम्मो'** को **'धम्मं'** लिख देनेसे ही आपको क्रिया-पदोंका अर्थ समझनेमें गलती हुई है। और इससे आपने **'धम्मो'** के अशुद्ध विशेषण पद **'गहियं'** को भी क्रियापद समझ लिया है। अस्तु, इस गाथाका आशय यह होता है कि 'ग्रहण किया हुआ जिनवर-धर्म आठ दुष्ट-कर्मोको हनता है और आस्रवके द्वारको रुद्ध (बन्द) करता है। (इस तरहपर यह) 'जुहारु' जिनवरका कहा हुआ है। गाथाके इस आशयपरसे **'जुहारु'** शब्दकी कोई निष्पत्ति नहीं होती। यदि **'जिनवरधम्मो'** का **'जि'**, **'हणेइ'** का **'ह'** और

'रु'धइ' का **'रु'** ऐसे तीनों पदोंके आद्य अक्षरोंका संग्रह किया जावे तो उससे **'जिहरु'** होता है—'जुहारु' नहीं और इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा साधारण-बुद्धिके किसी अनाड़ीकी बनाई हुई है, जिसने वैसे ही उसके-द्वारा जुहारुके विषयमें अपना मन-समझौता कर लिया है। इसी तरहका मन-समझौता अगले **'जुगादि ऋषभं'** नामके पद्यमें भी किया गया है, जो व्याकरणकी त्रुटियोंसे बहुत कुछ परिपूर्ण है और जिसमे 'जुहारु' की जगह 'जुहार' शब्दका ही प्रतिपादन किया गया है। इन्ही अस्त-व्यस्त, संदिग्ध और ग्रन्थादिके प्रमाण-रहित पद्योके आधारपर ब्रह्मचारीजीने "जुहारुको प्राचीन रिवाज" समझा है और उक्त प्रश्नके उत्तरमें यह कहनेके लिये भी वे समर्थ हो सके हैं कि "परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है", यह सब देखकर बडा आश्चर्य होता है ? समझमे नही आता इन पद्योके किस अशपरसे आपने जुहारुके रिवाजका और 'जय जिनेन्द्र' की अपेक्षा उसकी प्राचीनताका अनुभव किया है। क्या भगवान महावीर अथवा किसी दूसरे तीर्थंकरने 'जुहारु' का उपदेश दिया है और उसकी उक्त प्रकारसे दो भिन्न व्याख्याएँ की हैं, ऐसा किसी मान्य आचार्य-द्वारा निर्मित प्राचीन ग्रन्थमे कोई उल्लेख मिलता है ? क्या इतिहाससे यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि भगवान महावीरके समयमें भी जुहारुका प्रचार था ? अथवा केवल संस्कृत-प्राकृतके पद्योमें निबद्ध हो जानेसे ही 'जुहारु' को प्राचीनताकी पदवी प्राप्त हो गई है ? यदि ऐसा है तब तो 'जय जिनेन्द्र' के लिये बहुत बडा द्वार खुला हैं। और सैकड़ों अच्छे-से-अच्छे पद्य पेश किये जा सकते हैं। इसके सिवाय, यदि मान भी लिया जाय कि 'जय जिनेन्द्र' का रिवाज

जुहारुकी अपेक्षा प्राचीन न होकर अर्वाचीन है तो इतनेपरसे ही क्या हो गया ? क्या प्राचीन न होनेपर उसकी समीचीनता नष्ट हो गई ? वह अच्छा, श्रेष्ठ, सच्चा और समुचित व्यवहार नहीं रहा ? और क्या प्राचीन सभी प्रवृत्तियाँ उपादेय होती हैं ? संसारी जीवोंकी प्रवृत्तियाँ अनादि कालसे मिथ्यात्वकी ओर हैं—सम्यक्त्वकी प्राप्ति उन्हें बादको होती है ! क्या मिथ्यात्व-प्रवृत्तिके प्राचीन होनेसे ही उसे नहीं छोड़ना चाहिये अथवा सम्यक्त्वको नहीं ग्रहण करना चाहिये ? यदि ऐसा कुछ नही है, बल्कि प्राचीनतापर समीचीनताको अधिक महत्त्व प्राप्त है, पुरानी प्रवृत्ति उपयुक्त न होने अथवा देश-कालानुसार उपयुक्त न रहनेपर, छोड़ी जा सकती है, और उसकी जगह दूसरी अनुकूल तथा हितरूप-प्रवृत्ति ग्रहण की जा सकती है—रिवाज कोई अटल सिद्धान्त नही होता—तो फिर 'जयजिनेन्द्र'पर आपत्ति कैसी ? और यह कोरी तथा कल्पित प्राचीनताका मोह कैसा ? जैनियोंके लिये '**जयजिनेन्द्र**' का व्यवहार एक समीचीन व्यवहार है, वर्तमान देश-काल भी उसे चाहता है और इसलिये उसका विरोध करना अनुचित है। इस व्यवहारसे जैनियोके सम्यक्त्वमें कोई बाधा नही आती, उनके व्रतोमें भी कोई दूषण नही लगता। और जैनियोके लिये वे संपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण कही गई हैं जिनसे उनके सम्यकत्वको हानि न पहुँचती हो या उनके व्रतोमें कोई प्रकारका दोष न लगता हो। जैसा कि श्रीसोमदेव-सूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न यत्र न व्रत-दूषणम्॥

—यशस्तिलक।

इस दृष्टिसे भी जयजिनेन्द्र' का व्यवहार उत्थापन किये जानेके योग्य नही है—अर्वाचीन मानलेनेपर भी उसका निषेध नही किया जा सकता। वह जैनियोके लिए एक सुन्दर, श्रेष्ठ और समाचीन व्यवहार होनेकी क्षमता रखता है। 'जुहारु' की अपेक्षा 'जयजिनेन्द्र' का अर्थ भी बहुत कुछ स्पष्ट तथा व्यक्त है। मेरी रायमे 'जुहारु' का युग यदि किसी समय था तो वह चला गया, अब 'जयजिनेन्द्र' का युग है। और इसलिए सबोको सच्चे हृदयसे परस्परमे 'जयजिनेन्द्र'का व्यवहार करना चाहिये।

रही 'इच्छाकार' की बात; इच्छाकार '**इच्छामि**' ऐसा उच्चारण करनेको कहते है[1]। और '**इच्छामि**' का अर्थ होता है—इच्छा करता हूँ या चाहता हूँ। परन्तु किस बातकी इच्छा करता हूँ अथवा क्या चाहता हूँ यह इस शब्दोच्चारणपरसे कुछ मालूम नही होता। हो सकता है कि जिस व्यक्ति-विशेषके प्रति यह शब्दोच्चारण किया जाय उसके व्यक्तित्वकी इच्छा करना, उसके पदस्थ या धार्मिक जीवनको चाहना, सराहना अथवा वैसे होनेकी वाछा करना ही उसके-द्वारा अभीष्ट हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि यह शब्द समाजके पारस्परिक व्यवहार-

---

1. इच्छाकारं इच्छामीत्येवंविधोच्चारणलक्षणम्।

—सागारधर्मामृत टीका।

पं० मनोहरलाल शास्त्रीने माणिकचन्द्रग्रन्थमालाके त्रयोदशवे ग्रन्थ (पृष्ठ ६३) में इच्छाकारपर टिप्पणी देते हुये लिखा है—"स्वेच्छया 'जयजिनेन्द्र' 'जुहारु' इत्यादि अर्थात् अपनी इच्छासे जयजिनेन्द्र, जुहारु इत्यादिका व्यवहार करना 'इच्छाकार' कहलाता है।" परन्तु इच्छाकारका ऐसा आशय नही है। यदि यह आशय मान लिया जाय तब तो जय-जिनेन्द्रके विरोधके लिये फिर कोई बात ही नही रह सकती।

में इतना अधिक अप्रचलित है कि उसकी इस स्थितिपरसे यह शंका पैदा हुए बिना नही रहती कि वह कभी सर्वसाधारण जैनियोके पारस्परिक व्यवहारका एक सामान्य मंत्र रहा है या कि नही। अस्तु, इस विषयमे जब प्राचीन साहित्यको टटोला जाता है तो सोमदेवसुरिके 'यशस्तिलक' ग्रन्थपरसे, जो कि शक सम्बत् ८८१ का बना हुआ है, यह मालूम होता है कि 'इच्छाकार' का विधान क्षुल्लक-क्षुल्लकके लिए है—अर्थात् एक क्षुल्लक (११ वी प्रतिमाधारक श्रावक) दूसरे क्षुल्लकको 'इच्छामि' कहे—दूसरे व्रती श्रावकोंके लिए उसका विधान नही, उनके लिए मात्र विनय-क्रिया कही गई है। यथा :—

अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया।
अन्योऽन्यक्षुल्लके चार्हमिच्छाकारवचः सदा॥

इन्द्रनन्दि-आचार्य-प्रणीत 'नीतिसार' के निम्न वाक्यसे भी इसी आशयकी अभिव्यक्ति तथा पुष्टि होती है :—

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणां च वन्दना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते॥

इसमे 'क्षुल्लक' शब्दका प्रयोग न करके उसे 'उत्तम श्रावक' तथा 'उच्च श्रावक' ऐसे पर्याय-नामोसे उल्लेखित किया गया है। बात एक ही है; क्योंकि रत्नकरण्डश्रावकाचारादि ग्रन्थोंमे 'उत्कृष्ट' तथा 'उत्तम' श्रावककी संज्ञा ११ वी प्रतिमावाले श्रावकको दी गई है। जिसके आजकल 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' ऐसे दो भेद किये जाते हैं और इसलिए क्षुल्लक-ऐलक दोनोके लिए इच्छाकारका विधान है—दूसरे श्रावकोके लिए नही, यह इस पदसे स्पष्ट जाना जाता है।

अमितगति-आचार्यके 'उपासकाचार' में, जो कि विक्रमकी

११ वीं शताब्दीका बना हुआ है, एक पद्य निम्नप्रकारसे पाया जाता है :—

> इच्छाकारं समाचारं संयमाऽसंयमस्थितः।
> विशुद्धवृत्तिभिः सार्द्धम विदधाति प्रियंवदः॥ ८- २

यह पद्य उत्कृष्ट श्रावककी चर्याका कथन करते हुए मध्यमें दिया गया है—इसमे पहले तथा पिछले दोनो पद्योंमें 'उत्कृष्ट श्रावक'का[1] उल्लेख हैं—और इसलिए इस पद्यमें प्रयुक्त हुए **'संयमासंयमस्थितः'** पदका वाच्य 'उत्कृष्ट श्रावक' जान पड़ता है। उसीके लिए इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि वह विशुद्ध-वृत्तिवालोके साथ **'इच्छाकार'** नामके समाचारका व्यवहार करे। उत्कृष्टश्रावककी दृष्टिसे विशुद्ध-वृत्तिवाले मुनि हो सकते हैं। प० कल्लप्पा भरमप्पा निटवेने भी, इस पद्यके मराठी अनुवादमें **'विशुद्ध-वृत्तिभिः'** पद्यसे उन्हीका आशय व्यक्त किया है[2]। ज्यादा-से-ज्यादा इस पदके-द्वारा क्षुल्लक-ऐलकका भी ग्रहण किया जा सकता है और इस तरहपर यह कहा जा सकता है कि अमित-गति-आचार्यने इस पद्यके-द्वारा उत्कृष्ट श्रावकोके लिए मुनियो-के प्रति, अथवा परस्परमे भी, **'इच्छामि'** कहनेका विधान किया है। परन्तु यह नही कहा जा सकता है कि जो लोग विशुद्ध-वृत्ति-के धारक न होकर साधारण गृहस्थ जैनी हैं—अव्रती अथवा पाक्षिक श्रावक हैं—उनके साथ भी इच्छाकारके व्यवहारका

---

१. यथा—उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः।
उत्कृष्टः कारयत्येष मुण्डनं तुण्ड-मुण्डयोः॥ ७१,७३॥

२. यथा—शुद्धाचारसम्पन्न अशा मुनींसर इच्छाकार नां वाचा समाचारकरितो'।

वैसा होनेकी इच्छा आदिको व्यक्त करनेका विधान किया गया हैं ।

इस तरहपर तीन आचार्योंके वाक्योंसे यह स्पष्ट है कि 'इच्छाकार नामके समाचारका विधान प्रायः क्षुल्लकों अथवा ११ वी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोके लिए है—साधारण गृहस्थ उसके अधिकारी तथा पात्र नहीं हैं ।' जान पड़ता है यही वजह है, जो समाजमें इच्छाकारका व्यवहार इतना अधिक अप्रचलित है अथवा यो कहिये कि समाज अपने व्यवहारमे उससे परिचित नही है और इसीलिये सर्वसाधारण जैनियोंमें अब इच्छाकारके सर्वत्र व्यवहारकी प्रेरणा करना कहाँ तक युक्तिसंगत तथा अभिवांछनीय हो सकता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं । हाँ, उत्कृष्ट श्रावक परस्परमे इच्छाकारका व्यहार करें तो वह ठीक है, उसमें हमे कोई आपत्ति नही और न उससे जयजिनेन्द्रकी सर्वमान्यता-मे कोई अन्तर पडता है ।

यहाँपर मैं एक वाक्य और भी प्रकट कर देना उचित सम-झता हूँ और वह १३ वीं शताब्दीके विद्वान पं० आशाधरजीके सागारधर्मामृतका निम्न वाक्य है :—

> स्वपाणिपात्र एवात्ति, संशोध्यान्येन योजितम् ।
> इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥ ७-४९ ॥

यह पद्य ११वी प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट-श्रावककी चर्याका कथन करते हुये दिया गया है और इसके उत्तरार्धमें यह बतलाया गया है कि सब आपसमें 'इच्छाकार' नामका समाचारका व्यवहार करते हैं ।' परन्तु वे 'सब' कौन ? ग्यारह प्रतिमाओके धारक संपूर्ण श्रावक या ग्यारहवी प्रतिमाके धारक वे तीनों प्रकारके

उत्कृष्ट-श्रावक, जिनके आशाधरजीने 'एकभिक्षानियम', 'अनेक-भिक्षानियम' और 'आर्य' ऐसे नाम दिये हैं ? प्रकरणको देखते तथा उक्त आचार्य-वाक्योकी रोशनीमे इस पद्यके उत्तरार्धको पढ़ते हुए यह मालूम होता है कि 'सर्वे' पदका वाच्य ११वी प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट-श्रावक-समूह होना चाहिये । परन्तु आशा-धरजीने इस ग्रन्थपर स्वय टीका भी लिखी है और इसलिये उन्होने इस पदका जो अर्थ दिया हो वही मान्य हो सकता है । माणिकचन्द्रग्रन्थमालामे वह टीका जिस रूपसे मुद्रित हुई है उसम इस पदका अर्थ । **'एकादशाऽपि श्रावका.'** दिया है—अर्थात्, ग्यारह प्रतिमाओके धारक श्रावकोको **'सर्वे'** पदका वाच्य ठहराया है । हो सकता है कि यह पाठ कुछ अशुद्ध हो और **'एकादश-मस्था:'** आदि ऐसे ही किसी पाठकी जगह लिख गया अथवा छप गया हो, जिसका अर्थ ग्यारह प्रतिमा न होकर ग्यारहवी प्रतिमा होता हो। परन्तु यदि यही पाठ ठीक है और प० आशाधरजीने अपने पदका ऐसा ही अर्थ किया है तो कहना होगा कि प० आशाधरजीने प्रतिमाधारी सभी नैष्ठिक श्रावकोके लिये परस्पर इच्छाकारका विधान किया है और उनके इस कथनसे एक क्षुल्लक तथा ऐलकको भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकोके लिए परस्पर इच्छाकारका विधान किया है और उनके इस कथनसे एक क्षुल्लक तथा ऐलकको भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकको **'इच्छामि'** कहना चाहिये । ऐसी हालतमे आपका यह विधान कौन-से आचार्य-वाक्यके अनुसार है यह कुछ मालूम नही होता । परन्तु वह किसी आचार्य-वाक्यके अनुसार हो या-न-हो, इसमे सन्देह नही कि आपका यह विधान नैष्ठिक (प्रतिमाधारी) श्रावकोके लिये है—अव्रती आदि साधारण

गृहस्थों अथवा पाक्षिक श्रावकोके लिये नही ।' और समाजमें अधिकांश संख्या साधारण गृहस्थों तथा पाक्षिक श्रावकोंकी ही पाई जाती है, प्रतिमाधारी श्रावक बहुत ही थोडे हैं, उनकी सख्या इनी-गिनी हैं और इसलिये सर्वसाधारण जैनियोको परस्परमे '**इच्छामि**' कहनेके लिये प्रेरित करना आशाधरजीके इस वाक्यके भी अनुकूल मालूम नही होता । उनके कथनानुसार प्रतिमाधारी श्रावकोंके लिये ही यह विधि होनी चाहिये—दूसरे गृहस्थ इसके अधिकारी नही हैं ।

इस सब कथनमे सर्वसाधारण जैनियोंके लिए 'जुहारु' तथा 'इच्छाकार' मे आजकल कोई उपयुक्तता मालूम नही होती । प्रत्युत इसके, जयजिनेन्द्रका व्यवहार उनके लिये बहुत ही उपयोगी तथा समयानुकूल जान पडता है । युक्ति अथवा आगमसे भी उसमे कोई विरोध नही आता । और इसलिए सबोंको आम-तौरपर हृदयसे 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार करना चाहिये और उसे अपने लोक-व्यवहारका एक ऐसा सामान्य जातीय-मत्र बना लेना चाहिये जो सबोको एक सूत्रमे बाँध सके । उनके जयघोषमें परस्पर प्रेमका संचार तथा बन्धुत्वका विकास होना चाहिए और साथ ही जगतको उसके हितका आश्वासन मिलना चाहिये । एक भट्टारक, क्षुल्लक, ऐलक या ब्रह्मचारीको यदि कोई गृहस्थ 'जयजिनेन्द्र' कहता है तो इससे उनके अप्रसन्न होनेकी कोई वजह नही हो सकती । उन्हें अपने उपास्य देव 'जिनेन्द्र' का जयघोष सुनकर खुश होना चाहिए और उत्तरमे बिना किसी संकोचके जिनेन्द्रका जयघोष करके अपने उस आनन्दको व्यक्त करना चाहिये अथवा उस जयघोष-द्वारा अपनी जातीयताकी

प्रतिध्वनि करनी चाहिए। आशा है सभी सहृदय जैनी 'जयजिनेन्द्र' की इस उपयोगिताको समझेगे और उसे, अपने व्यवहार-द्वारा दृढताके साथ अपनाकर, अपना एक जातीय-मंत्र बना लेनेमें भरसक यत्न करेगे।

—जैन जगत, २१-५-१९२६

उपासना-विषयक समाधान : ७ :

कुछ समय हुआ **"उपासनाका ढंग"** नामक एक लेख मैंने १६ अगस्त सन् १९२६ के **"जैन-जगत"** में प्रकाशित कराया था। हालमें उसके विरुद्ध सेठ मोहनलालजी बड़जात्याका एक लेख **"जैन-जगत"** के गताङ्क नं० ८ में प्रकट हुआ है। इस लेखपरसे मुझे यह देखकर खेद हुआ कि, लेख लिखते समय बड़जात्याजी अपने उस सद्भावको खो बैठे हैं, जिसकी मैंने दण्डविधान-विषयक आपके एक पहले लेखका समाधान करते हुए प्रशंसा की थी। मालूम होता है मेरे लेखको पढकर और उसमें अपने चिर-संस्कारोके विरुद्ध कोई बात देखकर आप एकदम क्षोभमे आ गये हैं और उसी क्षोभकी हालतमें आपके लेखका अवतार हुआ है। इसीसे उसमे प्राय: अविचारिता और कुछ उद्धतता पाई जाती है—वह किसी विचारक दृष्टि अथवा निर्णय-बुद्धिसे लिखा हुआ मालूम नही होता—और यही वजह है कि वह व्यक्तिगत आक्षेपोंको भी लिये हुए है—उसमे लेखककी मंशा और नीयत आदिपर अनुचित आक्षेप किये गए हैं, जिनको सम्पादक **"जैन जगत"** ने भी महसूस किया है और इसीसे उन्हें ऐसी लेख-प्रणालीके विरुद्ध एक नोट भी साथमें देना पड़ा।

दूसरा विरोधी लेख **"खण्डेलवाल जैन हितेच्छु"** के २ री सितम्बर १९२६ वाले अङ्कमें प्रकट हुआ है। यह छोटा-सा लेख पंडित बनारसीदासजी शास्त्रीका लिखा हुआ है और बहुत ही साधारण है। इसमें प्राय: ऐसी कोई विशेष बात नही, जो बड़जात्याजीवाले लेखमें न आ गई हो। दोनोंमें ही बिना

समझे '**पात्रकेसरी स्तोत्र**' के कुछ श्लोकोकी दुहाई दी गई है। हाँ, एक बात नोट किये जाने योग्य जरूर है और वह यह कि शास्त्रीजी जैन-शास्त्रोके वाक्योंको छापनेके विरोधी थे, इसीसे उन्होने अपने एक लेखमें शास्त्रीय प्रमाणोको न देते हुए लिखा था कि—"आर्ष-वाक्य होनेके कारण मैं यहाँपर शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत करनेके लिये असमर्थ हूँ। जिन्हे जाननेकी इच्छा हो उन्हे मै सहर्ष बतला सकता हूँ या लिखकर भेज सकता हूँ।" परन्तु इस लेखमे आपने "**पात्रकेसरी स्तोत्र**" के तीन पद्योको देकर आर्ष-वाक्यो अथवा शास्त्रीय प्रमाणोको उद्धृत किया है और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अब आपको शास्त्र-वाक्योके न छपाने सम्बन्धी अपनी पिछली भूल मालूम पड़ गई है अथवा आपके सिरपरसे वह अकुश उठ गया है जिसके कारण आप शास्त्रीय प्रमाणोको न छपानेके लिये मजबूर थे। परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि भूल जिस वक्त भी मालूम पड़ जाय और सुधार ली जाय उसी वक्त अच्छा है और अनुचित अंकुशका उठ जाना सदा ही अभिनन्दनीय होता है। अस्तु।

ये ही दो लेख हैं जो मेरे लेखके विरोधमे अभीतक मुझे उपलब्ध हुए हैं। मैं नहीं चाहता था कि ऐसे व्यर्थके निःसार लेखोपर कुछ लिखा पढ़ी करके अपने उस कीमती वक्तको खराब किया जाय जो दूसरे अधिक उपयोगी किसी स्वतन्त्र लेखके लिखने या उसकी तैयारी करनेमे खर्च होता। परन्तु कुछ मित्रोका आग्रह है कि इन लेखोसे उत्पन्न होनेवाले भ्रमको जरूर दूर कर देना चाहिए, जिससे भोली जनता फिजूलके धोखेमे न पड़े। अतः नीचे उसीका यत्न किया जाता है।

सबसे पहले मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूँ

कि उस लेखमें मैंने पूजा, भक्ति और आराधना तीनोंको एक 'उपासना' नामसे उल्लेखित करते हुए, यह प्रकट किया था कि—"आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष हो रही है और इसलिये समाजमे उपासनाके जितने अंग और ढंग प्रचलित हैं उन सबके गुण-दोषोंपर विचार करनेकी बड़ी जरूरत है।" साथ ही, उपासनाके ढंगके सम्बन्धमें यह भी बतलाया था कि—"उपासनाका वही सब ढंग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमे —उसके मूल उद्देश्योमें—कुछ भी बाधा न आती हो। उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता।" इसके बाद यह नतीजा निकालते हुए कि "उपासनाके जो विधि-विधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमें भी प्रचलित थे, ऐसा नही कहा जा सकता" उनमे देश-कालानुसार होनेवाले परिवर्तनोमेंसे कुछका दिग्दर्शन भी कराया गया था, और इसी दिग्दर्शनमे वर्तमान उपासना-विधिके कुछ दोषोका भी उल्लेख किया गया था—जैसे कि, नौकरोसे पूजन कराना, मंदिरोके निर्माणमें 'लोक-संग्रह' का जो गहरा तत्त्व छिपा हुआ था उसे भुलाकर अपनी-अपनी मान-कषाय, नामवरीकी इच्छा या कुछ मुभीते आदिके खयालसे बिना जरूरत भी एक स्थानपर बहुतसे मंदिरोका निर्माण करना और उसके-द्वारा सघ-शक्तिको बाँट कर उक्त तत्त्वकी उपयोगिता अथवा उसकी यथेष्ट लाभ पहुँचानेकी शक्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर देना, मन्दिरोंकी छोटी-छोटी मूर्तियोंकी समूह-वृद्धिके कारण मूर्तिपरसे परमात्माके ध्यान और चिन्तवनकी बातका प्राय: जाते रहना, मूर्तियोकी निर्माण-विधिमें शिथिलता आदिके कारण भद्दी, बेडौल तथा अशास्त्र-सम्मत मूर्तियोंका पाया जाना, मंदिरोंमें उपासनाके उद्देश्योंकी सहायक तथा साम्यभावकी

पोषक सामग्रीकी जगह व्यर्थके आडम्बरोंकी वृद्धि होनेसे उपासनाके भावका दिन-पर-दिन कम होते जाना, पूजन-साहित्यका अवनतिकी ओर बदल जाना अथवा भावादिककी दृष्टिसे घटिया हो जाना, और पूजा करने-करानेवालोका अर्थावबोधके द्वारा परमात्माके गुणोमे अनुराग बढ़ानेकी ओर दृष्टि न रखते हुए, अनाप-सनाप ऐसे अशुद्ध पाठोका उच्चारण करना जिनसे बिलकुल ही अर्थका अनर्थ हो जाता हो अथवा स्तुतिकी जगह भगवानकी निन्दा ठहरती हो, इत्यादि। और इस सबके अनन्तर, लेखको समाप्त करते हुए, लिखा था—

"विज्ञ पाठक इतनेपरसे ही समझ सकते है कि हमारी उपासनाका ढग समय-समयकी हवाके झकोरोसे कितना बदलता गया है। उसके बदलनेमे कोई हानि न थी यदि वह उपासना तत्त्वके अनुकूल बना रहता। परन्तु ऐसा नही है, वह कितने ही अंशोमे उपासनाके मूलसिद्धान्तो तथा उद्देश्योसे गिर गया है, जिसका अच्छा अनुभव '**उपासना तत्त्व**' (नामक पुस्तक) के अध्ययनसे हो सकता है। और इसलिए इस समय उसको सँभालने, उठाने तथा उद्देश्यानुकूल बनाकर उसमे फिरसे नव-जीवनका सचार करनेकी बडी जरूरत है। समाज-हितैषियोको चाहिए कि वे इस विषयमे अपना मौन भग करे, अपनी लेखनी उठाएँ, जनताको उपासना-तत्त्वका अच्छा बोध कराते हुए उसकी उपासना-विधिके गुणदोषोको बतलाएँ—सम्यक् आलोचना द्वारा उन्हें अच्छी तरहसे व्यक्त और स्पष्ट करें—और इस तरहपर उपासनाके वर्तमान ढगमे समुचित सुधारको प्रतिष्ठित करनेके लिए जी-जानसे प्रयत्न करे। ऐसा होनेपर समाजके उत्थानमें बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी।"

लेखकके इस सब कथनपरसे कोई भी सहृदय पाठक अथवा विचारक लेखककी मंशा, नीयत, अभिप्राय, मन्तव्य, तात्पर्य अथवा आशय-शुद्धिका भले प्रकार अनुभव कर सकता है और यह जान सकता है कि उसके हृदयमे समाजकी विकृत तथा दूषित उपासनाको सुधारने, ऊँचा उठाने और उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करनेके लिये कितनी अधिक उत्कंठा, चिन्ता तथा तड़फ पाई जाती है, वह मदिर-मूर्तियो अथवा चैत्य-चैत्यालयोके निर्माणका विरोधी नही—वैसे विरोधकी तो लेख भरमे कही गध भी नही आती—हाँ, उनको बेढगे तरीकेसे अथवा ऐसे तरीकोसे निर्माण करनेका विरोधी जरूर है जो उनके या उपासनाके उद्देश्यकी सिद्धिमे बाधक हो, और इस विरोधके-द्वारा ही वह उनमे सुव्य-वस्था लाना चाहता है जो किसी तरह भी अनुचित नही कहा जा सकता। जिन विचारशील पाठकोने लेखकके लिखे हुए 'उपासना-तत्त्व' को पढा है, और जिसे पढने तथा पढ़कर उपासनाके वर्तमान ढगकी कितनी ही गिरावटको महसूस करनेकी उक्त लेखमे प्रेरणा भी की गई है, वे खूब जानते हैं कि उसमे उपा-सनाके विषयको—उसके सिद्धान्त, रहस्य, उद्देश्य, जरूरत और वर्तमान हालतको—सक्षेपमे, कितनी अच्छी तरहसे दर्शाया गया और साथमे, मूर्तिपूजाका कितना हृदयग्राही मडन तथा स्पष्टी-करण किया गया है। परन्तु इतनेपर भी बडजात्याजी उक्त लेखमे मंदिर-मूर्तियोंके विरोधका स्वप्न देखते हैं, लेखकको उनका निषेधक अथवा खडनकर्ता ठहराते हैं और उससे यह पूछनेकी धृष्टता करते हैं कि "क्या आपका विचार हमारेमे ढूँढया पंथ चला देनेसे है।" यह सब कितना दु:साहस, अर्थका अनर्थ अथवा बुद्धिका विपर्यास है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं और इस

बातकी कल्पना कर सकते हैं कि बडजात्याजीकी इस मन.-परिणतिको किस नामसे उल्लेखित किया जाय। मैं तो क्षोभकी हालतमे चित्तकी अस्थिरताके सिवाय इसे और कुछ भी नहीं समझता।

यह सब चित्तकी उस अस्थिरताका ही परिणाम है जो बडजात्याजी अपने लेखके शुरूमे तो यह प्रकट करते हैं कि उनकी समझमे मेरे लेखका तात्पर्य (अभिप्राय) ही नही आया—वह उनपर स्पष्ट ही नही हुआ—और फिर जगह-जगह खुद ही उस अभिप्राय अथवा तात्पर्यका उल्लेख करते हुए उसपर इस ढगसे कटाक्ष करते हैं, मानो वही मेरा अभिप्राय है और वह उन्हे बिलकुल ही सुनिश्चित रूपसे परिज्ञात है। अन्यथा, मेरे अभि-प्रायको बिलकुल ही सुनिश्चितरूपसे समझनेकी हालतमे उनके इस लिखनेका कि वह "स्पष्ट समझमे नही आया" कुछ भी अर्थ नही हो सकता, और न वैसा न समझनेकी हालतमे उन्हे बिना उसका स्पष्टीकरण कराए या उसमे विकल्प उठाए उसपर सीधा कटाक्ष करनेका कोई अधिकार था। परन्तु क्षोभकी हालतमे इन सब बातोको सोचे-समझे कौन? चित्तकी अस्थिरता सब कुछ अनर्थ करा देती है—उसमे विचार अथवा विवेकको स्थान ही नही रहता!

बड़जात्याजी यह तो स्वीकार करते हैं कि हमारी वर्तमान उपासना सदोष हो सकती है, परन्तु मैंने उसमे जिन दोषोका उल्लेख किया है उन्हे वे दोष नही मानते, बल्कि "प्राचीन शास्त्रोक्त-क्रियाओ, पूजा आदिपर अनुचित आक्षेप" बतलाते हैं! और इसलिये यह कहना चाहिये कि बड़जात्याजी नौकरोंसे पूजन कराने, मूर्त्तियोंकी निर्माण-विधिमें शिथिलता लाकर बेढंगी तथा

अशास्त्रसम्मत मूर्तियाँ बनवाने और अनाप-शनाप अशुद्ध पाठोंका उच्चारण कराने आदि उन सभी बातोंका अभिनन्दन करते हैं—उन्हें अच्छी, जरूरी, शास्त्रोक्त और उपासनाकी उद्देश्य-सिद्धिके लिए आवश्यक समझते हैं—जो समाजमे प्रचलित हैं और जिनको मैने अपने लेखमे दोषरूपसे उल्लेखित किया है। परन्तु आपने उन्हे निर्दोष अथवा उपयोगी सिद्ध करनेका कोई यत्न नही किया—कोई ऐसा आगम-प्रमाण भी पेश नही किया, जो नौकरोमे पूजन कराने आदिका विधायक हो—और न लेखकके-द्वारा सूचित किए हुए दोषो अथवा स्थिति-प्रदर्शनको आप किसी तरहपर गलत ही साबित कर सके हैं, तब केवल आपके न माननेमात्रसे ही वे गलत नही हो जाते, न समाजकी स्थिति कुछ अन्यथा हो सकती है और न सदोप उपासना ही कही निर्दोष ठहर सकती है।

इसी तरहपर बड़जात्याजीने यह तो स्वीकार किया कि हमारे देव बुलानेसे आते, बिठलानेसे बैठते और ठहरानेसे ठहरते नही हैं, परन्तु फिर उन्हे क्यो बुलाया जाता है, क्यो उनकी आह्वानादिक किया जाता है और क्यो उनसे यह कहा जाता है कि तुम अपना यज्ञभाग लेकर अब अपने-अपने स्थानपर जाओ। इस शकाका आपने कोई समाधान नही किया—केवल इतना लिख दिया है कि 'ये आह्वानादिक पूजाके पाँच अग हैं, इनमे कुछ दोष नही है।' परन्तु इस लिख देने मात्रसे ही वे पूजाके कोई शाश्वत अंग नही बन जाते और न जैन सिद्धान्तोंकी प्रतिकूलताका आरोपित दोष ही उनपरसे दूर हो जाता है। वे किसी समय पूजनके अंग बन गये हैं, यह बात मैने स्वयं ही अपने लेखमें प्रकट की थी, बड़जात्याजीको यदि इसका विरोध इष्ट था तो उन्हें इस

विषयपर काफी प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध करना चाहिए था कि वे किसी समय जैन-उपासनाके अग नहीं बने, बल्कि उसके शाश्वत अंग हैं, अथवा कम-से-कम भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट हुए हैं और उनसे किसी भी जैन-सिद्धान्तका कोई विरोध नही आता। परन्तु आपने ऐसा नही किया। अस्तु; मैं तो यह समझता हूँ कि जब जैन-सिद्धान्तानुसार हमारे कर्म-विमुक्ति देवता आह्वानादिक करनेपर कहीं आते-जाते नहीं हैं और न पूजाका कोई भाव ग्रहण करके प्रसन्न ही होते हैं तब उनके विषयमे बुलाने, बिठलाने आदिका यह सब व्यवहार जैन-सिद्धान्तोंकी प्रकृतिके कुछ अनुकूल मालूम नही होता, बल्कि हिन्दू-धर्मके सिद्धान्तानुसार देवता बुलानेसे आते, बिठलानेसे बैठते और पूजनके बाद रुखसत करनेपर खुशी-खुशी अपना यज्ञभाग लेकर चले जाते हैं। इसलिये ये बाते हिन्दू-धर्मसे, उसके प्राबल्य-कालमे, उधार ली हुई जान पडती हैं। और इसीसे इस विषयमे हिन्दुओंके अनुकरणकी बात कही गई थी। बडजात्याजीको यह चिन्ता करनेकी जरूरत नही कि बिना सिद्धान्तोंकी अनुकूलता-प्रतिकूलतापर दृष्टि रक्खे वैसे ही कोई बात कह दी जायगी। हिन्दुओंने भी विभिन्नरूपसे अहिसा आदिकी कितनी ही बाते जैनियोमे, उनके प्राबल्य-कालमे, उधार ली हैं—ससार-में यह लेन-देनका व्यवहार प्रायः चला ही करता है। रही भक्त-द्वारा देवताको हृदयमे स्थापित करनेकी बात, वह ध्यानका एक जुदा ही विषय तथा मार्ग है और उसका उक्त पंचाग पूजा अथवा अक्षतादिकमे देवताके आवाहन, स्थापन आदिकसे कोई सम्बन्ध-विशेष नही है। वहाँ ध्यानमे देवताके गुणोंकी मूर्ति स्थापित की जाती है, उसका चित्र खीचा जाता है, अथवा देवताको मानस

प्रत्यक्ष-द्वारा साक्षात्-सा करके उसके गुणोंका चिन्तवन किया जाता है, और इसीसे उसके साथमें विसर्जनकी कोई क्रिया नहीं होती। ध्यानाहूत देवता अविसर्जित ही रहते हैं—उनसे कोई नही कहता कि आप अपना यज्ञभाग लेकर अब तशरीफ़ ले जाईये—वे भक्तके चले जाने अथवा यों कहिये कि अनुपयुक्त हो जानेपर स्वयं ही जहां-के-तहां हृदयमें विलीन या अन्तर्धान हो जाते हैं। अतः इस विषयकी भी चिन्ताको छोड़कर बड़जात्या-जीको मेरे कथनके विपक्षमे कोई ऐसा प्रमाण पेश करना चाहिए था जिससे उनकी पचांग पूजाको शाश्वत पदकी प्राप्ति होती। परन्तु अफसोस है कि उन्होने ऐसा कुछ भी नही किया! उनका यह लिख देना कि "यो तो हमारे देव किसीका कोई सङ्कट मेटते नही न किसीको सुख-दुःख ही देते हैं, पर हम सब उनसे विनती आदिमे इस तरहकी प्रार्थना करते रहते हैं" प्रकृत विषयका कोई हेतु नही हो सकता, बल्कि उलटा इस बातको सूचित करता है कि वे अपनी उस उपासनाका अथवा स्तुति-प्रार्थनादि क्रियाओका रहस्य भी नही जानते—वैसे ही एक दूसरेकी देखा-देखी किया करते हैं—और इसलिये उससे यथेष्ट लाभ भी नही उठा सकते। हॉ, उन्होने पूजाके इन अंगो तथा द्रव्यादिको गृहस्थके लिये अव-लम्बन बतलाते हुए, देव-शास्त्र-गुरु-पूजासे '**द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य**' नामका एक पद्य जरूर उद्धृत किया है। परन्तु इससे मेरे उस कथनका कोई विरोध नही होता जो उपासनाके ढंगमें क्रमिक परिवर्तनसे सम्बन्ध रखता है और जिसके समर्थनमें अमितगति-आचार्यका—

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥

यह पद्य भी दिया गया था; और न उसमें आवाहन, विसर्जना-दिकको गृहस्थके लिए कोई आलम्बन ही बतलाया है, बल्कि इनका नामोल्लेख तक नही, केवल **'आलम्बनानि विविधानि'** ऐसे सामान्य पदोका प्रयोग किया गया है। जिनसे उन आवाहनादिक पाँचो अंगोका ग्रहण कोई लाजिमी नही आता। अच्छे आलम्बन तो मूर्ति और विविध-स्तुति-स्तोत्रादिक हैं, उनका ग्रहण उक्त पदोसे क्यो न समझ लिया जाय ? और इसी तरहपर **'द्रव्यस्य शुद्धि'** पदोका वाच्य उस शरीर तथा वचनकी शुद्धिको क्यो न मान लिया जाय, जिसका अमितगति-आचार्य-द्वारा उल्लेखित प्राचीन द्रव्यपूजामे खास सम्बन्ध है ? इसका बड़जात्याजीने कोई स्पष्टीकरण नही किया। तब उन्होने उक्त श्लोकको पेश करके क्या नतीजा निकाला और क्या सिद्ध किया, यह कुछ समझमे नही आता। इसके सिवाय, मैने अपने लेखमे प्रचलित द्रव्यपूजाका कोई खास विरोध भी नही किया था जिसके विपक्षमे ही किसी तरहपर उक्त श्लोकको पेश किया जा सकता, बल्कि अमितगति-आचार्यके उक्त पद्यके बाद जो एक वाक्य दिया है, उसमे "पूजाने जोर पकडा" इन शब्दोका व्यवहार करके यह साफ ध्वनित किया है कि नैवेद्य-दीप-धूपवाली पूजाके जोर पकड़नेसे पहले भी उसका किसी-न-किसी रूपमे कुछ अस्तित्व जरूर था, तभी उसके लिये "जोर पकडा" ऐसे शब्दोका प्रयोग किया गया है। और यदि विरोध किया भी होता तब भी उक्त श्लोक उसके विपक्षमें उस वक्ततक कार्यकारी नहीं हो सकता था जबतक कि यह सिद्ध न कर दिया जाता कि जिस पूजा-पुस्तकका यह श्लोक है वह अमितगति-आचार्य (विक्रमकी ११ वी शताब्दी) से बहुत पहलेकी अथवा अंग-पूर्वादिके पाठी पुरातन

आचार्योंके समयकी बनी हुई है। परन्तु ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं किया और न वह पूजा उतनी अधिक प्राचीन है। अतः उक्त श्लोकका उद्धृत करना किसी तरह भी उपयुक्त अथवा बडजात्याजीके साध्यकी सिद्धि करनेवाला मालूम नही होता।

एक बात यहाँपर और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि मैंने अपने लेखमे कही भी यह नही लिखा था कि पूजनकी पुस्तके नाना छदो अथवा कवितामे न होना चाहिए, और न यही प्रतिपादन किया था कि गाने-बजानेके साथमे पूजा-भक्ति नही बन सकती या पूजा-भक्तिके साथमे गाने-बजानेका सर्वथा निषेध है, बल्कि वर्तमान लोक-रुचि और लोक-प्रवृत्तिका उल्लेख करते हुए इतना लिखा था कि—

"आजकल वे ही पूजा-पुस्तके ज्यादा पसद की जाती हैं जो अपनी छंदःसृष्टिकी दृष्टिसे गाने-बजानेमे अधिक उपयोगी होती हैं, चाहे, उनका साहित्य और उसमे उपासनाका भाव कितना ही घटिया क्यो न हो। लोगोका ध्यान प्रायः स्वर, ताल और लयकी ओर ही विशेष रहता है—अर्थावबोधके-द्वारा परमात्माके गुणोमे अनुराग बढ़ानेकी ओर नही। इसीसे कितनी ही बार पूजकोको—पूजा करने-करानेवालोको—अनाप-सनाप ऐसे अशुद्ध पाठोका उच्चारण करते हुए देखा गया है जिनसे अर्थका बिलकुल ही अनर्थ हो जाता है अथवा स्तुतिके स्थानमें भगवान्की निन्दा ठहरती है। परन्तु उन स्वर, तालमे मस्त बुद्धुओको उसका कुछ भी भान नही होता। उपासनाके ढगकी यह कितनी विचित्र स्थिति है!"

और इसपरसे सहृदय पाठक स्वय समझ सकते हैं कि इसमें दोनो बातोंका कोई निषेध नही है और न हो सकता है, क्योकि जिन छंदोंमे घटिया साहित्य लिखा जाता है उन्हीमें अच्छा

भावपूर्ण बढ़िया साहित्य भी लिखा जा सकता है और जिन पूजा-पाठोको बिना समझे-बूझे और बिना परमात्मामे अनुराग बढ़ाए अशुद्धरूपसे महज़ जाब्तापूरीके तौरपर अनाप-सनाप उच्चारण किया जाता है उन्हीको उनका अर्थ समझते और परमात्माके गुणोमें अनुराग बढाते हुए शुद्धरूपसे गाजे-बाजेके साथ भी उच्चारण किया जा सकता है—गाना, बजाना उसमे कोई खास तौरपर कोई बाधक नही हो सकता, बशर्ते कि पूजकका ध्यान परमात्माके गुणोमे अनुराग बढानेकी ओर विशेष हो—और इसलिये लेखकका उक्त लिखना पूजा-साहित्यको ऊँचा उठाने तथा पूजकोकी वर्तमान प्रवृत्तिमें सत्सुधारको प्रतिष्ठित कराकर उन्हे सच्चा पूजक बनानेकी सत्कामनाको लिये हुए है। परन्तु बडजात्याजीकी समझ विलक्षण है। आप उक्त लिखनेको "पूजाके समय गायन वादित्र आदिपर तथा पूजनके छंद, कविता आदि-पर आक्षेप" समझते हैं !! और फिर इस स्वत. कल्पित आक्षेप अथवा निषेधका इस तरहपर निराकरण करते हैं कि छंद आदिकी बात तो रुचिके अनुसार होती है उसमे क्या दोष आता है ? संस्कृतमें भी तो भाँति-भाँतिके श्लोक हैं, और इसी तरह गीत-वादित्र होनेमे भी कोई दोष नही आता।' साथ ही, गीत-वादित्रके समर्थनमे 'त्रिलोकसार'की एक गाथा (**दिव्वफलपुप्फहत्था**) और 'सिद्धान्तसार'के कुछ श्लोक ('**अभिषेकमहं**' आदि) भी पेश करते हैं, जिनमे देवताओं-द्वारा भगवान्के अभिषेक-पूजनका कुछ वर्णन है। यह सब देखकर मुझे बड़जात्याजीकी बुद्धिपर बड़ा ही आश्चर्य होता है। मैं पूछता हूँ इन सब श्लोकोमे यह कहाँ लिखा है कि वह गाना-बजाना बिना अर्थावबोधके और बिना परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाए होता था अथवा देवतालोग अनाप-सनाप

अशुद्ध पाठोंका उच्चारण करते थे या उनके पूजा-पाठोंका भाव घटिया होता था ? यदि ऐसा कुछ नहीं लिखा तो फिर इन श्लोकोके पेश करनेसे नतीजा ? मेरा आक्षेप कोई गाने-बजानेपर नही था, बल्कि अर्थावबोधके-द्वारा परमात्माके गुणोंमे अनुराग न बढ़ानेपर अथवा अर्थका अनर्थ करनेवाले या स्तुतिको निन्दा बना देनेवाले अशुद्ध पाठोके उच्चारणपर था, जिसका उक्त श्लोकोसे कोई निराकरण नही होता। खेद है जिन लोगोको इतनी भी खबर नही पडती कि आक्षेप किधर है और हम उसका विरोध किधरसे कर रहे हैं वे भी ऐसे लेखोपर आपत्ति करने बैठ जाते हैं जो वहुत कुछ जाँच-तोलके बाद लिखे होते हैं !

रही 'बुद्धुओ' शब्दके प्रयोगकी बात, बडजात्याजीको शिकायत है कि 'स्वर-तालमे मस्त होनेवालोके लिए' इस शब्दका व्यवहार ठीक नहीं हुआ—वह असभ्यताका द्योतक है—परन्तु मैं कहता हूं कि यह शब्द सभी स्वर-तालमे मस्त होनेवालेके लिए व्यवहृत नही हुआ, बल्कि उन स्वर-तालमे मस्त होनेवालोके लिए, व्यवहृत किया गया है 'जो परमात्माके गुणोमें अनुरक्त न होकर विना समझे-बूझे अनाप-सनाप ऐसे अशुद्ध पाठोका उच्चारण करते हुए देखे गये हैं जिनसे अर्थका बिलकुल ही अनर्थ हो जाता है अथवा स्तुतिके स्थानमे भगवान्‌की निन्दा ठहरती है'[1] और इसीसे 'स्वर-तालमें मस्त' से पहले 'उन' शब्दका प्रयोग किया गया था जिसे बड़जात्याजीने अपने लेखमे न

१. एक वार एक पूजक महाशय भगवान्‌की स्तुति पढ़ते हुए उन्हें कह रहे थे—'सब महिमामुक्त (युक्त) विकल्पयुक्त (मुक्त)'। देखिए कितनी बढ़िया अथवा सुन्दर स्तुति है !! इस तरहके सैकड़ो अनुभूत उदाहरण पेश किये जा सकते हैं।

मालूम क्यों छोड़ दिया ! ऐसे लोगोंके लिये खोज करनेपर भी मुझे इससे अच्छा पूर्ण अर्थका द्योतक कोई दूसरा एक शब्द नही मिला । इस शब्दमे अज्ञानभावके साथ भोलापन मिला हुआ है और यही मुझे उनके सम्बन्धमे व्यक्त करना था । इसीसे मैंने मूढ़, जड या विवेकशून्य आदि दूसरे कठोर शब्दोंका प्रयोग न करके उनकी स्थितिके अनुकूल इस कोमल शब्दका व्यवहार किया है । यदि सन्मार्गपर लानेके उद्देश्यमे ऐसे शब्दोका व्यवहार-भी असभ्यतामे परिगणित होने लगे तब तो शास्त्रकारोने जो इन्द्रिय-विषय–लोलुपी आदि मनुष्योको 'गृद्ध' जैसे नामोंसे अभिहित या उल्लेखित किया है, उनकी असभ्यता और असयत भाषाका तो फिर कुछ ठिकाना ही न रहे, इसे बडजात्याजी स्वय सोच सकते हैं । मैं तो यह समझता हूँ कि जिस प्रकारसे एक वृद्ध तथा अच्छे ज्ञानी पुरुषोंको भी उस विषयमे 'बालक' कहा जाता है जिसमें वह अनभ्यस्त होता है, उसी प्रकारसे उन पूजकोंको, दूसरे विषयोंमे उनके महाप्रवीण तथा चतुर होनेपर भी, अपनी उस दशामे 'बुद्धु' कहना ज्यादा उपयुक्त मालूम होता है । यह नाम उनके उस स्वरूपका अच्छा द्योतक है ।

लेखके आपत्तिजनक अंशपर विचार :

मैंने उस लेखमें[1] यह प्रकट करते हुए कि "उपासनाका वही सब ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमे—उसके मूल उद्देश्योमें—कुछ भी बाधा न आती हो" और तदनन्तर ही, यह बतलाते हुए कि "उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता" लिखा था :—

---

१. देखो १६ अगस्त, सन् १९२६ का 'जैन जगत', अंक नं० १ ।

"भगवान् जिनेन्द्रदेवने भी, अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा, उसका (उपासनाके ढंगका) कोई एक रूप निर्दिष्ट नही किया। बल्कि उन्होने तो यह भी नही कहा कि तुम मेरी उपासना करना, मेरी मूर्ति बनाना और मेरे लिये मन्दिर खड़ा करना। यह सब मन्दिर-मूर्तिका निर्माण और उपासनाके लिये तरह-तरहके विधि-विधानोका अनुष्ठान स्वय भक्तजनो—श्रावकोके-द्वारा अपनी-अपनी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित किया गया है और जो समय पाकर रूढ़ होता गया, जैसा कि श्रीपात्रकेसरी स्वामीके निम्न वाक्यसे ध्वनित है—

"विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिका:
क्रिया बहुविध-सुभृन्मरणपीडनाहेतव: ।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता:
किन्तु तास्त्वयि प्रसृत-भक्तिभि: स्वयमनुष्ठिता: श्रावकै.' ॥३७॥

साथ ही, 'पात्रकेसरीस्तोत्र'के इस पद्यका भावानुवाद भी एक फुटनोटके रूपमे यों दे दिया था—

"विमोक्ष-सुखके लिये चैत्य-चैत्यालयादिका निर्माण, दानका देना, पूजनका करना इत्यादि रूपसे अथवा इन्हें लक्ष्य करके जितनी क्रियाएँ की जाती हैं और जो अनेक प्रकारसे त्रस, स्थावर जीवो (प्राणियो) के मरण तथा पीडनकी कारणीभूत हैं उन सब क्रियाओका, हे केवली भगवान्! आपने उपदेश नहीं दिया, किन्तु आपके भक्तजन श्रावकोने स्वयं ही (आपकी भक्ति आदिके वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है—उन्हे अपने व्यवहारके लिये कल्पित किया है।"

मेरे इस लिखनेपर ही मोहनलालजी बड़जात्या बिगड़ गये

हैं—भगवान्‌ने नही कहा किन्तु भक्तजनोंने स्वयं ही उन क्रियाओंको कल्पित किया है, यह बात उन्हे खासतौरपर असह्य हो पड़ी है और उनका चित्त स्थिर रहा मालूम नही होता। जान पड़ता है उन्होने इस लेखको विकृत-दृष्टिसे अवलोकन किया है, इसीमे भगवान्‌की शिकायत, भगवान्‌को दोष लगानेका अभिप्राय, मदिर-मूर्तियो और दान-पूजादिक क्रियाओका निषेध तथा खण्डन और लेखककी बदनीयती आदिकी न मालूम कितनी विनासिर-पैरकी बाते उन्हे इसमे नजर आने लगी हैं, और साथ ही, जिनेन्द्रके उपदेश-आदेशमे भेद आदिकी न जाने कितनी व्यर्थ कल्पनाएँ उत्पन्न होकर उनके सामने नाचने लगी हैं। अन्यथा—सम्यक्‌दृष्टि अथवा अविकृत-ज्ञाननेत्रसे अवलोकन करने-पर—ये सब बातें उन्हे लेख भरमे कही भी दिखलाई न पडती और न इतना भ्रान्तचित्त ही होना पडता जिससे आप एकदम सारे लेखका ही-सिरसे पैरतक-विना सोचे-समझे निषेध करने बैठ जाते और वर्तमान उपासना-विधिकी किसी भी त्रुटिको त्रुटि अथवा दोषको दोष मानकर न देते। और तो क्या, आपकी यह भ्रान्त-चित्तता यहा तक बढ़ी है कि उसने लेखकके-द्वारा प्रयुक्त हुए 'कल्पित' शब्दके अर्थमे भी आपको भ्रान्ति उपस्थित कर दी है और आप गालबन यह समझने लगे हैं कि वह झूठे अथवा बनावटी अर्थमे प्रयुक्त हुआ है; इसीसे 'मनगढ़न्त' शब्दके-द्वारा आपने उसे उल्लेखित (नामाङ्कित) किया है और आश्चर्यके साथ यह वाक्य भी कहा है कि "मुख्तारजीने '**अनुष्ठितः**' का अर्थ 'कल्पित किया' लिखा सो न जाने अनुष्ठानका अर्थ कल्पना कहाँ-से कर लिया।" शास्त्री बनारसीदासजी भी इस शब्द-प्रयोगपर कुछ चौके हैं और उन्होने कल्पितको 'स्वेच्छा कल्पित' लिखकर

अपने हृदयका भी कुछ ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। अतः पहले इस अर्थ-विषयक भ्रान्तिका ही निरसन किया जाता है—

जो कल्प, कल्पन अथवा कल्पना किया गया हो उसे 'कल्पित' कहते हैं, क्लृप्त भी उसीका नामान्तर है; और वे सब शब्द क्लृप् धातुमे भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगकर बने हैं। शब्दकल्पद्रुम कोशमे **'कल्पः'** का अर्थ सबसे पहले 'विधि.' दिया है और **'कल्प्यते विधीयते असौ कल्पः'** ऐसी उसकी निरुक्ति भी दी है, इससे कल्पका प्रधान अर्थ 'विधि' जान पडता है। अमरकोशमे भी **'कल्पे विधिक्रमौ'** पदके-द्वारा कल्पका विधि अर्थ सूचित किया है और हेमचन्द्र तथा श्रीधर नामके जैनाचार्योंने भी अपने-अपने कोशोमे उक्तविधि अर्थका प्रतिपादन किया है। यथा—

कल्पो विकल्पे कल्पद्रौ संवर्ते ब्रह्मवासरे।
शास्त्रे न्याये **विधौ**.........इति हेमचन्द्र।
कल्पो ब्रह्मदिने न्याये प्रलये विधिशातयोः।

—इति श्रीधरः।

इसके सिवाय, शब्दकल्पद्रुममे कल्पनाका अर्थ 'रचना', 'सज्जना' तथा 'अनुमिति.', कल्पनका 'क्लृप्ति', कल्पितका 'रचित' तथा 'सज्जित' और क्लृप्तका अर्थ 'नियत' तथा 'कृत-कल्पन' भी दिया है! वामन शिवराम आप्टेके कोशमे भी इन अर्थोका उल्लेख मिलता है, उन्होने कल्पित और क्लृप्त शब्दोंका अर्थ साफतौरपर Arranged, made, faphioned, fromed, Prepared, done, gotready, equipped, Caused, Produced, fixed, settled, thought of, invented, framed, ascertained और detesrmined दिया है। और इन सब अर्थोपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि 'कल्पित'

शब्द विधिकृत, विधानकृत, कृत, घटित, रचित, निर्मित, सज्जित, प्रस्तुत, योजित, विचारित, आविष्कृत, उत्पादित, व्यवस्थित, स्थापित नियत, स्थिरीकृत, निश्चित, निर्णीत अथवा निर्धारित जैसे आशयके लिये प्रयुक्त होता है।[1] लेखकने भी यथायोग्य ऐसे ही आशयको लेकर उसका प्रयोग किया है—झूठे, बनावटी अथवा मनगढन्त अर्थका उस शब्द-प्रयोगमे कुछ भी सम्बन्ध नही है; और यह बात ऊपर उद्धृत किये हुए लेखाशपरसे सुदृष्टियोको सहज ही मे मालूम पड सकती है—वहाँ 'कल्पित किया' का स्पष्ट आशय स्थिर किया, निश्चित किया, निर्धारित किया, नियोजित किया, स्थापित किया, अथवा विधिकृत किया ऐसा है। बडजात्याजीको इतनी भी खबर नही पड़ी कि जब किसी कल्पनाको झूठी अथवा कल्पितार्थको दूषित प्रतिपादन करना होता है तब उसके लिये आम-तौरपर मिथ्या कल्पना, असत् कल्पना अथवा स्वकपोलकल्पित जैसे शब्दोका प्रयोग किया जाता है—खाली कल्पना अथवा कल्पित कह देनेसे ही काम नही चलता, क्योकि कल्पना सत् असत् दोनो प्रकारकी होती है और तदनुसार कल्पितार्थ भी दूषित और अदूषित उभय प्रकारका ठहरता है—उक्त लेखमे कही भी वैसे शब्दोका कोई प्रयोग नही है और न 'कल्पित' शब्दसे पहले कोई विशेषण पद ही लगा हुआ है, तब उसके प्रतिपाद्य विषयको झूठा, बनावटी अथवा 'मनगढ़न्त' कैसे समझ लिया गया ? क्या श्रावक लोग कोई अच्छी कल्पना नही कर सकते, कोई अच्छी ईजाद नही कर सकते या अपनी भक्तिके लिये कोई अच्छा प्रशस्त मार्ग नही निकाल सकते ? क्या इस विषयमे वे जड़-मशीनोकी तरह

---

१ देखो आप्टे साहबके दोनों कोश (**१ संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी और २ इङ्गलिश-संस्कृत डिक्शनरी**)।

बिलकुल ही परतन्त्र हैं ? और क्या उनकी भक्ति महज टकसाली—एक ही साँचेमे ढली हुई—या जाब्तापूरी ही होती है ? यदि ऐसा है तब तो उन्हें भक्त और उनकी उस भक्तिको भक्ति कहना, भक्त तथा भक्ति शब्दोंका दुरुपयोग करना है; और यदि वैसा नही है, बल्कि भक्तजन अपनी भक्तिको पुष्ट करने, चरितार्थ बनाने और विकसित तथा पल्लवित करनेके लिये अनेक प्रकारकी नई-नई योजनाएँ तैयार कर सकते हैं और इसलिये उपासनाके ढंगका कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक एक निर्दिष्ट रूप नहीं हो सकता, तो फिर मेरे 'कल्पित' शब्दपर इतना अधिक चौंकनेकी क्या जरूरत थी ? क्या इतनेपर भी बड़जात्याजी कल्पितका अर्थ केवल "मनगढ़न्त" ही समझते हैं ? यदि ऐसा है तो मैं नमूनेके तौरपर कुछ पद्य आपके सामने रखता हूँ और फिर पूछता हूँ कि इनमें प्रयुक्त हुए 'कल्पित' शब्दका अर्थ क्या 'मनगढ़न्त' ही है ?

> सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं,
> तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ।
> वशं च भुवनत्रयं निरूपमा च निःसंगता,
> न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते ॥ ६ ॥
>
> —पात्रकेसरीस्तोत्र ।

> मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः ।
> भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यथा ॥
>
> —यशस्तिलक

> या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिनी ।
> स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥ २ ॥
>
> —आदिपुराण ।

यदि बड़जात्याजीकी समझके अनुसार 'कल्पित' का अर्थ मनगढ़न्त ही है तो उन्हें यह कहना होगा कि पात्रकेसरीस्तोत्रवाले

पद्यमे सुरेन्द्र-द्वारा जिस बहुमूल्य बृहत् सिंहासन तथा छत्र-चमर विभूतिके रचे जानेका उल्लेख है उसे वे वास्तविक न समझकर 'मनगढ़न्त' समझते हैं, यशस्तिलकवाले पद्यमे मुनियोके लिये समयपर भक्तिपूर्वक योजना किये हुए जिस शाकपिण्डको अगण्य-पुण्यका कारण बतलाया है उसे भी आप 'मनगढ़न्त' मानते हैं और इसी तरहपर आदिपुराणवाले पद्यमे दान देते समय यथाशक्ति अनुष्ठान अथवा विधान की गई मुनीन्द्रोकी पूजाको जो 'नित्यमह' (नित्य पूजन) कहा गया है उसको भी आप 'मनगढ़न्त' बतलाते हैं। यदि आप ऐसा कहनेके लिये तैयार नही हैं और न आपको इन पद्योमे प्रयुक्त हुए कल्पित शब्दका वैसा अर्थ ही इष्ट है बल्कि आप 'परिकल्पित' का अर्थ 'रचित' समझते हैं, जैसा कि उस स्तोत्रकी टीकामे भी लिखा है और 'प्रकल्पित' से 'प्रयोजित' का तथा 'उपकल्पित' से 'अनुष्ठित' का आशय लेते हैं तो फिर मेरे-द्वारा प्रयुक्त हुए 'कल्पित' शब्दपर आपकी आपत्ति कैसी ? शायद इसपर बडजात्याजी यह कहने लगे कि इन पद्योमे कल्पित शब्दका जो प्रयोग हुआ है वह क्रमश. परि, प्र और उप नामके उपसर्गोको साथमे लेकर हुआ है, इसीसे हम यहाँपर उसका वैसा (मनगढन्त) अर्थ माननेके लिये बाध्य नही हैं। परन्तु यह कहना, यद्यपि, विद्वानोकी दृष्टिमे कुछ भी मूल्य नही रखता, क्योकि ये उपसर्ग प्रकृत शब्दके मूल अर्थको बदलने अथवा अन्यथा करनेवाले नही हैं, फिर भी मैं आपके तथा साधारण जनताके संतोषार्थ एक पद्य और भी पेश किये देता हूँ जिसमे विना किसी उपसर्गको साथमे लिये शुद्ध 'कल्पित' शब्दका प्रयोग है और वह पद्य इस प्रकार है :—

ता· शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ॥

यह पद्य श्रीसोमदेवसूरि-विरचित यशस्तिलक ग्रन्थके आठवें आश्वासका है और इसमें कुछ देवताओकी बाबत यह बतलाया गया है कि वे शासनकी रक्षाके लिये परमागममें 'कल्पित' किये गये हैं। यदि कल्पितका अर्थ 'मनगढ़न्त' ही है तो बडजात्याजीको इस श्लोकके आधारपर यह भी मानना पड़ेगा कि जैनागममें कुछ बातें यो ही झूठ-मूठ 'मनगढन्त' भी भरी हुई अथवा लिखी हुई हैं, और इस तरहपर उनकी आपत्ति उन्हीके गलेका हार बन जायगी और उन्हें लेने-के-देने पड़ जायेगे।

रही 'अनुष्ठित' का अर्थ 'कल्पित' लिखनेकी बात, वह बिलकुल ठीक है—प्रकरणको देखते हुए, कल्पितके उपर्युक्त अर्थोपरमे उसमे जरा भी विरोध नही आता—उसपर आश्चर्य प्रकट करना अपनी निरी अनभिज्ञता व्यक्त करना है। इस विषयमे मैं सिर्फ इतना ही बतला देना काफी समझता हूँ कि बडजात्याजीने अपने लेखमे **'त्वया त्वदुपदेशकारि'** नामका जो एक पद्य पात्रकेसरीस्तोत्रसे उद्धृत किया है उसमे 'विधि' शब्दका भी प्रयोग हुआ है और विधिका अर्थ टीकाकारने '**विधि-रनुष्ठानम्**' इस वाक्यके-द्वारा 'अनुष्ठान' दिया है। इससे अनुष्ठितका अर्थ 'विधिकृत' हुआ और विधिकृत तथा कल्पित दोनो एकार्थवाचक शब्द हैं, यह बात ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। अत. 'अनुष्ठित' का अर्थ 'कल्पित' करना आपत्तिके योग्य नही।

इसके सिवाय, एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह है कि बड़जात्याजीने '**अनुष्ठितः**' पदका अर्थ 'निर्माण करली' दिया है और यह अर्थ 'निर्मित' शब्दके अर्थसे भिन्न नही है—श्रावकोने निर्माण करली अथवा श्रावकोके-द्वारा निर्मित हुई,

एक ही बात है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि बड़जात्याजीने 'अनुष्ठित' का अर्थ 'निर्मित' किया है और निर्मित तथा रचित ये कल्पितके पर्यायार्थ हैं, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है।[१] इससे भी अनुष्ठितके साथ कल्पितकी प्रायः अर्थ-साम्यता पाई जाती है, फिर नही मालूम बड़जात्याजी किस आधारपर आपत्ति करने बैठे हैं! क्या कल्पित शब्दके नामसे ही आपको घबराहट पैदा होती है या कल्पितका झूठा, बनावटी अथवा 'मनगढ़न्त' अर्थ समझ लेनेका ही यह सारा खोट है? महाशयजी! कल्पित बातो अथवा कल्पनाओसे इतना न घबराइये, कल्पित बाते या कल्पनाएँ सब झूठी अथवा बुरी नही होती। किसी समय कल्पित की गई मुद्रणकला आदिकी कल्पनाएँ (ईजादे) लोकके लिए कितनी उपकारक बनी हुई हैं। कल्पनाओंके आधार-पर तो सम्पूर्ण जगतका कार्य-व्यवहार चल रहा है—शब्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र, छद.शास्त्र, अलकारशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वैद्यकशास्त्र और रसायनशास्त्र सब कल्पनाओसे परिपूर्ण हैं—यह पुत्र है, यह भार्या, यह भाई और यह बहन और यह वह इनका कर्त्तव्य कर्म है, इत्यादि व्यवहार सब कल्पनाके ही आश्रित हैं। व्यवहार सब कल्पित होता ही है।[२] मूर्तिको देवता कहना अथवा मूर्ति आदिमे किसी देवता आदिकी स्थापना करना भी कल्पना ही है और रगे-चावलोको

---

१. शास्त्रीजीने 'अनुष्ठिताः' का अर्थ 'की है' दिया है और यह अर्थ 'कृत' शब्दके अर्थसे भिन्न नहीं है जो कि कल्पितका ही पर्याय नाम अथवा अर्थ विशेष है।

२. इसीसे 'उन्हें अपने व्यवहारके लिये कल्पित किया' यह वाक्य-प्रयोग बहुत ही समुचित जान पड़ता है।

पुष्प कहकर तथा गोलेके रंगे टुकड़ोंको दीपक बतलाकर भगवान् या देवताको चढ़ाना भी कल्पनासे बाहरकी चीज नहीं है। यह दूसरी बात है कि कौन कल्पना किसकी की हुई है, कैसी परिस्थितिमे अथवा कैसी परिस्थितिके लिये की गई है, भ्रान्त है या अभ्रान्त, नूतन है या पुरातन, अच्छी है या बुरी, हितकर है या अहितकर, वर्तमानमे उपयोगी है या अनुपयोगी अथवा अपने लिये हेय है या उपादेय और इन सब बातोपर यथावश्यकता विचार करना ही बुद्धिमानोका काम है। महज 'कल्पित' अथवा 'श्रावको द्वारा कल्पित' कह देनेपर ही क्षोभ ले आना और भ्रान्तचित्त-सा बन जाना उचित नही है। हर एक विषयपर बड़ी शान्ति तथा धैर्यके साथ, उसके हर पहलूपर नजर डालते हुए, विचार करना चाहिए—क्षोभकी हालतमे कभी उसके यथार्थ स्वरूपका दर्शन नही हो सकता। यह उस क्षोभकी हालत तथा भ्रान्त-चित्तताका ही परिणाम है जो बड़जात्याजीको इतना भी सूझ नही पड़ा कि लेखकके-द्वारा प्रस्तुत किये हुए 'विमोक्ष-सुख' वाले पद्यके उक्त अनुवादमे कहाँ मंदिर-मूर्तियोके बनवाने, दान देने और पूजा करनेका निषेध किया गया है अथवा यह कहा गया है कि उन क्रियाओका करना ठीक नही है, और इसलिये वे यो ही बिना किसी आधारके, उक्त श्लोकको अपने अर्थके, साथ पेश करके, उसके सम्बन्धमे निम्न प्रकारसे पूछने, बतलाने अथवा आक्षेप करने बैठ गये हैं :—

(१) "पाठक देखेगे कि इस श्लोकमें इन क्रियाओ की पुष्टि की गई है या खण्डन ! मुख्तारजी अपने निजी तात्पर्यकी इससे चाहे पुष्टि समझ ले, पर सो नही है।"

(२) "अब कहिये महाशय ! आपको इस श्लोकमें इन सब

क्रियाओं का निषेध कहांपर मिलता है। यदि ये क्रियाएँ ठीक नही हैं तो फिर उनके करनेवाले भक्तोंके लिये अतिशय भक्ति-वाले विशेषण न आता।"

इन अप्रासंगिक आक्षेप-वाक्योको लेखकके उक्त अनुवादके साथ पढ़नेपर सहृदय पाठक सहजमे ही, यह जानते हुए कि इनमे कुछ भी तथ्य नही है, बडजात्याजीके क्षोभ तथा भ्रान्तिकी गुरुता-का अच्छा अनुभव कर सकते हैं और साथ यह भी मालूम कर सकते हैं कि उनका युक्तिवाद बढा-चढ़ा है—वे अतिशय भक्तिको किसी क्रियाके ठीक अथवा समीचीन होनेकी गारन्टी समझते हैं अथवा यो कहिये कि समीचीनताके साथ अतिशय भक्तिका अविना-भावी सम्बन्ध मानते हैं। तब तो जो लोग अतिशय भक्तिके वश होकर कुदेवोकी पूजा करते हैं, उनके लिये बड़े-बड़े मन्दिर खड़े करते हैं और उन्हे पशुओकी वलि तक चढाते हैं उनकी वे मिथ्यात्व क्रियाएं भी ठीक अथवा सम्यक् ठहरेगी ? और उनपर आक्षेप करने या उनके विपक्षमे कुछ भी कहनेका जैनियोको अथवा बडजात्याजीको कोई अधिकार नही रहेगा ! जान पड़ता है भ्रान्त-दशाके कारण बडजात्याजीको अपने इस हेतुवादके ऐसे नतीजे-का कुछ भी भान नही रहा और उन्होने बिना जॉच किये ही उसका प्रयोग कर दिया।

समझमे नही आता कि जब मेरे उक्त अनुवादका कोई तात्विक भेद नही है—वे खुद ही अपने अनुवादमें लिखते हैं कि "हे भगवन् चैत्यालयका बनाना, दान देना, पूजन करना आदि कार्य प्राणियोकी हिंसा और पीडाके कारण हैं, इनके करनेका आदेश आपने नही दिया"—'किन्तु आपमे अतिशय भक्ति रखने-वाले श्रावकोने मोक्ष-सुखके लिये वे क्रियाएँ अपने आप निर्माण

करती है।' और साथ ही, इसका यों स्पष्टीकरण भी करते हैं कि 'हे भगवान्! आप यह आदेश नही देते कि तुम मंदिर बनवाओ या दान देओ या पूजन करो ये सब क्रियाएँ मोक्ष-सुखके लिये भक्त लोग—आपमें अतिशय भक्ति जिनकी ऐसे वे स्वयं-करते हैं'[1] तब मेरे शब्दोमे ही कौन-सा भुम मिला हुआ था, जिस-पर बड़जात्याजी इतना बिगड़े अथवा आपेसे बाहर हुए हैं और उन्होने उक्त श्लोकको अपने अर्थके साथ देनेका भी व्यर्थ कष्ट उठाया है! यह सब भ्रान्त चित्तकी लीला नहीं तो और क्या है। अस्तु।

बडजात्याजीका एक आक्षेप और भी है और वह यह कि 'मैं बैठा तो आजकलकी उपासना अथवा पूजा-भक्तिके ढंगपर कुछ लिखने और छेड़ने लगा चैत्यालयोके निर्माण तथा दान[2],

---

१ शास्त्रीजीके अनुवादकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है। आप लिखते हैं—"आप केवलज्ञानीने वीतराग होनेके कारण मोक्षरूप सुख-के लिये श्रीजिनमंदिरजीका पूजन, दान आदि क्रियाओका उपदेश नही दिया, किन्तु आपमे भक्तिके धारक श्रावकोने वे क्रियायें स्वयं की हैं। इसका भाव यह है कि भगवान् वीतराग हैं उन्होने किसीको यह नही कहा कि तुम हमारे लिये मंदिरजी आदि बनाओ और हिसा करो किन्तु श्रावकोने स्वयं भक्तिभावसे अपने पुण्य-संचयके लिये विशेष उपकार मान-कर स्वयं दान-पूजनादिकोंको किया है।"

२ दानकी कोई खास चर्चा मैंने उस लेख भरमे कही भी नहीं उठाई, सिर्फ पात्रकेसरीस्तोत्रके पद्यका अनुवाद देते हुए, फूटनोटमें मूलके अनुरोधसे "दानका देना" इतने शब्द लिखे थे। इसे भी बड़जात्याजी मेरी ओरसे दान विषयकी छेड़-छाड़ समझते हैं—**किमाश्चर्यमतः परम्!** तब तो यह कहना होगा कि मेरे लेखमें 'उपवास' तथा केशलौचका कोई निषेध या उल्लेख न होते हुए भी जो बड़जात्याजीने पात्रकेशरी-

पूजा आदि सभी विषयोंको' और इस आक्षेपके अनन्तर ही आप मुझसे पूछते हैं "तो फिर क्या आपका विचार हमारेमें ढूंढ़या पंथ चला देने से है ?" यह सब आक्षेप मुझे बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है और इससे यह पाया जाता है कि बडजात्याजी मन्दिर-मूर्तिके निर्माण आदिको पूजा-उपासनाका कोई अंग नही समझते हैं और न ढूंढया पंथको ही जानते अथवा पहचानते हैं। यदि ऐसा न होता तो आप कदापि ऐसा ऊटपटॉग आक्षेप करनेका साहस न करते। मैं पूछता हूँ यदि चैत्य-चैत्यालयोंके निर्माण को आप उपसनाका अग समझते हैं तो उपासनाके ढग विषयक लेखमे उसका विचार होना स्वाभाविक था, उसपर आपकी फिर आपत्ति कैसी ? और यदि वैसा नही समझते हैं तो क्या फिर आपकी यह कोरी शास्त्रानभिज्ञता नही है ? क्योकि आदिपुराणमे भगवज्जिनसेनाचार्यने साफ तौरपर चैत्य-चैत्यालयादिके निर्माण और उनके लिये ग्रामादिकके दान तकको 'नित्य पूजन' वर्णन किया है। यथा :—

> चैत्य-चैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् ।
> शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥

और इसी तरहका कथन सागारधर्मामृत आदि दूसरे ग्रन्थोमे भी पाया जाता है। इसी तरह मैं यह भी पूछना चाहता हूँ कि ढूँढिया मतके कौन-से ग्रन्थमे यह लिखा है कि दान-पूजाका करना उनके यहाँ निषिद्ध है अथवा वे लोग दान-पूजा नही करते ? क्या केवल मूर्तिके सामने खडे होकर अथवा बैठकर दीप-धूप-

---

स्तोत्रवाले एक पद्यके अनुवादमे उन दोनोंके उपदेशका विधान किया है वह उनका एक अप्रासंगिक कथन अथवा व्यर्थकी छेड़-छाड़ है। और इस तरहपर वे खुद ही अपनी आपत्तिके शिकार बन जाते हैं।

नैवैद्यादिकका चढ़ा देना ही पूजा है और मंदिर-मूर्तिके लिये दान देना ही दान है ? क्या भगवान्‌की स्तुति करना, स्तोत्र पढना, त्रिकाल वंदना करना, परमात्माके ध्यानमें लीन होना, परमात्माका नाम आते ही झुक जाना—नम्रीभूत हो जाना—उनके चरित्रकी प्रशंसा करना और उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना पूजा नही है ? (पूजाके भेद-प्रभेदोंको जरा अपने ग्रन्थोंमें ही देखिये) क्या आहार, औषध, अभय और विद्या (शास्त्र) दानका देना दान नही है ? और क्या इस प्रकारकी पूजा तथा दानकी प्रवृत्ति हमारे ढूॅढिया भाइयोमे नही पाई जाती या उनके यहाॅ उसका विधान नही है ? वे तो चैत्यालय तक बनाते हैं—उनके स्थानक ही उनके मंदिर अथवा चैत्यालय हैं, जो स्थावर प्रतिमाओ-के लिये नही किन्तु प्राय. जंगम प्रतिमाओ—साधुओके लिये होते हैं और श्रावक लोग भी वहाॅ जाकर परमात्माका भजन करते उपदेश सुनते अथवा सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं । फिर नही मालूम दान-पूजा तथा चैत्यालयकी बात उठाकर बडजात्याजी मुझपर क्या आक्षेप करने बैठे हैं और इस आक्षेपको करते हुए उनके होश-हवास कहाॅ चले गये थे ? क्या उन्होने लेखकके लिखे हुए, 'उपासनातत्त्व' को भी नही पढ़ा, जिसके पढ़नेकी लेखमे प्रेरणा की गई थी और जिसमे मूर्ति-पूजाका भी अच्छा मडन किया गया है ? सच है क्षोभकी हालत-मे मनुष्य सज्ञाहीन-सा हो जाता है और उसे योग्य-अयोग्य अथवा वक्तव्य-अवक्तव्यका प्रायः कुछ भी विचार नही रहता ।

द्वितीय भ्रान्तिका निरास :

अब मैं एक दूसरी भ्रान्तिका निरसन करता हूँ और वह है

जिनेन्द्रके उपदेश-आदेश-भेदकी व्यर्थ कल्पना। बडजात्याजी लिखते हैं :—

(१) "हमारे भगवानने सब कुछ कहा पर आदेशरूपमे कुछ भी नही कहा—करो या-न-करो इससे उन्हे क्या अर्थ ?"

(२) "महाशय ? उन्होने यह करो, वह करो कुछ नहीं कहा, पर उनकी दिव्य-ध्वनिकी विशेषता थी।"

(३) "भगवान चाहे अच्छे-या-बुरे किसी भी कार्यके करनेके लिए किसीको आज्ञा नही देते।"

इससे साफ जाहिर है कि मोहनलालजी बडजात्या जिनेन्द्रके उपदेश-आदेशमे भेदकी भारी कल्पना करते हैं और आदेश अथवा आज्ञाकी जिनेन्द्रको प्रवृत्ति ही नही मानते। परन्तु यह आपका कोरा भ्रम है। यदि भगवान् किसीको भी किसी प्रकारकी अच्छी-या-बुरी कोई आज्ञा ही नही देते—उनकी वास्तवमे कोई आज्ञा ही नही—तो फिर यह क्यो कहा जाता है कि "भगवान-की आज्ञाके विरुद्ध नही चलना चाहिए, अमुक कार्य भगवान्की आज्ञाके अनुकूल है, ऐसा करना भगवानकी आज्ञाका भग करना है, भगवानकी आज्ञाका लोप करना बडा पाप है, इत्यादि ?" अथवा श्रीवादिराजसूरिने अपने 'एकीभाव स्तोत्र'मे यह क्यों लिखा है कि—"**आज्ञावश्यं तदपि भुवनं**"—लोक भगवान्की आज्ञाके वशवर्त्ती हैं ? पात्रकेसरीस्तोत्रके टीकाकारने 'वश च भुवनत्रय' पदोका अनुवाद "**आज्ञाधीनं जगत्रयं**" देकर यह क्यो कहा कि तीनों जगत भगवानकी आज्ञाके आधीन हैं ? और भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने 'जिनसहस्रनाम' मे भगवानको 'अमोघाज्ञ.' लिखकर यह क्यो प्रतिपादन किया कि उनकी आज्ञा

अमोघ होती है ? परन्तु इन्हें भी छोड़िये, जैन शास्त्रोंमे यह स्पष्ट लिखा है कि—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

अर्थात्—जिनेन्द्रका कहा हुआ जो कोई भी सूक्ष्म तत्त्व है वह युक्तियोसे कभी खंडित नही होता, उसे 'आज्ञासिद्ध' समझकर—अथवा यह खयाल करके कि भगवान्की ऐसी ही आज्ञा है—ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नही होते । जब भगवान्की कोई आज्ञा ही नही तो यह 'आज्ञासिद्ध' कैसा ? और तब 'आज्ञासम्यक्त्व' भी कैसे बन सकेगा, जिसका स्वरूप 'आत्मानुशासन' मे श्रीगुणभद्राचार्यने निम्न प्रकारसे दिया है—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव ।

इसमे साफ तौरपर 'वीतरागकी आज्ञासे ही जो रुचि अथवा श्रद्धान किया जाय उसे आज्ञासम्यक्त्व' लिखा है । यदि वीतराग भगवानकी कोई आज्ञा ही न हो फिर यह आज्ञासम्यक्त्वका कथन भी नही बन सकता ।

इसके सिवाय, धर्मध्यानके भेदोमे 'आज्ञाविचय' नामका भी एक भेद है और उसका स्वरूप, ज्ञानार्णवमे, योगी श्रीशुभचन्द्राचार्यने निम्न प्रकारसे प्रतिपादन किया है—

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान्विचिन्तयेत् ।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुंगवैः ॥

अर्थात्—जिस ध्यानमे सर्वज्ञकी आज्ञाको सामने रखकर—उसे मानते हुए अथवा उसके आधारपर—पदार्थोंका सम्यक्विचार किया जाता है उसे योगीश्वरोंने 'आज्ञाविचय' नामका धर्मध्यान

कहा है। सर्वज्ञकी इस आज्ञाके भी दो भेद किये गये हैं—एक हेतुवादरूप[1] और दूसरा अहेतुवादरूप[2]। यथा:—

तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः।
सर्वज्ञस्य विनेयान्तःकरणायत्तवृत्तितः॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक।

यहाँ भी जब सर्वज्ञकी कोई आज्ञा ही नही तो फिर आज्ञाके ये दो भेद कैसे ? और आज्ञाको प्रमाणीकृत करके प्रवर्तित होने वाला यह 'आज्ञाविचय' धर्मध्यान भी कैसा ? मालूम नही बडजात्याजीने किस आधारपर भगवान्की आज्ञा अथवा आदेश प्रवृत्तिका निषेध किया है ! ऊपरके इस सब कथन अथवा प्रमाणवाक्योपरसे तो सर्वज्ञ भगवान्की आज्ञाका भले प्रकार अस्तित्व पाया जाता है। और साथ ही, यह भी ध्वनित होता है कि वह आज्ञा सर्वज्ञके आगमसे भिन्न नही है—सर्वज्ञका आगम ही सर्वज्ञकी आज्ञाओका समूह अथवा संग्रह है। श्रीपूज्यपाद आचार्यने भी 'सर्वार्थसिद्धि' मे 'आज्ञाविचय' धर्मध्यानका स्वरूप देते हुए, 'सर्वज्ञप्रणीत आगम' को 'आज्ञा' सूचित किया है।[3] और इससे यह साफ

---

१. आज्ञाप्रकाशनार्थो वा हेतुवादः।
सामर्थ्यादयमप्याज्ञाविचयः ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक।

२ आज्ञाप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः सोऽयमहेतुवादविषयोऽननुमेयार्थगोचरार्थत्वात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक

३. यथाः—उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतागमं प्रमाणीकृत्य, इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानमर्थावधारणमाज्ञाविचयः।

—सर्वार्थसिद्धि।

नही है—जो जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है वही उनकी आज्ञा, शासन अथवा आदेश है।[1] उपदेश-आदेश-भेदकी यह कल्पना प्राय: छद्मस्थ ज्ञानी आचार्यो आदिके कथनमें पाई जाती है— सर्वज्ञ भगवान्के कथनमे नही। सर्वज्ञने हेय-उपादेयरूपसे दो प्रकारका तत्त्व प्रतिपादन किया है, बन्ध तथा बन्धके कारणोंको हेय और मोक्ष तथा मोक्षके कारणोंको उपादेय बतलाया है[2]। और इस तरहपर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो ही रूपसे अपनी आज्ञाको प्रवर्तित किया है—आपका शासन विधि-निषेधात्मक है—और जगह-जगह शास्त्रोंमे इस प्रकारका उल्लेख भी मिलता है कि भगवान्ने भव्य जीवोको मोक्षमार्ग सिखलाया, उन्हे श्रेयो-मार्गमे लगाया, यम और दमका—व्रतोंके पालन तथा इन्द्रियोके निग्रहका–आदेश दिया, वे सांसारिक विषयतृष्णादि रोगोसे पीडित प्राणियोके रोग शान्त करनेके लिये एक आकस्मिक (द्रव्यादि अपेक्षारहित परोपकारी) वैद्यकी तरह वैद्य हैं और एक माता जिस प्रकार अपने बालकको हितका अनुशासन करती है—बुरे कामोसे हटाकर अच्छे कामोमें लगाती है—उसी तरह आप्त-

---

१. आदेशके अर्थ भी आज्ञा और उपदेश दोनो हैं, शासन तथा अनुमति भी उसके अर्थ है। देखो 'शब्दकल्पद्रुम'।

२. यथा—

"तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ॥"

"बन्धो निबन्धनं चास्य हेयमित्युपदर्शितम्।......
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम्।

भगवान् हेयाहेयविवेकसे विकल प्राणियोके लिये हितानुशासक हैं[1]। तब बड़जात्याजीका यह लिखना कि भगवान्ने "यह करो वह करो, कुछ नही कहा" और दर्पके साथ लेखकसे यह पूछना कि "कहिये और किन-किन बातोके लिये भगवान्ने कहा है कि यह करना, वह करना ?" कहाँतक युक्तिसगत है, इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। मुझे तो आपका यह सब कथन कोरा अशिक्षितालाप अथवा अशिक्षितोका-सा वचन-व्यवहार जान पड़ता है और उसमे कुछ भी महत्त्व मालूम नही होता। इसीसे ऐसे लेखोके उत्तरमे मैं अपने समयका बहुत कुछ दुरुपयोग अथवा अपव्यय (फिजूल खर्च) समझता हूँ। आप लिखते हैं "करो या न करो इससे उन्हे (भगवान्को) क्या अर्थ ?" मै पूछता हूँ 'करो या न करो' मे यदि भगवान्का कुछ अर्थ अथवा प्रयोजन नही तो फिर उपदेश देनेसे ही उन्हे क्या प्रयोजन है ? क्या आत्मार्थके लिये—अपनी किसी निजी गर्जको सिद्ध करनेके लिये ही उपदेश दिया जाता है ? परार्थ अथवा परोपकारके लिये नही ? भगवान्का उपदेश तो अपने लिये नही किन्तु दूसरोके लिये उनके हित

---

१. यथा—

"मोक्षमार्गमशिश्रयन्नरामराजापि शासनफलैषणातुरः ॥"

"श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः।"

"त्वया समादेशि सप्रयामदमाय।"

"त्वं शंभवः संभवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥"

"सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता··············"

—इति स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रवचनानि ।

साधनकी दृष्टिसे होता है—संसारी जीवोंको ससारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना ही उसका मुख्य ध्येय अथवा प्रधान लक्ष्य है—तब लोक-हितकी दृष्टिसे यदि भगवान् किसी कार्यके करने या न करनेके लिये कहे तो इसमे जैन-सिद्धान्तसे कौन-सा विरोध आता है ? और त्रिलोकगुरु भगवान्‌के आदेशसे उनके उपदेशमे कौन-सी विभिन्नता हो जाती है ? शायद बड-जात्याजी यह कहे कि भगवान्‌का उपदेश तो बिना इच्छाके होता है, तब मैं पूछता हूँ कि उसी तरहपर–बिना इच्छाके–उनका आदेश नही वन सकता ? उसमें कौन-सा बाधक है । जरा बतलाइये तो सही ? अच्छा होता यदि बडजात्याजी दिव्य-ध्वनिकी अपनी उस विशेषताको भी प्रकट कर देते जो उनके ध्यानमे समाई हुई है और जिसपर ध्यान न देनेकी आपको मेरी शिकायत है और आप बड़े दर्पके साथ, ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्य नं० २ के अनन्तर ही लिखते हैं :—

"शोक है कि इस साधारण बातको भी आपने ध्यानमें नहीं रक्खा, नही तो आपको यह सब लिखनेका कष्ट नहीं उठाना पड़ता ?"

दिव्य-ध्वनिकी विशेषतावाली बात साधारण हो या असा-धारण, परन्तु मेरे ध्यानमे तो अभीतक भी नही आई—मुझे ऐसी कोई भी विशेषता उसमें मालूम नही पड़ी जिससे बड़जात्याजीके कथनका समर्थन और मेरे कथनका खंडन होता हो । अब भी यदि बडजात्याजीको उसपर कुछ भरोसा हो तो वे उसे खुशीसे प्रकट करे । परन्तु इस बातका ध्यान रहे कि इस विषयमें जो कुछ लिखा जाय वह शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करनेके बाद लिखा जाय—यों ही, बिना सोचे समझे कलम उठाकर अशिक्षिता-

लापके रूपमे लिख देनेका दु साहस न करें—खासकर ऐसी हालतमें जब कि आप मानते हैं कि लेखक अधिक 'अध्ययनी' है—'पठन-पाठन बहुत करता है' तब उसकी किसी बातका सहज ही मे विरोध नही किया जा सकना, उसके विरोधार्थ और भी ज्यादा गहरे अध्ययन तथा सावधानीकी जरूरत है, इसे कभी भी भुलाना न चाहिये ।

जान पडता है बडजात्याजीको कही यह भ्रम हो गया है कि सावद्यकर्मके उपदेशसे तो पापबन्ध नही होता किन्तु आदेशमे जरूर होना है और इसलिये उन्होने अपनी समझके अनुसार भगवान्‌को इस दोषसे मुक्त करनेके लिये उनके विषयमे उपदेश-आदेश-भेदकी यह कल्पना की है और उसके-द्वारा यह बतलाना चाहा है कि भगवान्‌ने चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा दान-पूजनादि-की उन सब क्रियाओका उपदेश तो दिया है, जो प्राणियोकी हिंसा तथा पीडाकी कारण हैं परन्तु उनका आदेश नही दिया । और उनकी इस भ्रान्तिका ही यह परिणाम है जो उन्होने पात्रकेसरी-स्तोत्रके 'विमोक्षसुख' वाले पद्यमे प्रयुक्त हुए '**न देशिताः**' शब्दोंका अर्थ 'उपदेश नही दिया' की जगह 'आदेश नही दिया' किया है, और उस 'आदेश' का अर्थ 'आज्ञा' बतलाया है । अन्यथा, 'उपदेश नही दिया' यह लेखकका अर्थ मूलके बहुत अनुकूल है; क्योकि मूलमे जिस बातको '**देशिताः**' पदके-द्वारा जाहिर किया है उसीको अगले पद्यमे '**उपदिश्यतेस्म**' पदसे उल्लेखित किया है । टीकाकारने भी 'विमोक्षसुख' वाले पद्यको देते हुए जो प्रस्तावना-वाक्य[1] दिया है उसमें '**उपदिशतः**' पदके प्रयोग-द्वारा इसी अर्थको

---

१ वह प्रस्तावना वाक्य इस प्रकार है :—

"नन्वेवं जिनेन्द्रस्यापि चैत्यदानक्रियां हिंसालेश-भूतामुपदिशतः कथं पापबन्धो न स्यादिति शङ्कां निराकुर्वन्नाह ।"

सूचित किया है और वैसे भी 'देशिता:' का अर्थ **'प्रतिपादिता:'** दिया है न कि **'आदेशिता:'**। खेद है बडजात्याजीने शब्दोंके अर्थको तो बदलनेकी चेष्टा की, परन्तु मूलके आशयको समझनेकी कोई अच्छी अथवा यथेष्ट कोशिश नही की ? और न वे पात्र-केसरीस्तोत्रके उन दो पद्यो (नं० ३८, ३९) का ही ठीक आशय समझ सके हैं जिनको उन्होंने अपनी ओरसे पेश किया है और जिनपर अभी विचार किया जायगा। उन्हें शायद यह भी खबर नही पडी कि भगवान्‌के मोहनीय आदि कर्मोका अभाव हो जानेसे जब प्रमत्तयोग नही रहा और न संक्लेश-परिणाम अथवा कषायभावका ही कोई सद्भाव पाया जाता है तब उनके पापका बन्ध कैसे बन सकता है और उस पापबन्धकी शङ्काको दूर करनेके लिये यह उपदेश-आदेश-भेदकी कल्पना कितनी हास्यास्पद है ! क्या हिंसात्मक क्रियाके करनेका सीधा उपदेश देनेसे किसीको भी हिंसाका कारित अथवा अनुमति दोष नही आता ? जरूर आता है, तो फिर उपदेश-आदेश-भेदकी इस कल्पनासे नतीजा क्या ?

शास्त्री बनारसीदासजीकी भ्रान्तिका निराकरण :

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि जिनेन्द्रके उपदेश-आदेश-भेदकी यह कल्पना शास्त्री बनारसीदासजी-ने नही की—उन्हे इस प्रकारकी भ्रान्ति नही हुई— उन्होने **'न देशिता:'** का अर्थ भी 'उपदेश नही दिया' ही दिया है और भगवान सर्वज्ञके उस उपदेशको ही आज्ञा अथवा आदेश माना है।

परन्तु आप एक दूसरी भ्रान्तिके शिकार बने हैं और वह यह कि, भगवान्‌ने जिस क्रियाका उपदेश नही दिया वह धर्मका अंग नहीं हो सकती और न उसमें प्रमाणता ही आ सकती है।

बल्कि आपका तो यहाँ तक कहना है कि "भगवान् सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है" । और इसलिये दूसरा कोई धर्म नही—सर्वज्ञके उपदेशसे जो कुछ बाहर है—श्रावको अथवा गृहस्थोके-द्वारा कल्पित हुआ है—वह सब अधर्म है, ऐसा समझना चाहिए । शायद इसीलिये शास्त्रीजी आर्ष-वाक्यो अथवा जैन-शास्त्रोको छपाना 'अधर्म' समझते हो ? क्योकि सर्वज्ञका जो उपदेश जैनशास्त्रोके रूपमे सकलित है उसमें शास्त्रोके छपानेका कोई विधान नहीं है और न छापनेकी विद्या (मुद्रणकला) का ही उसमे कही उल्लेख पाया जाता है । तब तो, तीर्थयात्रा आदिके लिये रेलगाड़ीपर सफर करना, मोटर, साइकिलपर चलना, तारके-द्वारा समाचार भेजना, टेलीफोनसे बाते करना, सिनेमा अथवा बाइस्कोपका तमाशा देखना, ग्रामोफोन बाजेका सुनना-सुनाना, फोटो खेचना-खिचवाना, भगवानकी मूर्तियों अथवा मुनियोके फोटो मन्दिरमे लटकाना, पूजा प्रतिष्ठाकी चिट्ठियाँ छपवाना और उन्हे डाकसे भेजनेके लिये लैटरबाक्समे डालना, आधुनिक घडियोको जेबमे रखना अथवा कलाईसे बाँधना और उनमे समयपर चाबी देते रहना, फाउन्टेनपेनसे लिखना, ऐनक लगाना अथवा चश्मा लगाकर स्वाध्याय करना, ऐंजिनसे आटा पिसवाना और चावल कुटवाना, मिलोके बने वस्त्र पहनना अथवा वैसे वस्त्र पहनकर पूजन करना, जर्मन सिलवर और ऐलोमीनियमके बर्तनोमे खाना खाना या पूजन करना, गाडीके पहियोपर रबरकी हाल चढ़वाना, रबरका जूता अथवा नये फैशनके कोट पतलून तथा सूटर बनियान आदि पहनना, मकानोमें बिजलीकी रोशनी करना, मिट्टीका तेल जलाना और बिजली अथवा मिट्टीके तेलकी रोशनीमें शास्त्र

पढ़ना वगैरह-वगैरह सबको अधर्म तथा अप्रमाण कहना चाहिए ! क्योकि भगवान्-द्वारा उपदेशित जैनशास्त्रोंमे इन सब क्रियाओका और इसी प्रकारकी और भी हजारो क्रियाओंका कही भी कोई उपदेश अथवा विधान नही है ?

धर्म-अधर्मकी इस विलक्षण परिभाषाके अनुसार तो अनिर्दिष्ट टाइप अथवा नमूनेके नये-नये मदिर बनवाना और उनमे ऐसी रचनाओंका रचा जाना भी अधर्म होगा जिनका जैनशास्त्रोमें कोई स्पष्ट उल्लेख नही है और न पहलेसे कोई नकशा ही दिया हुआ है, क्योकि उनके निर्माणमे श्रावकोकी रुचि तथा शक्ति आदि ही अधिक चरितार्थ होगी। वर्तमानके सभी मंदिर प्राय. ऐसे ही बने हुए हैं, और इसलिये उनकी रचनाको धर्मका कोई अंग न मानते हुए उन्हें अप्रमाण तथा अमान्य कहना होगा। मैं पूछता हूँ भगवान् महावीरने पावापुरके वर्तमान जल-मंदिरका नकशा खीचने अथवा चित्र बनानेका कहाँ उपदेश दिया है ? यदि नही दिया और श्रावक लोग आजकल अपने मंदिरोकी दीवारोपर उसका चित्र खिचवाते हैं तो क्या वे अधर्मका काम करते हैं ? अथवा वह कृत्य उनके मदिर-निर्माणका एक अश होते हुए भी उनकी उपासनाका कोई अंश नही है और इसलिये उसे व्यर्थ कहना चाहिये ? इसी तरह मंदिरोके फर्श तथा दीवारो आदिमें जो नवीन टाइल्स अथवा चीनी आदिके रग-विरगे फूल-पत्तीदार चौके जड़वानेका रिवाज होता जाता है उसे भी अधर्म अथवा व्यर्थका कार्य कहना होगा; क्योकि भगवान्ने तो उनके जड़वानेका उपदेश दिया नही और न शास्त्रोंमे किसी प्राचीन जैनाचार्यका ही वैसा विधान पाया जाता है। हाँ, भक्तजनोकी भक्तिका वह एक विशेष जरूर है, जिसे शास्त्रीजीकी परिभाषाके अनुसार धर्म नही कह सकते ।

इसके सिवाय, मैं शास्त्रीजीसे यह भी पूछना चाहता हूँ कि अजमेरमे उनके स्वामी सेठ साहबके मंदिरमे जो चारो ओर दीवारोपर शास्त्रोके वाक्य लिखे हुए हैं उनको उस प्रकारसे लिखनेका और एक दूसरे मंदिरमे जो अयोध्या नगरीकी रचना बनाकर रक्खी गयी है उसको उस प्रकारसे बनाकर रखनेका कौन-से भगवान्‌ने उपदेश दिया है और वह उपदेश कौन-से जैनशास्त्रमे संगृहीत है ? यदि वैसा कोई उपदेश नही है तब तो भगवान्‌की तद्रूप आज्ञा न होनेके कारण आपको उन धर्मप्राण सेठोके इस सब कृत्यको भी अधर्म कहना होगा !!

शायद इसपर शास्त्रीजी यह कहनेका साहस करे कि किसी-किसी मंदिरके वर्णनमे चित्रावलीका जो कुछ उल्लेख शास्त्रोमे मिलता है उसीका यह सब अनुकरण है। परन्तु इससे काम नही चल सकता, क्योकि प्रथम तो उक्त प्रकारके उल्लेखसे यह लाजिमी नही आता कि उस मंदिरकी वह सब चित्रावली भगवान्‌के उपदेशानुसार ही निर्मित हुई थी—श्रावकोकी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिके अनुसार वह कल्पित भी हो सकती है। दूसरे, चित्रावलीका सामान्य उल्लेख किसी चित्र-विशेषके लिये कोई गारण्टी अथवा आज्ञा नही बन सकता। उसके लिये चित्रका नामोल्लेखपूर्वक ठीक वैसे ही आकार-प्रकार अथवा रंग-रूप वगैरहकी आज्ञाको बतलानेकी जरूरत है, जिससे उसमे प्रमाणता आसके और वह धर्मका—उपासनाका अंग बन सके। अन्यथा, निर्दिष्ट प्रकारसे रंगरूपविषयक जरा-सी भी कमी-वेशीकी हालतमे, यह मानना होगा कि उस मंदिर अथवा चित्रादिके निर्माणमे श्रावकोकी रुचि आदि भी उतने अंशोंमें कृतकार्य अथवा चरितार्थ हुई है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि मंदिर-मूर्तिके

निर्माणकी कोई भी धार्मिक क्रिया श्रावकोंकी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित नही होती, जैसा कि शास्त्रीजीका खयाल है।[1] और न यही कहा जा सकता है कि कोई अच्छी क्रिया महज इस वजहसे ही अधर्म हो जाती है कि उसे श्रावकोने कल्पित (निर्धारित) किया है अथवा भगवान्ने उसका उपदेश नही दिया। मालूम नही धर्म-अधर्मकी यह विलक्षण परिभाषा शास्त्रीजीने किस आधारपर कल्पित की है ? हाँ, आपने स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी "**तेणुवइट्ठो धम्मो**" इस गाथाकी ओर इशारा करते हुए, इतना जरूर लिखा है कि 'स्वामिकार्तिकेय' महाराजके इस वचनका यही अर्थ है कि भगवान् सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है'। परन्तु यही अर्थ (!) तो दूर रहा, मुझे तो इस गाथा अथवा वचनका ? वैसा आशय भी मालूम नही होता ! पाठक भी देखे, इसमें कहाँ लिखा है कि 'सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है'--दूसरा कोई धर्म नही ? इसीसे

---

१. उपासनाके दूसरे अंगोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है। उदाहरणके तौरपर लीजिये, भगवान्ने यह कहाँ कहा कि तुम पाठ तो बोलना नाम ले-लेकर नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंका और चढाना रंगे हुए पीले चावल ? पाठ तो बोलना ताजे-ताजे लड्डू, घेवर तथा फेनी आदि मिष्टान्नों या घृतमें तले हुए गौझा आदि पक्वान्नोंका और चढाना गोलेकी छोटी-छोटी चिटके ? उच्चारण तो करना जगमग ज्योतिवाले दीपकोंका और चढाना गोलेके रंगे हुए तेजहीन टुकड़े ? अथवा नाम तो लेना नारंगी, दाड़िम, आम तथा केले आदि हरे फलोंका और चढाना सूखे बादाम या लौंगे ? यह सब पूजन-विधान समय-समयकी जरूरतों तथा विचारों आदिके अनुसार श्रावकों-द्वारा कल्पित नही तो और क्या है ? यहाँ मुझे इस विधानकी उपयोगिता या अनुपयोगितापर कुछ लिखनेका अवसर नही है वह फिर किसी समय विचार किये जानेके योग्य है।

यह पूरी गाथा पं० जयचन्द्रजीकी भाषा-टीका सहित नीचे दी जाती है—

'तेणुवइट्ठो धम्मो संगसात्ताण तह असंगाणं।
पढ़मो बारह-भेओ दस-भेओ भासिओ विदिओ ॥

भाषाटीका—"तिस सर्वज्ञ करि उपदेस्या धर्म है सो दोय प्रकार है। एक संगासक्त कहिये गृहस्थका अर एक असंग कहिये मुनिका। तहाँ पहला गृहस्थका धर्म तो बारह भेद रूप है बहुरि दूजा मुनिका धर्म दस भेद रूप है।"

इससे साफ़ जाहिर है कि इस गाथामे, सर्वज्ञके-द्वारा उपदिष्ट हुए धर्मके भेदोकी संख्याका प्रतिपादन करनेके सिवाय, ऐसे किसी भी नियमका विधान नही है जिससे यह लाजिमी आता हो कि 'सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है—उससे भिन्न कोई धर्म अथवा कर्त्तव्य-कर्म ही नही'। 'वही' जिसका वाच्य हो ऐसा तो कोई शब्द भी गाथाभरमें नही है और न धर्मके इन बारह भेदोंमे गृहस्थका सारा—'अथ' से 'इति' तक रत्ती-रत्ती भर—कर्त्तव्य ही आ जाता है। गृहस्थका एक धर्म "लौकिक" भी है, जिसका सर्वज्ञके आगमसे प्राय: कोई सम्बन्ध-विशेष नही है। वह आगमाश्रित न होकर लोकाश्रित होता है—लौकिक जनोंकी देशकालाद्यनुसार होनेवाली प्रवृत्तिपर अवलम्बित रहता है—जैसा कि श्री सोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे भी जाहिर है—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥

—यशस्तिलक।

अर्थात्—गृहस्थोंके दो धर्म है—एक 'लौकिक' और दूसरा

'पारलौकिक'। इनमेसे पहलेको लोकाश्रित और दूसरेको आगमाश्रित समझना चाहिये।

जब लौकिक धर्म आगमाश्रित नहीं है तब यह स्पष्ट है कि भगवान्‌के-द्वारा उपदिष्ट नहीं हुआ और इसलिये धर्म वही नही जो भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट हुआ हो, जैसा कि शास्त्रीजीका खयाल है; बल्कि वह भी है जो भगवान्‌के-द्वारा उपदिष्ट न होकर लौकिक जनोकी देशकालानुसारिणी प्रवृत्ति अथवा निश्चितिके अधीन होता है। और उसकी प्रमाणतापर भी कोई आपत्ति नही की जा सकती, जब कि उससे जैनियोके सम्यक्त्वको हानि अथवा उनके व्रतोको कोई दूषण न पहुँचता हो[1]। पिता-पुत्रादिकके पारस्परिक तथा जनताके सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य, राजनीति, समाजनीति और विवाह-शादी आदिकी सब सामयिक व्यवस्थाएँ इस लौकिक धर्ममे शामिल हैं—विदेशी वस्त्रोका बहिष्कार जैसे सामयिक नियम भी इसी धर्मके आश्रित हैं। यह धर्म परिवर्तनशील है—सदा और सर्वत्र एक ही रूपमें नही रहता—और इतना विस्तीर्ण है कि इसके भेदोंकी कोई गणना नहीं की जा सकती। खेद है शास्त्रीजीने इन सब बातों-पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, और वैसे ही बिना सोचे समझे जो जीमे आया अटकलपच्चू लिख मारा!! अपने 'शास्त्री' पदका भी कुछ खयाल नही किया!!!

एक बात शास्त्रीजीने और भी विलक्षण लिखी है और वह यह है कि "श्रीजिनमन्दिर भगवान्‌की वाणीके अनुसार बनाये

---

१. 'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥'
—यशस्तिलक।

गये हैं और (इसलिये ?) उनके निर्माणमें होनेवाली हिसा-हिंसा नही है"। आपका यह लिखना प्राय: ऐसा ही है जैसा कि कुछ हिन्दुओका यह कहना कि—**'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'**—वेद विहित अथवा वेदोके अनुसार की गई हिसा हिसा नहीं होती। यद्यपि आपने अपनी इस बातको सिद्ध करनेके लिये प्रतिज्ञा की और उसके अनुसार पात्रकेसरीस्तोत्रके 'विमोक्षसुख' आदि तीन पद्यो (नं० ३७, ३८, ३९) को अर्थ-सहित पेश भी किया, परन्तु फिर भी उन पद्यो अथवा अर्थपरसे कही भी इस बातको सिद्ध अथवा स्पष्ट करके नही बतलाया कि जिनमन्दिरको बनाने अथवा निर्माण करनेमे कैसे हिसा नही होती, और यह आपके लेख अथवा कथनकी एक दूसरी विलक्षणता है! मैं पूछता हू क्या मन्दिरके निर्माण करनेमे आरम्भ नही होता? रागादिक भावोकी उत्पत्ति नही होती? अथवा प्रमत्तयोग नही होता? यदि यह सब कुछ होता है तो फिर हिंसा कैसे नही होती? हिसा जरूर होती है। यह बात दूसरी है कि उसकी मात्रा पुण्य-की अपेक्षा बहुत अल्प हो अथवा गृहस्थ लोग ऐसी हिसाको टाल न सकते हो, परन्तु तात्विक दृष्टिसे विचार करनेपर उसमे हिसाका सद्भाव जरूर मानना पड़ेगा—प्राणि-पीड़नमें भी वह खाली नही, और उसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य महोदयके 'विमोक्षसुख' वाले पद्यमे भी पाया जाता है।

अब मैं यहाँपर पात्रकेसरीस्तोत्रके उस 'विमोक्षसुख' वाले पद्यकी स्थितिको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जिसमे उसके विषयका भ्रम और भी साफ हो जाय; और उसके लिये पहले उक्त पद्यको एक पूर्ववर्ती और दो उत्तरवर्ती पद्योके साथ और उन प्रस्तावना-वाक्योके साथ उद्धृत करता हूँ, जो टीकामें इन चारो पद्योको देते हुए उनसे पहले दिए गए हैं :—

(१) इदानीं हिंसादिप्रवृत्तानां तेषां पापबन्ध एवानुषज्यते इति दर्शयन्नाह—

सदा हननघातनाद्यनुमतिप्रवृत्तात्मनां
प्रदुष्टचरितोदितेषु परिहृष्यतां देहिनाम्।
अवश्यमनुषज्यते दुरितबन्धनं तत्त्वतः
शुभेऽपि परिनिश्चितस्त्रिविधबन्धहेतुर्भवेत् ॥३६॥

(२) नन्वेवं जिनेन्द्रस्यापि चैत्य-दान-क्रियां हिंसालेशहेतु-भूतामुपदिशतः कथं पापबन्धो न स्यादिति शंकां निराकुर्वन्नाह—

विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः
किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥३७॥

(३) कथंचिन्नित्यागमाद्वा भव्यैस्तत् क्रिया ज्ञाता इति दर्शयन्नाह—

त्वया त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा केनचित्
कथंचिदुपदिश्यतेस्म जिन ! चैत्य-दान-क्रिया।
अनाशकविधिश्च केशपरिलुचनं चाथवा
श्रुतादनिधनात्मकादधिगतं प्रमाणान्तरात् ॥३८॥

(४) नन्वेवं भगवतस्तदुपदिशतः प्राणिपीडाहेतुत्वसंभवात्कथं नाऽपुण्यबन्धः स्यादित्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

न चासुपरिपीडनं नियमतोऽशुभायेष्यते
त्वया न च शुभाय वा न हि सर्वथा सत्यवाक्।
न चापि दमदानयोः कुशलहेतुतैकान्ततो
विचित्रनयभंगजालगहनं त्वदीयं मतम् ॥३९॥

इन क्रमवर्ती पद्यों और इनके प्रस्तावना-वाक्योंसे यह साफ जाहिर है कि इनमे ऐसा कोई पद्य नही है जो दूसरे पद्यके साथ

'युग्म' या 'त्रिक' बनाता हो, अथवा यों कहिये कि इन पद्योंमें 'युग्म' या 'त्रिक' रूपसे कोई पद्य नहीं है—अर्थात् ऐसे जोड़वा पद्य नहीं हैं जो दो-या-तीन मिलकर एक पूरा वाक्य बनाते हों और एक ही जिनका अन्वय होता हो, जिसके कारण उनमेंसे एकका पेश कर देना आपत्तिके योग्य हो या किसी तरहपर अर्थ-का अनर्थ कर देनेमें समर्थ हो। बल्कि प्रत्येक पद्य अपने-अपने विषयमें स्वतंत्र है और उसका उपयोग भी स्वतंत्रताके साथ किया जा सकता है और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि 'विमोक्षमुख' वाले ३७ वे पद्यके साथ ३८ वा और ३९ वा दोनो पद्य क्यो नहीं पेश किए गए, जिनका पेश करना साथमें कोई लाजिमी नहीं था। परन्तु शास्त्री बनारसीदासजी तथा बड-जात्या मोहनलालजीका कहना है कि इन दूसरे पद्योको साथमे क्यो नही पेश किया गया ? और इससे यह साफ ध्वनित होता है कि आप लोग इन पद्योको जोडवा अथवा एक ही वाक्यके अविभक्त अग समझते हैं और यह आपकी कोरी भूल है। इसी भूलके वशवर्ती होकर दोनों महाशय इतने उतावले हुए हैं कि वे लेखक-की नीयतपर आक्रमण करने और उसपर इस प्रकारका इलजाम लगाने तकका दु:साहस कर बैठे हैं कि उसने अगले पद्योको अपने मन्तव्यकी सिद्धिमें बाधक समझकर ही उन्हें छोड़ दिया है नहीं-नहीं छिपा लिया है।[1] बल्कि शास्त्रीजी तो इस भूलके चक्करमे

---

१. शास्त्रीजी आक्षेप करते हुए लिखते हैं :—

"इस प्रकरणो (!) के दो श्लोक ३८-३९ के है उनको नही उद्धृत किया। करते क्यो ? उनसे तो आपके मन्तव्यकी सिद्धि ही नही थी परन्तु ऐसा कर्त्तव्य आप सदृश विद्वानको शोभा नही देता।

इसी तरह बड़जात्याजी लिखते हैं—

पढ़कर यहाँ तक संज्ञाहीन हुए हैं कि उन्होंने अपने एक दूसरे लेखमें, जिसका हाल मुझे अभी मालूम हुआ है, लेखक-द्वारा पेश किए हुए उस पद्य (नं० ३७) को पूर्वपक्षका पद्य बतला दिया है।[1] अर्थात् यह सूचित किया है कि उस पद्य (नं० ३७) मे किसी आपत्तिकारकी आपत्तिका उल्लेख मात्र है और इसलिये किसी जैन-मंतव्यकी पुष्टिमे उसे पेश न करके उससे अगला पद्य (नं० ३८) पेश करना चाहिये था, जो कि उत्तरपक्षका पद्य है! यह सब देखकर मुझे खास तौरपर शास्त्रीजीकी बुद्धि तथा समझपर बडा ही अफसोस होता है; क्योकि वस्तुस्थिति वैसी नही है जैसी कि उन्होने समझी है, किन्तु उससे बिलकुल ही विलक्षण है, और उसका खुलासा इस प्रकार हैं :—

मूल ग्रथकार श्रीपात्रकेसरी आचार्यने कुछ अजैन देवताओको आप्ताभास सिद्ध करने और उनकी सेवाको नरकका हेतु बतलानेके अनन्तर, ३६ वे पद्यमें यह प्रतिपादन किया है कि इन कृतकारितानुमतिरूपसे सदा हिसादिकमे प्रवृत्त होनेवाले तथा हिसादिक दुष्टाचरणोंके कथनादिकपर हर्ष मनानेवाले आप्ताभासोके (उनकी

"इस श्लोकको मुख्तारजी क्यो देने लगे ! न जाने मुख्तारजी इस श्लोकको क्यों छिपा गये अथवा उन्होंने बस एक ही श्लोकका अध्ययन किया।"

"महाशय ! इस तरहसे एक श्लोक देकर दसरा-मसरा वाली बात न किया कीजिये और न इस तरहसे अपने मनगढन्त तात्पर्यकी ही सिद्धि किया कीजिये।"

१. आप लिखते हैं—"श्रीविद्यानन्दस्वामीकृत पात्रकेसरीस्तवके आगेके श्लोकको छिपाकर पूर्वपक्षके श्लोकसे श्रीजिनमन्दिरपूजन आदिकी रचना जैनजगतमें कल्पित बतलाई गई—।"

खं० जैनहितेच्छु वर्ष ७ अंक ६।

उस प्रवृत्तिके कारण) पापबन्ध जरूर होता है। इसपर यह शंका खडी हुई कि 'यदि ऐसा है तब तो दान-पूजनादि सम्बन्धी क्रियाओका, जो कि हिंसाकी कुछ कारणीभूत जरूर है, उपदेश देनेसे जिनेन्द्रके भी (कारितानुमतिरूपसे) पापबन्ध होना चाहिये—उनके वह पापबन्ध कैसे नही होता ? इस शकाको दूर करने अथवा यह बतलानेके लिए ही कि जिनेन्द्रके—उनके उपदेश-द्वारा कारितानुमतिरूपसे—यह प्रस्तावित अथवा शंकित पापबन्ध कैसे नही होता, आचार्य महोदयने खासतौरपर पद्य नं० ३७ की सृष्टि की है, जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए उसके प्रस्तावना-वाक्यसे भी जाहिर है, और इस पद्यके-द्वारा, जिसका अनुवाद पहले दिया जा चुका है, उक्त शकाके उत्तरमे बतलाया है कि 'जिनेन्द्र भगवान्ने अपनी केवलज्ञानावस्थामे मोक्ष-सुखके लिये इन चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा दान-पूजनादि सम्बन्धी उन क्रियाओ के करनेका कोई उपदेश नही दिया जो अनेक प्रकारसे प्राणियोके—त्रस-स्थावर जीवोके—मरण तथा पीड़नकी कारणीभूत हैं, बल्कि जिनेन्द्रके भक्त श्रावकोने स्वय ही (बिना वैसे उपदेशके अपनी भक्ति तथा रुचि आदिके वश होकर) उन क्रियाओ का अनुष्ठान किया है।' और इस तरहपर यह नतीजा निकाला है कि श्रावकोके उस अनुष्ठानसे यदि किसी प्राणीको पीड़ा पहुचे उसकी हिसा होती हो – तो उसके जिम्मेवार अथवा पापबन्धके भागी जिनेन्द्र नही हो सकते। इससे साफ जाहिर है कि यह (पद्य नं० ३७) पूर्वपक्षका कोई पद्य नही है किन्तु एक शकाके उत्तर-को लिये हुए होनेसे एक प्रकारका उत्तर-पक्षका पद्य है। और चूँकि इसके साथ ही उक्त शंकाके उत्तरकी समाप्ति भी हो जाती है, इससे यह अपने विषयका एक स्वतन्त्र पद्य है। शास्त्रीजीको

इतनी भी समझ नही पडी कि वह पूर्वपक्षका पद्य कैसे हो सकता है, जब कि इसमे जिनेन्द्रके किसी उपदेशका उल्लेख करके उसपर कोई आपत्ति या आशका नही की गई, बल्कि **'न देशिताः'** आदि शब्दोके-द्वारा यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि जिनेन्द्रने वैसा कोई उपदेश ही नही दिया, जिससे उक्त शंका खडी नही रह सकती। क्या शास्त्रीजीने इस पद्यके प्रस्तावना-वाक्यको भी नही पढ़ा ? अथवा जल्दी या भ्रान्तदशामे **'शंकां निराकुर्वन्नाह'** को आप **'शंकां कुर्वन्नाह'** पढ गये हैं और उसीके अधारपर यह लिख मारा कि वह 'पूर्वपक्षका श्लोक है' परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि शास्त्रीजीका इस पद्यको पूर्वपक्षका श्लोक बतलाना उनकी अनभिज्ञताको सूचित करता है और डकेकी चोट विद्वानोपर यह जाहिर करता है कि आप समझ अथवा विचारसे प्रायः कोई सम्बन्ध-विशेष नही रखते। खेद है, शास्त्रीजी अपनी ऐसी विलक्षण समझ तथा अद्भुत विचार-परिणतिके भरोसेपर ही अपने लेखके अन्तमे विद्वानोको यह परामर्श देने बैठे है कि—

"एक वाक्यको लेकर अनर्थ सिद्ध करना दुःसाहस है। विद्वानोको पूर्वापर कथन विचार कर लिखना चाहिये"।

ठीक है, शास्त्रीजी ! दूसरोको उपदेश देते रहना परन्तु आप खुद अमल न करना !! इसमे शक नही कि किसी पूर्वपक्षके पद्यमे उत्तरपक्षका काम लेना दुःसाहस है, परन्तु उत्तरपक्षके पद्यको पूर्वपक्षका पद्य बतला देना तो दुःसाहस नही ? वह तो जरूर सत्साहस है !! हम शास्त्रीजीसे इतना जरूर कहेंगे कि उन्हें यों ही अनाप-सनाप नही लिखना चाहिये। आशा है शास्त्रीजी भविष्यमें इसपर अवश्य ध्यान रक्खेंगे।

यहाँपर मैं इतना और भी वतला देना चाहता हूं कि ३७वें पद्यमे आचार्य महोदयने जो यह प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रने मोक्षसुखके लिये चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा दान-पूजनादिक सम्बन्धी उन क्रियाओ का उपदेश नही दिया किन्तु श्रावकोने स्वय ही उनका अनुष्ठान किया है उसे वस्तुतत्त्व अथवा भूतार्थकका उल्लेख समझना चाहिये। और साथ ही, यह भी जान लेना चाहिये कि आचार्य महोदयका वह कथन मुख्य-विधिकी दृष्टिसे एक निश्चित अथवा नियमित कथन है और इसीसे '**हि**'[1] शब्दका उपयोग भी उसके साथ किया गया जान पड़ता है। टीकाकारने भी इस कथनको पुष्ट तथा स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'इस क्षेत्रमे दान-क्रियाका आद्य (पहला) स्वयं अनुष्ठाता श्रेयास राजा और चैत्य-चैत्यालयोकी निर्माण-क्रियाका पहला स्वयं अनुष्ठाता भरत चक्रवर्ती हुआ है'। यथा :—

"तत्रेह क्षेत्रे दानक्रियाया आद्यः स्वयमनुष्ठाता श्रेयान्, चैत्य-चैत्यालयादिक्रियायास्तु भरतचक्रवर्तीति।"

और यह वात भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत 'आदिपुराण'मे भी सिद्ध है। उसमे भरत चक्रवर्तीकी बाबत यह साफ लिखा है कि उन्होने अपनी राजधानी अयोध्यामे जिनविम्बोसे अलंकृत चौबीस-चौबीस घंटे तैयार कराकर उनको नगरके बाहिरी दर्वाजो तथा राजमहलोके तोरण-द्वारो और अन्य महा-द्वारोपर वन्दनार्थ लटकाया था, और वे जिस समय इन द्वारोसे होकर बाहर निकलते या इनमे प्रवेश करते थे उस समय उन्हे इन घंटोपरसे अर्हन्तोंका स्मरण होता था और वे इन घंटोमे स्थित अर्हत्-

---

१. **'हि विशेषेऽवधारणे—विश्वलोचनकोष**

प्रतिमाओंकी वन्दना तथा पूजा किया करते थे। नगरके लोगों तथा अन्य प्रजाजनोंने भी भरतजीकी इस कृति तथा सृष्टिका अभिनन्दन किया था, वे सब उसे बहुत पसन्द करते हुए उन घटोंका आदर-सत्कार किया करते थे और कुछ दिनके बाद उन्होंने खुद भी अपनी-अपनी शक्ति तथा विभवके अनुसार उसी प्रकारके घंटे अपने-अपने घरोंके तोरण-द्वारोंपर बांध लिये थे[1]।

उसी वक्तमें गृह-द्वारपर वन्दनमालाएं बांधनेका रिवाज पड़ा जो कि आज एक दूसरे ही रूपमें दृष्टिगोचर होता है। भगवान् **ऋषभदेवने** उस वक्त **भरत** चक्रवर्तीको इस प्रकारसे घंटे बांधने तथा पूजा-वन्दना करनेका कोई उपदेश नहीं दिया—वह **भरतजीकी**

---

१. इस आशयको पुष्ट करनेवाले आदिपुराण (पर्व ४१) के वे वाक्य इस प्रकार हैं :—

निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृताः।
परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ८७ ॥
लम्बिताश्च पुरद्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः।
राजवेश्म-महाद्वार-गोपुरेष्वप्यनुक्रमात ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः।
तदा मौल्यग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥८९॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम्।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन्प्रविशंश्च स पुण्यधी ॥९०॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्तदादरः ॥९३॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु।
यथाविभवमाबद्धा घंटास्ता सपरिच्छदाः ॥९४॥
आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्तां बहुमेनिरे।
प्रत्यागारं यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिकाः ॥९५॥

तात्कालिक निजी कल्पना थी—यह स्पष्ट है। और इसलिये इस सब कथनसे यह बात और भी साफ हो जाती है कि श्रावक लोग युगकी आदिसे ही चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा पूजा-वन्दनादि सबंधी अपनी उपासना-विधिका स्वयं ही विधान करते आए हैं। यह बात दूसरी है कि उनमेंसे कुछ लोग **भरतजी**की तरहसे नई-नई विधियोंके ईजाद करनेवाले हो और कुछ पुरजनोंकी तरहसे उनका प्राय: अनुकरण करनेवाले ही हो। परन्तु इतना स्पष्ट है कि श्रावकलोग स्वय अपनी उपासना-विधिकी नई कल्पना करनेमे समर्थ जरूर थे और उसमे उनकी रुचि भी बहुत कुछ चरितार्थ होती थी। यही वजह है जो भरतजी-द्वारा कल्पित हुई अथवा उनकी ईजाद की हुई वन्दनमालाए आज प्रचलित नही हैं, उनका रिवाज छूट गया अथवा बिलकुल ही रूपान्तरित हो गया है; क्योकि आजकल लोकरुचि बदली हुई है—लोग उस प्रकारसे भगवानकी मूर्तियोको घंटोपर अकित करके उन्हे जगह-जगह दर्वाजोपर लटकाना उचित नही समझते।

इसके सिवाय, उक्त कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपासना-विधिकी कोई कल्पना महज इस वजहसे ही अप्रमाण नही हो जाती कि उसे किसी श्रावकने कल्पित किया है, क्योकि भरतजी-द्वारा कल्पित हुई उक्त उपासना-विधिको कही भी अप्रमाण नही बतलाया गया। प्रत्युत इसके, यह घोषित किया गया है कि उसे सब लोगोने मान्य किया था, और साथ ही, उस विधिकी सृष्टि करनेवाले भरतजीको पुण्यधी, धर्मशील तथा धर्म-प्रिय जैसे विशेषणोके साथ उल्लेखित भी किया है, जो सब ही उक्तक्रियाकी धार्मिकता एवं प्रामाणिकताको सूचित करते हैं। परन्तु शास्त्रीजीकी समझ विलक्षण है, उन्हें इतने पर भी यह

सूझ नहीं पड़ा कि सर्वज्ञकी स्पष्ट आज्ञाके बिना भी कोई क्रिया धर्मका अंग हो सकती है और उसमें प्रमाणता भी आ सकती है। वे दान-पूजादि संबंधी अपनी सम्पूर्ण क्रियाओंपर सर्वज्ञकी आज्ञा लादने, सर्वज्ञकी छाप लगाने, उन्हें सर्वज्ञके वचनानुसार बतलाने अथवा सर्वज्ञके माथे मढ़नेके लिये बुरी तरहसे लालायित जान पडते हैं, और इसीलिये उन्होने बिना वजह पात्रकेसरी-स्तोत्रके ३८ वे पद्यका उसके लिये उपयोग किया है, जिसे दुरुप-योग कहना चाहिये। आपकी समझके अनुसार उक्त ३८ वें पद्यकी सृष्टि इस शंकाको लेकर की गई है कि सर्वज्ञने जब उन पूजनादि विषयक क्रियाओंका उपदेश नही दिया किन्तु श्रावकोंने स्वयं उनका अनुष्ठान किया है तो वे क्रियाए सर्वज्ञकी आज्ञा-नुकूल न होनेपर किस प्रकार धर्मका अग हो सकेगी और उनमे किस प्रकारसे प्रमाणता आ सकेगी ? परन्तु इस शंकाका ३७ वें पद्यमे कोई उल्लेख नही है, जिसमे शास्त्रीजीके मतानुसार पूर्व-पक्षका पद्य होनेसे होना चाहिये था, और न ३८ वें पद्यके प्रस्तावना-वाक्यमे ही उसका उल्लेख मिलता है[1]। जैसा कि ऊपर अवतरण नं० ३ से जाहिर है। और इसलिये उक्त शकाको शास्त्रीजीकी निजी कल्पना समझना चाहिये। परन्तु इसे भी छोडिये, और मूल पद्य न० ३८ को ही लीजिये जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जिसका भावानुवाद इस प्रकार है :—

---

१. प्रस्तावना-वाक्यमें तो सिर्फ इतना लिखा है कि—'कथंचित् निस्यागम (अनादिनिधन श्रुत) से भव्य जीवोने उन क्रियाओका अनुभव किया है, इस बातको दिखलानेके लिये अगला पद्य (नं० ३८) कहा जा सकता है।'

हे जिनदेव ! आपने या आपके उपदेशको व्याख्या करके प्रवर्ता बननेवाले किसी पुरुष-विशेष (गणधरादिक) ने चैत्य-क्रिया, दान-क्रिया, अनशनविधि और केशलौचका कथचित् उपदेश दिया है अथवा अनादिनिधन श्रुतज्ञान प्रमाणसे (भव्य जीवोने) इन सब बातोका अनुभव किया है ।'

इस पद्यको पूर्ववर्ती पद्य नं० ३७ की रोशनीमें पढ़नेसे मालूम होता है कि पूर्ववर्ती पद्यमे जो यह प्रतिपादन किया गया है कि श्रावकोने उन क्रियाओका स्वयं अनुष्ठान किया है उसीके सम्बंधमें एक दूसरी बात यह बतलानेके लिये कि उन क्रियाओके अनुष्ठानका अनुभव उन लोगोको सर्वथा स्वत. ही नही किन्तु परतः भी हुआ है—उसमें कथंचित् दूसरोकी सहायता भी मिली है—इस पद्यकी सृष्टि की गई है, जैसा कि इसके संक्षिप्त प्रस्तावना-वाक्यसे भी ध्वनित है और इसमे उस सहायताको तीन भागोमे विभाजित किया है :—१. कथंचित् तीर्थंकर भगवानके उपदेशसे, २. कथचित् गणधरादिक आचार्योंके उपदेशसे, और ३. कथचित् अनादिनिधन श्रुतके अध्ययनसे । साथ ही, 'वा' तथा 'अथवा' शब्दोके प्रयोग-द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रत्येक क्रियाके अनुभवमे सबको इन तीनोकी सहायता मिलनेका कोई नियम नही है, और न ऐसा ही कोई नियम है कि इनमेंसे प्रत्येकके द्वारा तत्तद्विषयक सम्पूर्ण क्रियाओका उपदेश होता है, बल्कि यह कथन विकल्परूपसे है और इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि किसीको किसी क्रियाके अनुष्ठान-विषयक अनुभवमे किसीकी और किसीको किसीकी सहायता मिलती है अथवा उसके मिलनेका संभव है। और इसलिये इससे यह साफ नतीजा निकलता है कि भगवान सर्वज्ञने चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा

दान-पूजनादि संबन्धी किसी विषयकी सम्पूर्ण क्रियाओंका भिन्न-भिन्न रूपसे कोई उपदेश नही दिया। उनके-द्वारा वैसे किसी विषयका उपदिष्ट होना '**कथंचित्**' रूपसे है और यह '**कथंचित्**' शब्दका प्रयोग बड़ा ही महत्त्व रखता है—खासकर इसकी महत्ता यहाँ-पर और भी बढ़ जाती है जबकि पहले पद्यमे निश्चितरूपसे यह कथन पाया जाता है कि भगवान सर्वज्ञने इन क्रियाओका उपदेश नही दिया, और इस पद्यमें यह कहा जाता है कि उन्होने कथंचित् उपदेश दिया है। अतः उपदेश देने और न देनेके विरोधको मेटने वाला यह '**कथंचित्**'शब्द अवश्य ही ध्यान दिए जानेके योग्य है—उसे यो ही उपेक्षाकी दृष्टिसे नही देखा जा सकता, जैसाकि शास्त्रीजीने और बड़जात्याजीने[1] किया है। आप दोनों ही इस पद्यमे 'उपदेश दिया (**उपदिश्यतेस्म**)' को देखते ही एकदम आपेसे बाहर हो गये हैं और इस बातको भुला बैठे हैं कि पहले पद्यमे बिना '**कथंचित्**' शब्दका प्रयोग साथमे किये मुख्य तथा निश्चितरूपसे जो यह कथन किया गया है कि '**उपदेश नहीं दिया (न देशिताः)** उसका तब क्या बनेगा। इस भूल तथा उपेक्षाका ही यह परिणाम है जो **शास्त्रीजी** अपनी उस स्वतः कल्पित शंकाके उत्तरमे ३८ वे पद्यको अर्थ सहित देनेके बाद नतीजा निकालते हुए लिखते हैं :—

"इससे स्पष्ट है कि पूजन-विधान आदि क्रियाएँ भगवानने

---

१. बड़जात्याजीने तो यहाँ तक उपेक्षा धारण की कि उक्त पद्यके अनुवादमे भी 'कथंचित्' शब्दका प्रयोग नही किया और न उसके इस आशयको ही सूचित किया कि भगवानने वह उपदेश किसी प्रकार-विशेषसे दिया है—सर्वथा साक्षात्रूपमें नही—अर्थात् उसे किसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उनके द्वारा दिया हुआ समझना चाहिये।

या गणधरादिक मुनियोंने उपदेश दी हैं इनका उपदेश अनादिनिधन श्रुतज्ञानसे होता आया है, श्रावकोंने अपनी रुचि, भक्ति और शक्तिके अनुसार कल्पित नही की है ।''

मानो आपकी समझमे '**कथंचित्**' शब्दका कुछ उपयोग ही नही ! वह मूलमे व्यर्थ प्रयुक्त हुआ है !! और उसे छोड़ देनेपर (जैसाकि आपने अपने नतीजेमे छोड दिया है) 'उपदेश दिया' और 'उपदेश नही दिया' में परस्पर कोई विरोध नही रहता !!! ऐसी विलक्षण समझकी बलिहारी है । और उसका जितना भी गुण-गान किया जाय थोडा है !!

वास्तवमें '**कथंचित्**' का अर्थ है '**केनचित् प्रकारेण**'–किसी प्रकारसे–और वह '**सर्वथा**' अथवा 'सर्वप्रकारसे' का विरोधी होता है तब भगवानने '**कथंचित्**' उपदेश दिया इसका अर्थ होता है भगवानने किसी प्रकारसे उपदेश दिया–सर्वथा नही । भगवानके उपदेशका वह प्रकार कौन-सा है जो यहाँ विवक्षित है, इसकी पर्यालोचना करनेपर यह मालूम होता है कि पूर्ववर्ती पद्यमे एक शंकाका निराकरण करते हुए जब निश्चित तथा नियमितरूपसे यह कथन किया गया है कि भगवानने उन क्रियाओका उपदेश नही दिया तव यहाँ कथंचित् उपदेश देनेका अभिप्राय यह नही हो सकता कि भगवानने किसीको उन क्रियाओके करनेका सीधा, साक्षात् बराहेरास्त, स्पष्ट अथवा (Direct) कोई उपदेश-विशेष दिया है बल्कि यही हो सकता है कि भगवानके-द्वारा किसी दूसरे प्रकारसे कर्मप्रकृतियोके आस्रवके कारणो तथा कर्मफलको बतलाते हुए, वे क्रियाएं सामान्य अथवा कथंचित् विशेषरूपमे या किसी एक निर्दोष पर्यायरूपमें उपदिष्ट या उल्लेखित हुई हैं, अथवा भव्यजीवोने भगवान्के उपदेशादिका

निमित्त पाकर या उसके सहारेसे उनका अनुभव किया है और इसीसे वे कथंचित् भगवानके-द्वारा उपदिष्ट कहलाती हैं। जैसे भगवान किसीको सुख-दु:खके दाता नही; क्योकि वे किसीके लिये इच्छा-पूर्वक सुख-दु:खका विधान नही करते, परन्तु उनके मिमित्तसे मुख-दु:ख हो जाता है। एक मनुष्य भगवानकी स्तुति-भक्ति आदिके-द्वारा पुण्य उपार्जन करता है और परिणाममे उस पुण्यके फलसे सुखी होता है, दूसरा निन्दा-अवज्ञा आदिके-द्वारा पाप उपार्जन करता है और फलस्वरूप दुर्गतिका पात्र होकर दुखी होता है, और इसलिए यह भी कहा जाता है कि भगवान सुख-दु:खके दाता हैं।[१]

इसी तरह भगवानके निमित्तसे अथवा उनकी प्रवृत्ति आदिको देखकर जो उपदेश मिले उसे भी भगवानका उपदेश कहते हैं, और यह सब कथन अनेक प्रकारकी नय-विवक्षाको लिये हुए होता है। परन्तु इस प्रकारके उपदेशमे उपदेष्टाकी ओरसे उपदिष्ट विषयके करने करानेकी कोई सीधी प्रेरणा न होनेसे वास्तवमे उसका देना नही किन्तु लेना होता है, और लेना (आदान) शिष्ट-व्यवहारमे प्राय: दानपूर्वक हुआ करता है। इससे लेनेकी अपेक्षा उस उपदेशके देनेका भी व्यवहार किया जाता है। अत: ३८ वे पद्यमे भगवानके उपदेशका जो प्रकार

---

१. भगवान् सुख-दुखके दाता हैं इसको पात्रकेसरीस्तोत्रमे यों सूचित किया है।

'ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि,
क्षिपस्यकुपितो च ध्रुवमसूयकान् दुर्गतौ।
न चेश परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्
न कुप्यनि न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥८॥

अभीष्ट है वह उपदेशका राजमार्ग न होकर उपर्युक्त प्रकारका कोई दूसरा ही मार्ग है, जिसे एक नामसे '**गौणविधि**' कह सकते हैं ऐसा समझना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि ३७ वें पद्यमे जो यह कहा गया है कि भगवानने उन क्रियाओका उपदेश नहीं दिया वह मुख्य-विधिका कथन है और ३८ वें पद्यमे जो उनके कथंचित् उपदेशकी बात कही गई है उसे गौण-विधिका कथन समझना चाहिये। और इस प्रकारके गौण-कथनसे यह किसी तरह भी लाजिमी नही आता कि पूजनादि विषयकी संपूर्ण धार्मिक क्रियाएँ अपनी सम्पूर्ण व्यवस्थाओके साथ सर्वांगरूपसे सर्वज्ञ भगवानके-द्वारा उपदिष्ट हुई हैं, भगवानने उसी तरहसे उनके करने-करानेका लोगोको उपदेश दिया है; और उनकी कल्पना अथवा रचनामे श्रावकोंका जरा भी हाथ नही है। ऐसा समझना सचमुच ही समझका कोरा विपर्यास है।

मालूम नही शास्त्रीजीने 'अनादिनिधनश्रुत' को भी कुछ समझा है या कि नहीं, अथवा वर्तमान जैन शास्त्रोंको ही आप अनादिनिधनश्रुत समझते हैं! तत्त्वार्थवार्तिकमें तो भट्टाकलंक-देवने द्रव्यादि सामान्यकी अपेक्षासे अनादिनिधनश्रुतकी सिद्धि बतलाई है—विशेषापेक्षासे नही, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी विशेषा-पेक्षासे उसे आदि तथा अन्तवान सूचित किया है—इसीसे श्रुत मतिपूर्वक कहलाता है—और साथ ही, यह भी प्रतिपादन किया है कि अनादिनिधनश्रुतको कभी किसी पुरुषने कही पर किसी प्रकारसे उत्प्रेक्षित नही किया है[1] इससे अनादिनिधनश्रुतका

---

१. यथाः—द्रव्यादिसामान्यापेक्षाया तत्सिद्धिः। द्रव्यक्षेत्रकालभावानां विशेषस्याविवक्षायां श्रुतमनादिनिधनमित्युच्यते। न हि केन-

विषय सामान्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जान पड़ता है। तब मन्दिर-मूर्तियोंकी नाना प्रकारकी रचनाओं तथा पूजनादि विधानोंकी विशेष-विशेष क्रियाओंका अनादिनिधनश्रुतसे कैसे उपदेश होता आया है, इसे शास्त्रीजी जरा समझाकर बतलाएँ तो सही? उदाहरणके लिये पार्श्वनाथकी कुछ मूर्तियोपर सर्पके फणका बनाया जाना और फणकी संख्यामे भी ५, ७, ६, ११ जैसे विकल्पोंका होना, अथवा मूर्तियोके कानोको कंधोतक मिला देना, मन्दिरोंकी चित्र-विचित्र आकृतिके साथ-साथ उनकी दीवारोंपर पावापुरके वर्तमान जल-मन्दिर जैसे आधुनिक चित्रोंका खीचा जाना और रंगे चावलोंको पुष्प तथा गोलेके रँगे टुकड़ोंको दीपक कहकर चढ़ाना, इन चैत्य-चैत्यालय तथा पूजन सम्बन्धी वर्तमान क्रियाओंको ही लीजिये और उनके तद्रूप उपदेशको अनादिनिधन-श्रुतसे सिद्ध करके बतलाइये। परन्तु इस बतलानेमें इतना खयाल अवश्य रहे कि क्रियाओंके पूरे रूपका उल्लेख करते हुए, कही श्रावकोंकी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिका उन क्रियाओंके साथमें संयोग अथवा समिश्रण न हो जाय, नही तो वे क्रियाएँ अनादिनिधन न रह सकेगी और न शास्त्रीजीके मतानुसार उनमें धर्मांगता तथा प्रमाणताका ही प्रवेश हो सकेगा।

और हाँ, शास्त्रीजीने तो अपने उक्त नतीजेमे 'या' शब्दके प्रयोग-द्वारा भगवानके उपदेशका विकल्परूपसे उल्लेख किया है तब आप लाजिमी तौरपर यह कैसे कह सकते हैं कि भगवान सर्वज्ञने उन सब क्रियाओंका उपदेश दिया है? और यदि नही कह

चित्पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथंचिदुत्प्रेक्षितमिति। तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च संभवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते।

सकते तो फिर जिन विशिष्ट क्रियाओंका भगवानने उपदेश नहीं दिया और जो खास तौरपर गणधरादिक मुनियोके-द्वारा ही उपदिष्ट हुई हो उन्हें क्या आप अप्रमाण तथा अधर्म क्रिया कहना चाहते हैं ? शायद इसपर शास्त्रीजी यह कहे कि गणधरादिक मुनि तो उन्ही क्रियाओका उपदेश देते हैं जो भगवानके-द्वारा उपदिष्ट होती हैं—उनके उपदेशमे भगवानके उपदेशसे कोई विशिष्टता अथवा विभिन्नता नही होती—और इसलिये पूजनादि विषयकी ऐसी कोई क्रिया ही नही जो भगवानके-द्वारा उपदिष्ट न हुई हो। तब तो 'या' की जगह 'और' शब्दका प्रयोग होना चाहिये था अथवा मुनियोके उपदेशको पृथक्रूपसे उल्लेख करना ही व्यर्थ था। परन्तु उनके उपदेशका यह पृथक्रूपसे उल्लेख और साथमे '**वा**' शब्दका प्रयोग ये दोनो बाते मूलमें भी पाई जाती हैं और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि गणधरादिक मुनियोके द्वारा भी कुछ क्रियाएँ भिन्नरूपसे उपदिष्ट हुई हैं, इसीसे उनके विषयका पृथक्रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत पैदा हुई। और यह बिलकुल सत्यार्थ है। यदि ऐसा न होता तो श्रावकोके मूलगुण तथा उत्तरगुण आदिके कथनोमे आचार्योका परस्पर मत भेद न होता। परन्तु मतभेद अवश्य है जिसको लेखकने '**जैनाचार्योंका शासनभेद**' नामकी अपनी लेखमालामे अच्छी तरहसे प्रदर्शित किया है[1]। और इसलिये यह सिद्ध है कि गणधरादिक आचार्योंके-द्वारा कुछ क्रियाएं ऐसी भी उपदिष्ट हुई हैं जिनका सर्वज्ञने कोई खास उपदेश नही दिया। तब तो उन क्रियाओंको, सर्वज्ञके-द्वारा उपदिष्ट न होनेसे शास्त्रीजीको अपनी

---

१. देखो जैनहितैषी' की १४ वीं जिल्द अंक नं० १, २-३, ७-८-९। यह लेखमाला 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामसे पृथक् छप चुकी है।

परिभाषाके अनुसार 'अधर्म' तथा 'अप्रमाण' कहना होगा और नहीं तो वे श्रावकों-द्वारा परिकल्पित उत्तम क्रियाओको भी अधर्म तथा अप्रमाण नही कह सकेंगे।

संभव है शास्त्रीजी यहाँपर यह कहनेका साहस करें कि गणधरादिक 'आचार्य' जिन विशेष-क्रियाओंका उपदेश देते हैं वे बेशक सर्वज्ञके-द्वारा उपदिष्ट नही होती परन्तु उनका बीज सर्वज्ञके उपदेशमें सन्निहित होता है, जिसे वे आचार्य महोदय देश-कालकी परिस्थिति तथा शिष्योकी आवश्यकतादिके अनुसार पल्लवित करके बतलाते हैं; उनका वह उपदेश सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रतिकूल न होनेसे उनके अनुकुल कहा जाता है और इसलिये उसे अप्रमाण नहीं कह सकते। इसपर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि उसे पल्लवित करनेमे अथवा पर्यायरूपसे एक क्रियाको नवीन जन्म देनेमे आचार्योंकी इच्छा, शक्ति, रुचि, विचारपरिणति, देश-कालकी परिस्थिति और शिष्योकी आवश्यकता आदि दूसरी चीजें शामिल होती हैं या कि नही ? यदि नही होती तब तो पल्लवित होना ही असंभव हैं—क्योंकि बाहरसे दूसरी चीजके शामिल हुए बिना बीज अकुरित भी नही होता। और यदि शामिल होती है और उस शमूलियत (सम्मेलन) पर भी कोई क्रिया महज इस वजहसे अप्रमाण नही कही जा सकती कि वह सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रतिकूल अथवा विरुद्ध नहीं है तो फिर श्रावकोके-द्वारा उनकी सद्भावना, हितचिन्ता, भक्ति, रुचि, शक्ति और आवश्यकता आदिके सम्मेलनसे उपासनाकी जो क्रियाएं कल्पित की जाय और वे सर्वज्ञकी आज्ञाके विरुद्ध न हो उनपर शास्त्रीजी किस तरहपर आपत्ति करनेके लिये समर्थ हो सकते हैं ? और कैसे उन्हे अधर्म कह सकते या उनपर अप्रमाणका फतवा लगा सकते हैं ? अत:

श्रावकों-द्वारा परिकल्पित हुई उन क्रियाओंमें शास्त्रीजीकी उक्त शंका व्यर्थ है। खेद है शास्त्रीजीके किसी भी कथनकी संगति ठीक नही बैठती और उनका भी सारा लेख बड़जात्याजीकी तरह अशिक्षितोका-सा प्रलाप जान पड़ता है। इस तरह-पर, इस कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट है कि '**विमोक्षसुख**' वाले ३७वे पद्यके साथ ३८वे पद्यका पेश करना कोई जरूरी अथवा लाजिमी नही था। और जब ३८वे पद्यका पेश करना ही जरूरी नही था तब ३९वे पद्यका पेश करना तो और भी ज्यादा गैर-जरूरी तथा अनावश्यक हो जाता है; क्योंकि वह प्राय: ३८वे पद्यमे जो कथचित् उपदेशवाली बात कही गई है उसपर की जानेवाली शंकाको लेकर लिखा गया है, जैसा कि उसके प्रस्ता-वना-वाक्यसे भी जाहिर है। और इसलिये इन पदोंको साथमे पेश न करनेसे शास्त्रीजी तथा बड़जात्याजीका लेखककी नीयत आदिपर आक्षेप करना ऐसा ही है जैसा 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे' समझका तो खोट अपना—आप इनके आशय, अभिप्राय अथवा कथनकी नय-विवक्षाको समझे नही—और इलजाम लगाने बैठ गये दूसरेपर कि उसने इनको छिपा लिया। कितना विलक्षण न्याय है।

आशा है शास्त्रीजी और बड़जात्याजी दोनों इस लेखपरसे अपनी भूले मालूम करेंगे, अपने भ्रमको सुधारेंगे और भविष्यमे इस तरहपर बिना सोचे समझे जो जीमे आया लिख देनेका साहस नही करेंगे। हर एक बातको उन्हे धैर्यके साथ सोचना और गहरे अध्ययनके साथ विचारना चाहिये—यों ही अपने संस्कारोके विरुद्ध कोई बात देख-सुनकर एकदम क्षुब्ध या कुपित हो जाना नहीं चाहिये। संस्कार तो खराब हो ही रहे हैं, उन्हीकी वजहसे

उपासना विकृत तथा दूषित बनी हुई है और इसलिये कुसंस्कारों-को हटाकर उपासनाको सच्ची उपासना बनाने—उसे ऊँचा उठाने अथवा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करनेके लिये उपासनाके प्रत्येक अंग तथा ढंगपर बहुत कुछ लिखने-लिखानेकी जरूरत है। समाजहितैषी विद्वानोंको उसके लिये बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

—जैन जगत १६–१–१९२७
(पक्षिक) १–२–१९२७
चार अंकोंमे १६–२–१९२७
प्रकाशित १–३–१९२७

एक आक्षेप : ८ :

लेखोका सम्पादन करते समय जिस लेखमें मुझे जो बात विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण गलतफहमीको लिये हुए अथवा स्पष्टी-करणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उसपर उसी समय कुछ प्रकाश डालना उचित समझता हूँ तो उसपर यथाशक्ति संयत भाषामे अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोको सत्यके निर्णयमे बहुत बड़ी सहायता मिलती है, भ्रम तथा गलतियाँ फैलने नही पाती, त्रुटियोका कितना ही निरसन हो जाता है—और साथ ही, पाठकोकी शक्ति तथा समयका बहुत-सा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही एक लक्ष्य रहनेसे इन नोटोमे किसीकी कोई रु-रिआयत अथवा अनुचित पक्षा-पक्षी नही की जाती; और न इसलिये मुझे अपने श्रद्धेय मित्रो पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा प० सुखलालजी जैसे विद्वानो के लेखोपर भी नोट लगाने पड़े हैं, मुनि पुण्यविजय और मुनि कल्याण विजय जी जैसे विचारकोके लेख भी उनमे अछूते नही रहे हैं। परन्तु किसीने भी उन परसे बुरा नही माना, बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोके योग्य और सत्य-प्रेमियोको शोभा देनेवाली प्रसन्नता ही प्रकट की है। और भी दूसरे विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान मेरी इस विचार-पद्धतिका अभिनन्दन कर रहे हैं, जिसका कुछ परिचय इस किरणमे भी पाठकोको दीवान साहब महाराजा कोल्हापुर जैसे विद्वानोकी सम्मतियोसे मालूम हो सकेगा। अस्तु।

इसी विचार-पद्धतिके अनुसार **'अनेकान्त'** की चौथी और पाँचवीं किरणमे प्रकाशित होनेवाले बाबू कामताप्रसादजी

सम्पादक 'वीर' के दो लेखों पर भी कुछ नोट लगाये गये थे। पाटकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन परसे बाबू साहब रुष्ट हो गये हैं और उन्होंने अपना रोष एक प्रतिवादात्मक लेख-द्वारा[1] हालके **'दिगम्बर जैन'** अंक नं० ७ में प्रकट किया है। और इस तरह अपनी निर्दोषता, निर्भ्रान्तता, तथा युक्ति-प्रौढ़ताको ऐसे पाठकोके आगे निवेदन करके अपने चित्तको एकान्त शान्त करना चाहा है अथवा उनसे एकतरफा डिगरी लेनी चाही है, जिनके सामने न तो मुनि पुण्यविजयजी तथा मुनि कल्याणविजयजी वाले वे लेख हैं जिनके विरोधमे आपके लेखोका अवतार हुआ था, न आपके ही उक्त दोनों लेख हैं और न उनपरके सम्पादकीय नोट ही हैं; और इसलिये जो बिना उनके आपके कथनको जज नही कर सकते—उसकी कोई ठीक जॉच नही कर सकते। इस लेखपरसे मुझे आपकी मनोवृत्तिको मालूम करके दुःख तथा अफसोस हुआ ? यह लेख यदि महज सम्पादकीय युक्तियो अथवा आपत्तियोके विरोधमे ही लिखा जाता और अन्यत्र ही प्रकाशित कराया जाता तो मुझे इसका कोई विशेष खयाल न होता और सभव था कि मैं इसकी कुछ उपेक्षा भी कर जाता। परन्तु इसमें सम्पादककी नीयतपर एक मिथ्या आक्षेप किया गया है, और इस-लिए यहॉपर उसकी असलियतको खोल देना ही मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। आक्षेपका सार इतना ही है कि—'यदि यह लेख **'अनेकान्तके'** सम्पादकके पास भेजा जाता तो वे इसे न छापते; क्योकि वे अपनी टिप्पणियोके विरुद्ध किसीका लेख छापते नहीं, मेरा भी एक 'संशोधन' नही छापा था और उसीपरसे मैं इस नतीजेको पहुँचा हूँ! आक्षेपकी भाषा इस प्रकार है :—

---

१. लेखका शीर्षक है **'राजा खारवेल और उसका वंश'**।

"'**अनेकान्त**' के प्रवीण सम्पादकने हमारे लेख पर कई आपत्तियाँ की हैं। उनका उत्तर इसी पत्रमे छपना ठीक था; परन्तु उक्त सम्पादक महोदयका अपनी सम्पादकीय टिप्पणियोंके विरुद्ध लेख छाप देना मुझे अशक्य जँचा; क्योंकि पिछले सबकसे मैं इस ही नतीजेको पहुँचा हूँ। '**अनेकान्त**' की चौथी किरणमे मेरा एक नोटे खारवेलके लेखकी १४वी पंक्तिके सम्बन्धमें प्रकट करके मान्य सपादकने एक उपहास-सा किया है और यह जाहिर किया है मानो उस पंक्तिका विशेष सम्बन्ध श्वेताम्बरीय सिन्द्धान्तसे है और इस सम्बन्धमे उन्होंने मि० जायसवालका वह अर्थ भी पेश किया है जिसमे 'याप ज्ञापक' शब्दका अर्थ जैन साधू करके, उन साधुओको सवस्त्र प्रकट किया गया है। मैंने इसपर उनको लिखा कि पूर्वोक्त नोटको उस हालतमें ही प्रकट करनेको मैंने आपको लिखा था जब कि आप १९१८ मे जो इस पँक्तिका नया रूप प्रकट हुआ है, उसे देखकर ठीक कर ले। अत: आप इस बातका संशोधन प्रकट कर दें और आप जो जायसवालजीके अनुसार 'याप ज्ञापक' शब्दसे जैन साधुओंको सवस्त्र प्रकट करते है सो ठीक नही; क्योकि 'याप ज्ञापक' शब्द-का अर्थ जैन साधु काल्पनिक है---किसी प्रमाणाधारपर अवलम्बित नही है ? किन्तु सम्पादक महोदयने इस सशोधनको प्रकट करने की कृपा नही कि। इसीसे प्रस्तुत लेख "**दिगम्बरजैन**" मे भेजने को बाध्य हुआ हूँ।"

अब मैं अपने पाठकोके सामने बाबू साहबके उन दोनों पत्रोको भी रख देना चाहता हूँ जो आपने अपने उक्त दोनों लेखोके साथमे भेजे थे; और जिनकी तरफ आपने अपने उक्त आक्षेपमें इशारा किया है। और साथ ही, यह निवेदन किये

देता हूँ कि वे 'अनेकान्त' की ४ थी किरणके पृ० २३० पर मुद्रित बाबू साहबके उस लेखको भी सामने रख लेवें जिसे आपने अपने उक्त आक्षेपमें "नोट" नाम दिया है। इससे उन्हे सत्यके निर्णयमे बड़ी सहायता मिलेगी, लेखो तथा पत्रोके परस्पर विरोधी कथन भी स्पष्ट हो जायँगे और वे सहज ही मे बाबू साहबके आक्षेपका मूल्य मालूम कर सकेगे :—

पहला पत्र—'अनेकान्त'के आगामी अङ्कके लिये तीन लेख भेज रहा हूँ। **इनमे जो आपको पसन्द आए वह प्रकट कर दीजिये।** बाकी लौटा दीजिये। 'खारवेल' के शिलालेखका पहला पाठ मि० जायसवालने JBORS के भाग ३ मे प्रकट किया था और उसका सशोधन फिर किया था और उस संशोधित रूपका भी संशोधन गत वर्ष प्रकट किया है। **मैंने पहला रूप और अन्तिम रूप देखा है** और इसमें जो अन्तर हुआ वह प्रकट किया है परन्तु बीचका संशोधित रूप देखे बिना कुछ स्पष्ट मैं नहीं लिख सका हूँ। यदि आप दिल्लीमें उसको देखकर फिर मिलान करले तो अच्छा हो। मेरे खयालमें मुनिजीका पाठ अब शायद ही उसके उपयुक्त हो।"

दूसरा पत्र--"अनेकाकान्त'का ४ था अङ्क मिला। उसमें आपने मेरे खारवेलके शिलालेखकी १४ वीं पंक्तिवाले नोटको यूँ ही प्रकट करके अच्छा बेवकूफ बनाया है। खेद है, आपने उसके साथ भेजे हुए मेरे पत्रपर ध्यान नही दिया? मैंने लिखा था कि जायसवालजीने इसके पहले (सन् १६१८ में) जो संशोधन किया था, वह मेरे पास नहीं। मुझे उसीका ख्याल था और उसीपर यह नोट लिखने लगा—पर वह जब न मिला तो जो कुछ लिखा था, वह यूँ ही पूरा करके आपको भेज दिया और

यह चाहा कि आप दिल्लीकी किसी लायब्रेरीसे उसे ठीक करके उचित समझें तो प्रकट करें। उसको उसी शक्लमें छापनेकी चन्दा जरूरत नही थी और न ऐसा मैंने आपको लिखा था। **खैर, अब आप उचित समझें तो** इस गलतीको आगामी अङ्कमें ठीक कर दे! मैं नही समझता, आपने उस नोटको प्रकट करके कौन-सा हित साधन किया? हाँ, रही बात श्वेताम्बरत्वकी, सो जायसवालजीने यापज्ञापकोको श्वेताम्बरोंका पूर्वज बतलाया है, सो निराधार है। इसके बजाय, यह बहुत सभव है कि वे उदासीन-व्रती श्रावक हो, जिन्होने व्रतीश्रावक खारवेलके साथ यम-नियमो-द्वारा तपस्याको अपनाया था! उनको वस्त्रादि देना कोई बेजा नही है जब उदयगिरि-खडगिरिमे नग्न मूर्त्तियाँ मिलती हैं तब वहाँपर श्वेताम्बरोका होना कैसे सभव है? इस बातको जरा आप स्पष्ट कर दीजिये। साथमे एक लेख और भेजनेकी धृष्टता कर रहा हूँ। अगर उचित समझे तो छाप दे वरना कारण व्यक्त करके इसके लौटानेकी दया कीजिये। बडा अनुग्रह होगा।"

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि पहले पत्रमे जिस JBORS भाग ३ का उल्लेख है वह विहार-उड़ीसा-रिसर्च सोसायटीका सन् १९१८ का जर्नल है जिसमे जायसवाल-जीका पहला पाठ प्रगट हुआ था और अन्तिम पाठ जिस जर्नलमे प्रगट हुआ उसका नं० १३ है और उसे बाबू साहबने गत वर्षमें (अर्थात् १९२९ मे) प्रकट हुआ लिखा है। इन्ही दोनो पाठकोके अनुसार आपने अपने लेखमें खारवेलके शिला लेखकी १४ वीं पंक्तिको अलग-अलगरूपसे उद्धृत किया था और मुनि पुण्य-विजयजी-द्वारा उद्धृत इस पक्तिके एक अंशको मुनिजीका पाठ बतलाकर उसे स्वीकार करनेमें कठिनताका भाव दर्शाया था।

साथ ही, जायसवालजीके अन्तिम पाठको "बहुत ठीक" बतलाया था। परन्तु दैवयोगसे मुनिजीका पाठ जायसवालजीका ही पाठ था और वह उनका अन्तिम पाठ ही था, इससे संपादकीय नोटों द्वारा जब उस लेखकी निःसारता और व्यर्थता प्रकट की गई तब बाबू साहबकी आँखें कुछ खुली और उन्होने अपने उपहास आदिके साथ यह महसूस किया कि, वह लेख छपना नही चाहिये था। ऐसी हालतमें मुनासिब तो यह था कि आप अपनी भूलको स्वीकार करते और कहते कि मैं अपने लेखको वापिस लेता हूँ— यही उसका एक संशोधन हो सकता था–अथवा मौन हो रहते। परन्तु आपसे दोनों बातें नहीं बन सकीं और इसलिये आप किसी तरहपर उसके छापनेका इलजाम संपादकके सिर थोपना चाहते हैं और यह कहना चाहते हैं कि हमने तो उसके छापनेके लिये अमुक शर्त लगाई थी अथवा "उस हालतमें ही प्रकट करनेको लिखा था जब कि आप १९१८ में जो इस पंक्तिका नया रूप प्रकट हुआ है उसे देखकर इसे ठीक कर लें।" परन्तु पहले पत्रमें ऐसी कोई शर्त आदि नहीं है—उसमे साफ तौर पर तीनों लेखोंमें से जो पसंद आए उसे प्रकट करने और बाकीको लौटा देनेकी प्रेरणा की गई है। साथ ही, यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि लेखकने जायसवालजीके पहले (सन् १९१८ वाले) और अन्तिम (गतवर्ष वाले) संशोधित पाठोंको देख लिया है, उन्हींका अन्तर लेखमे प्रकट किया है, बीचका संशोधित देखा नहो उसे देख लेनेकी प्रेरणा की गई है और इस प्रेरणाका अभिप्राय इतना ही हो सकता है कि, यदि वह बीचका पाठ भी मिल जाय तो उसे भी दे दीजिये, संभव है मुनिजीका पाठ उसीसे सम्बन्ध रखता हो और उन्हें नये पाठकी खबर ही न हो। परन्तु मुनिजीका पाठ जब बिलकुल नया पाठ ही मालूम हुआ तब संपादकको उस

बीचके पाठको खोजनेकी कोई जरूरत ही बाकी नही रही। उसे तो यह स्पष्ट जान पडा कि लेखक सांप्रदायिक कट्टरताके आवेशमें बेसुध हो गया है। इसीसे अपने सामने जर्नलकी १३ वी जिल्द-वाला जायसवालजीका नया पाठ और मुनिजी-द्वारा उद्धृत पाठ मौजूद होते हुए भी उन दोनोका अभेद उसे सूझ नही पड़ा और न यही खबर पडी कि मैं क्या लिख रहा हूँ, क्यों लिख रहा हूँ अथवा किस बातका विरोध करने बैठा हूँ? इस प्रकारकी हानिकारक प्रवृत्तिका नियत्रण करने और ऐसे लेखकोंकी आखे खोलनेके लिए ही वह लेख छापा गया, और उसपर नोट लगाये गये। मैं चाहता तो उस लेखको भी न छापता—छापनेकी कुछ इच्छा भी नही होती थी—परन्तु, चूँकि वह लेख 'अनेकान्त' के एक लेखके विरोधमे था, उसके न छापनेपर बाबू साहब उसे अन्यत्र छपाते—जैसाकि उन्होने "**जिम्नोसो फिस्ट्स**" जैसे पद-पदपर आपत्तियोग्य लेखको यहाँ से वापिस होने पर '**वीर**' में छपाया है—और यह ठीक न होता। इसमे छापतेमें कुछ प्रसन्नता न होते हुए भी उसका छापना ही उचित समझा गया। और इसलिये लेखके प्रकट होनेके बाद जब बाबू साहबका दूसरा पत्र आया तो उसके 'खेद' आदि शब्दोपरसे मुझे आपकी मनोवृत्ति और पूर्व पत्रके विरुद्ध लिखनेको देखकर बडा अफसोस हुआ और इस ना-समझीको मालूम करके तो और दुःख हुआ कि आप अभी तक भी अपनी भूल स्वीकार नही कर रहे हैं !! उस पत्रके साथमे आपने अपना कोई संशोधन नही भेजा, जिसकी दुहाई दी जा रही है, यदि भेजते तो जरूर छाप दिया जाता—भले ही उसपर कोई और नोट लगाना पड़ता। पहले '**अनेकान्त**' की ४ थी किरणमें पं० सुखलालजी तथा बेचरदासजीका एक संशोधन प्रकाशित हुआ है; और इसलिए यह नही कहा जा सकता कि संपादक

अपनी टिप्पणियों अथवा लेखोंके विरुद्ध किसीका संशोधन नहीं छापता। बाकी सम्पादककी ओरसे जिस किसी संशोधनके निकाले जानेकी प्रेरणा की गई है उसे उसके औचित्य-विचारपर छोड़ा गया है। उसने लेखके छापनेमें अपनी किसी गलतीका अनुभव नहीं किया और इसलिये किसी संशोधनके देनेकी जरूरत नहीं समझी। फिर उसपर '**दिगम्बरजैन**' वाले लेखमे आपत्ति कैसी ? और इस लेखमे अपने पूर्वपत्रोके विरुद्ध लिखनेका साहस कैसा !!

एक बात और भी बतला देनेकी है, और वह यह कि पहले पत्रके विरुद्ध दूसरे पत्र और आक्षेप-वाले लेखमें सन् १९१८ वाले पक्तिके रूपको देख लेनेकी और तदनुसार उस "नोट" नामक लेखको ठीक कर लेनेकी जो नई बात उठाई गई है, उससे लेखक महाशय लेखके छापने-न-छापनेके विषयमे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं, वह कुछ समझमे नही आता ! सन् १९१८ के उस पाठको तो मैने खुद ही लेखका संपादन करते हुए देख लिया था और उसके अनुसार जहाँ कहीं पहले पाठको देते हुए आपके लिखनेमे कुछ भूल हुई थी उसे सुधार भी दिया था। पर उससे तो लेखके छापने या न छापनेका प्रश्न कोई हल नही होता। इससे मालूम होता है कि लेखक महाशय इतने असावधान हैं कि वे अभी तक भी अपनी भूलको नही समझ रहे हैं—यह भी नही समझ रहे हैं कि पहले हमने क्या लिखा और अब क्या लिख रहे हैं—और बराबर भूल-पर-भूल करते चले जाते हैं। पहली भूल आपने पहला लेख लिखनेमे की, दूसरी भूल दूसरे पत्रके भेजनेमे और तीसरी भूल दिगम्बर-जैन वाले लेखके आक्षेप-वाले अंशको लिखनेमे की है। आपके लेखो तथा पत्रोंको देखनेसे हर कोई विचारक आपकी भारी असावधानीका

अनुभव कर सकता है और यह भी जान सकता है कि आप दूसरोंकी बातोको कितने गलतरूपमें प्रस्तुत करते हैं। इतनी भारी असावधानी रखते हुए भी आप ऐतिहासिक लेखोंके लिखने अथवा उनपर विचार करनेका साहस करते हैं, यह वडे ही आश्चर्यकी बात है। अस्तु।

इस संपूर्ण कथन, विवेचन अथवा दिग्दर्शनसे सहृदय पाठक सहज ही मे यह नतीजा निकाल सकते हैं कि बाबू साहब का आक्षेप कितना नि:सार, निर्मूल, मिथ्या अथवा बेबुनियाद है, और इसलिये उसके आधारपर उन्होने "दिगम्बरजैन" मे अपने लेखको भेजनेके लिये जो बाध्य होना लिखा है, वह समुचित तथा मान्य किये जानेके योग्य नही। मैं तो उसे महज शर्म-सी उतारनेके लिये ऊपरी तथा नुमाइशी कारण समझता हूँ—भीतरी कारण नैतिक बलका अभाव जान पड़ता है। मालूम होता है सपादकीय नोटोके भयसे ही उन्होने कही यह मार्ग अख्तयार किया है, जो ऐतिहासिक क्षेत्रमे काम करने वाले तथा सत्यका निर्णय चाहने-वालोको शोभा नही देता। वे यदि अपना प्रतिवादात्मक लेख 'अनेकान्त' को भेजते और वह युक्तिपुरस्सर, सौम्य तथा शिष्ट भाषामे लिखा होता तो 'अनेकान्त' को उसके छापनेमें कुछ भी उज्र न होता। आपके जिस दूसरे लेखपर मैंने कुछ नोट दिये थे उसके विरोधमें एक विस्तृत लेख मुनि कल्याणविजयजीका इसी संयुक्त किरणमे प्रकाशित हो रहा है, आप चाहे तो उसपर और मेरे नोटोपर भी एकसाथ ही कोई प्रतिवादात्मक लेख 'अनेकान्त' को भेज सकते हैं उसपर तब काफी विचार हो जायगा।

'अनेकान्त' वर्ष १, किरण ६–७,
मई १९३०।

एक विलक्षण आरोप : ९ :

बाबू कामताप्रसादजीके लेखपर जो नोट **'अनेकान्त'** की ५ वी किरणमे लगाये गये थे उनपरसे बाबू साहब रुष्ट हुए सो तो हुए ही, परन्तु उनके मित्र बैरिष्टर चम्पतरायजी भी रुष्ट हो गये हैं—उन्हे अपने खास मित्रके लेखकी शानमें ऐसे नोट असह्य हो उठे हैं और इसलिये आपने उन्हे तथा साथमें सहारेके लिये बाबू छोटेलालजीके लेखके नोटोंको भी लेकर, उक्त किरणकी समालोचनाके नामपर, एक लेख लिख डाला है और उसके द्वारा **'अनेकान्त'** तथा उसके सम्पादकके प्रति अपना भारी रोष व्यक्त किया है। यह लेख जून सन् १९३० के 'वीर' और २८ अगस्त १९३० के **'जैन-मित्र'** में प्रकट हुआ है। लेखमें सम्पादकको "मकतबके मौलवी साहब"—"परागंदहदिल मौलवी साहब"—उसके नोटोको "कमचियाँ" और उनपरसे होनेवाले अनुभवको "तड़ाकेका मजा", "चटखारोका आनन्द", "चटपटा चटखारा" और "मजेदार तड़ाकोका लुत्फ" इत्यादि बतला कर हिंसानन्दी रौद्र ध्यानका एक पार्ट खेला गया है।

इस लेखपरसे बैरिष्टर साहबकी मनोवृत्ति और उनकी लेखन-पद्धतिको मालूम करके मुझे खेद हुआ! यदि यह लेख मेरे नोटोके विरोधमें किसी गहरे युक्तिवाद और गम्भीर विचारको लिये होता, अथवा उससे महज आवेश ही आवेश या एक विदूषककी कृति-जैसा कोरा बातूनी जमाखर्च ही रहता तो शायद मुझे उसके विरोधमें कुछ लिखनेकी भी जरूरत न होती; क्योंकि मैं अपना

और अपने पाठकोंका समय व्यर्थ नष्ट करना नही चाहता। परन्तु लेखमे मेरे ऊपर एक विलक्षण आरोपके लगानेकी भी चेष्टा की गई है। अतः इस लेखकी असलियतका कुछ थोड़ा-सा परिचय 'अनेकान्त' के पाठकोको करा देना और उनके सामने अपनी पोजीशनको स्पष्ट कर देना मैं अपना उचित कर्त्तव्य समझता हूँ। उसीका नीचे प्रयत्न किया जाता है। और वह पाठकोंको कुछ कम रुचिकर नही होगा, उससे उनकी कितनी ही गलतफहमियाँ दूर हो सकेगी और वे बैरिष्टर साहबको पहलेसे कही अधिक अच्छे रूपमे पहचान सकेगे।

सम्पादकके पिछले कामोकी आलोचना करते हुए बैरिष्टर साहब लिखते हैं—"खण्डनका काम आपका दरअसल खूब प्रसिद्ध है। मण्डनका काम अभी कोई काबिल तारीफ आपकी कलमका लिखा हुआ मेरे देखनेमे नही आया।" इत्यादि, और इसके-द्वारा आपने यह प्रतिपादन किया है कि सम्पादकके-द्वारा अभी तक कोई अच्छा विधायक कार्य नही हो सका है—अनेकान्तके-द्वारा कुछ होगा तो वह आगे देखा जायगा, इस वक्त तो वह भी नही हो रहा है।

इस सबधमे मैं सिर्फ दो बातें बतलाना चाहता हूँ। एक तो यह कि ऐसा लिखते हुए बैरिष्टर साहब जैन-सिद्धान्तकी इस बातको भूल गये हैं कि खण्डनके साथ मण्डन लगा रहता है, एक बातका यदि खडन किया जाता है तो दूसरी बातका उसके साथ ही, मण्डन हो जाता है और खण्डन जितने जोरका अथवा जितना अच्छा होता है मंडन भी उतने ही जोरका तथा उतना ही अच्छा हुआ करता है। उदाहरणके तौरपर शरीर के दोषों अथवा विकारोंका जितना अधिक खण्डन किया जाता है शरीरके

स्वास्थ्यका उतना ही अधिक मण्डन होता है—किसी अंगके गले-सड़े भागको काट डालना उसके दूसरे स्वस्थ भागकी रक्षा करनेके बराबर है। इसी तरह शरीरके दोषोंका जिन कार्योंके द्वारा मण्डन होता है उन्हीके-द्वारा शरीरके स्वास्थ्यका साथ-ही-साथ खण्डन हो जाता है। अतः खण्डनके साथ मण्डनका और मण्डनके साथ खण्डनका अनिवार्य संवंध है, जिसको शास्त्रीय परिभाषामे अस्तित्वके साथ नास्तित्वका और नास्तित्वके साथ अस्तित्वका अविनाभावसम्बन्ध बतलाया गया है और जो स्वामी समन्तभद्रके **'अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि'** तथा **'नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि'** जैसे वाक्योंसे स्पष्ट प्रकट हैं। अतः काबिल तारीफ खण्डनके द्वारा काबिल तारीफ मण्डनका कोई काम नही हुआ, यह कहना अथवा समझना ही भूल है और यह बात खुद बैरिष्ठर साहबके एक पत्रके भी विरुद्ध पड़ती है जिसमे आपने सम्पादकके 'ग्रंथपरीक्षा-द्वितीय भाग' पर सम्मति देते हुए लिखा है—

"वाकईमे आपने खूब छानबीन की है और सत्यका निर्णय कर दिया है। आपके इस मजमूनसे मुझे बडी भारी मदद जैनलॉ-के तैयार करनेमें मिलेगी। ·· आपका परिश्रम सराहनीय है। मगरिबके विद्वान भी शायद इतनी बारीकीसे छानबीन नही कर पाते जिस तरहसे इस ग्रंथ (भद्रबाहुसहिता) की आपने की है। आप जैनधर्मके दुश्मन कुछ अशखासकी निगाहमें गिने जाते हैं, यह इसी कारणसे है कि आपकी समालोचना बहुत बेढब होती है और असलियतको प्रकट कर देती है। मगर मेरे खयालमें इस काममें कोई भी अंश जैनधर्मकी विरुद्धताका नहीं पाया जाता है; बल्कि यह तो जैनधर्मको अपवित्रताके मैलसे शुद्ध करनेका उपाय हैं।"

क्या सत्यका निर्णय कर देना, जैनलॉकी तैयारीमें बड़ी भारी मदद पहुँचाना, असलियतको प्रकट कर देना और जैनधर्मको अपवित्रताके मैलसे शुद्ध करनेका उपाय करना, यह सब कोई मण्डनात्मक कार्य नही हैं ? जरूर हैं। तब आपका उक्त लिखना क्रोधके आवेशमे असलियतको भुला देनेके सिवाय और कुछ भी समझमे नही आता।

दूसरे यह है कि सम्पादकके-द्वारा लिखी हुई मेरी भावना, उपासनातत्त्व, विवाहसमुद्देश्य, स्वामी समन्तभद्र (इतिहास), जिनपूजाधिकारमीमासा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनाचार्यो-का शासनभेद, वीरपुष्पाजलि, महावीरसदेश, मीनसंवाद, हम दुःखी क्यो ? और विवाहक्षेत्रप्रकाश जैसी पुस्तकों तथा जैनहितैषी जैसे पत्रको भी, जो प्रायः सभी आपको मिल चुके हैं, या तो आपने मण्डनात्मक नही समझा है और या उन्हे काबिल तारीफ नही पाया है। मण्डनात्मक न समझना तो समझकी विलक्षणताको प्रकट करेगा और तब मडनका कोई अलौकिक ही लक्षण बतलाना होगा, इसलिये यह कहना तो नही बनता, तब यही कहना होगा कि आपने उन्हे काबिल तारीफ नही पाया है। अस्तुः, इनमेसे कुछके ऊपर मुझे आपके प्रशसात्मक विचार प्राप्त हुए हैं उनमेसे तीन विचार जो इस वक्त मुझे सहज ही में मिल सके हैं, नमूनेके तौर पर नीचे दिये जाते हैं।—

१ "आज 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' प्राप्त हुआ। आपके लेख महत्त्वपूर्ण और सप्रमाण होते हैं। इस पुस्तकसे मुझे अपने विचारोके स्थिर करनेमे बहुत कुछ सहायता मिलेगी। आप दूरदर्शी हैं और गंभीर विचार रखते हैं।"

२ "''विवाहक्षेत्र-प्रकाश' जो आपने देहलीमें मुझे दी थी

वह आज खतम हो गई है। वास्तवमें इस पुस्तकको लिख कर बाबू जुगलकिशोरजीने जैनधर्मका बहुत ही उपकार किया है। बाबू साहब मौसफ़की तारीफ करनी जरूरी नहीं है। हर सतरसे तहरीरकी खूबी, बुद्धिमत्ता, आलादर्जेकी कुशलता, लेखकके भावों की उदारताका परिचय मिलता है। हिम्मत और शान लेखक महाशयकी सराहनीय है। मेरे हृदयमें जितनी शंकाएँ पैदा हो गईं थीं वे सब इस पुस्तकके पाठ करनेसे समाधान हो गई हैं। इसीका नाम पांडित्य है। वास्तवमे जैनधर्मके आ़लमगीरपन (सर्वव्यापी क्षेत्र) को जिस चीजने सकीर्ण बना रक्खा है वह कुछ गत नवीन समयके हिन्दू रिवाजोकी गुलामी ही है। कुछ संकुचित खयालके व्यक्तियोने जैनिज्म (Jainism) को एक प्रकारका जातिज्म (jatism) बना रक्खा है। ये लोग हमेशा दूसरोपर जो इनसे मतभेद रखते हैं, धर्मविरुद्ध हुल्लड मचा कर आक्षेप किया करते हैं। मुझे खुशी है कि बाबू जुगलकिशोरजीने मुँहतोड़ जवाब लिखकर दर्शा दिया है कि वाक़ई धर्मविरुद्ध विचार किनके हैं।"

३ " '**जैनहितैषी**' के बारेमे मेरी राय यह है कि हिन्दुस्तान भरमे शायद ही कोई दूसरा पर्चा (पत्र) इस क़दर उम्दगी (उत्तमता) और क़ाबलियत (योग्यता) का निकालता हो। मेरे खयालमे तो योरोपके फर्स्ट क्लास जर्नल्स (Gournals) के मुकाबलेका यह पर्चा रहा है।"

इनसे प्रकट है कि आपने सम्पादककी इन कृतियोंको वास्तवमे कितना अधिक क़ाबिल तारीफ़ पाया है। और '**मेरी भावना**' को तो आपने इतना अधिक क़ाबिल तारीफ़ पाया और पसंद किया है कि उसे अपनी तीन पुस्तकोंमे लगाया, अंग्रेजीमें

उसका अनुवाद किया और शायद जर्मनीमें खुद गाकर उसे फोनोग्राफके रेकार्डमे भरवाया। इतनेपर भी आप लिखते हैं कि 'मण्डनका अभी कोई काबिल तारीफ काम आपकी कलमका लिखा हुआ मेरे देखनेमें नही आया।' इससे पाठक समझ सकते हैं कि यह सब कितना दुःसाहस तथा सत्यका अपलाप है, बैरिस्टर साहब कोपके आवेशमे और एक मित्रका अनुचित पक्ष लेनेकी धुनमे कितने बदल गये हैं और आपकी स्मृति कहाँ तक विचलित हो गई है। सच है कोपके आवेशमें सत्यका कुछ भी भान नही रहता, यथार्थ निर्णय उससे दूर जा पडता है और इसीसे क्रोधको अनर्थोका मूल बतलाया है। आपकी इस कोपदशा तथा स्मृति-भ्रमका सूचक एक अच्छा नमूना और भी नीचे दिया जाता है—

बैरिष्टर साहब लिखते हैं—"अब देखे बाबू छोटेलालजीके साथ कैसी गुजरी ? सो उनके लेखके नीचे भी महापापोकी संख्या पूरी कर दी गई है यानी पाँच फुटनोट संपादकजीने लगा ही दिये हैं।"

यह है आपकी शिष्ट, सौम्य तथा गौरवभरी लेखन-पद्धतिका एक नमूना ! अस्तु, बाबू छोटेलालजीके लेखपर जो नोट लगाये गये हैं उनकी सख्या पाँच नही है और न बाबू कामताप्रसादजीके लेखपर लगाये गये नोटोकी संख्या ही पाँच है, जिसे आप '**भी**' शब्दके प्रयोग-द्वारा सूचित करते हैं, बल्कि दोनो लेखोपर लगे हुए नोटोकी संख्या आठ-आठ है। फिर भी बैरिष्टर साहबके हृदयमे 'पाँच' की कल्पना उत्पन्न हुई—वह भी पाँच व्रतो, पाँच चारित्रो, पाँच समितियो अथवा पाँच इन्द्रियोकी नही किन्तु पाँच महापापोकी, और इसलिए आपको पूर्ण संयत भाषामें लिखे

हुए वे नोट आठकी जगह पाँच—नहीं, नहीं पाँच महापाप—दीखने लगे! और उसीके अनुसार आपने उनकी संख्या पाँच लिख मारी!! लिखते समय इस बातकी सावधानी रखनेकी आपने कोई जरूरत ही नही समझी कि उनकी एक बार गणना तो कर ली जाय कि वे पाँच ही हैं या कमती-बढ़ती! सो ठीक है क्रोधके आवेशमे प्रायः पापकी ही सूझती है और प्रमत्तदशा होनेसे स्मृति अपना ठीक काम नही करती, इसीसे बैरिष्टर साहबको पापोकी ही संख्याका स्मरण रहा जान पड़ता है। खेद है अपनी ऐसी सावधान लेखनीके भरोसेपर ही आप जँचे-तुले नोटोके सम्बन्धमें कुछ कहनेका साहस करने बैठे हैं!!

एक जगह तो बैरिष्टर साहबका कोपावेश धमकीकी हद तक पहुँच गया है। आपका एक लेख '**अनेकान्त**' मे नही छापा गया था, जिसका कुछ परिचय पाठकोको आगे चलकर कराया जायगा, उसका उल्लेख करनेके बाद यह घोषणा करते हुए कि "संपादकजी सब ही थोड़े-बहुत नौकरशाहीकी भाँतिके होते हैं," आप लिखते हैं—

"मुझे याद है कि एक मरतबा ब्र० शीतलप्रसादजीने भी, जब वह ऐडीटर 'वीर' के थे, और मैं सभापति परिषदका था, मेरे एक लेखको अर्थात् सभापति महाशयकी आज्ञाको टाल दिया था, यह कह कर कि म० गांधीके सिद्धान्तके विरोधमे है। मगर ब्र० जी तो अपने गेरुआ कपड़ो और उच्च चारित्रकी बदौलत सभापतिजीके ग़जबसे बच गये, मगर बाबू जुगलकिशोरजीके तो वस्त्र भी गेरुआ नही हैं?" (तब वह कैसे बच सकेंगे?[1])

---

१. प्रश्नाक ? से पहले यह पाठ छूट गया जान पड़ता है। यदि प्रश्नाक ही ग़लत हो तब भी आपके लिखनेका नतीजा वही निकलता है जो ब्रैकटमें दिया गया है।

इससे बैरिष्टर साहबकी स्पष्ट धमकी पाई जाती है और वे साफ तौरपर सम्पादकको यह कहना चाहते हैं कि वह उनके गजबसे—क्रोधसे—नही बच सकेगा। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि आपके क्रोधका एक कारण आपका लेख न छापना भी है। परन्तु बैरिष्टर साहब यह लिखते हुए इस बातको भूल गये कि जुगलकिशोरके वस्त्र भले ही गेरुआ न हो परन्तु वह स्वतन्त्र है—किसीके आश्रित नही, अपनी इच्छासे नि:स्वार्थ सेवा करने वाला है। और साथ ही, यह भी आपको स्मरण नही रहा कि जिस संस्थाका '**अनेकान्त**' पत्र है उसके आप इस समय कोई सभापति भी नही हैं जो उस नातेसे अपनी किसी आज्ञाको बलात् मनवा सकते अथवा आज्ञोल्लंघनके अपराधमे सम्पादक पर कोई गज़ब ढा सकते। सच है क्रोधके आवेशमे बुद्धि ठिकाने नही रहती और हेयोपादेयका विचार सब नष्ट हो जाता है, वही हालत बैरिष्टर साहबकी हुई जान पड़ती है।

खारवेलके शिलालेखमे आए हुए मूर्तिके उल्लेख आदिको लेकर बा० छोटेलालजीके लेखमे यह बात कही गई थी कि—"तब एक हद तक इसमे सदेह नही रहता कि मूर्तियो-द्वारा मूर्तिमानकी उपासना-पूजाका आविष्कार करनेवाले जैनी ही हैं।" जिसपर सम्पादकने यह नोट दिया था कि—"**यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है और इसलिये इसपर अधिक स्पष्टरूपमें लिखे जानेकी जरूरत है।**" और इसके-द्वारा लेखक तथा उस विचारके दूसरे विद्वानोको यह प्रेरणा की गई थी कि वे भविष्यमे किसी स्वतन्त्र लेख-द्वारा इस विषयपर अधिक प्रकाश डालनेकी कृपा करे। इस प्रेरणामें कौन-सी आपत्तिकी बात है? लेखककी इसमें कौन-सी तौहीन की गई है अथवा

कौन-सी बातको "ऐबकी बात" लिखा गया है ? और किसीको अपनी राय जाहिर करनेके लिये इसमें कहाँ रोका गया है ? इन सब बातोंको सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु फिर भी बैरिष्टर साहब उक्त नोटकी आलोचनामें लिखते हैं—

"सम्पादकजीने मुँह खोलना, जबान हिलाना, बोलना तक बन्द कर दिया। लेखकने कौन ऐबकी बात लिखी थी कि जिस-पर भी आपसे न रहा गया और फुटनोट जोड़ ही दिया। ‥ ‥ क्या हर शख्स अपनी राय भी अब जाहिर न कर सकेगा ?"

पाठकगण, देखा कितनी बढिया समालोचना है ! सम्पादकने तो लेखको छाप देनेके कारण लेखकका मुँह खोलना आदि कुछ भी बन्द नही किया, परन्तु बैरिष्टर साहब तो सम्पादकीय नोटोंका विरोध करके सम्पादकको मुँह खोलने और अपनी राय जाहिर करनेसे रोकना चाहते हैं और फिर खुद ही यह प्रश्न करने बैठते हैं कि—"क्या हर शख्स अपनी राय भी अब जाहिर न कर सकेगा ? इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ? आपको कोपावेशमें यह भी सूझ नही पड़ा कि 'हर शख्स' मे सम्पादक भी तो शामिल है फिर उसके राय जाहिर करनेके अधिकारपर आपत्ति क्यों ?

इसी सम्बन्धमे आप लिखते हैं कि "बाबू छोटेलालजीके शब्द तो निहायत गंभीर हैं।" बेशक गंभीर हैं; परन्तु नोट भी उनपर कुछ कम गंभीर नही है। बाकी उस गंभीरताका आधार आप जिन "एक हद तक" शब्दोको मान रहे हैं उनके प्रयोग-रहस्यको आप स्वतः नही समझ सकते—उसे सम्पादक और लेखक महाशय ही जानते हैं। हाँ, इतना आपको जरूर बतला देना होगा कि यदि उक्त शब्द वाक्यके साथमें न होते तो फिर

नोटका रूप भी कुछ दूसरा ही होता और वह शायद आपको कही अधिक अप्रिय जान पड़ता ।

इसी फुटनोटकी चर्चा करते हुए बैरिष्टर साहब पूछते हैं—

"क्या सपादकजीने किसी लेख या पुस्तकमे जो हिन्दूने छपवाई हो फुटनोट जैसा उन्होंने खुद जोड़नेका तरीका इख्तियार किया है, कही पढ़ा है ?"

इस प्रश्नपरसे बैरिष्टर साहबका हिन्दीपत्र-ससार-विषयक भारी अज्ञान पाया जाता है, क्योंकि इससे मालूम होता है कि एक तो आप यह समझ रहे है कि सम्पादक '**अनेकान्त**' ने ही लेखोंपर फुटनोटोके जोड़नेका यह नया तरीका ईजाद और इख्तियार किया' है, इससे पहले उसका कही कोई अस्तित्व नही था, दूसरे यह कि हिन्दुओके-द्वारा प्रकाशित लेखादिकोमे इस प्रकारके नोट लगानेके तरीकेका एकदम अभाव है । परन्तु ऐसा नही है, हिन्दी-पत्रोमे फुटनोटका यह तरीका कमीबेशरूपमे वर्षोसे जारी है । जैनहितैपीमें भी फुटनोट लगते थे, जिसे आप एक वार हिन्दुस्तान भरके पत्रोमे उत्तम तथा योरोपके फर्स्ट क्लास जनरल्सके मुकावलेका पर्चा लिख चुके हैं, और वे पं० नाथूराम जी प्रेमीके सम्पादनकालमे भी लगते रहे हैं । यदि बैरिष्टर साहब उक्त प्रश्नसे पहले 'त्यागभूमि' आदि वर्तमानके कुछ प्रसिद्ध हिन्दू पत्रोकी फाइले ही उठाकर देख लेते तो आपको गर्वके साथ ऐसा प्रश्न पूछ कर व्यर्थ ही अपनी अज्ञताके प्रकाश-द्वारा हास्यास्पद बननेकी नौबत न आती । अस्तु, पाठकोके सतोषके लिये तीसरे वर्षकी 'त्यागभूमि' के अक न० ४ परसे सपादकीय फुटनोटका एक नमूना नीचे दिया जाता है इस अंकमे और भी कई लेखो पर नोट हैं, जो सब '**अनेकान्त**' के नोटोकी रीति-नीतिसे तुलना किये जा सकते हैं :—

"यह लेखककी भूल है। अत्याचारी राजाको, सपरिवार तक, नष्ट कर डालनेका स्पष्ट आदेश मनुस्मृति आदिमें है। —संपा०।" पृ० ४२६

इससे पाठक समझ सकते हैं कि बैरिष्टर साहबके उक्त प्रश्नका क्या मूल्य है, उनकी लेखनी कितनी असावधान है और और उनकी यह असावधानता भी उनकी कितनी परागदहदिली—अव्यस्थितचित्तता—को साबित करती है, जिसका क्रोधके आवेशमें हो जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। साथ ही, उन्हें यह बतलानेकी भी जरूरत नही रहती कि इस प्रकारके फुट-नोटोका यह कोई नया तरीका इख्तियार नही किया गया है, जैसा कि बैरिष्टर साहब समझते हैं। और यदि किया भी जाता तो वह '**अनेकान्त**' के लिये गौरवकी वस्तु होना—अब भी इस विषयमें '**अनेकांन्त**' की जो विशेषता है वह उसके नामको शोभा देनेवाली है। क्या महज़ दूसरोका अनुकरण करनेमे ही कोई बहा-दुरी है और अपनी तरफसे किसी अच्छी नई बातके ईजाद करनेमे कुछ भी गुण नही है? यदि ऐसा नही तो फिर उक्त प्रकारके प्रश्नकी जरूरत ही क्यो पैदा हुई? नोट-पद्धतिकी उपयोगिता-अनुपयोगिताके प्रश्न पर विचार करना था, जिसका लेखमे कही भी कुछ विचार नही है। मात्र यह कह देना कि नोट तो मकतब-के परागदहदिल मौलवी साहबकी कमचियाँ हैं, विलायतमे 'ऐसे लेखोको सम्पादक लेते ही नही जिनके नीचे फुटनोट लगाये वगैर उनका काम न चले' अथवा अमुक 'फुटनोट भी कम वाहियात नही' यह सब क्या नोट-पद्धतिकी उपयोगिता-अनुपयोगिताका कोई विचार है? कदापि नही। फिर क्या अनुपयोगी सिद्ध किये बिना ही आप संपादकसे ऐसी आशा रखना उचित सकझते हैं कि वह

अपनी इस नोट-पद्धतिको छोड़ देवे ? संपादकने अपनी इस नोट-नीतिकी उपयोगिता और आवश्यकताका कितना ही स्पष्टीकरण उस लेखमें कर दिया है, जो **'एक आक्षेप'**[1] नामसे ज्येष्ठ मासकी अनेकान्त किरण पृ० ३१६ पर प्रकाशित हुआ है। पाठक वहाँसे उसे जान सकते हैं। उसके विरोधमें यदि किसीको कुछ युक्ति-पुरस्सर लिखना हो तो वे ज़रूर लिखें, उसपर विचार किया जायगा। अस्तु।

अब उस नोटकी बातको भी लीजिये, जिसपर लेखमे सबसे अधिक वावेला मचाया गया है और लोगोको **'अनेकान्त'** पत्र तथा उसके 'सम्पादक' के विरुद्ध भड़कानेका जघन्य प्रयत्न किया गया है। इसके लिये सबसे पहले हमे बाबू छोटेलालजीके लेखके प्रारंभिक अंशको ध्यानमे लेना होगा, और वह इस प्रकार है—

"यह बात सत्य है कि जिस जातिका इतिहास नहीं वह जाति प्राय. नही-के-तुल्य समझी जाती है, कुछ समय पूर्व जैनियों-की गणना हिन्दुओमें होती थी, कितु जबसे जैन-पुरातत्वका विकास हुआ तबसे ससार हमे एक प्रचीन, स्वतत्र और उच्च सिद्धान्ता-नुयायी समझने लगा है। साथ ही, हमारा इतिहास कितना अधिक विस्तीर्ण और गौरवान्वित है यह बात भी दिन-पर-दिन लोकमान्य होती चली जाती है। वह समय अब दूर नही हैं जब यह स्वीकार करना होगा कि 'जैनियोंका इतिहास सारे ससारका इतिहास है।' गहरी विचार-दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आज जैन सिद्धान्त सारे विश्वमे अदृश्यरूपसे अपना कार्य कर रहे हैं। जैनसमाज अपने इतिहासके अनुसंधान तथा

---

१. यह लेख इसी पुस्तक में पृष्ठ २८४ पर प्रकाशित है।

प्रकाशनमें यदि कुछ भी शक्ति व्यय करता तो आज हमारी दशा कुछ और ही होती। इतिहाससे यह सिद्ध हो चुका है कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मत ही मूल धर्म है।"

लेखकी इस भूमिकामें 'जैनियोंकी, जैनपुरातत्त्वका, हमें, हमारा, जैनियोंका, जैनसिद्धान्त, जैनसमाज, हमारी,' ये शब्द एक वर्गके हैं और वे दिगम्बर-श्वेताम्बरका कोई सम्प्रदाय-भेद न करते हुए अविभक्त जैनसमाज, जैनसिद्धान्त तथा जैनपुरातत्त्व-को लेकर लिखे गये हैं, जैसा कि उनकी प्रयोग-स्थिति अथवा लेखकी कथनशैली परसे प्रकट है। और 'हिन्दुओंमें, संसार, लोकमान्य, सारे संसारका, सारे विश्वमें' ये शब्द दूसरे वर्गके हैं, जो उस समूहको लक्ष्य करके लिखे गये हैं जिसके साथ अपने सिद्धान्त या अपनी प्राचीनता आदिके सम्बन्धकी अथवा मुकाबलेकी कोई बात कही गई है। और इस पिछले वर्गके भी दो विभाग किये जा सकते हैं—एक मात्र हिन्दुओं अथवा वैदिक धर्मानु-यायियोका और दूसरा अखिल विश्वका। वैदिक धर्मानुयायियोंके मुकाबलेमें अपनी प्राचीनताके संस्थापनकी बात लेखके अन्त तक कही गई है, जहाँ एक पूजनविधानका उल्लेख करनेके बाद लिखा है—"यदि हम पाश्चात्यरीत्यानुसार गणना कर उसकी प्रारम्भिक अवस्था या उत्पत्तिकाल पर पहुँचनेका प्रयत्न करेंगे तो वैदिक कालसे पूर्व नही तो बराबर अवश्य पहुँच जायँगे। मैं तो कहूँगा कि यह विधान वैदिक कालसे बहुत पूर्व समयका है।" बाकी दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों संप्रदायोंमें कौन पहलेका और कौन पीछेका? इस प्रश्नको लेखभरमें कही भी उठाया नहीं गया है और न सारे लेखको पढनेसे यही मालूम होता है कि लेखक महाशय उसमें दोनों संप्रदायोंकी उत्पत्ति पर कोई विचार

करने बैठे हैं। ऐसी हालतमें उक्त भूमिकाके अंतिम वाक्यमें जब यह कहा गया कि "निर्ग्रन्थ दिगम्बर मत ही मूल धर्म है" और उसे "इतिहाससे सिद्ध" हुआ बतलाया गया तब संपादकके हृदयमें स्वभावतः ही यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इस वाक्यमे प्रयुक्त हुए **'मूल'** शब्दकी मर्यादा क्या है ?—उसका क्षेत्र कहाँ तक सीमित है ? अथवा वह किस दृष्टि, अपेक्षा या आशयको लेकर लिखा गया है ? क्योकि 'मूल' शब्दके आदि (आद्य) और प्रधान आदि कई अर्थ होते हैं और फिर दृष्टिभेदसे उनकी सीमा-मे भी अन्तर पड जाता है। तब दिगबरमत किस अर्थमें मूल धर्म है और किसका मूल धर्म है ? अर्थात् आदिकी दृष्टिसे मूल धर्म है या प्रधानकी दृष्टिसे मूल धर्म है ? और इस प्रत्येक दृष्टि-के साथ, सर्वधर्मोकी अपेक्षा मूलधर्म है या वैदिक आदि किसी धर्मविशेष अथवा जैनधर्मकी किसी शाखाविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है ? सपूर्ण विश्वकी अपेक्षा मूलधर्म है या भारतवर्ष आदि किसी देशविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है ? सर्व युगोंकी अपेक्षा मूल धर्म है या किसी युगविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है ? सर्व समाजोंका मूल धर्म है या किसी समाजविशेषका मूल धर्म है ? इस प्रकारकी प्रश्नमाला उत्पन्न होती है। लेख परसे इसका कोई ठीक समा-धान न हो सकनेसे 'मूल' शब्द पर नीचे लिखा फुटनोट लगाना उचित समझा गया—

"अच्छा होता यदि यहाँ 'मूल' की मर्यादाका भी कुछ उल्लेख कर दिया जाता, जिससे पाठकोंको उसपर ठीक विचार करनेका अवसर मिलता।"

पाठक देखें, यह नोट कितना सौम्य है, कितनी संयत भाषा-मे लिखा गया है और लेखकी उपर्युक्त स्थितिको ध्यानमें रखते

हुए कितना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु बैरिष्टर साहब इसे भी "क़मची" बतलाते हैं! और इसे उद्धृत करते हुए लिखते हैं :—

" 'मौलवी साहब' को 'मूल' का शब्द नापसद हुआ। फिर क्या था! तडसे क़मची पड़ी और चटसे निम्न लिखित फुटनोट जोड़ा गया।—"

यह है बैरिष्टर साहबकी सुसभ्य और गंभीर विचारभाषा-का एक नमूना! ऐसी ही गंभीर विचारभाषासे सारा लेख भरा हुआ है, जिसके कुछ नमूने पहले भी दिये जा चुके हैं। एक अति सयत भाषामे लिखे हुए विचारपूर्ण सौम्य नोटको 'कमची' की उपमा देना हृदयकी कलुषताको व्यक्त करता है और साथ ही इस बातको सूचित करता है कि आप विचारके द्वारको बन्द करना चाहते हैं। अस्तु; बैरिष्टर साहबने इस नोटकी आलोचनामे व्यगरूपसे छोटेलालजीकी समझकी चर्चा करते हुए और यह बतलाते हुए कि उन्होंने भूल की जो "यह न समझे कि 'मूल' में तनाज़ा दिगम्बरी-श्वेताम्बरी इब्तदाका ही नही आता है, बल्कि दुनिया भरके और सब किस्मके झगड़े भी शामिल हो सकेंगे," लिखा है—

"अगर छोटेलालजी वकील होते तो भी कुछ बात थी; क्योंकि फिर तो वह यह भी कह सकते कि साहब मेरा तो खयाल यह था कि मज़मूनको सिलसिले ताल्लुक़ (relevency) की दृष्टि-कोणसे ही पढ़ा जा सकेगा।"

और इसके द्वारा यह सुझानेकी चेष्टा की है कि उक्त वाक्यमें लेखके सम्बन्धक्रमसे अथवा प्रस्तावानुकूल या प्रकरणानुसार 'मूल' का अर्थ दिगम्बरमतके श्वेताम्बरमतसे पहले (प्राचीन)

होनेका ही निकलता है दूसरे मतोंसे पहले होनेका या प्रधानता आदिका नहीं। परन्तु मूल लेखके सम्बन्धक्रम अथवा उसके किसी प्रस्ताव या प्रकरणमे ऐसा नहीं पाया जाता; जैसा कि ऊपर 'मूल' शब्दसे पूर्ववती पूरे लेखांशको उद्धृत करके बतलाया जा चुका है। हाँ, यदि उस वाक्यका रूप यह होता कि "निर्ग्रन्थ दिगम्बर मत ही जैनसमाजका मूल धर्म है" तो ऐसा आशय निकाला जा सकता था; और तब, मूलकी मर्यादाका एक उल्लेख हो जानेसे, उस पर इस प्रकारका कोई नोट भी न लगाया जाता। परन्तु उसमे 'मूल' से पहले 'जैनसमाजका' ये शब्द अथवा इसी आशयके कोई दूसरे शब्द नही हैं और बाते पहले हिन्दुओं, संसार तथा विश्वके साथ सम्बन्धकी की गई हैं और अंत तक वैदिक धर्मानुयायियोके मुकाबलेमे अपनी प्राचीनताकी बात कही गई है, तब 'मूल' का वैसा अर्थ नही निकाला जा सकता। अतः बैरिष्टर साहबने जो बात सुझानेकी चेष्टा की है वह उनकी कल्पनामात्र है—लेख परसे उसकी उपलब्धि नही होती। और सिलसिले ताल्लुक़ (relevency) की दुहाई अविचारितरम्य है।

इसके बाद बैरिष्टर साहब "मूलकी मर्यादा" का अर्थ समझनेमे अकुलाते हुए लिखते हैं—

"परेशान हूँ कि मूलकी मर्यादाका क्या अर्थ करूँ? क्या कुछ नियत समयके लिये दिगंबरी संप्रदाय मूल हो सकता है और फिर श्वेताम्बरी? या थोडे दिनों श्वेताम्बरी मूल रहवे और फिर दिगंबरी हो जावे या कुछ अंशोमे यह और कुछमें वह? आखिर मतलब क्या है? मेरे खयालमे मुझसे यह गंभीर प्रश्न हल नहीं हो सकेगा। स्वयं संपादकजी ही इस पर प्रकाश डालेंगे तो काम चलेगा। मगर एक बात और मेरे मनमें आती है और

वह यह है कि शायद सम्पादकजी श्वेताम्बरी मतको ही मूल मानते होगे; नही तो इस 'मूल' के शब्दके ऊपर फुटनोटकी क्या जरूरत थी ? हाँ, और याद आई। बम्बईसे मैंने भी करीब तीन माहके हुए एक लेख श्वेताम्बरीमतके मूलदिगम्बरीमतकी शाखा होनेके बारेमें लिख कर 'अनेकान्त' में प्रगट होनेको भेजा था। वह अभी तक मेरे इल्ममे 'अनेकान्त' मे नही छपा है। शायद इसी कारणसे न छापा गया होगा कि वह खुल्लमखुल्ला दिगम्बरी मतको सनातन जैनधर्म बतलाता था और श्वेताम्बरी सम्प्रदायके 'मूलत्व' के दावेको जड़ मूलसे उखाड़ फेंकता था।"

इससे स्पष्ट है कि उक्त नोटमे प्रयुक्त हुए 'मूलकी मर्यादा' शब्दोका अर्थ ही बैरिष्टर साहब ठीक नही समझ सके हैं, वे चक्करमे पड़ गये हैं और वैसे ही बिना समझे अटकलपच्चू उसकी आलोचना करनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिये 'मर्यादा' का विचार करते हुए आप मर्यादासे बाहर हो गये हैं और आपने सम्पादकके विषयमें एक विलक्षण आरोप (इल्ज़ाम) की सृष्टि कर डाली है, जिसका खुलासा इस प्रकार है :—

'सम्पादकजी श्वेताम्बरीमतको ही मूलधर्म मानते होगे; यदि ऐसा न होता तो 'मूल' शब्द पर फुटनोट दिया ही न जाता— उसके देनेकी कोई जरूरत ही नही थी; दूसरे श्वेताम्बरोके मूलत्व (प्राचीनत्व) के विरोध मे जो लेख उनके पास भेजा गया था उसको 'अनेकान्त' मे जरूर छाप देते, न छापनेकी कोई वजह नही थी।'

इस आरोप और उसके युक्तिवादके सम्बंधमें मैं यहाँ पर सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि वह बिलकुल कल्पित और बे-बुनियाद (निर्मूल) है। नोट लेखकी जिस स्थितिमें

दिया गया है और उसके देनेका जो कारण है उसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है और उस परसे पाठक उसकी जरूरतको स्वतः महसूस कर सकते हैं। हाँ, यदि सम्पादकमें साम्प्रदायिक कट्टरता होती तो जरूरत होने पर भी वह उसे न देता, शायद इसी दृष्टिसे बैरिष्टर साहबने "क्या जरूरत थी" इन शब्दोको लिखा हो। दूसरे यदि सम्पादककी ऐसी मान्यता होती, तो फिर 'मूल' शब्दके मर्यादा-विपयक नोटसे क्या नतीजा था ? तब तो दिगम्बर मतके मूल धर्म होने पर ही आपत्ति की जाती, जैसा कि अन्य नोटोमे भी किसी-किसी विषयपर स्पष्ट आपत्ति की गई है। साथ ही, लेखके उस अश पर भी आपत्ति की जाती जहाँ (पृ० २८६) खारवेलके शिलालेखमें उल्लेखित प्रतिमाको "अवश्य दिगम्बर थी" ऐसा लिखा गया है, क्योकि शिलालेखमें उसके साथ 'दिगम्बर' शब्दका कोई प्रयोग नहीं है। इसके सिवाय, बाबू पूरणचंदजी नाहरका वह लेख भी 'अनेकान्त'मे छापा जाता जो श्वेताम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये प्रकट हुआ है। अत. आपकी इस युक्तिमे कुछ भी दम मालूम नही होता।

रही लेखके न छापनेकी बात, वह जरूर नही छापा गया है। परन्तु उसके न छापनेका कारण यह नही है कि उसमे श्वेताम्बर मतकी अपेक्षा दिगम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध करनेका यत्न किया गया है बल्कि इस लिये नही छापा गया है कि वह गौरवहीन समझा गया, उसका युक्तिवाद प्रायः लचर और पोच पाया गया और इससे भी अधिक त्रुटि उसमे यह देखी गई कि वह शिष्टाचारसे गिरा हुआ है, अपने एक भ्रातृवर्गको घृणाकी दृष्टिसे ही नही देखता किन्तु उसके पूज्य पुरुषोके प्रति ओछे एवं

तिरस्कारके शब्दोंका प्रयोग भी करता है और गंभीर विचारणासे एकदम रहित है। कई सज्जनोंको उसे पढ़ कर सुनाया गया तथा पढ़नेको दिया गया परन्तु किसीने भी उसे 'अनेकान्त'के लिये पसन्द नहीं किया। 'अनेकान्त' जिस उदारनीति, साम्प्रदायिक-पक्षपात-रहितता, अनेकान्तात्मक-विचार-पद्धति और भाषाके शिष्ट, सौम्य तथा गंभीर होनेके अभिवचनको लेकर अवतरित हुआ है उसके वह अनुकूल ही नही पाया गया, और इसलिये नही छापा गया।

यहाँ पर उस लेख[1] के युक्तिवाद पर, विचारका कोई अवसर नही है—उसके लिये तो जुदा ही स्थान और काफी समय होना चाहिये—सिर्फ दो नमूने लेखका कुछ आभास कराने-के लिये नीचे दिये जाते हैं :—

१. "गौतम और केसीके वार्तालापका विषय 'चोरकी दाढ़ी-में तिनका' के समान है। दिगम्बरियोके यहाँ ऐसा कोई वार्ता-लाप नही दर्ज है। इससे साफ़ जाहिर है कि दिगम्बरियोको अपने मतमे कमज़ोरी नही मालूम हुई और श्वेताम्बरियोंको हुई।" इत्यादि।

२. "श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बिलकुल कुदरती तौरसे समझमे आ जाती है। सख्त कहतके ज़मानेमें जब जैनियोंके यहाँ-से पेट पालन न हो सका तो अजैनियोंसे भिक्षा लेनी पड़ी और इस वजहसे वस्त्र धारण करने पड़े; क्योंकि उनके यहाँ दिगम्बरी साधुओकी मान्यता न थी। इसी कारणसे स्त्रीमुक्ति और शूद्र-मुक्तिका सिद्धान्त भी आसानोसे समझमे आ जाता है। इन

---

१. यह लेख 'वीर'के उसी अङ्कमें और 'जैनमित्र'के ४-९-३० में छपा है।

बातोमें श्वेताम्बरी हिन्दुओसे भी आगे बढ़ गए हैं। हिन्दू तो शूद्रोंको वेद भी नही पढ़ने देते हैं। मुक्ति कैसी ? इस लिये हिन्दू स्त्रियो और शूद्रोंको मुक्तिका मुजदह सुनानेका यही भाव हो सकता था कि इस बहानेसे भक्तोकी सख्या बढ़ाई जावे, क्योकि भक्तोंकी सख्यासे ही भिक्षाका अधिक लाभ होना संभव है।''

पाठकगण देखिये, कितने तिरस्कारपूर्ण उद्‌गार हैं और कैसी विचित्र कल्पना है !! क्या दुर्भिक्षमे श्वेताम्बरोंके पूर्वपुरुषोंका जैनियोके यहाँसे पेटपालन (!) नही हो सका और उन्होने अजैनियोके यहाँसे भिक्षा लेनेके लिये ही वस्त्र धारण किये ? और क्या स्त्रियो तथा शूद्रोंसे भोजन प्राप्त करनेके लिये ही उन्हें मुक्तिका संदेश सुनाया गया—उसका अधिकार दिया गया ? कितनी विलक्षण बुद्धिकी कल्पना है !! इस अद्‌भुत कल्पनाको करते हुए बैरिष्टर साहब अपने दिगम्बर शास्त्रोंकी मर्यादाका भी उल्लंघन कर गये हैं और जो जीमे आया लिख मारा है। श्रीरत्ननन्दि आचार्यके 'भद्रबाहु-चरित्र' मे कही भी यह नही लिखा है कि दुर्भिक्षके समय ऐसा हुआ अथवा उस अवशिष्ट मुनि संघको जैनियोके घरसे भोजन नही मिला और उसने अजैनोंके यहाँसे भोजन प्राप्त करनेके लिये ही वस्त्र धारण किये। बल्कि कुबेरमित्र, जिनदास, माधवदत्त और बन्धुदत्त आदि जिन-जिन अतुल विभवधारी बड़े-बड़े सेठोंका उल्लेख किया है उन सबको बड़े श्रद्धासम्पन्न श्रावक लिखा है, जिन्होने मुनिसघकी पूरे तौरसे सेवा की है, दीन दुखियोंको बहुत कुछ दान दिया है और जिनकी प्रार्थना पर ही वह मुनिसंघ दक्षिणको जानेसे रुका था। अत: लेखकी ऐसी बेहूदी और निरर्गल स्थिति होते हुए उसे 'अनेकान्त' में स्थान देना कैसे उचित हो सकता था ? यदि किसी तरह

स्थान दिया भी जाता तो उसके कलेवरसे फुटनोटोंका कलेवर कई गुना बढ़ जाता और तब बैरिष्टर साहबको वह और भी नागवार मालूम होता और उस वक्त आपके क्रोधका पारा न मालूम कितनी डिगरी ऊपर चढ़ जाता; जब एक मित्रके लेख पर नोट देनेसे ही उसकी यह दशा हुई है ! उसे न छाप कर तो उस नीतिका भी अनुसरण किया गया है जिसे आपने बिलायतके पत्रसंपादकोकी नीति लिखा है और कहा है कि 'वे ऐसे लेखोको लेते ही नही जिनपर फुटनोट लगाये बगैर उनका काम न चले ।' फिर इस पर कोप क्यो ? गजबकी धमकी क्यो ? और ऐसे विलक्षण आरोपकी सृष्टि क्यो ? क्या क्रोधके आधार पर ही आप अपना सब काम निकालना चाहते हैं ? और प्रेम, सौजन्य तथा युक्तिवाद आदिसे कुछ काम लेना नही चाहते ? बहुत सभव है कि आपका यह आरोप साम्प्रदायिकताके उस आरोपका महज जवाब हो जो कामताप्रसादजीकी लेखनी पर लगाया गया था; परन्तु कुछ भी हो, ऊपरके कथन तथा विवेचन परसे यह स्पष्ट है कि इसमे कुछ भी सार नही है और यह जाने-अनजाने बाबू छोटेलालजीके शब्दों तथा नोटके शब्दोको ठीक ध्यानमें न लेते हुए ही घटित किया गया है । आशा है बैरिष्टर साहब अब 'मूलकी मर्यादा' आदिके भावको ठीक समझ सकेंगे ।

यहाँ पर मैं अपने पाठकोको इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इधर तो बाबू छोटेलालजी हैं, जिन्होने अपने लेख परके नोटोंके महत्वको समझा है और इस लिये उन्होने उनका कोई प्रतिवाद नही किया और न उनके विषयमे किसी प्रकारकी अप्रसन्नताका ही भाव प्रकट किया है । वे बराबर गंभीर तथा उदार बने हुए हैं और 'अनेकान्त' पत्रको बड़ी ऊँची दृष्टिसे

देखते हैं और यह बात हालके उनके उस पत्रसे प्रकट है जिसका एक अंश 'यदि यूरोपमें ऐसा पत्र प्रकाशित होता' इस शीर्षकके नीचे पृ० ६५१ पर दिया गया है और जिसमे उन्होंने पत्रकी भारी उपयोगिताका उल्लेख करते हुए उसके चिरजीवनके लिये प्रोपेगैडा करनेका परामर्श दिया है और साथ ही अपनी सहायता-का भी वचन दिया है ।

और उधर बैरिष्टर साहब हैं, जो अपनी तथा अपने मित्रकी शान और मानरक्षाके लिये व्यर्थ लिखना भी उचित समझते हैं और जरासी बातके ऊपर इतने रुष्ट हो गये हैं कि उन्होंने 'अनेकान्त' के गुणोकी तरफसे अपनी दृष्टिको बिलकुल ही वन्द कर लिया है, उन्हे अब यह नजर ही नही आता कि 'अनेकान्त' कोई महत्वका काम कर रहा है अथवा उसके द्वारा कोई काबिल तारीफ काम हुआ है, अनेकान्तकी नीति भी उन्हें उम्दा (उत्तम) दिखलाई नही देती, अनेकान्तके नामको सार्थक बनानेका कोई प्रयत्न उसके सम्पादकने अभी तक किया है यह भी उन्हे दीख नही पड़ता—सुन नही पडता, सहधर्मी वात्सल्यकी पत्रमे उन्हे कही बू नही आती और जैनत्वकी भी कुछ गंध नहीं आती और इसलिये इन सब बातोका किसी-न-किसी रूप मे इजहार करते हुए फिर आप यहाँ तक लिखते हैं—

"वह पत्र क्या काम कर सकेगा जो सच्चे जवाहरातमे ही ऐब निकाल निकाल कर दूसरोको अपने सत्यवक्तापनेकी घोषणा दे ! और जो चाँदके ऊपर धूल फेकनेको ही अपना कर्तव्य समझ बैठे ।"

"यह याद रहे कि यह पत्र मात्र ऐतिहासिक या पुरातत्त्वका पत्र नही है । जैनियोंने जो हजारो रुपयेका चन्दा किया है, वह

इसलिये नही किया है, कि 'अनेकान्त' इच्छानुसार अन्ट-सन्ट लिखता रहे।''

''अगर 'अनेकान्त' इतिहासमें जैनत्वकी सुगंध पैदा नही कर सकता है तो उसकी कोई ज़रूरत नही है।''

और इस तरह 'अनेकान्त' की तरफसे लोगोंको भड़काने, उन्हे प्रकारान्तरसे उसकी सहायता न करनेके लिये प्रेरित करने और उसका जीवन तक समाप्त कर देने की आपने चेष्टा की है।

ये हैं सब आपकी समालोचनाके खास नमूने! इसे कहते हैं गुणको छोड़कर अवगुण ग्रहण-करना, और वह अवगुण भी कैसा? विभंगावधि-वाले जीवकी बुद्धिमे स्थित जैसा, जो माताके चमचेसे दूध पिलानेको भी मुँह फाडना समझता है! और इसे कहते हैं एक सलूके लिए भैंसेको वध करनेके लिए उतारू हो जाना! जिन सख्याबन्ध जैन-अजैन विद्वानोंको 'अनेकान्त'मे सब ओरसे गुणोका दर्शन होता है, इतिहास, साहित्य एव तत्त्वज्ञानका महत्व दिखलाई पडता है, जो सच्चे जैनत्वकी सुगधसे इमे व्याप्त पाते हैं और जो इसकी प्रशंसामे मुक्तकण्ठ बने हुए हैं, तथा जिनके हृदयोद्गार 'अनेकान्त'की प्रत्येक किरणमें निकलते रहे हैं, वे शायद बैरिष्टर साहबसे कह बैठे—'महाशय जी! क्रोध तथा पक्षपातके आवेशवश आपकी दृष्टिमें विकार आ गया है, इसीसे आपको 'अनेकान्त'मे कुछ गुणकी बात दिखलाई नही पड़ती अथवा जो कुछ दिखलाई दे रहा है वह सब अन्यथा ही दिखलाई दे रहा है। और इसी तरह नासिका विकृत होकर उसकी घ्राण-शक्ति भी नष्टप्राय: हो गई है, इसीसे इसकी जो सुगंध चतुर्दिक फैल रही है वह आपको महसूस नही होती और आप उसमे जैनत्वकी कोई गंध नहीं पा रहे हैं।'

उपसंहार

हाँ, साम्प्रदायिकताको पुष्ट करना ही यदि सहधर्मी वात्सल्य-का लक्षण हो तो उसकी बू ज़रूर अनेकान्त-द्वारा पुष्ट नही होती किन्तु एकान्त-द्वारा पुष्ट होती है । 'अनेकान्त'को साम्प्रदायिकताके पकसे अलिप्त रखनेकी पूरी कोशिश की जाती है, उसका उदय ही इस बातको लेकर हुआ है कि उसमें किसी सम्प्रदायविशेषके अनुचित पक्षपातको स्थान नही दिया जायगा । 'अनेकान्त'की दृष्टिमे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान हैं, दोनो ही इसके पाठक तथा ग्राहक हैं और दोनों ही सम्प्रदायोके महानुभाव उस वीर-सेवक-संघ नामक संस्थाके सदस्य हैं जिसके द्वारा समन्त-भद्राश्रमकी स्थापना हुई और जिसका यह मुख पत्र है । श्वेताम्बर सदस्योमें पं० सुखलालजी, प० बेचरदासजी और मुनि कल्याण-विजयजी जैसे प्रौढ विद्वानोके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं, जो इस संस्थाकी उदारनीति तथा कार्यपद्धतिको पसन्द करके ही सदस्य हुए हैं । जिस समय यह संस्था कायम की गई थी उसी समय यह निश्चित कर लिया गया था कि इसे स्वतन्त्र रक्खा जायगा, इसीसे यह पूर्व-स्थापित किसी सभा सोसाइटीकी आधीनतामे नही खोली गई । दिगम्बर जैन परिषद्के मंत्री बाबू रतनलालजी और खुद बैरिष्टर साहबने बहुतेरा चाहा और कोशिश की कि यह सस्था परिषद्के अंडरमे—उसकी शाखा-रूपसे—खोली जाय, परन्तु उसके द्वारा सस्थाके क्षेत्रको सीमित और उसकी नीतिको कुछ संकुचित करना उचित नही समझा गया और इसलिए उनका वह प्रस्ताव मुख्य संस्थापकों-द्वारा अस्वीकृत किया गया । ऐसी हालतमें भले ही यह संस्था समाजके

सहयोगके अभावमें टूट जाय और भले ही आगे चलकर बैरिष्टर साहब जैसोंकी कृपा-दृष्टिसे इस पत्रका जीवन संकटमें पड़ जाय या यह बन्द हो जाय; परन्तु जब तक 'अनेकान्त' जारी है और मैं उसका सम्पादक हूँ तब तक मैं अपनी शक्ति भर उसे उसके आदर्शसे नहीं गिरने दूँगा और न साम्प्रदायिक कट्टरताका ही उसमें प्रवेश होने दूँगा। मैं इस साम्प्रदायिक कट्टरताको जैनधर्मके विकास और मानवसमाजके उत्थानके लिये बहुत ही घातक समझता हूँ। अस्तु।

वैरिप्टर साहबने मुझसे इस बात का खुलासा माँगा है कि मैं दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनो सम्प्रदायोमेंसे किसको प्राचीन, असली और मूल समझता हूँ। अतः इस सम्बंधमे भी चन्द शब्द लिख देना उचित जान पड़ता है।

जहाँ तक मैने जैनशास्त्रोका अध्ययन किया है मुझे यह मालूम हुआ है कि भगवान महावीर-रूपी हिमाचलसे धर्मकी जो गगधारा बही है वह आगे चल कर बीचमे एक चट्टानके आ जानेसे दो धाराओमे विभाजित हो गई है—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। अब इनमें किसको मूल कहा जाय? या तो दोनों ही मूल हैं और या दोनों ही मूल नही हैं। चूँकि मूल-धारा ही दो भागोंमे विभाजित हो गई है और दोनो उसके अंग हैं इसलिये दोनों ही मूल हैं और परम्पराकी अपेक्षासे चूँकि एक धारा दूसरीमेंसे नही निकली इस लिये दोनोंमेसे कोई भी मूल नही है। हाँ, दिगम्बर-धाराको अपनी बीसपंथ, तेरहपंथ, तारणपंथ अथवा मूलसंघ, द्राविडसंघ आदि उत्तर-धाराओं एवं शाखाओंकी अपेक्षासे मूल कहा जा सकता है, और श्वेताम्बर-धाराको अपनी स्थानकवासी, तेरहपंथ और अनेक गच्छादिके

भेदवाली उत्तरधाराओं एवं शाखाओंकी अपेक्षासे मूल कहा जा सकता है। इसी तरह प्राचीनता और अप्राचीनताका हाल है। मूलधाराकी प्राचीनताकी दृष्टिसे तथा अपनी उत्तरकालीन शाखाओकी दृष्टिसे दोनों प्राचीन हैं और अपनी उत्पत्ति तथा नामकरण-समयकी अपेक्षासे दोनो अर्वाचीन हैं। रही असली और बेअसलीकी बात, असली मूलधाराके अधिकाश जलकी अपेक्षा दोनो असली हैं, और चूँकि दोनोमे बादको इधर-उधर-से अनेक नदी-नाले शामिल हो गये हैं और उन्होने उनके मूल जलको विकृत कर दिया है, इस लिये दोनो ही अपने वर्तमान-रूपमे असली नही हैं। इस प्रकार अनेकान्तदृष्टिसे देखने पर दोनो सम्प्रदायोकी मूलता–प्राचीनता आदिका रहस्य भले प्रकार समझमे आ सकता है। बाकी जिस सम्प्रदायको यह दावा हो कि वही एक अविकल मूलधारा है जो अब तक सीधी चली आई है और दूसरा सप्रदाय उसमेसे एक नालेके तौर पर या ऐसे निकल गया है जैसे वटवृक्षमेसे जटाएँ निकलती हैं, तो उसे वहुत प्राचीन साहित्यपरसे यह स्पष्टरूपमे दिखलाना होगा कि उसमे कहाँ पर उसके वर्तमान नामादिकका उल्लेख है। अर्थात् दिगम्बर श्वेताम्बरोकी और श्वेताम्बर दिगम्थरोकी उत्पत्ति विक्रमकी दूसरी शताव्दीके पूर्वार्धमे बतलाते हैं, तब कमसे कम विक्रमकी पहली शताब्दीसे पूर्वके रचे हुए ग्रथादिकमें यह स्पष्ट दिखलाना होगा कि उनमे 'दिगम्बरमत–धर्म' या 'श्वेताम्बरमत–धर्म' ऐसा कुछ उल्लेक है और साथमे उसकी वे विशेषताएँ भी दी हुई हैं जो उसे दूसरे सम्प्रदायसे भिन्न करती हैं। दूसरे शब्दो परसे अनुमानादिक लगा कर बतलानेकी जरूरत नही। जहाँ तक मैंने प्राचीन साहित्यका अध्ययन किया है मुझे ऐसा

कोई उल्लेख अभी तक नही मिला और इसलिये उपलब्ध साहित्य परसे मैं यही समझता हूँ कि मूल जैनधर्मकी धारा आगे चल कर दो भागोंमें विभाजित हो गई है—एक दिगम्बरमत और दूसरा श्वेताम्बरमत, जैसा कि ऊपरके कथनसे प्रकट है।

आशा है इस लेखसे बैरिष्टर साहब और दूसरे सज्जन भी समाधानको प्राप्त होगे। अन्त मे बैरिष्टर साहबसे निवेदन है कि वे भविष्यमे जो कुछ लिखे उसे बहुत सोच-समझ-कर अच्छे जॅचे-तुले, शिष्ट, शान्त तथा गंभीर शब्दोमे लिखे, इसीमे उनका गौरव है, यों ही किसी उत्तेजना या आवेशके वश होकर जैसे तैसे कोई बात सुपूर्द कलम न करे और इस तरह व्यर्थ-की अप्रिय चर्चाको अवसर न देवे। बाकी कर्तव्यानुरोधसे लिखे हुए मेरे इस लेखके किसी शब्द परसे यदि उन्हें कुछ चोट पहुँचे तो उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। उन्हे खुदको ही इसके लिये जिम्मेदार समझ कर शान्ति धारण करनी चाहिये।

—अनेकान्त वर्ष १, किरण ११-१२, अक्तूबर १६३०

ब्रह्मचारीजीकी विचित्र स्थिति और अजीब निर्णय ! : १० :

ता० ३ मई सन् १९३४ के '**जैनमित्र**' में ब्र० शीतलप्रसादजीने मेरी लिखी हुई 'भगवान् महावीर और उनका समय' नामक पुस्तककी समालोचना प्रकाशित की है। इस समालोचनामे पुस्तकको बहुत उपयोगी बतलाते हुए और उसकी दूसरी किसी बातपर आपत्ति न करते हुए सिर्फ एक बातपर आपत्ति की गयी है और वह इस बातपर कि मैने बौद्धोके '**सामगामसुत्त**'मे वर्णित महावीरके उस मृत्यु-समाचारको, जो चुन्द-द्वारा बुद्धको पहुँचाया गया था, असत्य क्यों मान लिया और क्यो बुद्धके शरीर-त्यागको महावीरके निर्वाणसे पहलेका अनुमान कर लिया। पुस्तकको पढ़कर कोई भी सहृदय पाठक सहज ही यह समझ सकता है कि न तो मेरी उक्त मान्यता निराधार थी और न अनुमान करना निर्हेतुक ही था। मैंने वस्तुस्थितिकी सूचक जिन घटनाओ एवं प्रमाणोके आधारपर ऐसा किया उनका उल्लेख पुस्तकमें पृष्ठ ५१ से ५३ तक किया गया है। यहाँ पर पाठकोकी जानकारीके लिये उनका सार प्राय. पुस्तकके ही शब्दोमे दिया जाता है और वह इस प्रकार है :—

(१) खुद बौद्ध ग्रथोमे बुद्धका निर्वाण अजातशत्रु (कुणिक) के राज्यके आठवें वर्ष बतलाया है।

(२) बौद्धोंके '**दीघनिकाय**'में तत्कालीन तीर्थंकरोंकी मुलाकातके अवसरपर अजातशत्रुके मंत्रीके मुखसे निग्गंठनातपुत्त

(महावीर)का जो परिचय दिलाया है उसमें महावीरका एक विशेषण '**अद्ध'गतो वयो**' (**अर्धगतवयः**) भी दिया है। जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि इस परिचयके समय महावीर अधेड़ उम्रके थे अर्थात् उनकी अवस्था ५० वर्षके लगभग थी। और इसलिए वे अधिक नही तो अजातशत्रुके राज्यके २२वें वर्ष तक जीवित रहने चाहियें; क्योंकि उनकी अवस्था प्रायः ७२ वर्षकी थी।

(३) अजातशत्रुके राज्यके ८ वें वर्ष बुद्ध-निर्वाण और २२ वे वर्ष महावीर-निर्वाण होनेसे महावीर-निर्वाण बुद्ध-निर्वाणसे १४ वर्ष बाद पाया जाता है।

(४) '**भगवतीसूत्र**' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे भी ऐसा मालूम होता है कि महावीर-निर्वाणसे १६ वर्ष पहले गोशालक (मंखलि-पुत्त गोशाल)का स्वर्गवास हुआ। गोशालकके स्वर्गवाससे कुछ वर्ष पूर्व (प्रायः ७ वर्ष पहले) अजातशत्रुका राज्यारोहण हुआ। उसके राज्यके आठवे वर्षमे बुद्धका निर्वाण हुआ और बुद्धके निर्वाणसे कोई १०-१५ वर्ष बाद अथवा अजातशत्रुके राज्यके २२ वे वर्ष महावीरका निर्वाण हुआ।

(५) हेमचन्द्राचार्यने चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण-समय वीर-नि० सं० १५५ वर्ष बाद बतलाया है और '**दीपवंश**', '**महावंश**' नामके बौद्धग्रन्थोमे वही (चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण) समय बुद्ध-निर्वाण सं० १६२ वर्ष बाद बतलाया है। इससे भी प्रकृत विषयका कितना ही समर्थन होता है और यह साफ जाना जाता है कि वीर-निर्वाणसे बुद्ध-निर्वाण अधिक नही तो ७-८ वर्षके क़रीब पहले जरूर हुआ है।

(६) लंकामें जो बुद्ध-निर्वाण संवत् प्रचलित है वह सबसे अधिक मान्य किया जाता है—ब्रह्मा, श्याम और आसाममें भी

वह माना जाता है। उसके अनुसार बुद्ध-निर्वाण ई० सन् से ५४४ वर्ष पहले हुआ है। इससे भी महावीर-निर्वाण बुद्ध-निर्वाणके बाद बैठता है।

(७) चूँकि मक्खलिपुत्तकी, जो कि बुद्धके छह प्रतिस्पर्धी तीर्थंकरोंमेसे एक था, मृत्यु बुद्ध-निर्वाणसे प्रायः एक वर्ष पहले ही हुई है और बुद्ध-निर्वाण भी उक्त मृत्यु-समाचारसे प्राय. एक वर्ष बाद माना जाता है। दूसरे, जिस पावामे मृत्युका होना लिखा है, वह पावा महावीरकी निर्वाण-क्षेत्रवाली पावा नही है बल्कि दूसरी ही पावा है जो बौद्धपिटुकानुसार गोरखपुरके जिलेमे स्थित कुशीनाराके पासका कोई ग्राम है। तीसरे, कोई सघ-भेद भी महावीरके निर्वाणके अनन्तर नही हुआ, बल्कि गोक्षालककी मृत्यु जिस दशामे हुई है उससे उसके सघका विभाजित होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। ऐसी हालतमे '**सामगामसुत्त**'मे वर्णित उक्त मृत्यु तथा संघभेद समाचारवाली घटनाका महावीरके साथ कोई सम्बन्ध मालूम नही होता। बहुत संभव है कि वह मंखलिपुत्त गोशालकी मृत्युसे सम्बन्ध रखती हो और 'पिटक' ग्रन्थोंको लिपिबद्ध करते समय किसी भूल आदिके वश इस सूत्रमे मक्खलि-पुत्तकी जगह नातपुत्तका नाम प्रविष्ट हो गया हो।

इन सब प्रमाणोमेसे किसीका भी कोई खंडन न करते हुए ब्रह्मचारीजी एक युक्तिपुरस्सर निर्णय पर आपत्ति करने चले हैं? यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। आपका मन्तव्य है :—

"**सामगामसुत्त** नं० १०४ के शब्दोसे यह कभी भ्रम नही होता कि निर्ग्रन्थ श्री महावीर भगवान्के सिवाय किसी औरका कथन हो। वहाँ साफ लिखा है कि 'चन्दो (चुन्द) ने आनन्दको खबर की कि निग्गंथ नातपुत्त पावामे अभी निर्वाण हुए।' वह यह भी

कहता है कि उनके निर्वाणके पीछे निर्ग्रन्थ-साधुओंमें मतभेद हो रहा है। तब चुन्द व आनन्द दोनो गौतमबुद्धके पास जाकर निवेदन करते हैं। इस कथनको असत्य माननेका कोई कारण नही दीखता है। इससे यही सिद्ध है कि गौतमबुद्धके जीवनमे ही श्री महावीरस्वामीका निर्वाण हुआ। तथा तब गौतम ७६-७७ वर्षके थे।"

ब्रह्मचारीजीके इस अजीब निर्णय एवं आदेशसे ऐसा मालूम होता है कि उन्होने **'सामगामसुत्त'**को स्वत: प्रमाणके तौरपर मान लिया है; परन्तु फिर भी आपका कारणकी मार्गणा अथवा गवेषणा करते हुए यह लिखना कि "इस कथनको असत्य मानने-का कोई कारण नही दीखता है" अजीब तमाशा जान पड़ता है! कारण तो ऊपर एक नही अनेक बतलाये गये हैं। उन्हें क्या ब्रह्मचारीजीने पुस्तकमे पढ़ा नही और वैसे ही इधर-उधरके दो चार पत्र पलटकर अपना निर्णय दे डाला है? बिना पूरा पढ़े और बिना अच्छी तरहसे जाँच किये किसी भी युक्ति-पुरस्सर लेखनीके विरुद्ध कलम चलाना तो निस्सन्देह अति साहसका काम है! मैं पूछता हूँ यदि ब्रह्मचारीजीकी दृष्टिमें बौद्धोंका **'सामगामसुत्त'** बिलकुल ही प्रामाणिक वस्तु है—उसकी सत्यताके विरुद्ध उन्हे कोई भी कारण दिखलाई नही पड़ता—तो वे कृपया निम्न बातोंका समाधान कर अपनी पोज़ीशनको स्पष्ट करें :—

१—**'सामगामसुत्त**के शुरूमें ही लिखा है कि[१] निगठनातपुत्तके मरनेपर निगंठ (जैनसाधु) लोग दो भाग हो, भंडन (कलह-विवाद) करते, एक दूसरेको मुखरूपी शक्तिसे छेदते विहर रहे

---

१. देखो, **'बुद्धचर्या'** में पृ० ४८१ पर उक्त सुत्तका अनुवाद।

थे—"तू इस धर्मविनय (धर्म) को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ, तू क्या इस धर्मविनयको जानेगा, तू मिथ्या-रूढ है, मैं सत्यारूढ हूँ" इत्यादि। यह तूतूकार और गालीगलौज क्या ब्रह्मचारीजी भगवान् गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी आदिके बीच हुआ मानते हैं जो कि भ० महावीरके मुख्य गणधर थे और गौतमस्वामीको तो उसी समय केवलज्ञानकी प्राप्ति भी हो गई थी? यदि ऐसा है तो वे एक केवलज्ञानी और महामुनिकी पोजीशनको कैसे सुरक्षित रख सकेंगे?

२—इस सुत्तमे वर्णित मृत्यु-समाचारको चन्द नामक बौद्ध-भिक्षु वर्षावास समाप्त करते ही बुद्धके पास ले गया था और उसने जाते ही कहा था कि "निगठनातपुत्त अभी अभी पावामे मरे हैं, उसके मरनेपर निगठ लोग दो भाग हो ' " इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि यह समाचार मृत्युके बाद थोड़े ही समयके अनन्तर—ज्यादा-से-ज्यादा १५-२० दिनके बाद बुद्धके पास पहुँचाया गया है। इस अल्प समयके भीतर जैन-साधुसघके कौन-से दो विभाग हुए ब्रह्मचारीजी मानते हैं? क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर रूपसे जो दो भेद हुए हैं वे तो महावीरके निर्वाणसे बहुत बादकी—केवलियों और श्रुतकेवलियोंके भी बादके समयकी—घटनाएँ हैं। यदि इन्ही दो भेदोंको लक्ष्य करके उस सूत्रमे उल्लेख किया गया है और जिसका कुछ आभास "निगठके श्रावक जो गृही श्वेतवस्त्रधारी थे वे भी नातपुत्तीय निगंठोमें (वैसे ही) निर्विण्ण-विरक्त-प्रतिवाण रूप थे" इत्यादि इसी सूत्रके दूसरे वाक्योंसे भी मिलता है तब यह सूत्र सत्य और प्रामाणिक कैसे?

३—**सामगामसुत्त**में जिस पावाका उल्लेख है वह बौद्ध-

ग्रन्थोंके अनुसार गोरखपुरके जिलेमें कुशीनाराके पासका कोई ग्राम है, जिसका उल्लेख बुद्धचर्यामें भी कई जगह किया गया है[१]। ऐसी हालतमें ब्रह्मचारीजी क्या **महावीर**का निर्वाण स्थान वर्तमान **पावापुर**को नही मानते हैं ?

४—**सामगामसुत्त**के किन शब्दोंपरसे ब्रह्मचारीजी यह नतीजा निकालनेमें समर्थ हुए हैं कि "तब गौतम ७६-७७ वर्षके थे ?"

५—ब्रह्चारीजी **मज्झिमनिकाय**के **सामगामसुत्त**को तो किस आधारपर प्रमाण मानते हैं और उसी **मज्झिमनिकाय**के '**उपालिसुत्त**' और '**अभयराजसुत्त**' आदि उन दूसरे कई सूत्रोको क्यो प्रमाण नही मानते हैं, जिनका उल्लेख आपने **हिन्दी मज्झिमनिकाय** नामके अपने लेखमे किया है, जो बादको १० मई सन् १९३४ के **जैनमित्र**मे प्रकाशित हुआ है ? 'उपालिसुत्त'का तो '**सामगामसुत्त**'के साथ खास सम्बन्ध भी बतलाया जाता है, जैसा कि '**बुद्धचर्या**'मे सामगामसुत्तका अनुवाद देते हुए '**अट्ठकहा**'के आधारपर दिये हुए निम्न शब्दोसे प्रकट है :—

"यह नातपुत्त तो नालन्दावासी था वह कैसे क्यो पावामें मरा ? सत्यलाभी उपालि गृहपतिके दश गाथाओंसे भाषित बुद्ध-गुणोको सुनकर उसने मुँहसे गर्म खून फेंक दिया। तब अस्वस्थ ही उसे पावा ले गये। वह वही मरा।"

अत: इस विषयका ब्रह्मचारीजीको अच्छा हृदयग्राही स्पष्टीकरण एव खुलासा करना चाहिये और साथ ही यह भी बतलाना चाहिये कि '**उपालिसुत्त**' आदिके विषयमें जो उन्होंने अपने

---

१. देखो 'संगीतिपरिमायसुत्त' और 'महापरिणिव्वाणसुत्त' आदि।

'हिन्दी मज्झिमनिकाय' वाले लेखमें जैनधर्मसे बौद्धोंके ईर्षाभाव तथा द्वेषभावकी कल्पना की है वह कल्पना **'सामगामसुत्त'** के साथ क्यों संगत नहीं बैठती ? क्योकि इस सूत्रमें भी तो निगंठनात-पुत्त (महावीर) के धर्मको दुराख्यात (ठीकसे न कहा गया) दुष्प्रवेदित (ठीकसे न साक्षात्कार किया गया), अतैर्थाणिक (पार न लगानेवाला), असम्यक्सम्बुद्ध प्रवेदित और प्रतिष्ठा-रहित आदि बुरे रूपमे उल्लिखित किया गया है ।

६—ब्रक्ष्मचारीजीने अपने उक्त लेखमें **'उपालिसुत'** आदि पर आपत्ति करते हुए लिखा है कि :—

"यद्यपि लेखकने कथन ऐसा किया है मानो वे सब वाक्य गौतमबुद्धके ही हैं परन्तु ऐसा सभव नही है, ५०० वर्षो तक वे सब वाक्य वैसेके वैसे ही चले आये हो, सभव है कुछ आए हो, उनमे उस समयके लेखकोने जरूर अपना अभिप्राय प्रवेश किया है, बिलकुल शुद्ध कथन नही हो सकता ।"

जब **'मज्झिमनिकाय'** आदिको लिये हुए पिटक ग्रन्थोकी ऐसी स्थिति ब्रह्मचारीजी स्वयं स्वीकार करते हैं, तब निगंठनात पुत्तकी मृत्यु तथा सघभेद-समाचारवाली घटनाके विषयमे जो यह युक्तिपुरस्सर कल्पना की है कि वह मक्खलिपुत्त गोशालकी मृत्यु-से सम्बन्ध रख सकती है और इस सूत्रमे मक्खलिपुत्तकी जगह 'नातपुत्त' का नाम किसी भूल या द्वेषादिका परिणाम हो सकता है, इस पर ब्रह्मचारीजी किस आधार पर आपत्ति करने बैठे हैं, वह कुछ समझमें नही आता ? उसका भी स्पष्टीकरण होना चाहिये ।

७—समालोचनाके अन्तिम पैराग्राफमें लिखा है :—

"गोपमग्गलाक सुत्त न० १०८ से विदित होता है कि

गौतमके देह-त्यागके पीछे जब राजगृहमें अजातशत्रु राज्य कर रहा था तब **गोपक**-मग्गलानो ब्राह्मणसे **आनन्द**का वार्तालाप हुआ है कि जैसे गौतम बुद्ध थे वैसा कोई बुद्ध उनके पीछे है क्या ? इत्यादि । इससे विदित है कि **अजातशत्रु**का राज्य होते ही गौतम बुद्धका भी देहावसान हो गया था । महावीर स्वामीका इससे ३ या ४ वर्ष पूर्व हुआ था, बुद्धचर्या' से यह बात साफ़ प्रकट है ।''

उक्त सूत्र यद्यपि मेरे सामने नही है फिर भी सूत्रके वक्तव्य-को जिन शब्दोंमें ब्रह्मचारीजीने रक्खा है उनपरसे समझमें नही आता कि वे कैसे उक्त नतीजा निकालने बैठे हैं । उन शब्दोसे तो सिर्फ इतना ही पता चलता है कि उक्त वार्तालाप बुद्धकी मृत्युके बाद हुआ और **अजातशत्रु**के राज्यमे हुआ—इससे अधिक और कुछ नही । **बुद्ध**का निर्वाण तो बौद्ध-ग्रन्थोंमे भी अजातशत्रुके राज्यके आठवें वर्षमे बतलाया है जैसा कि '**बुद्धचर्या**' के ''सम्यक् संबुद्ध अजातशत्रुके आठवे वर्षमे परिनिर्वाणको प्राप्त हुए'' इन शब्दोसे भी जाना जाता है (पृष्ठ ५७७) । और 'महापरिणिव्वाणसुत्त' से यह साफ मालूम होता है कि बुद्ध जब राजगृहमें गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे तब अजातशत्रुका राज्य चल रहा था और अजातशत्रु बज्जियो पर चढ़ाई करना चाहता था ? जिसके सम्बन्धमें उसने अपने महामंत्रीको भेजकर बुद्धसे प्रश्न भी कराया था (देखो '**बुद्धचर्या**' पृ० ५२० पर उक्त सूत्रका अनुवाद) । ऐसी हालतमें ब्रह्मचारीजीका यह कहना कि 'अजातशत्रुका राज्य होते ही गौतम बुद्धका देहावसान हो गया था', बड़ा ही विचित्र और बिना सिर-पैरका जान पड़ता है । इसी तरह यह कहना भी निराधार और अविचारित

मालूम होता है कि महावीर स्वामीका देहावसान इससे ३ या ४ वर्ष पूर्व हुआ ? क्योंकि इसके द्वारा ब्रह्मचारीजी यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि अजातशत्रुके राज्यसे ३ या ४ वर्ष पहले राजा श्रेणिकके राज्यमें ही महावीरका निर्वाण हुआ है। परन्तु यह बात खुद बौद्ध ग्रन्थों और उस बुद्धचर्या के भी विरुद्ध पड़ती है, जिसकी आप दुहाई दे रहे हैं; क्योंकि **'दीघनिकाय'** के **'सामंज-फलसुत्त'** का जो अनुवाद **बुद्धचर्यामें** दिया है उससे साफ जाना जाता है कि आजतशत्रुके राज्यमे बुद्ध ही नही, किन्तु निगंठनात पुत्त (महाबीर) आदि दूसरे छह तीर्थंकर भी मौजूद थे, अजात शत्रुने उन सबसे मिलकर प्रश्नोत्तार किये थे ! अन्तको बुद्धके उत्तारसे सन्तुष्ट होकर वह बुद्धका शरणागत (उपासक) बना था और उसने बुद्धके सामने अपने पिता (श्रेणिक) को जानसे मार डालनेका अपराध स्वोकार किया था। ऐसी हालतमें ब्रह्मचारीजी बतलाये कि उनका यह सब कथन कैसे सगत हो सकता है ?

एक स्थान पर ब्रह्मचारीजी लिखते हैं—"प्रभु जब ४२ वर्षके थे तब गौतम बुद्ध ४७ वर्ष के थे । गौतम बुद्धका उपदेश अपनी ३५ वर्षकी उम्रमे शुरू हुआ अर्थात् महावीर भगवानसे १२ वर्ष पहले। यही कारण था कि राजा श्रेणिक बाल्यावस्थामें बुद्ध-मतानुयायी हो गया था, पीछे महावीर स्वामीके केवलज्ञानी होने पर जैनी हुआ है।" परन्तु इससे महावीर-निर्वाणका पहले और बुद्ध-निर्माणका पीछे होना लाज़िमी नही आता। बल्कि बौद्धधर्मका प्रचार १२ वर्ष पहले होनेसे उसके उपदेष्टा बुद्धका, जो अवस्थामे भी महावीरसे बड़े थे, देहावसान महावीरके निर्वाण-से पहले होना अधिक संभावित जान पड़ता है। तब समझमें नही आता कि ब्रह्मचारीजीने अन्तिम पैराग्राफसे पहले इस निरर्थक बातका उल्लेख करना क्यों ज़रूरी समझा है ?

इस प्रकार एक कालमकी समालोचनाका पौन भाग व्यर्थकी अनावश्यक और असंगत बातोंसे भरा हुआ है। अच्छा होता यदि इतने स्थान पर पुस्तकका कुछ विशेष परिचय दिया जाता। परन्तु जान पड़ता है ब्रह्मचारीजीकी चलती लेखनीको कभी-कभी विशेष परिचयकी बात तो दूर, आवश्यक सामान्य परिचय-की भी कुछ चिन्ता नही रहती, जिसका एक ताजा उदाहरण गत ३१ मईके '**जैनमित्र**' मे प्रकाशित '**समन्तभद्रका समय और डाक्टर पाठक**' नामक निबन्धका परिचय है, जिसमें यहाँ तक नही बतलाया गया कि डा० पाठकका इस निबन्धसे क्या सम्बन्ध है, जबकि यह बतलाना चाहिये था कि डा० के० बी० पाठकने समन्तभद्रका समय कुछ युक्तियोके आधार पर आठवी शताब्दी करार दिया था, उन सब युक्तियोका इस निबन्धमे कितनी खोज-के साथ कैसा कुछ खंडन किया गया है।

खेद है ब्रह्मचारीजी बिना सोचे-समझे एक बात पर आपत्ति करने तो बैठ गये परन्तु वे उसका ठीक तौरसे निर्वाह नही कर सके और यों ही यद्वा तद्वा लिख गये हैं।

आजकल ब्रह्मचारीजी बौद्धधर्मको अपना रहे हैं और साथ ही जैनधर्मको छोड़ भी नही रहे हैं। आपका कहना है कि प्राचीन बौद्धधर्म और जैनधर्म एक ही थे—समान थे—निर्वाणका जो स्वरूप जैन सिद्धान्तमे वर्णित है वही बौद्ध-सिद्धान्तमे मुझे झलकता है। अमुक बौद्धसूत्रमे मोक्षमार्गका अच्छा वर्णन है; बहुतसे बौद्धसूत्रोंको पढ़नेसे ऐसा ही आनन्द आता है मानों जैन सिद्धान्तका स्वाध्याय हो रहा हो, इत्यादि। और इस तरह आप प्रकारान्तरसे यह प्रतिपादन करते है अथवा सुझा रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्र और अकलंकदेव जैसे महान आचार्योंने बौद्ध-

धर्मको ठीक तौरसे समझा नहीं ओर इसीलिये वे उसके खंडनमें प्रवृत्त हुए हैं !! जान पड़ता है ब्रह्मचारीजी कुछ दिनसे बौद्ध-साहित्यका अध्ययन करते हुए और बौद्धधर्मके मूल सिद्धान्तोपर ठीक दृष्टि न रखते हुए ग्रन्थोके ऊपरी शब्दजालमे पड़कर बौद्ध-धर्मकी मोहमायामे फँस गये हैं। इस मोहमायामय शब्दजालको स्वामी समन्तभद्र जैसे आचार्योंने परखा था और उसीकी सूचना वे '**बहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलं**' जैसे वाक्यों-द्वारा अपने ग्रन्थोमे कर गये हैं। 'स्वयभूस्तोत्र'की टीका लिखकर भी ब्रह्मचारीजीने स्वामीजीके इस सकेतको नही समझा, यह आश्चर्य तथा खेदकी बात है ! इसीसे आपकी स्थिति आजकल दो परस्पर विरोधी घोड़ोकी पीठपर एक साथ सवारी करनेवाले सवार-जैसी हो रही है।

आशा है, इस लेखसे, ब्रह्मचारीजी अपनी भूलको सुधारेंगे और अपनी पोजीशनको शीघ्र ही स्पष्ट करके बतलानेकी कृपा करेंगे।

—जैनजगत, १६–७–१६३४

स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ? : ११ :

श्रीसत्यभक्त पं० दरबारीलालजीका एक लेख, जो लिखित व्याख्यानके रूपमे गत १४ सितम्बर १९५६ को बम्बईकी पर्युषण-व्याख्यान-सभामें पढ़ा गया था और '**सत्य-सन्देश**'के अंक नं० २० मे '**जैनधर्म और निवृत्तिमार्ग**' नामसे मुद्रित हुआ है, हालमें मुझे पढ़नेको मिला। इस लेखमे सत्यभक्तजी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी अपनी व्याख्या करते हुए यह एकान्त उपदेश देते हैं कि—"**स्वार्थसे निवृत्ति कीजिये; किन्तु परार्थमें उससे कई गुणी प्रवृत्ति कीजिये।**"

यह उपदेश प्राय: संसारका ही मार्ग जान पडता है—परमार्थका नही। और इसलिये जो लोग संसारको ही सब कुछ समझते हैं, आत्माकी परमविशुद्धि-सिद्धि-मुक्ति अथवा पूर्ण-स्वतन्त्रता जिन्हे अभीष्ट नही है और न जो इस बातको ही मान्य करते हैं कि यह आत्मा सम्पूर्ण वैभाविक परिणतियोसे छूटकर स्वभावमे स्थित हो सकता है उन्हे उक्त उपदेश किसी तरह इष्ट हो सकता है और वे उसे अपना सकते हैं। परन्तु जो लोग आत्मार्थ-साधनकी दृष्टिसे संसार-बन्धनसे छूटनेके मार्गपर लगे हुए हैं, स्थितप्रज्ञकी अवस्था अथवा ब्राह्मी-स्थितिको प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए यह एकान्त उपदेश उपादेय मालूम नही होता। क्योकि स्वार्थ तो वास्तवमें आत्मार्थ—आत्मीयप्रयोजन अथवा आत्माके निजी अभीष्ट एवं ध्येयका नाम है और वह '**आत्यन्तिक स्वास्थ्यरूप—अविनाशी स्वात्मस्थितिरूप**—है, **इन्द्रिय-**

विषयोंके क्षणभंगुर भोगरूप नहीं है ।' जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्नवाक्यसे प्रकट है :—

> **स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां**
> **स्वार्थो, न भोगः परिभंगुरात्मा ।** —**स्वयम्भूस्तोत्र**

ऐसी हालतमे स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ? उसमे तो अधिकाधिक प्रवृत्ति होनी चाहिये । ऐसी स्वार्थसाधना तो—जिसमे कषायोकी निवृत्ति की जाती है, इन्द्रिय-विषयोंको जीता जाता है, पापाचारसे विरक्ति रहती है और इस रूपमे लोककी भारी सेवा की जाती है—किसीके लिये हानिकर भी नही होती । प्रत्युत इसके, दूसरे जीवोके स्वार्थमें बाधा न पहुँचाते हुए उनके उस स्वार्थ-साधनमे सहायक होती है—उनके सामने स्वार्थसिद्धिका आदर्श एव मार्ग उपस्थित करती है और करती है उसपर चलनेकी मूक प्रेरणा । ऐसी स्वार्थ-साधनासे निवृत्तिका अर्थ तो आत्मलाभसे वचित रहने जैसा हुआ, जो किसी तरह भी इष्ट नही हो सकता ।

आत्मलाभसे वंचित रहना पुद्गलका अभिनन्दन करना है और वह ससारका बढ़ानेवाला—जीवके परिभ्रमणको लम्बा करनेवाला—तथा संसारमें दुःख और अशान्तिकी परम्पराको जन्म देनेवाला है । आत्मलाभसे वचित रहकर भले ही कोई सुखशान्तिके कितने ही गीत गावे और कितने ही उपाय क्यों न करे परन्तु उन सबसे वास्तविक सुखशान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती । सुख-शान्तिका आत्मलाभ अथवा स्वार्थसिद्धिके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है—वह कोई बाहरसे आनेवाली चीज़ नही है । इसी बातको लक्ष्यमें रखकर श्रीपूज्यपादाचार्यने, अपने 'इष्टोपदेश'के निम्न पद्योंमे, "**स्वार्थं को वा न वांछति**" और "**परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव**" जैसे वाक्योके द्वारा स्व-परके विवेकको

जागृत करते हुए पुद्गलके अभिनन्दनको—परकी आराधनाको—हेय और स्वार्थसाधनाको उपादेय बतलाया हैं। साथही, उन लोगों-को मूढ घोषित किया है जो स्वार्थसिद्धिसे विमुख होकर परके—बाह्य शरीरादिके—उपकार-साधनमें ही लगे रहते हैं :—

कर्म कर्महितावन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥
परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याऽज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

शायद इसी बातको लेकर नीतिका यह वाक्य भी प्रसिद्ध हो कि "**स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता**"—अर्थात् स्वार्थसे भ्रष्ट रहना—उसे सिद्ध न करना—मूर्खता है।

ऐसी दशामे अथवा ऐसी वस्तु-स्थितिके होते हुए, यहाँ तक उपदेश दे डालना कि "**निवृत्ति तो सिर्फ स्वार्थकी निवृत्ति है और वह इसलिये है कि विश्वहितमें घोर प्रवृत्ति को जा सके**" वह बहुत कुछ असंगत और अविचारित जान पड़ता है। स्वार्थ-की उक्त परिभाषा एवं व्याख्याके अनुसार तो आत्महितसे रिक्त मनुष्य विश्वभरका तो क्या थोड़ेसे भी प्राणियोंका सच्चा हित साधन नही कर सकता। जो खुद ही रास्ता भूल रहा हो वह दूसरोंको रास्तेपर कैसे लगा सकता है ? क्या रोग, विकार और शत्रु भी स्वार्थमें शामिल हैं ? यदि नही तो फिर क्या इनकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, जिसके लिये स्वार्थकी निवृत्तिके साथ "**सिर्फ**" शब्दका प्रयोग किया गया है ? इनकी निवृत्तिके बिना तो लोकहित कुछ भी नहीं बन सकता ?

यदि लौकिक दृष्टिसे स्वार्थका दूसरा अवास्तविक अर्थ '**अपना इन्द्रिय-विषय-भोग**' ही लिया जावे और उसीको लेखकका

अभिप्रेत समझा जावे तो फिर उससे निवृत्ति धारण करनेवालेके लिये यह क्योंकर आवश्यक हो सकता है कि वह दूसरोको उन्ही इन्द्रिय-विषय-भोगोंकी प्राप्ति करानेमें अधिकाधिक अथवा अपनी उस निवृत्तिसे भी कई गुणी अधिक-प्रवृत्ति करे ? एक मनुष्य जो आत्महित-साधनकी दृष्टिसे—शारीरिक अशक्ततादिकी दृष्टिसे नहीं—स्त्रीप्रसंगको हेय समझकर त्यागता है उसके लिये क्या यह संगत और उचित होगा कि वह उसी दृष्टिसे दूसरोंको स्त्री-प्रसग कराता फिरे अथवा उनके गठबन्धनकी योजना करता फिरे ? कदापि नही। यह दूसरी बात है कि किसीको भी अपने भोगो-पभोगकी सामग्रीको उससे अधिक रूपमें संग्रह नही करना चहिये जितना कि उसको न्याय्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिये जरूरी हो; क्योकि ऐसा करनेसे संग्रहकारकी आकुलताओकी वृद्धिके साथ साथ दूसरोको अपनी जरूरियातके पूरा करनेमे बाधा भी उपस्थित होती है और उससे लोककी शान्ति भंग होती है। इसी उद्देश्य-को लेकर अपरिग्रह, परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोग-परिमाण जैसे व्रतोका विधान किया गया है, जो बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इसके सिवाय, यदि दूसरोको उनके इन्द्रिय-विषय-भोगोंकी प्राप्ति कराना ही उनका हित-साधन करना है तो फिर अपने इन्द्रिय-विषय-भोगोने ही कौन-सा अपराध किया है, जिससे उनकी निवृत्ति की जाय ? क्या अपना हित-साधन करना भी अपनेको इष्ट नही है ? और यदि सभी जन अपने-अपने विषय-भोगोंके त्यागरूप स्वार्थकी निवृत्ति कर डालें तो फिर वह इन्द्रिय-विषय-भोगोकी सेवारूप विश्वहित भी क्या खाक बन सकेगा, जिसके लिये यह सब कुछ किया जाता है ? अथवा स्वार्थकी

यह निवृत्ति क्या इक्के-दुक्कोंके लिये ही है—सबके लिये नहीं ? तब इक्के-दुक्कोंकी इस स्वार्थ-निवृत्तिसे विश्वभरका उक्त हित-साधन कैसे हो सकेगा, वह कुछ समझमे नही आता ! और न यही मालूम होता है कि स्वार्थके उक्त दोनों अर्थोंसे भिन्न विश्वके हितकी और परिभाषा क्या है, जिसे लक्ष्यमें रखकर लेखक महाशयने अपने उक्त कथनकी सृष्टि की है ।

इसी प्रकार एक महाव्रती साधुके लिये, जो सकल-विरतिके रूपमे अपने अहिसादिक व्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन कर रहा हो, यह उचित नही है कि वह अपने व्रतके विरुद्ध आरंभी, उद्योगी अथवा विरोधी हिसा करे । यदि किसी मोहादिकके वश होकर वह ऐसा करता है तो अपने पद एवं व्रतसे गिरता है, और इसलिये उसे खुशीसे उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये । अन्यथा, देश-संयमी और सकल-संयमीके आचारमें फिर कोई अन्तर नही रहता । और इसलिये एक महाव्रत्ती, सकलसंयमी एव समस्त सावद्य-योग-विरतिकी प्रतिज्ञासे आवद्ध सच्चे जैन मुनिके विषयमे ऐसी बातें बनाना कि उसे सड़कों पर झाड़ू क्यो न देनी चाहिये ? गिट्टी फोडनेकी मजदूरी करके अपना पेट-पालन (जीवन-निर्वाह) क्यो न करना चाहिये ? वह अपने हाथसे रसोई क्यों न बनाए ? और खेती क्यों न करे ? यह सब सकल-संयमकी विडम्बना करना और उसकी अवहेलना मात्र जान पड़ता है । यदि सकल-संयम अपनेको इष्ट न हो अथवा अपनी शक्तिसे बाहरकी चीज़ हो तो इतने परसे ही उस पर कुठाराघात करना और अवज्ञा-पूर्वक उसके महत्त्वको गिराने-की चेष्टा करना उचित नहीं है ।

यदि सत्यभक्तजी साधु-संस्थामें घुसे हुए विकारोका दूर

होना अशक्य समझते हैं और उस ओरसे बिल्कुल ही हतोत्साह हो बैठते हैं तो अच्छा होता यदि इतना कहकर ही वे अपने हृदयका संताप मिटा लेते कि '**आजकल देशकालकी परिस्थितिको देखते हुए साधुसंस्थाकी ज़रूरत नहीं है—उसे एकदम उठा देना चाहिये।**' परन्तु सकल-सावद्ययोग-विरतिकी प्रतिज्ञासे आबद्ध एक महाव्रती जैन साधुको सावद्यकर्म करनेकी प्रेरणा करना और फिर यहातक कह डालना कि '**ऐसा करनेसे उक्त महाव्रतमें कोई बट्टा नहीं लग जायगा**—वह उलटा चमक उठेगा, बहुत कुछ हास्यास्पद तथा आपत्तिके योग्य मालूम होता है। जान पड़ता है वैसा लिखते और बोलते हुए यथोचित विचारसे काम नही लिया गया।

मैं एकान्त वेषका पक्षपाती नही और न ऐसे साधुओके प्रति मेरी कोई श्रद्धा अथवा भक्ति है जो अपने महाव्रतोका ठीक तौरसे पालन नही करते, आगमकी आज्ञानुसार नही चलते, लोकैषणामे फॅसे हुए हैं, अहंकारके नशेमें चूर हैं, सुखी एवं विलासी जीवन वितानेकी धुनमें मस्त हैं, आरंभ-परिग्रहसे जिन्हें विरक्ति नही, प्रमाद जिनसे जीता नहीं जाता, जो दम्भ रचते, मायाचार करते और इस तरह अपनेको तथा जगतको ठगते हैं। ऐसे साधुओकी व्यक्तिगत कड़ीसे कड़ी आलोचनाको मैं सहन कर सकता हूँ। परन्तु यह मुझसे बर्दाश्त नही होता कि एकके अथवा कुछके दोषसे सबको दोषी ठहराया जाय, सबको एकही डंडेसे हांका जाय और सारी साधु-संस्थाका ही मूलोच्छेद किया जाय। कोई छूट न रखकर वर्तमानके सभी साधुओंके लिये "**आजका साधु**····" जैसे उद्गारोके साथ ओछे शब्दोंका प्रयोग करना **संयतभाषाके विरुद्ध है। उसमें कहीं कहीं सभ्यताकी सीमाका**

उल्लंघन पाया जाता है और कहीं कहीं अहंकारकी दमक मारती है।

यह ठीक है कि 'साधु' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है और '**णमो लोए सव्वसाहूणं**' पदमें भी उस व्यापक साधुताका कितना ही समावेश है। परन्तु फिर भी साधु-सामान्य और साधु-विशेषमें अन्तर ज़रूर होता है—दोनोंको एक नहीं कहा जा सकता। साम्यभावका अवलम्बन लेनेवाले भी दोनोंको एक नहीं समझते। साम्यभावका यह अर्थ ही नहीं है कि लोहे-सोनेको एक माना जाय, प्रशस्त-अप्रशस्तमें कोई भेद न किया जाय—अथवा निन्दा-स्तुतिको सर्वथा एकरूपमें स्वीकार किया जाय। ऐसा मानना और स्वीकार करना तो अज्ञानताका द्योतक होगा। वास्तवमें अनेक विषमताओके सामने उपस्थित होने पर चित्तमें विषमताका—रागद्वेषादिका—उत्पन्न न होने देना ही साम्यभावका अर्थ है। खेद है कि आज साम्यभावका दम भरनेवाले और बात बातमें समभावकी दुहाई देनेवाले भी अपने रागद्वेषादिमय उद्गारों-को रोकनेमें समर्थ नही होते ! फिर वे दूसरोको साम्यभावका क्या विशेष पाठ पढ़ा सकते हैं !!

यह भी ठीक है कि प्रवृत्तिके बिना निवृत्ति तथा निवृत्तिके बिना प्रवृत्ति नही होती और प्रवृत्ति-हीन निवृत्तिको साधुताकी परिभाषा न बनाना चाहिये। परन्तु प्रवृत्ति भी तो नाना प्रकारकी होती है। एक सकलसंयमी समस्त सावद्य-योगसे विरति धारण करता हुआ कषायोको दूर करता है, अपने इन्द्रिय-विषयोंको जीतता है, पापाचारसे विरक्त रहता है और इस तरह अपनी वैभाविक परिणतिको हटाता हुआ स्वभावमें स्थिर होनेकी—अपने आत्मलाभको प्राप्त करनेकी—भारी प्रवृत्ति करता है। यह प्रवृत्ति

क्या प्रवृत्ति नहीं है ? और इस प्रवृत्तिसे क्या लोकका हित-साधन नही होता ? यदि ऐसी अहिंसक, निष्पाप और संयत प्रवृत्तिसे भी लोकका हितसाधन नही होता तो फिर लोकहितकी कोई विचित्र ही परिभाषा करनी होगी, जिसे साधुताकी कसौटी बनानेकी प्रेरणा की गई है।

जैनधर्मकी साधुताका निवृत्येकान्तसे यदि कोई सम्बन्ध नही है तो प्रवृत्त्येकान्तसे भी उसका कोई सम्बन्ध नही है—वह तो निवृत्ति-प्रवृत्तिमय अनेकान्तको लिये हुए है। कोई भी समझदार जैन विद्वान् उसे मात्रनिवृत्त्यात्मक नही बतलाता—भले ही निवृत्ति-प्रधान कहे। और निवृत्ति प्रधान कहनेसे उसमें प्रवृत्तिका स्वत: समावेश हो जाता है। वह अपने एक स्थानपर प्रवृत्ति-प्रधान है तो दूसरे स्थानपर निवृत्ति-प्रधान है। उसमें सर्वत्र दृष्टिभेद चलता है। यदि सत्यभक्तजी महावीर-स्वामीको "**घोरप्रवृत्तिशाली व्यक्ति**" बतलाते हैं तो दूसरोंके इस कथनपर भी कोई आपत्ति नही की जा सकती कि "भगवान् महावीर निवृत्तिमार्गी थे;" क्योंकि उन्होंने अन्तमे कर्मबन्धनसे छूटनेरूप निवृत्तिको सिद्ध किया है। उसकी सिद्धिके लिये उन्हें जो कुछ भी प्रवृत्ति करनी पड़ी है वह सब उसकी साधनारूप थी।

एक स्थानपर टोपी और जूताके उदाहरणके साथ यह भी कहा गया है कि "**प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने-अपने स्थानपर सत्य है और दूसरेके स्थानपर असत्य हैं**" परन्तु खेद है कि जैनमुनियोके आचारकी आलोचना करते हुए सत्यभक्तजीने इस सुनहरी नियमको भुला दिया है। क्या एक श्रावक अथवा गृहस्थके लिये जो सावद्य कर्म विधेय एवं सत्य है वे समस्त सावद्ययोगके त्यागी महाव्रती मुनिके लिये अविधेय और असत्य नही है ? यदि

है तो फिर ऐसे आरम्भादिके त्यागी महाव्रतीके लिये सड़कोंपर झाड़ू देने, गिट्टी तोड़ने, रसोई बनाने और खेती करने जैसे सावद्य कर्मोंका विधान किस आधारपर किया गया है ? क्या यह टोपीके स्थान पर जूता रखनेके समान नहीं है ? और इसके द्वारा समीचीन मुनिमार्गकी अवज्ञा नहीं की गई है ? ज़रूर है और ज़रूर अवज्ञा की गई है। शोक है कि आप ऐसे सावद्य कार्योंको आजकल उक्त मुनियोंके लिये आवश्यक ठहराते हैं और उन्हें न करके आत्मसिद्धि एवं इन्द्रियनिग्रह और कषायविजयके कार्यमें लगनेवाले साधुको "**अनावश्यक कार्य करने वाला**" तथा "**वंचक**" तक बतलाते हैं !! यह कितने दुःसाहसकी बात है !!!

आपका एक यह भी कहना है कि '**आजका साधु तो एक मजदूरकी अपेक्षा अधिक परतन्त्र है। वह तो रोटीके टुकड़ोंके लिये श्रावकोंके मुँह ताकता है, हाँमें हाँ मिलाता है और इसलिये गुलाम है।**' परन्तु जो साधु समाजके मोहमें पड़कर समाजकी तुच्छातितुच्छ आवश्यकताओंके पीछे अपने न्याय्यनियमोंको तोड़ डालता है और अपने ध्येयको भी छोड़ बैठता है, वह क्या समाज का गुलाम नही है ? यदि है तो फिर ऐसे गुलाम साधुओंको उत्पन्न करनेके लिये यह उपदेश क्यों दिया जाता है कि "**अगर आज समाजको आवश्कता बदल जाय तो साधु-संस्थाके सेवा-कार्य क्यों न बदलने चाहियें** ?' इत्यादि। इससे तो आप अपने ही कथनके विरुद्ध बोल गये ! और एक गुलामीकी जगह दूसरी बड़ी गुलामी मुनियोंके सिरपर लाद दी !! उनके लिये परतंत्रतासे छूटने का कोई मार्ग ही आपने नहीं रक्खा !!!

इस तरह आपका यह उपदेश बहुत कुछ असंगत बातोंसे

भरा हुआ है, किसी जोशमें आकर लिखा गया है और इसलिये समीचानताके साथ उसका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम नहीं होता। लेखकी **'कमसे कम लेने और अधिकसे अधिक देने रूप'** साधु-लक्षणवाली बात भी आपत्तिके योग्य है, जिसपर यथावकाश फिर किसी समय प्रकाश डाला जायगा।

— जैनदर्शन, वर्ष ४, ता० १-१२-१६३६

पूर्वापर-विरोध नहीं : १२ :

सत्यसन्देशके अंक २३ (सन् १६३६) में **'पूर्वापर-विरोध'** शीर्षकको लिये हुए एक छोटा सा (प्रायः एक कालमका) नोट भाई श्रीभगवानदीनजीने प्रकाशित कराया है। यह नोट मेरे उस लेखसे सम्बन्ध रखता है जो **'स्वार्थसे निवृत्ति** कैसी ?' शीर्षकके साथ उक्त अंकके पूर्ववर्ती अंकमें प्रकट हुआ था। उस लेखको देखने-पढ़नेपर भाई भगवादीनजीके चित्तकी जो दशा हुई अथवा उनके हृदयमें जो-जो विचार उत्पन्न हुए, उनका कुछ परिचय देते हुए आपने इस नोटमे अपनी जाँच-द्वारा यह सूचित किया है कि मेरे उक्त लेखमे '६० फीसदी तो पं० दरबारी-लालजीके लेखका मंडन और समर्थन है, २० फीसदी विद्वत्तापूर्ण उठाई हुई शकाएँ हैं—जिनके लिये खंडन या विरोधात्मक शब्दका किसी प्रकार प्रयोग नही किया जा सकता और शेष २० फीसदी आक्षेप तथा समाजको भड़कानेवाली चिनगारियाँ हैं।' साथ ही यह भी लिखा है कि यदि मैं पं० दरबारीलालजी को ठीक-ठीक समझा हूँ तो विना झिझकके कह सकता हूँ कि साठ फीसदीके नीचे वे खुशीसे अपने हस्ताक्षर कर देगे। अर्थात् उक्त लेखके ६० फीसदी अंशको वे बिलकुल ठीक मान लेंगे और शंकाओंके २० फीसदी अंशको अपने विरोधमे नही समझेंगे—हो सकेगा तो उनका उचित उत्तर प्रदान करेंगे और इस तरह मेरे लेखका जो अथवा जिस रूपमे उत्तर पं० दरबारीलालजीकी तरफसे होना चाहिये उसकी आपने कुछ रूपरेखा समझाई है। अस्तु; पं० दरबारीलालजीका उत्तर उक्त नोटके साथ ही उसी

अंकमें प्रकट हो चुका है और वह जिस रूप एवं टाइपमें प्रकट हुआ है उस परसे भाई भगवानदीनजी स्वयं समझ सकेंगे कि पं० दरबारीलालजीके विषयमें उनकी धारणा और उनके उत्तरके सम्बन्धमें उनकी कल्पना कहाँ तक फलितार्थ हुई अथवा ठीक निकली है। मुझे उस विषयमे कुछ भी कहनेका अधिकार नही है और न कोई जरूरत ही है। मेरा सम्बन्ध तो आपके नोटकी निम्नलिखित अन्तिम पंक्तियोंसे है, जिनमें मेरे दो वाक्योंको उद्धृत करके '**पूर्वापर-विरोध**' की सूचना की गई है :—

"शीर्षक के सम्वन्धमें नीचेकी पंक्तियाँ काफी हैं :—

"स्वार्थ तो वास्तवमें आत्मार्थ—आत्मीय प्रयोजन अथवा आत्माके निजी अभीष्ट एवं ध्येयका नाम है।" "स्वार्थसे निवृत्ति कैसी"

"स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या विना खेद जो करते हैं।"

"मेरी भावना"

इन पंक्तियोको पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और समझमें नहीं आया कि मेरे उक्त लेखमे जब 'स्वार्थ' के दो अर्थोंका स्पष्ट उल्लेख किया गया है—एक परमार्थिक दृष्टिसे और दूसरा लौकिक दृष्टिसे, और उसी लेखमे एक जगह यह वाक्य भी दिया हुआ है कि—"**स्वार्थके उक्त दोनों अर्थोंसे भिन्न विश्वके हितकी और परिभाषा क्या है**" तब लेखके विषयोंका हिसाब और उनके अंशोंकी गणना तक करनेवाले भाई भगवानदीनजीने स्वार्थके एक अर्थको क्यों भुला दिया और क्यों उसे दूसरे अर्थके साथमें उद्धृत नही किया? क्या उन्होने जानबूझकर ऐसा किया? या उनकी किसी असावधानीका ही यह परिणाम है? पहली बातके कहनेकी मैं जुरअत नहीं कर सकता; क्योंकि जहाँ

तक मैं समझता हूँ, उक्त नोट उन भाई भगवानदीनजीका लिखा हुआ है जो '**महात्मा**' पदसे विभूषित हैं और इसलिये उनकी ओरसे जानबूझकर ऐसा किया जानेका कोई कारण (motive) नहीं जान पड़ता। तब यह दोष असावधानताके ही मत्थे मढ़ना होगा। कुछ भी हो, इससे जो ग़लत फ़हमी फैली है अथवा फैलनेकी संभावना है उसे दूर कर देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। और इसीसे स्पष्टीकरणके तौरपर नीचे दो शब्द और लिख देना उचित जान पड़ता है—

उक्त लेखमें लौकिक दृष्टिसे स्वार्थका दूसरा अर्थ "**अपना इन्द्रिय-विषय-भोग**" किया गया है। यही अर्थ '**मेरी भावना**'के उक्त वाक्यमे प्रयुक्त हुए '**स्वार्थ**' शब्दका अभिप्रेत है। दूसरा अर्थ उसी पद्यमे, जिसका उक्त वाक्य एक अंग है, '**साम्यभाव-धन**' और '**निजहित**' जैसे शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है। और उस साम्यभावरूप धन तथा आत्महितको रखने एवं साधनेकी वस्तु बतलाया है—त्यागनेकी नही'। और इसलिये वहाँ 'स्वार्थ' के अर्थमे किसी प्रकारकी विप्रतिपत्ति, भ्रान्ति अथवा कुछ-का-कुछ समझलिया जाने रूप अन्यथापत्ति, नही बनती। '**मेरीभावना**'का वह पूरा पद्य इस प्रकार है :—

विषयोंकी आशा नही जिनके, साम्यभाव-धन रखते हैं,
निज-परके हित-साधनमें जो निशिदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके दुख-समूहको हरते हैं॥

इसके सिवाय लेखमें '**स्वार्थ**' शब्दके पारमार्थिक अर्थका जो स्पष्टीकरण स्वामी समन्तभद्रादिके वचनानुसार किया गया है उसीको लक्ष्यमें रखकर '**सिद्धि-सोपान**'में एक सिद्धके लिये

"स्वात्मस्थित कृतकृत्य हूआ निज पूर्ण-स्वार्थको अपनाता" जैसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है। वहाँ भी उस स्वात्मस्थिति-रूप स्वार्थको अपनानेकी बात कही गई है, त्यागनेकी नही। और इससे मेरी दृष्टि स्वार्थके दोनों अर्थों पर रही है। मैंने उसमें विरोध नहीं आने दिया है—यह सहजमे ही समझा जा सकता है। ऐसी हालतमे यह स्पष्ट है कि मेरे दोनों कथनोंमे पूर्वापर-विरोध नहीं है। उनमे पूर्वापर-विरोधकी कल्पना कर लेना किसी ग़लती, भूल अथवा असावधानीपर अवलम्बित है। आशा है, भाई भगवानदोनजी मुझे इस स्पष्टवादिताके लिये क्षमा करेंगे।

— जैनदर्शन, वर्ष ४, १–१–१९३७

अनोखा तर्क और अजीब साहस ! : १३ :

'जैनमित्र'के अंक ४१ सन् १९३७ में एक लेख प्रकट हुआ है, जिसका शीर्षक है "**क्या रावण व्यभिचारी था ?**" उस लेखके प्रकटरूपमें लेखक तो पं० बिहारीलालजी शास्त्री अम्बाला छावनी हैं। परन्तु जैनमित्र-संपादकने पं० मंगलसेनजी वेदविद्या-विशारद अम्बालाके अत्याग्रह और अभिमानपूर्ण उलाहनेके पत्रपरसे यह मालूम किया है कि उक्त लेखके वास्तविक लेखक स्वनामधन्य पं० मंगलसेनजी ही हैं और वे अपने लेखको दूसरेके नामसे छपा रहे हैं। यदि यह सत्य है तो कहना होगा कि पं० मंगलसेनजी 'टट्टीकी ओटमे शिकार खेलना' अथवा 'बुर्का ओढ़कर मैदानमें आना' चाहते हैं। अस्तु; मुझे इससे कोई मतलब नही कि लेखके लेखक कौन हैं—मेरे लिये उत्तरकी दृष्टिसे प० मगलसेनजी और पं० बिहारीलालजी दोनों ही समान हैं। मुझे तो आश्चर्य इस बातका है कि २४ वर्षसे भी अधिक समय बीत जानेके बाद प्रतिवादका यह प्रयत्न कैसा ! क्योंकि मेरी जिस **'जिन-पूजाधिकार-मीमांसा'** पुस्तकके एक पैराग्राफको लेकर उक्त लेख लिखा गया है वह अप्रैल सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी, जब कि पं० गोपालदासजी वरैया जैसे प्रसिद्ध विद्वान् मौजूद थे और किसीने भी उक्त लेखपर आपत्ति नही की थी। पं० मंगलसेनजी जैसे विद्वानोके परिचयमें भी वह उसी वक्तसे है। हो सकता था कि इतने वर्षोंके प्रयत्नके बाद लेखक महाशयको कोई नई खास बात हाथ लगी होती और वह उनके लेखका कारण बन जाती; परन्तु ऐसा भी मालूम नही होता—

लेख खुद इतना निःसार और तर्कहीन है कि पत्र-संपादकजी उसे प्रकाशित भी नहीं करना चाहते थे। जैनमित्रमें उसके प्रकाशनका आभारी पं० मंगलसेनजीके अत्याग्रह एवं अभिमानपूर्ण पत्रको ही समझिये। प्रकाशित करते समय संपादकजीने उसपर जो नोट दिया है वह उक्त लेखकी निस्सारताको प्रगट करनेके लिये पर्याप्त है, और ऐसी हालतमें मुझे कुछ भी लिखनेकी जरूरत नहीं थी। मेरे पास इतना समय भी नहीं है कि मैं ऐसे थोथे लेखोके उत्तर-प्रत्युत्तरमें पड़ूँ—मुझे तो ऐसे लेखकोके साहस और उनके अनोखे तर्कको देखकर बडा ही दुःख होता है। ये लोग अपना तो समय व्यर्थ नष्ट करते ही हैं, दूसरोका भी अमूल्य समय नष्ट करना चाहते हैं, यह बड़े ही खेदका विषय है! लेखमें चूंकि मुझसे कुछ आशंकाओंका गर्वपूर्वक उत्तर माँगा गया है और उधर सपादकजीने भी अपने नोटमें विशेष समाधानके लिये मेरी ओर इशारा किया है, इसीसे लेखकके अनोखे तर्क और अजीब साहसको व्यक्त करते हुए यहाँ पर कुछ शब्दोंका लिख देना उचित जान पड़ता है। इसीका नीचे प्रयत्न किया जाता है :—

मेरी उक्त पुस्तकके जिस पैराग्राफपर आपत्ति की गई है वह इस प्रकार हैं :—

"लंकाधीश महाराज रावण परस्त्री-सेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत परस्त्री-लम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इस विषयमें उसकी जो कुछ भी प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि "जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नही करूँगा।" नहीं कह सकते कि उसने कितनी परस्त्रियोंका, जो किसी भी कारणसे उससे रज़ामन्द

(सहमत) हो गई हों, सतीत्व भंग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी पददाराओंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्री-सेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नहीं था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहाँ बात ही कहाँ? परन्तु यह सब होते हुए भी, रविसेणाचार्यकृत पद्मपुराणमें अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि "महाराजा रावणने बड़ी भक्ति-पूर्वक श्री-जिनेन्द्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमन्दिर बनवाये। वह राजधानीमें रहते हुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमें स्थित श्री शान्तिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शनमेरु और कैलाशपर्वत आदिके जिनमन्दिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया।"

(१) "लंकाधीश महाराज रावण परस्त्री-सेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत परस्त्रीलम्पट विख्यात है" इस वाक्य पर आपत्ति करते हुए लेखकजी कहते हैं—"रावण सीताके हरणसे पूर्व ही कामभोगके त्यागकी प्रतिज्ञा ले चुका था और इस प्रतिज्ञाके कारण ही सतीका सतीत्व नष्ट नहीं हुआ और कामभोगका त्यागी होनेसे परस्त्री-लम्पटी व व्यभिचारी कदापि नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो सकता है तो सिद्ध कीजिये।"

मेरे द्वारा उल्लेखित रावणकी शास्त्रीय-प्रतिज्ञाका कोई खंडन न करके लेखक महाशयने जिस नई प्रतिज्ञाका उल्लेख किया है उसके समर्थनमें कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया—किसी भी जैनशास्त्रमें रावणकी प्रतिज्ञाका ऐसा विचित्र रूप नहीं है। 'कामभोगके त्याग' का अर्थ तो कामसे इन्द्रिय-

विषयभोगोंका त्याग अथवा शरीरसे मैथुनकर्मके त्यागका होता है। रावणने किसी समय भी ऐसा त्याग-व्रत नहीं लिया—उसे तो सहस्रों स्त्रियोंका भोक्ता लिखा है। तब अपनी ओरसे एक बिना सिर-पैरके नये व्रतकी कल्पना करके उसे शिक्षित समाजके सामने हेतु-रूपमें प्रस्तुत करना और ऐसे असिद्ध-हेतुके द्वारा अपने मनोरथ (साध्य) की सिद्धि चाहना लेखकका अजीब साहस और अनोखा तर्क नही तो और क्या है ? लेखकको इतना भी समझ नही पडा कि उसकी कल्पनाके अनुसार जब रावण 'कामभोगका त्यागी' था तो उसने सीताका हरण क्यों किया ? किसलिये अपनी दूती आदिको भेजकर उसने सीताको बहकाने-फुसलाने तथा डरा-धमकाकर अपना पत्नीत्व स्वीकार करानेकी चेष्टा की।[१] और वह खुद क्यो सीताके पास प्रणयकी याचना करनेके लिये गया और उसने क्यों ऐसे दीन वचन कहे कि—'हे प्रिये ! रामकी आशा छोड़कर अब तुम मेरी आशा पूरी करो, यह काम तो अवश्य होनेवाला है फिर तुम देरी क्यों कर रही हो। तुम चाहे रोओ या हँसो, मैं तो तुम्हारा महमान हूँ। हे कान्ते ! तुम मेरी सुन्दर-स्त्रियोंकी शिरोमणि बनो।' जैसाकि उत्तरपुराण पर्व ६८ के निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

तस्मात्तदाशामुज्झित्वा मदाशां पूरय प्रिये !
अवश्यंभाविकार्येऽस्मिन् किं कालहरणेन ते ॥ ३३३ ॥
हसंत्याश्च रुदंत्याश्च तव प्राघूर्णिकोऽस्म्यहं ।
मत्कान्तकान्तासन्ताने कांते चूलामणिर्भवेत् ॥ ३३४ ॥

---

१. रावण सीताको अपनी पत्नी बनाना चाहता था यह बात खुद उसकी पटरानी मन्दोदरीके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

'त्वां मे भार्यायितुं वेष्टि सपत्नीं खेचराधिपः ।'

—उत्तरपुराण, पर्व ६८–३५२

ऐसे शब्द एक परदार-लम्पट कामुकके नहीं तो और किसके हो सकते हैं ? उसने तो सीताके रज़ामन्द न होनेपर और मन्दोदरी रानीके उसे छोड़ देनेकी सातिशय प्रेरणा करनेपर भी यहाँ तक कहा कि 'यह सीता तो मेरे प्राणोंके साथ ही छूट सकेगी।' और हनुमानजीको उत्तर देते हुए यह भी कहा कि 'सब रत्न मेरे हैं, खासकर स्त्री-रत्नोंका तो मैं ही स्वामी हूँ,' 'मेरे योग्य जो वस्तु (सीता) है उसको स्वीकार करनेसे—पत्नी रूपमें अंगीकार करनेसे—यदि मेरी अपकीर्ति भी होती है तो होने दो—मुझे उसकी पर्वाह नहीं है।' यथा :—

समं प्राणैरियं त्याज्ये त्यागात्स कुपितः पुरम् ॥ ३४७ ॥
ममैव सर्वरत्नानि स्त्रीरत्नं तु विशेषतः ॥ ४१६ ॥
मद्‌योग्य-वस्तु-स्वीकारादपकीर्तिश्चेद् भवेन्मम ॥ ४२४ ॥

ये सब शब्द भी रावणकी परदार-लम्पटता और अतिशय कामुकताके ज्वलंत उदाहरण हैं और इसलिये हनुमानजीने लका पहुँचकर रावणको धिक्कारते हुए जो उसे धर्मका उल्लंघन करनेवाला परदाराभिलाषुक (परदार-लम्पट) कहा है और पाप-कर्मका अद्‌भुत विपाक प्रकट किया है वह ठीक ही है। इसी बातको गुणभद्राचार्यने निम्न वाक्यके द्वारा उल्लेखित किया है और एक दूसरे वाक्यमे रावणके लिये 'दुरात्मा' तथा 'दुश्चरित्र' जैसे विशेषणोंका प्रयोग करना भी उचित समझा है। यथा :—

अहो पापस्य कोऽप्येष विपाकोऽयमीदृशः।
किल धिग्धर्ममुल्लंघ्य परदाराभिलाषुकः ॥ २०२ ॥
व्याजहार दुरात्मानं दुश्चरित्र-दशाननं ॥ ४१६ ॥

इतने पर भी लेखक महाशय रावणको कामभोगका त्यागी

ब्रह्मचारी समझते हैं और मुझसे उसकी परदार-लम्पटताका सबूत मागते हैं, यह उनकी बुद्धिका कैसा दुर्विपाक है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। कम-से-कम उन्हें इतना तो समझना चाहिये था कि सीताके रज़ामन्द हो जाने पर जब रावण उससे भोग करता तो उसका कामभोगका त्यागीपन कहाँ जाता ? क्या तब भी लेखकजी उसे व्यभिचारी न मानते ? यदि ऐसा है तब तो लेखकजीके व्यभिचारका कुछ अपूर्व ही स्वरूप होना चाहिये। जैन शास्त्रोसे तो उसकी संगति मिलती नहीं। अस्तु; अब मैं शास्त्राधारसे उस प्रतिज्ञाका भी उल्लेख कर देना चाहता हूँ जो रावणने अनन्तवीर्य केवलीके निकट ग्रहण की थी।

श्रीरविषेणाचार्यने पद्मपुराणके १४ वे पर्वमें अनन्तवीर्य मुनिके उपदेशसे लोगोके व्रत-नियमादि ग्रहण करनेका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जब मुनिजीने रावणसे किसी नियमके लेनेके लिये कहा तो वह उस बातको सुनकर बड़ा ही आकुलित हुआ; भोगानुरक्तचित्त रावणको उत्कट चिन्ताने घेर लिया और वह सोचने लगा कि गृहस्थोके करने योग्य स्थूल हिसादि (पंच पापों) मेसे एक भी पापसे विरतिरूप धारण करनेके लिये मैं समर्थ नही हूँ, फिर और किसी बड़े नियमकी तो बात ही क्या है। मेरा चित्त मस्त हाथीकी तरह सब पदार्थोमे दौडता है और मैं उसे खुद अपने हाथसे निवारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ।' इत्यादि। अन्तमे उसने सोचा कि इतना नियम तो मैं ले सकता हूँ कि जो कोई भी परस्त्री मुझे नही इच्छे तो मैं बल आदिके प्रयोग-द्वारा (ज़बर्दस्ती) उसे ग्रहण नही करूँगा।' और इसके साथ यह भी सोच लिया कि 'तीन लोकमें ऐसी कौनसी उत्तम स्त्री है जो मुझे देखकर कामदेवसे पीड़ित हुई विकलताको प्राप्त

न होवे अर्थात् मुझे न इच्छे।' और तब प्रगट रूपसे यह नियम लिया कि 'जो परस्त्री मुझे नही इच्छेगी—मुझसे रजामन्द नही होगी—मैं उसे ग्रहण नही करूँगा—उससे बलात् विषय-भोग नही करूँगा।' यथा :—

रत्नदीपं प्रविष्टस्य यथा भ्रमति मानसं।
इदं वृत्तं तथैवास्य परमाकुलतां गतं॥ ३५८॥
अथास्य मानसं चिन्ता समारूढेयमुत्कटा।
भोगानुरक्त-चित्तस्य व्याकुलतामुपेयुषः॥ ३५६॥
स्थूल-प्राणि-वधादिभ्यो विरतिं गृहवासिनां।
एकामपि न शक्तोऽहं कर्तुं कान्यत्र संकथा॥ ३६१॥
मत्तेभ-सदृशं चेतस्तद्धावत्सर्ववस्तुषु।
हस्तेनेवात्मभावेन धर्तुं न प्रभवाम्यहम्॥ ३६२॥
किमेकमाश्रयाम्येतं नियमं शोभनामपि।
अवष्टंभामि नानिच्छामन्ययोषां बलादिभिः॥ ३६५॥
यद्वा लोकत्रये नाऽसौ विद्यते प्रमदोत्तमा।
दृष्ट्वा मां विकलत्वं या न व्रजेन्मन्मथार्दिता॥ ३६७॥
भगवन्न मया नारी परस्येच्छा-विवर्जिता।
गृहीतव्येति नियमो ममायं कृत-निश्चयः॥ ३७१॥

इन सब प्रमाणोसे स्पष्ट है कि रावण काम-भोगका त्यागी नही था, बल्कि भोगोमे आसक्त-चित्त प्राणी था, उसे अपने चित्त पर ज़रा भी क़ाबू नही था और इसलिये वह कोई छोटा-सा भी नियम लेनेमें हिचकता था। उसने जो उक्त छोटी-सी प्रतिज्ञा ली थी उसे लेते समय भी अपनी धारणाके अनुसार प्रायः यह सोच लिया था कि उससे उसके इच्छित विषय-भोगोंके सेवनमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी और उस प्रतिज्ञाका रूप उससे

अधिक और कुछ भी नहीं है, जिसे मैंने अपनी पुस्तकके उक्त पैराग्राफमे व्यक्त किया है। उक्त प्रतिज्ञाके अनुसार रावणने उन सब पराई स्त्रियोंको सेवन करनेके लिये अपनेको खुला रख छोड़ा था जो उससे रज़ामन्द हो जाँय अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि व्यभिचारिणी परस्त्रियोंसे व्यभिचार करनेकी उसने परमिट लेरक्खी थी। प्रतिज्ञाकी यह प्रकृति ही इस बातको सूचित करती है कि रावण परदार-लम्पट था। ऐसे परस्त्री-लोलुप रावणको लेखकजी सदाचारी कहें या व्यभिचारी यह तो उनकी इच्छाकी बात है, मैंने तो अपने उक्त पैराग्राफ मे इतना ही लिखा है कि रावण 'परस्त्री-सेवनका त्यागी नहीं था' और 'परस्त्री-लम्पट विख्यात है'। और इन दोनों बातोंका काफी सबूत ऊपर दिया जा चुका है। अधिकके लिये पद्मपुराणादि ग्रन्थोंको उपपत्ति-चक्षुसे देखना चाहिये। उनके देखनेसे लेखकजीका वह भ्रम भी दूर हो जायगा जिसके कारण वे लिख रहे हैं कि "रावणकी इस प्रतिज्ञाके कारण ही सतीका सतीत्व नष्ट नहीं हुआ"—मानो सीता रावणपर आसक्त थी और उससे भोग करना चाहती थी, परन्तु रावणके कामभोगके त्यागकी प्रतिज्ञा होनेसे वह उसकी इच्छाको पूरा नही कर सका और इसीसे उसका सतीत्व नष्ट होनेसे बच गया! वाह, कैसी विचित्र कल्पना और बुद्धिका कितना अजीब विकास है जिसने लेखकजीको ऐसी हास्यास्पद वार्ता लिखनेका साहस प्रदान किया है!!

लेखकजीको खूब समझ लेना चाहिये कि सीता वास्तवमें सती थी, उसके सतीत्वकी रक्षामें रावणका अनोखा ब्रह्मचर्य कोई कारण नहीं, किन्तु सतीका तेज और आत्मबल ही उसका मुख्य कारण रहा है। क्या उन्हें मालूम नहीं है कि कितनी ही सतियोंके

साथ बलात्कारका प्रयोग किया गया है, फिर भी उनकी ऊपरसे रक्षा हुई है और रक्षाके लिये गुप्त-शक्तियाँ प्रकट हो गई हैं। तब रावणकी प्रतिज्ञाका तो मूल्य ही क्या हो सकता है ? वह तो कितने ही अंशोमें उससे डिग गया था। यदि सीताके चरित्रमें कुछ भी त्रुटि होती अथवा उसकी ओरसे सहयोगका ज़रा भी इशारा पाया जाता तो कामातुर रावण उसको भोगे बिना न रहता। अतः लेखकजीकी उक्त आपत्ति बिल्कुल ही निस्सार और निराधार है।

(२) "नहीं कह **सकते हैं कि उसने कितनी परस्त्रियोंका जो कि किसी भी कारणसे उससे रज़ामन्द हो गई हों सतीत्व नष्ट (भंग) किया होगा**", इस वाक्यमे निश्चितरूपसे कुछ भी नहीं कहा गया, मात्र प्रतिज्ञाके रूपसे उत्पन्न होनेवाली संभावनाको ही व्यक्त किया गया है। इस पर भी आपत्ति करते हुए लेखकजी अपना वही आलाप अलापते हैं और लिखते हैं कि—"रावणके कामभोगका त्याग था **तभी तो** सती सीताका सतीत्व भंग नहीं हुआ और इसी कारण सीताने अग्नि-कुण्डमे प्रवेश होनेसे पूर्व ही सबके समक्षमे ये वचन कहे थे।" इसके बाद **पुण्यास्रवसे "मनसि वचसि काये"** नामका श्लोक उद्धृत करके पुनः लिखते हैं—"इस प्रमाणसे सती सीताका सतीत्व नष्ट न होनेसे रावण व्यभिचारी वा परस्त्री-लम्पटी कदापि नहीं हो सकता है और यदि हो सकता है तो प्रमाण लिखिये।"

इस आपत्तिमे **पुण्यास्रव** ग्रन्थका जो श्लोक उद्धृत किया गया है वह तो बिल्कुल ही निरर्थक तथा अप्रासंगिक है। उसे उद्धृत करनेकी यदि कुछ ज़रूरत होती भी तो तब होती जब कोई यह कहता कि रावणने सीताका सतीत्व नष्ट किया था।

जब ऐसी कोई बात नहीं कही गई और सीताकी अग्नि-परीक्षाने उसके सतीत्वको जगत्मे विख्यात कर रक्खा है तब व्यर्थ ही ऐसे प्रमाणोंको देनेसे क्या नतीजा ? इससे तो उल्टा लेखकके अविवेक तथा लेखन-कलाऽनभिज्ञताका पता चलता है। शेष बाते आपत्तिकी वे ही हैं जिनका समाधान नं० १ मे किया जा चुका है और इसलिये यहाँ पर उसको दुबारा लिखनेकी ज़रूरत नहीं। हाँ, सीताका सतीत्व नष्ट न होनेरूप हेतुसे जो लेखकजी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि—"रावण व्यभिचारी या परस्त्री-लम्पट कदापि नही हो सकता" वह बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है। और उनके इस अनोखे तर्कपर गंभीर प्रकृतिके तार्किकोको भी हँसी आये बिना न रहेगी। अपने इस तर्कके द्वारा लेखकजी ऐसे परदार लम्पट एवं व्यभिचारी पुरुषको भी अव्यभिचारी तथा निर्दोष (स्वदार-सतोषी) बतलाना चाहते हैं जो बहुतसी परस्त्रियोंका सतीत्व भंग कर चुका हो परन्तु एक स्त्रीका सतीत्व भंग करनेमे असमर्थ रहा हो। आपका कहना है कि चूँकि उसके द्वारा अमुक स्त्रीका सतीत्व नष्ट नही हुआ इसलिये वह प्रसिद्ध व्यभिचारी पुरुष भी व्यभिचारी अथवा परदार-लम्पट नही हो सकता ! कितना विलक्षण यह तर्क है इसे हमारे साधारण पाठक भी समझ सकते हैं—अधिक व्याख्याकी जरूरत नही है।

(३) **"उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओसे बलात्कार भी किया होगा,"** यह वाक्य नं० २ मे दिये हुए मेरे वाक्यके साथ 'अथवा' शब्दसे जुड़ा हुआ है, जिस शब्दको लेखकने यहाँ छोड़ दिया है और इसलिये इसके साथ भी उन शब्दोंका सम्बन्ध है जो नं० २ में उद्धृत वाक्यके शुरूमें **"नहीं कह सकते हैं कि उसने"** इस रूपसे दिए हुए हैं। ऐसी हालतमें इस वाक्यके द्वारा

भी निश्चित रूपमें कुछ भी नहीं कहा गया है—मात्र प्रतिज्ञाके रूपसे उत्पन्न होनेवाली संभावनाको ही व्यक्त किया गया है। इस पर आपत्ति करते हुए लेखकजीने नल-कूबरकी स्त्री उपरंभाका एक उदाहरण प्रस्तुत किया है और उस स्त्रीकी दूतीको रावणने जो वचन कहे थे उन्हे '**पद्मपुराण**' के १२ वें पर्वमें पढ़नेकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि—"इन वचनोसे प्रतिज्ञाके पूर्व भी रावण परस्त्री-लम्पटी वा व्यभिचारी सिद्ध नही होता। यदि हो सकता है तो प्रमाण लिखिये।"

प्रथम तो ऐसा कोई नियम नही है कि एक व्यभिचारी अथवा परदार-लम्पट मनुष्य यदि किसी अप्रिय, अनिष्ट अथवा परिस्थिति आदि किसी कारणके वश अवाछनीय स्त्रीसे विषय-सेवन नही करता—उसकी प्रार्थनाको ठुकरा देता है—तो एतावन्मात्रसे वह ब्रह्मचारी अथवा स्वरदार-सन्तोषी हो जाता है। दूसरे, ऐसा भी कोई नियम नही है कि एक मनुष्य अपने प्रारम्भिक जीवनमे यदि सदाचारी रहा हो तो वह बादको व्यभिचारी नही होसकता अथवा होजाने पर उसे पहलेकी किसी घटनाके आधारपर व्यभिचारी या परदार-लम्पट न कहना चाहिये। तीसरे, उपरम्भाकी घटना और प्रतिज्ञाके बीचमें बहुत वर्षोका अन्तर बीता है। इस अर्सेमें रावणकी कैसी स्थिति रही होगी इसका सहज अनुभव रावणके उन प्रतिज्ञा-समयके विचारोसे होसकता है जिनका न० १ में उल्लेख किया जाचुका है और उनसे साफ मालूम होता है कि रावण बहुत ही विषयासक्त मनुष्य था, परस्त्री-सेवनका सर्वथा त्याग उससे नहीं बनता था और इसीसे उसने अपने नियमको उस वक्तसे बलात्कार न करने तक ही सीमित किया था। चौथे, उपरम्भाकी सखी अथवा दूतीको जो वचन रावणने कहे थे वे

प्राय: अपना रंग जमानेके लिये दंभको लिये हुए जान पड़ते हैं— उन्हें सुनकर रावणका कानों पर हाथ रखना, सिर धुनना और चक्षुसंकोच कर बोलना, ये सब प्राय: दम्भके चिह्न मालूम होते हैं। वह क्षण-भरके लिये सदाचारी बना था। ऐसा भी "**क्षणं बभूव केकसीसूनुः सदाचार-परायणः**" इन शब्दोसे ध्वनित होता है। यही वजह है कि ज़रा सी देरके बाद ही विभीषणसे सलाह करके और उसका यह परामर्श पाकर कि अभ्युपगमसे सन्तुष्ट हुई उपरम्भा मायामयी कोटको तोड़नेका कोई उपाय बतला देगी, उसने उक्त दूतीसे कहा था कि जा, तू उसे शीघ्र ले आ—कही मद्गत-प्राण हुई वह बेचारी मर न जाय, और जब वह दूती उसे ले आई तब रतिके अवसरपर रावणने उससे कहा कि 'हे देवि ! तुम्हारे दुर्लंध्यनगरमे रमनेकी मेरी इच्छा है, इस अटवीमे क्या सुख धरा है तथा मदनानुकूल कौनसी सामग्री है ? ऐसा यत्न करो सिससे मैं तुम्हारे इस नगरमे चलकर तुम्हारे साथ भोग भोगूँ।' जैसा कि उसी ग्रंथ और पर्वके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

ततो मदनसंप्राप्तो सा तेनैवमभाष्यत ।
दुर्लंघ्यनगरे देवि रन्तुं मम परा स्पृहा ॥१३४॥
अटव्यामिह किं सौख्यं किं वा मदन-कारणं ॥
तथा कुरु यथैतास्मिन् त्वया सह पुरे रमे ॥ १३५ ॥

ऐसी हालतमें उपरम्भाकी कथापरसे लेखकजीके अनुकूल कोई भी नतीजा नही निकाला जासकता और न यही मालूम होता है कि रावण उस समय परस्त्री-सेवनका त्यागी था। अत: लेखकजीकी यह आपत्ति भी बिल्कुल ही निर्जीव जान पड़ती है।

(४) "**रावण परस्त्री-सेवनके अतिरिक्त हिंसादिक**

पापोंका भी त्यागी नहीं था" इस वाक्य पर आपत्ति करते हुए लेखकजी लिखते हैं :—"गृहस्थ संकल्पी हिंसाका त्यागी हो सकता है। रावणने गृहस्थमें रहते हुए ऐसा कौनसा पापकर्म किया है जिससे वह हिंसादिक पापोका त्यागी नहीं हो सकता। जरा प्रमाण-सहित लिखिये।"

इसके लिये रावणके वे प्रतिज्ञा-समयके विचार-वाक्य ही पर्याप्त हैं, जो ऊपर नं० १ में उद्धृत किये जा चुके हैं और जिनमें उसने खुद कहा है कि 'मैं गृहस्थके त्यागने योग्य स्थूल हिंसादिक पंच पापोमेसे एकका भी त्याग नही कर सकता हूँ। मेरा मन मस्त हाथीकी तरह सब पदार्थोंमें दौड़ता है और मैं उसे रोकनेमे समर्थ नही हूँ। इतने पर भी लेखकजी रावणके पीछे पच पापोंके त्यागका पुंछल्ला लगाना चाहते हैं, यह कितने खेद तथा आश्चर्यकी बात है !!

(५) लेखकजीकी अन्तिम आपत्तिका रूप इस प्रकार है :—

"रावणको व्यभिचारी सिद्ध करनेसे पूर्व हम यह पूछना चाहते हैं कि इसमे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं। क्योंकि व्यभिचारजात और व्यभिचारीमे बहुत अन्तर है। व्यभिचारजात यज्ञोपवीत, महाव्रत तथा मोक्षका अधिकारी नहीं है और द्विजाति न होनेसे प्रतिमाको छू भी नही सकता। फिर समान-अधिकारका स्वप्न देखना और सदाचारीको भी व्यभिचारी लिखना आपका मिथ्या है या नही ? अच्छा, पहले आगमानुकूल रावणको व्यभिचारी तो सिद्ध कीजिये।" "और आगमानुकूल रावण व्यभिचारी सिद्ध न हुआ तो जिस प्रकार यह उदाहरण मिथ्या है उसी प्रकार अन्य भी उदाहरण मिथ्या सिद्ध हो जाँयगे।"

यह आपत्ति बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है! **जिन-पूजाधिकार-मीमांसा**' के उक्त पैराग्राफमें अपनी ओरसे रावणको व्यभिचारी सिद्ध करनेकी कोई चेष्टा नही की गई है—शास्त्रोमें रावणका और उसकी प्रतिज्ञाका जैसा कुछ रूप वर्णित है उसे ही प्रदर्शित किया गया है। यदि लेखकजीने पूर्ववर्ती पैराग्राफको ही गौरसे पढ़ा होता तो ऊन्हे यह भी मालूम हो गया होता कि रावणका उदाहरण किस उद्देश्यको लेकर दिया गया है। पुस्तकमें शूद्रोंके लिये पूजाके अधिकारको सिद्ध करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमे यह साबित किया गया है कि शूद्र नित्य-पूजाका अधिकारी ही नहीं बल्कि ऊँचे दर्जेका नित्य-पूजक भी हो सकता है और नित्य-पूजाका अधिकार पापीसे पापी मनुष्यको भी है। पापियों तथा अव्रतियोका पापाचार यो कही भी उनके पूजनका प्रतिबन्धक नही हुआ। इसी बातको दर्शानेके लिये रावण आदिके उदाहरण दिये गये हैं। ऐसी हालतमे द्विजाति ही पूजनादि कर सकता है ऐसी कल्पना निराधार है। रही व्यभिचारजात और व्यभिचारीकी बात, दोनोमें कुछ अन्तर जरूर है और वह अन्तर व्यभिचार-जातकी अपेक्षा व्यभिचारीको अधिक पतित बताता है—वास्तवमे व्यभिचारी ही व्यभिचारजातका कारण है। जब एक व्यभिचारी पूजनादिकका अधिकारी है तो कोई भी न्यायवान किसी व्यभिचार-जातको उस अधिकारसे वञ्चित नही रख सकता। प्रसिद्ध व्यभिचारजात राजा कर्णने तो जिनदीक्षा तक धारणकर महाव्रत ग्रहण किये हैं, जिसका सप्रमाण उल्लेख पुस्तकमें मौजूद है। फिर थोथे दर्पसे क्या लाभ? व्यभिचारजात तो 'कुड' सन्तान भी होती है, जो भर्तारके जीवित रहते जारसे उत्पन्न होती है, और जिसे कभी-कभी तो उसकी माता भी नही जान पाती कि

वह वास्तवमें जारसे पैदा हुआ या असली पतिसे। ऐसे लोगोंपर लेखकजी यज्ञोपवीत भी धारण न करने और प्रतिमाको न छूनेका अपना रूलिंग कैसे लगायेंगे? तब तो संदिग्धावस्थामे उन्हें अपने सभी साधर्मियोंके नाम पूजनादि न करनेका आर्डर जारी करना पड़ेगा और तब उनके पूजनादिककी कैसी व्यवस्था अथवा दशा होगी, इसे वे खुद समझ सकते हैं।

रावणको व्यभिचारी न मानकर 'सदाचारी' बतलाना इस बातको सूचित करता है कि लेखकजी शास्त्राज्ञासे विमुख होकर परस्त्रीसेवनको व्यभिचार नही मानते—जो लोग रज़ामन्दीसे परस्त्रीसेवन करते हैं वे सब आपकी दृष्टिमें सदाचारी हैं। इतने पर भी आश्चर्य है कि आप आगमानुकूल निर्णयकी दुहाई देते हैं! इस अजीब साहसका भी कोई ठिकाना है!! आपका यह पूछना कि "पहले आगमानुकूल **रावण**को व्यभिचारी तो सिद्ध कीजिये" ऐसा ही है जैसा कि मात्र काकमांसके त्यागी भीलके विषयमे कोई यह प्रश्न करे कि उसे पहले मासाहारी तो सिद्ध कीजिये। और यह लिखना तो और भी ज्यादा हास्यास्पद है कि एक उदाहरणके मिथ्या होनेपर दूसरे उदाहरण भी मिथ्या हो जायँगे—अर्थात् **सुमुख** राजाने **वीरक** सेठकी स्त्री **वनमाला**को जो सेठकी इच्छाके विरुद्ध अपने घरमे डाल लिया था, वह शास्त्र-सम्मत उदाहरण तक भी मिथ्या हो जायगा—इस प्रकारका आचरण भी व्यभिचार नहीं ठहरेगा। वाह! कैसी घरकी अदालत, सस्ता न्याय और निराला ढंग है!! लेखक महाशयके इस अद्भुत तर्कको देखकर बड़ी ही दया आती है। आशा है, वे भविष्यमे विचारपूर्वक लिखनेकी कृपा करेंगे।

—जैनजगत, १०-६-१९३७

गोत्रकर्मपर शास्त्रीजीका उत्तर-लेख : १४ :

स्याद्वादमहाविद्यालय के प्रधान अध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजीका एक लेख 'अनेकान्त' द्वितीयवर्षकी तीसरी किरणमें प्रकाशित किया गया था। वह लेख बाबू सूरजभानजी वकीलके 'गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता' शीर्षक लेखके उत्तररूपमे था और उसमे उक्त लेखपर कुछ 'नुक्ताचीनी' करते हुए बाबू साहबको 'गहरे भ्रमका होना' लिखा था, बाबू साहबने जयधवला तथा लब्धिसार टीकाके वाक्योका जो निष्कर्ष अपने लेखमे निकाला था उसे 'सर्वथा भ्रान्त', 'अर्थका अनर्थ' तथा 'दुराशय' बतलाते हुए और यहाँ तक भी लिखते हुए कि 'फलितार्थको जो कोई भी समझदार व्यक्ति पढ़ेगा वह सिर धुने बिना नही रहेगा' बाबू साहबको उसके कारण 'दुराशयसे युक्त', 'शास्त्रके साथ न्याययकी यथेष्ट चेष्टा न करनेवाला' और 'अत्याचारी' तक प्रकट किया था। साथ ही, 'वृद्धावस्थामे ऐसा अत्याचार न करनेका उनसे अनुरोध' भी किया था। यह सब कुछ होते हुए भी शास्त्रीजीके लेखमें विचारकी सामग्री बहुत ही कम थी, कोई ऐसा खास शास्त्रप्रमाण भी उन्होने अपनी तरफसे प्रस्तुत नही किया था जिससे यह स्पष्ट होता कि कर्मभूमिज-मनुष्य ऊँच और नीच दोनो गोत्रवाले होते हैं। लेखका कलेवर 'ऐसी' और 'इसमे' के शब्दजालमें पड़कर और उनके प्रयोग-फलको प्रदर्शित करनेके लिये कई व्यर्थके उदाहरणोको अपनी तरफसे घड-मढ़कर बढ़ाया गया था—अर्थात् बाबू साहबने अपने लेखमें उद्धृत जयधवला और लब्धिसारटीकाके प्रमाणोंका जो एक संयुक्त भावार्थ दिया था उसमें मूलके 'इति' शब्दका

अर्थ 'ऐसी' ही लिखा था, बादको जब वे उन प्रमाणोंका निष्कर्ष निकालने बैठे तो उन्होने मूलके शब्दोका पूरा अनुसरण न करके—निष्कर्षमे मूलके शब्दोंका पूरा अनुसरण किया भी नहीं जाता और न लाजिमी ही होता है—उसे अपने शब्दोंमें दिया था। उस निष्कर्षमे 'इसमें' शब्दका प्रयोग देखकर शास्त्रीजीने उसे बलात् 'इति' शब्दका अर्थ बतलाते हुए कहा था कि 'इति' शब्दका 'इसमे' अर्थ नही होता, 'इसमें' अर्थ करनेसे बड़ा अनर्थ हो जायगा और उस अनर्थको सूचित करनेके लिये तीन लम्बे-लम्बे उदाहरण घड़कर पेश किये थे, जिनसे उनके लेखमें व्यर्थका विस्तार होगया था। ऐसी हालतमे उनका लेख अनेकान्तमे दिये जानेके योग्य अथवा कुछ विशेष उपयोगी न होते हुए भी महज़ इस गर्ज़से दे दिया गया था कि न देनेसे कही यह न समझ लिया जाय कि विरोधी लेखोको स्थान नही दिया जाता। साथ ही उसकी नि:सारता आदिको व्यक्त करते हुए कुछ सम्पादकीय नोट भी लेखपर लगा दिये गये थे।

मेरे उन नोटोंको पढ़कर शास्त्रीजीको कुछ क्षोभ आया है और उसी क्षोभकी हालतमे उन्होने एक लम्बासा लेख लिखकर मेरे पास भेजा है। लेखमे पद-पदपर लेखकका क्षोभ मूर्तिमान नजर आता है और उसमे मेरे लिये कुछ कटुक शब्दोका प्रयोग भी किया गया है, जिन्हे यहाँ उद्धृत करके पाठकोंके हृदयोको कलुषित करनेकी मैं कोई जरूरत नही समझता। क्षोभके कारण मेरे नोटोपर कोई गहरा विचार भी नही किया जा सका और न उसे जरूरी ही समझा गया है—क्षोभमें ठीक विचार बनता भी नहीं—यों ही अपना क्षोभ व्यक्त करनेको अथवा महज उत्तरके लिये ही उत्तर लिखा गया है। इसीसे यह उत्तर-लेख भी

विचारकी कोई नई सामग्री—कोई नया प्रमाण—सामने रखता हुआ नजर नही आता। उन्ही बातोंको प्रायः उन्हीं शब्दोंमें फिर-फिरसे दोहराकर—अपने लेखके, वकील साहबके लेखके तथा मेरे नोटोंके वाक्योको जगह-जगह और पुनः-पुनः उद्धृत करके—अपनी बातको पुष्ट करनेका निष्फल प्रयत्न किया गया है।

इस तरह प्रस्तुत उत्तरलेखको फिजूलका विस्तार दिया गया है और १४ बड़े पृष्ठोंका अर्थात् पौने दो फार्मके करीबका होगया है, उसे ज्योका त्यों पूरा छापकर यदि तुर्की-बतुर्की जवाब दिया जावे तो समूचे लेखका कलेवर चार फार्मसे ऊपरका हो जावे और पढनेवालोको उसपरसे बहुत ही कम बात हाथ लगे। मैं नही चाहता कि इस तरह अपने पाठकोका समय व्यर्थ नष्ट किया जाय। शास्त्रीजीके पिछले लेखको पढ़कर कुछ विचारशील विद्वानोने मुझे इस प्रकारसे लिखा भी है कि—''परिमित स्थान-वाले पत्रमे ऐसे लम्बे-लम्बे लेखोंका प्रकाशन, जिनमें प्रतिपाद्य वस्तु अधिक कुछ न हो, वाञ्छनीय नही है। शास्त्रीय प्रमाणोको 'ऐसी' और 'इसमे' के शाब्दिक जजालमे नही लपेटना चाहिए। वे प्रमाण तो स्पष्ट हैं जैसा कि आपने अपने नोटमे लिखा है। म्लेच्छोंमे सयमकी पात्रतासे इनकार तो नही किया जा सकता।'' साथ ही, मुझे यह भी पसन्द नही है कि कटुक शब्दोंकी पुनरावृत्ति-द्वारा उनकी परिपाटीको आगे बढाकर अप्रिय चर्चाको अवसर दिया जाय। हमारा काम प्रेमके साथ खुले दिलसे वस्तुतत्वके निर्णयका होना चाहिये—मूल बातको 'ऐसी' और 'इसमे' के प्रयोग-जैसी लफ्ज़ी (शाब्दिक) बहसमें डालकर किसी भी शब्द-छलसे काम न लेना चाहिये। उधर शास्त्रीजी कुछ हेर-

फेरके साथ बाबू सूरजभानजीके विषयमें कहे गये अपने उन शब्दोंको वापिस भी ले रहे हैं जिनकी सूचना इस लेखके शुरूमें की गई है। साथ ही मेरे लिये जिन कटुक शब्दोंका प्रयोग किया गया है उसपर लेखके अन्तमे अपना खेद भी व्यक्त कर रहे है—लिख रहे हैं कि "नोटोंका उत्तर देते हुए मेरी लेखनी भी कही-कहीं तीव्र हो गई है और इसका मुझे खेद हैं!" ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका पूरा लेख छापकर और उसकी पूरी आलोचना करके पाठकोंके समय तथा शक्तिका दुरुपयोग करना और व्यर्थकी अप्रिय चर्चाको आगे बढ़ाना उचित मालूम नहीं होता। अत: उज्र-माजरत, सफाई-सचाई तथा व्यक्तिगत आक्षेप और कटुक आलोचनाकी बातोंको छोड़कर, जो बाते गोत्रकर्मकी प्रस्तुत चर्चासे खास सम्बन्ध रखती हैं उन्हीपर यहाँ सविशेषरूपसे विचार किये जानेकी जरूरत है। विचारके लिये वे विवादापन्न बातें संक्षेपमें इस प्रकार हैं :—

(१) म्लेच्छोके मूल भेद कितने हैं ? और शक, यवन, शबर तथा पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डोद्भव हैं या म्लेच्छखण्डोद्भव ?

(२) शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ सकल-संयमके पात्र हैं या कि नही ?

(३) वर्तमान जानी हुई दुनियाके सब मनुष्य उच्चगोत्री हैं या कि नहीं ?

(४) श्री जयधवल और लब्धिसार-जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थोंके अनुसार म्लेच्छखण्डोंके सब मनुष्य सकलसंयमके पात्र एवं उच्चगोत्री हैं या कि नही ?

इन सब बातोका ही नीचे क्रमश: विचार किया जाता है, जिसमे शास्त्रीजीकी तद्विषयक चर्चाकी आलोचना भी रहेगी।

इससे पाठकोंके सामने कितनी ही नई-नई बातें प्रकाशमें आएँगी और वे सब उनकी ज्ञानवृद्धि तथा वस्तुतत्त्वके यथार्थ निर्णयमें सहायक होंगी :—

(१) म्लेच्छोंके मूल भेद दो अथवा तीन हैं—१. कर्मभूमिज, २. अन्तरद्वीपज रूपसे दो भेद और १. आर्यखण्डोद्भव, २. म्लेच्छ-खण्डोद्भव तथा ३. अन्तरद्वीपज रूपसे तीन भेद हैं। शक-यवन-शबरादिक आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ हैं—आर्यखण्डमे उत्पन्न होते हैं, म्लेच्छखण्डोमे उत्पन्न होनेवाले अथवा वहाँके विनिवासी (कदीमी बाशिन्दे) नही हैं, जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥
—तत्त्वार्थसार

अर्थात्—आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य प्रायः करके तो 'आर्य' हैं, परन्तु कुछ शकादिक 'म्लेच्छ' भी हैं। बाकी म्लेच्छखण्डो तथा अन्तरद्वीपोंमे उत्पन्न होनेवाले सब मनुष्य 'म्लेच्छ' हैं।

प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री म्लेच्छोंके म्लेच्छखण्डोद्भव और अन्तरद्वीपज ऐसे दो भेद ही करते हैं और शक-यवनादिकको म्लेच्छखण्डोसे आकर आर्यखण्डमे बसनेवाले म्लेच्छ बतलाते हैं। साथ ही, यह भी लिखते हैं कि आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नही, आर्यखण्डम उत्पन्न होनेवाले सब आर्य ही होते हैं, यहाँ तक कि म्लेच्छखण्डोंसे आकर आर्यखण्डमे बसनेवालोंकी सन्तान भी आर्य होती है, शकादिकको किसी भी आचार्यने आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले नहीं लिखा, विद्यानन्दाचार्यने भी यवनादिकको

म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ बतलाया है। परन्तु इनमेंसे कोई भी बात उनकी ठीक नहीं है। विद्यानन्दाचार्यने यवनादिकको म्लेच्छ-खण्डोद्भव नही बतलाया और न म्लेच्छोके अन्तरद्वीपज तथा म्लेच्छखण्डोद्भव ऐसे दो भेद किये हैं, बल्कि अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज ऐसे दो भेद किये हैं, जैसा कि उनके श्लोक-वार्तिकके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"तथान्तरद्वीपजा म्लेच्छाः परे स्युः कर्मभूमिजाः।···
"कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः॥"

श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेवने भी ये ही दो भेद किये हैं और शक-यवनादिकको म्लेच्छखण्डोद्भव नही लिखा, किन्तु कर्म-भूमिज बतलाया है। यथा—

"म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति।"
"कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शवर-पुलिन्दादयः।"

—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक

वास्तवमें आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड दोनों ही कर्मभूमियाँ हैं और इसलिये 'कर्मभूमिज' शब्दमे आर्यखण्डोद्भव तथा म्लेच्छ-खण्डोद्भव दोनो प्रकारके म्लेच्छोंका समावेश है। इसीसे अमृतचन्द्राचार्यने उन्हे स्पष्ट करते हुए म्लेच्छोको तीन भेदोमें विभाजित किया है। अतः अमृतचन्द्राचार्यके उक्त वाक्यमे प्रयुक्त हुए 'केचिच्छकादयः' का अर्थ म्लेच्छखण्डोसे आकर आर्यखण्डमें बसनेवाले म्लेच्छ नहीं; किन्तु 'आर्यखण्डोद्भव' म्लेच्छ ही हो सकता है और यह विशेषण दूसरे म्लेच्छोंसे व्यावृत्ति करानेवाला होनेके कारण सार्थक है। अमृतचन्द्राचार्यके समयमें तो म्लेच्छ-खण्डोंसे आकर आर्यखण्डमें बसनेवाले कोई म्लेच्छ थे भी नहीं,

जिन्हें लक्ष्य करके यह भेद किया गया हो। जो म्लेच्छ किसी चक्रवर्तीके समयमें आकर बसे भी होंगे उनका अस्तित्व उस समय हो ही नही सकता और उनकी संतान शास्त्रीजीके कथनानुसार म्लेच्छ रहती नही—वह पहले ही आर्यजातिमें परिणत हो गई थी। इसके सिवाय, शक और यवनादिक जिन देशोके निवासी हैं वे आर्यखण्डके ही प्रदेश हैं। श्री आदिनाथ भगवान्के समयमे और उनकी आज्ञासे आर्यखण्डमे जिन मुख्य तथा अन्तराल देशोकी स्थापना की गई थी उनमे शक-यवनादिकके देश भी हैं। जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्यविरचित आदिपुराणके निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

> दर्वाभिसार - सौवीर - शूरसेनापरान्तकाः।
> विदेह-सिन्धु-गान्धार-यवनाश्चेदि-पल्लवाः ॥१५५॥
>
> काम्भोजाऽरट्ट-वाल्हीक-तुरुष्क-शक-केकयाः।
> निवेशितास्तथाऽन्येपि विभक्ता विषयास्तथा ॥१५६॥
>
> तदन्तेष्वन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽभवन्।
> स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥१६०॥
>
> तदन्तरालदेशाश्च बभुवुरनुरञ्जिताः।
> लुब्धकाऽरण्यचरट - पुलिन्द - शबरादिभिः ॥१६१॥
>
> —आदिपुराण, पर्व १६

यही वजह है कि जिस समय भरत चक्रवर्ती दिग्विजयके लिये निकले थे तब उन्हें गगाद्वारपर पहुँचनेमे पहले ही आर्यखण्डमें अनेक म्लेच्छ राजा तथा पुलिन्द लोग मिले थे—पुलिन्द म्लेच्छोंकी कन्याएँ चक्रवर्तीकी सेनाको देखकर विस्मित हुई थी और उन्होंने अनेक प्रकारकी भेंटे देकर भरत चक्रवर्तीके दर्शन किये थे। उस वक्ततक म्लेच्छखण्डोंके कोई म्लेच्छ आर्यखण्डमें आये भी नहीं

थे, और इसलिये वे सब म्लेच्छ पहलेसे ही आर्यखण्डमें निवास करते थे; जैसा कि आदिपुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

पुलिन्दकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः।
अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः ॥४१॥
चमरीवालकान्केचित् केचित्कस्तूरिकाण्डकान्।
प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः ॥४२॥
ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं सह सेनया।
गंगाद्वारमनुप्रापत् स्त्रमिवालंघ्यमर्णवम् ॥४५॥

—आदिपुराण, पर्व २८

इन सब प्रमाणोसे इस विषयमें कोई सन्देह नही रहता कि शक-यवन-शबर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डके ही रहनेवाले हैं, आर्यखण्डोद्भव हैं—म्लेच्छखण्डोद्भव नही हैं। शास्त्रीजीका उन्हे 'म्लेच्छखण्डोद्भव' लिखना तथा यह प्रतिपादित करना कि 'आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नही' तथा 'किसी आचार्यने उन्हे आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाला लिखा ही नही', गलत जान पड़ता है। साथ ही, यह कहना भी गलत हो जाता है कि 'आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले सब आर्य ही होते हैं, म्लेच्छ नहीं'। इसके सिवाय, 'क्षेत्र-आर्य'का जो लक्षण श्रीभट्टाकलंक-देवने राजवर्तिकमे दिया है उसमे भी यह नही बतलाया कि जो आर्य-खण्डमे उत्पन्न होते हैं वे सब 'क्षेत्र आर्य' होते हैं, बल्कि "**काशी-कौशलादिषु जाताः क्षेत्रार्याः**" इस वाक्यके द्वारा काशी-कौशलादिक जैसे आर्यदेशोमे उत्पन्न होनेवालोको ही 'क्षेत्र-आर्य' बतलाया है—शक, यवन, तुरुष्क (तुर्किस्तान) जैसे म्लेच्छ देशोंमें उत्पन्न होनेवालोंको नहीं। और इसलिए शास्त्रीजीका उक्त सब कथन कितना साधार है उसे सहृदय पाठक अब सहज ही में

समझ सकते हैं। साथ ही, उनके पूर्वलेखपर इस विषयका जो नोट (अनेकान्त पृ० २०७) मैने दिया था उसकी यथार्थताका भी अनुभव कर सकते हैं। और यह भी अनुभव कर सकते हैं कि उस नोटपर गहरा विचार करके उसकी यथार्थता आँकनेका अथवा दूसरी कोई खास बात निकालनेका वह परिश्रम शास्त्रीजीने नही उठाया है जिसकी उनसे आशा की जाती थी। अस्तु; अब शक-यवनादिके सकलसंयमकी बातको लीजिये।

(२) जब ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट है कि शक-यवनादि देश आर्यखण्डके ही प्राचीन प्रदेश हैं, उनके निवासी शक-यवन-शबर-पुलिन्दादिक लोग आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ हैं और वे सब आर्यखण्डमे कर्मभूमिका प्रारम्भ होनेके समयसे अथवा भरतचक्रवर्तीकी दिग्विजयके पूर्वसे ही यहाँ पाये जाते हैं तब इस बातको बतलाने अथवा सिद्ध करनेकी जरूरत नही रहती कि शक-यवनादिक म्लेच्छ उन लोगोकी ही सन्तान हैं जो आर्यखण्डमे वर्तमान कर्मभूमिका प्रारम्भ होनेसे पहले निवास करते थे। शास्त्रोके कथनानुसार वे लोग भोगभूमिया थे और भोगभूमिया सब उच्च-गोत्री होते हैं—उनके नीच गोत्रका उदय ही नही बतलाया गया[१]—इसलिये भोगभूमियोकी सन्तान होनेके कारण शक-यवनादिक लोग भी उच्च-गोत्री ठहरते हैं।

सकलसंयमका अनुष्ठान छठे गुणस्थानमे होता है और छठे गुणस्थान तक वे ही मनुष्य पहुँच सकते हैं जो कर्मभूमिया होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री होते हैं। चूँकि शक-यवनादिक लोग कर्मभूमिया होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री हैं इसलिये वे भी आर्य-

---

१. देखो, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा न० ३०२, ३०३।

खण्डके दूसरे कर्मभूमिज मनुष्यों (आर्यों) की तरह सकलसंयमके पात्र हैं।

भगवती आराधनाकी टीकामें श्रीअपराजितसूरिने, कर्मभूमियों और कर्मभूमिजोंका स्वरूप बतलाते हुए, कर्मभूमियाँ उन्हें ही बतलाया है जहाँ मनुष्योंकी आजीविका असि, मसि, कृषि आदि षट् कर्मों-द्वारा होती है और जहाँ उत्पन्न मनुष्य तपस्वी हुए सकलसंयमका पालन करके कर्मशत्रुओंका नाश करते हुए सिद्धि अर्थात् निर्वृत्ति तकको प्राप्त करते हैं। यथा :—

असिर्मषिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता।
इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीवयोनयः॥
प्रपाल्य संयमं यत्र तपः कर्मपरा नराः।
सुरसंगतिं वा सिद्धिं प्रयान्ति हतशत्रवः॥
एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पंच च।
यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः॥

इनसे साफ ध्वनित है कि कर्मभूमियोमें उत्पन्न मनुष्य सकल-संयमके पात्र होते हैं, और इसलिये उनके उच्चगोत्रका भी निषेध नही किया जा सकता। अतः आर्योंकी तरह शक-यवनादि म्लेच्छ भी उच्चगोत्री होते हुए सकलसंयमके पात्र हैं, इतना ही नहीं, बल्कि म्लेच्छखण्डोके म्लेच्छ भी कर्मभूमिज मनुष्य होनेके कारण सकलसंयमके पात्र हैं, जिनके विषयका विशेष विचार आगे नम्बर ४ में किया जायगा।

यहाँपर, इस विषयको अधिक स्पष्ट करते हुए, मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजयधवलके 'संयमलब्धि' अनुयोगद्वारमें निम्न चूर्णिसूत्र और उसके स्पष्टीकरण-द्वारा आर्य-खण्डमें उत्पन्न होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यको सकलसंयमका पात्र

बतलाया है । उसके सकलसंयम-लब्धिके जघन्य स्थानको भी पूर्व-प्रतिपातस्थानसे अनन्तगुणा—अनन्तगुणी भावसिद्धि (विशुद्धि)-को लिये हुए—लिखा है :—

"कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं (चू० सूत्र)। कुदो? संकिलेसणिबंधणपडिवादट्ठाणादो पुव्विल्लादो तव्विवरीदस्सेदस्स जहण्णत्ते वि अणंतगुणभावसिद्धीए णायोववण्णत्तादो। एत्थ कम्मभूमियस्सेति वुत्ते पण्णारसकम्मभूमीसु मज्झिमखंडसमुप्पण्णमणुसस्स गहणं कायव्वं। कर्मभूमिसु जातः कर्मभूमिजमिति तस्य तद् व्यपदेशार्हत्वात्।"

इसी तरह सकलसंयमके उत्कृष्ट स्थानको भी पूर्व प्रतिपद्यमान स्थानसे अनन्तगुणा लिखा है । यथा—

"कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं (चूर्णि-सूत्र)। कुदो? खेत्ताणुभावेण पुव्विल्लादो एदस्स तहाभावसिद्धीए बाहाणुवलद्धीदो।"

यही सब बात 'लब्धिसार' ग्रन्थ-गाथा नं० १९५ की निम्न टीकासे और भी स्पष्टरूपसे जानी जाती है :—

"तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थानादसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वा मिथ्यादृष्टिचरस्याऽऽर्यखण्डजमनुष्यस्य सकलसंयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति।···[1]ततःपरमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा आर्यखण्डजमनुष्यस्य देशसंयतचरस्य संयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति।"

---

१. इस मध्य-स्थानके छोड़े हुए दो वाक्य म्लेछखण्डके मनुष्योंके सकलसंयमग्रहणकी पात्रतासे सम्बन्ध रखते हैं, जिन्हें आगे ४थे नम्बरकी चर्चामें यथास्थान उद्धृत किया जायेगा।

इन सब अवतरणोंसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंमें सकलसंयमके ग्रहणकी पात्रता होती है। शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोग चूँकि आर्यखण्डमें उत्पन्न होते हैं—जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है—इसलिये वे भी सकलसंयमके पात्र हैं—मुनि हो सकते हैं।

(३) आर्यखण्डकी जो पैमाइश जैनशास्त्रोंमें बतलाई है उसके अनुसार आज-कलकी जानी हुई सारी दुनिया उसकी सीमाके भीतर आ जाती है; इसीसे बाबू सूरजभानजीने उसे प्रकट करते हुए अपने लेखमे लिखा था :—

"भरतक्षेत्रकी चौड़ाई ५२६ योजन ६ कला है। इसके ठीक मध्यमें ५० योजन चौड़ा विलयार्ध पर्वत है, जिसे घटाकर दोका भाग देनेसे २३८ योजन ३ कलाका परिमाण आता है; यही आर्यखण्डकी चौड़ाई बड़े योजनोसे है, जिसके ४७६००० से भी अधिक कोस होते है, और यह संख्या आजकलकी जानी हुई सारी पृथ्वीकी पैमाईशसे बहुत ही ज्यादा—कई गुणी अधिक है। भावार्थ इसका यह है कि आज-कलकी जानी हुई सारी पृथ्वी तो आर्यखण्ड जरूर ही है।"

इसपर शास्त्रीजीकी भी कोई आपत्ति नही। और समाजके प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पं० गोपालदासजी वरैय्याने भी अपनी भूगोलमीमांसा पुस्तकमे, आर्यखण्डके भीतर एशिया, योरुप, अमेरिका, एफ्रीका और आष्ट्रेलिया जैसे प्रधान-प्रधान महाद्वीपोंको शामिल करके वर्तमानकी जानी हुई सारी दुनियाका आर्यखण्डमें समावेश होना बतलाया है। जब आर्यखण्डमे आजकलकी जानी हुई सारी दुनिया आ जाती है, और आर्यखण्डमें

उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सकलसंयमके पात्र होते हैं, जैसा कि नं० २ में सिद्ध किया जा चुका है, तब आजकलकी जाती हुई सारी दुनियाके मनुष्य भी सकलसंयमके पात्र ठहरते हैं। और चूँकि सकलसंयमके पात्र वे ही हो सकते हैं जो उच्चगोत्री होते हैं, इसलिए आजकलकी जानी हुई दुनियाके सभी मनुष्योको गोत्र-कर्मकी दृष्टिसे उच्चगोत्री कहना होगा—व्यावहारिक दृष्टि-की ऊँच-नीचता अथवा लोकमे प्रचलित उपजातियोके अनेकानेक गोत्रोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है।

(४) अब रही म्लेच्छखण्डज म्लेच्छोके सकल संयमकी बात, जैन-शास्त्रानुसार भरतक्षेत्रमे पॉच म्लेच्छखण्ड हैं और वे सब आर्यखण्डकी सीमाके बाहर हैं। वर्तमानमें जानी हुई दुनियासे वे बहुत दूर स्थित हैं, वहाँ के मनुष्योका इस दुनियाके साथ कोई सम्पर्क भी नही है और न यहाँके मनुष्योंको उनका कोई ज़ाती परिचय ही है। चक्रवर्तियोके समयमे वहाँके जो म्लेच्छ यहाँ आए थे वे अब तक जीवित नही हैं, न उनका अस्तित्व इस समय यहाँ संभव ही हो सकता है और उनकी जो सन्तानें हुई वे कभीकी आर्योमे परिणित हो चुकी हैं, उन्हें म्लेच्छखण्डोद्भव नही कहा जा सकता—शास्त्रीजीने भी अपने प्रस्तुत लेखमें उन्हें 'क्षेत्र-आर्य' लिखा है और अपने पूर्व लेखमे (अने० वर्ष २ कि० ३ पृ० २०७) म्लेच्छखण्डोसे आए हुए उन म्लेच्छोको 'कर्म-आर्य' बतलाया है जो यहाँके रीतिरिवाज अपना लेते थे और आर्योकी ही तरह कर्म करने लगते थे; यद्यपि आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्डोंके असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्पादि षट् कर्मोंमें परस्पर कोई भेद नही है—वे दोनों ही कर्मभूमियोंमें समान हैं; जैसाकि ऊपर उद्धृत किये हुए अपराजितसूरिके कर्मभूमिविषयक स्वरूपसे प्रकट

है, और भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे तो यहाँ तक स्पष्ट है कि म्लेच्छखण्डोंके म्लेच्छ धर्मकर्मसे बहिर्भूत होनेके सिवाय और सब बातोंमें आर्यावर्तके ही समान आचारके धारक हैं :--

धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः॥

--आदिपुराण, पर्व ३१, श्लोक १४२

साथ ही, यह सिद्ध किया जा चुका है कि शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक जातिके म्लेच्छ आर्यखण्डके ही आदिम निवासी (क़दीमी बाशिन्दे) हैं--प्रथम चक्रवर्ती भरतकी दिग्विजयके पूर्वसे ही वे यहाँ निवास करते हैं--म्लेच्छखण्डोसे आकर बसने वाले नही हैं। ऐसी हालतमे यद्यपि म्लेच्छखण्डज म्लेच्छोंकी सकलसंयमकी पात्रताका विचार कोई विशेष उपयोगी नही है और उससे कोई व्यावहारिक नतीजा भी नही निकल सकता, फिर भी चूँकि इस विषयकी चर्चा पिछले लेखोमे उठाई गई है और शास्त्रीजीने अपने प्रस्तुत उत्तर-लेखमे भी उसे दोहराया है, अत: इसका स्पष्ट विचार भी यहाँ कर देना उचित जान पड़ता है। नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है :—

श्रीजयधवल नामक सिद्धान्त ग्रन्थमे 'संयमलब्धि' नामक एक अनुयोगद्वार (अधिकार) है। सकलसावद्य-कर्मसे विरक्ति-लक्षणको लिये हुए पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीनगुप्तिरूप जो सकलसंयम है उसे प्राप्त होनेवालेके विशुद्धिपरिणामका नाम संयमलब्धि है और वही मुख्यतया उक्त अनुयोगद्वारका विषय है। इस अनुयोगद्वारमें आर्यखंडके मनुष्योंकी तरह म्लेच्छखंडोंके मनुष्योंको भी सकलसंयमका पात्र बतलाया है और उनके विशुद्धि-

स्थानोंका अल्पबहुत्वरूपसे उल्लेख किया है, जैसा कि उसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयं संजमट्ठाण-मणंतगुणं (चूर्णिसूत्र) [कुदो ?] पुव्विल्लादो असंखेयलोग-मेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणेदस्स समुप्पत्तीए। को अकम्मभूमिओ णाम ? भरहेरावयविदेहेसु विणीतसण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूणं सेसपंचखंडविणिवासी मणुओ एत्थ 'अकम्मभूमिओ' त्ति विवक्खिओ। तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो।

जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो ? त्ति णासंकणिज्जं। दिसाविजयट्ठिचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखण्डमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो।

अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः। ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावादिति।

तस्सेवुक्कस्सयं पडिवज्जमाणस्स संजमट्ठाणमणंतगुणं (चूर्णिसूत्र)। कुदो ?"[१]......

ये वाक्य उन दोनों वाक्य-समूहोंके मध्यमे स्थित हैं जो ऊपर नं० २ मे आर्यखण्डके मनुष्योके सकलसंयमकी पात्रता बतलानेके लिये उद्धृत किये जा चुके हैं। इनका आशय क्रमश: इस प्रकार है :—

'सकलसंयमको प्राप्त होनेवाले अकर्मभूमिकके जघन्य संयम-स्थान—मिथ्यादृष्टिसे सकलसंयमग्रहणके प्रथम समयमें वर्तमान

१. इस प्रश्नका उत्तर अपनी कापीमें आराके जैनसिद्धान्तभवनकी प्रतिसे नोट किया हुआ नहीं है और वह प्रायः पूर्वस्थानसे असंख्येय-लोकमात्र षट्‌स्थानोंकी सूचनाको लिये हुए ही जान पड़ता है।

जघन्य संयमलब्धिस्थान—अनन्तगुणा है। किससे ? पूर्वमें कहे हुए आर्यखंडज–मनुष्यके जघन्य–संयमस्थानसे; क्योंकि उससे असंख्येय लोकमात्र षट् स्थान ऊपर जाकर इस लब्धिस्थानकी उत्पत्ति होती है। 'अकर्मभूमिक' किसे कहते हैं ? भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रोंमे 'विनीत' नामके मध्यमखण्ड (आर्यखण्ड) को छोड़कर शेष पाँच खण्डोका विनिवासी (कदीमी बाशिन्दा) मनुष्य यहाँ 'अकर्मभूमिक' इस नामसे विवक्षित है; क्योंकि उन पाँच खंडोमें धर्मकर्मकी प्रवृत्तियाँ असंभव होनेके कारण उस अकर्मभूमिक-भावकी उत्पत्ति होती है।'

'यदि ऐसा है—उन पाँच खण्डोंमे (वहाँके निवासियोमें) धर्म-कर्मकी प्रवृत्तियाँ असंभव हैं—तो फिर वहाँ (उन पाँच खंडोके निवासियोमे) संयम-ग्रहण कैसे संभव हो सकता है ? इस प्रकारकी शंका नही करनी चाहिये, क्योंकि दिग्विजयार्थी चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यमखंड (आर्यखंड) को आते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्धको प्राप्त होते हैं उनके सकलसंयम-ग्रहणमे कोई विरोध नही है—अर्थात् जब म्लेच्छखण्डोके ऐसे म्लेच्छोके सकलसंयम-ग्रहणमें किसीको कोई आपत्ति नही, वे उसके पात्र समझे जाते हैं, तब वहाँके दूसरे सजातीय म्लेच्छोके यहाँ आने पर उनके सकल संयम-ग्रहणकी पात्रतामे क्या आपत्ति हो सकती है ? कुछ भी नही, इससे शंका निर्मूल है।

'अथवा—और प्रकारान्तरसे'[1]—उन म्लेच्छोंकी जो कन्याएँ

---

१. 'अथवा' तथा 'वा' शब्द प्रायः एकार्थवाचक हैं और वे 'विकल्प' या 'पक्षान्तर' के अर्थमें ही नही, किन्तु 'प्रकारान्तर' तथा 'समुच्चय' के अर्थमें भी आते हैं; जैसा कि निम्न प्रमाणोंसे प्रकट है :—

चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहित होती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले मातृपक्षकी अपेक्षा स्वयं अकर्मभूमिज (म्लेच्छ) होते हैं—अकर्मभूमिककी सन्तान अकर्मभूमिक, इस दृष्टिसे—वे भी यहाँ विवक्षित हैं—उनके भी सकलसंयमकी पात्रता और संयमका उक्त जघन्य स्थान अनन्तगुणा है। इसलिए कुछ भी विप्रतिषिद्ध[1] नही है—दोनोके तुल्यबलका कोई विरोध नही है, अर्थात् एकको सकलसंयमका पात्र और दूसरेको अपात्र नही कहा जा सकता; क्योंकि उस प्रकारकी दोनो ही जातिवालोके दीक्षाग्रहणकी योग्यताका प्रतिषेध नही है—अर्थात् आगम अथवा सिद्धान्त ग्रन्थोंमे न तो उस जातिके म्लेच्छोके लिये सकलसंयमकी दीक्षाका निषेध है जो उक्त म्लेच्छखण्डोमेसे किसी भी

अहवा (अथवा) = १ "सम्बन्धस्य प्रकारान्तरोपदर्शने", २ "पूर्वोक्त-प्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतने" —अभिधानराजेन्द्र

वा = "वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये।"

—विश्वलोचन कोश, सिद्धान्तकौ० तत्त्वबो० टी०

'अथ' शब्द भी 'समुच्चय' के अर्थमें आता है। यथा—

"अथेति मङ्गलाऽनन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्याधिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेषु।"

—सिद्धान्तकौ० तत्त्वबो० टी०

'अहवा' के प्रयोगका निम्न उदाहरण भी ध्यानमे लेने योग्य है :—

"आहारे धणरिद्धि पवट्टइ, चउविहु चाउ जि एहु पवट्टइ
अहवा दुट्ठवियप्पहँ चाए, चाउ जि एहु मुणहु समवाए।"

—दशलाक्षणिकधर्मजयमाला

१. विप्रतिषेध —"तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः।"

"The opposition of two courses of action which are equally important, the conflict of two even-matched interests." —V. S. Apte

म्लेच्छखण्डके विनिवासी (क़दीमी बाशिन्दे) हों तथा चक्रवर्तीकी सेना आदिके साथ किसी भी तरह आर्यखण्डको आगये हो, और न उस जातिवालोके लिये जो म्लेच्छखण्डकी कन्याओंसे आर्य-पुरुषोंके संयोग-द्वारा उत्पन्न हुए हों ।'

'सकलसंयमको प्राप्त करनेवाले उसी अकर्मभूमिक मनुष्यके उत्कृष्ट संयमस्थान—देशसयतसे सकल सयम ग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान उत्कृष्ट संयम-लब्धिस्थान—अनन्तगुणा है । किससे ?...।'

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने आर्यखण्डज और म्लेच्छ-खण्डज मनुष्योके सकलसंयमके जघन्य और उत्कृष्ट स्थानोका यह सब कथन लब्धिसार ग्रंथकी गाथा न० १९५ में समाविष्ट किया है, जो सस्कृत टीका-सहित इस प्रकार है—

> ततो पडिवज्जगया अज्जमिलेच्छे मिलेच्छअज्जे य ।
> कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा ॥

टीका—तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थाना-दसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वा मिथ्यादृष्टिचर-स्याऽऽर्यण्डजमनुष्यस्य सकलसंयम-ग्रहणप्रथमसमये वर्त्तमानं जघन्यं सकलसंयम-लब्धिस्थानं भवति । ततः परमसंख्येयलोक-मात्राणि षट्स्थानान्यतिक्रम्य म्लेच्छभूमिज-मनुष्यस्य मिथ्या-दृष्टिचरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं संयम-लब्धिस्थानं भवति । ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्था-नानि गत्वा म्लेच्छभूमिजमनुष्यस्य देशसंयमचरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये उत्कृष्टं संयमलब्धिस्थानं भवति । ततः परमसंख्येय-लोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा आर्यखंडज-मनुष्यस्य देशसंयम-चरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयम-लब्धिस्थानं भवति । एतान्यार्यम्लेच्छमनुष्यविषयाणि सकल-

संयम-ग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानानि संयमलब्धिस्थानानि प्रतिपद्यमानस्थानानीत्युच्यन्ते ।

अत्रार्य-म्लेच्छमध्यमस्थानानि मिथ्यादृष्टिचरस्य वा असंयतसम्यग्दृष्टिचरस्य वा देशसंयतचरस्य वा तदनुरूपविशुद्धया सकलसंयमं प्रतिपद्यमानस्य संभवन्ति । विधिनिषेधयोर्नियमाऽवचने संभवप्रतिपत्तिरिति न्यायसिद्धत्वात् । अत्र जघन्यद्वयं यथायोग्यतीव्रसंक्लेशाविष्टस्य, उत्कृष्टद्वयं तु मंदसंक्लेशाविष्टस्येति ग्राह्यं ।

म्लेच्छभूमिज-मनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवति ? इति नाशंकितव्यम् । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् । तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।"

इस टीकामे गाथाके आशयको स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

'उस देशसंयम-प्रतिपाताभिमुख उत्कृष्टप्रतिपातस्थानसे असंख्यातलोकमात्र षट् स्थानोंका अन्तराल करके मिथ्यादृष्टि आर्यखंडजमनुष्यके सकलसयम-ग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान जघन्य सकलसयम-लब्धिस्थान होता है । उसके बाद असंख्यात लोकमात्र षट् स्थानोको उल्लघन करके मिथ्यादृष्टि म्लेच्छभूमिज मनुष्यके संयमग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान सकलसंयम लब्धिका जघन्य स्थान होता है । उसके बाद असंख्यात लोकमात्र षट् स्थान जा करके म्लेच्छखण्डके देशसंयमी मनुष्यके सकलसंयमग्रहणके प्रथम समयमे उत्कृष्ट सकलसंमय-लब्धिका स्थान होता है । तदनन्तर असंख्यात लोकमात्र षट् स्थान जा करके आर्यखण्डके देशसंयमी मनुष्यके सकलसंयमग्रहणके प्रथम समयमें

वर्तमान उत्कृष्ट सकलसंयम-लब्धिस्थान होता है। ये सब सकल-संयमग्रहणके प्रथम समयमें होनेवाले आर्य-म्लेच्छभूमिज मनुष्य-विषयक संयम-लब्धिस्थान 'प्रतिपद्यमानस्थान' कहलाते हैं।

'यहाँ आर्यखंडज और म्लेच्छखंडज मनुष्योंके मध्यम स्थान—जघन्य और उत्कृष्ट स्थानोके बीचके स्थान—मिथ्या-दृष्टिसे वा असंयतसम्यग्दृष्टिसे अथवा देशसंयतसे सकलसंयमको प्राप्त होनेवालेके सभाव्य होते हैं। क्योंकि विधि-निषेधका नियम न कहा जाने पर संभवकी प्रतिपत्ति होती है, ऐसा न्यायसिद्ध है। यहाँ दोनों जघन्य स्थान यथायोग्य तीव्रसंक्लेशाविष्टके और दोनो उत्कृष्ट स्थान मंदसक्लेशाविष्टके होते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये।'

'म्लेच्छभूमिज अर्थात् म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न होनेवाले मनु-ष्योके सकलसंयमका ग्रहण कैसे संभव हो सकता है? ऐसी शंका नही करनी चाहिये; क्योंकि दिग्विजयके समयमे चक्रवर्तीके साथ जो म्लेच्छराजा आर्यखंडको आते हैं और चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्वन्धको प्राप्त होते हैं उनके सकलसंयमके ग्रहणका विरोध नही है—अर्थात् जब उन्हें सकलसंयमके लिये अपात्र नही समझा जाता तव उनके दूसरे सजातीय म्लेच्छबन्धुओको अपात्र कैसे कहा जा सकता है और कैसे उनके सकलसयम-ग्रहणकी सम्भावनासे इनकार किया जा सकता है? कालान्तरमें वे भी आर्यखण्डको आकर सकलसंयम-ग्रहण कर सकते हैं, इससे शंका निर्मूल है। अथवा उन म्लेच्छोंकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहित होती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कहलाते हैं, उनके सकलसंयम संभव होनेसे भी म्लेच्छभूमिज मनुष्योंके सकलसंयम-ग्रहणकी संभावना

है। उस प्रकारकी जातिवाले म्लेच्छोंके दीक्षा-ग्रहणकी योग्यता-का (आगममें) प्रतिषेध नहीं है—इससे भी उन म्लेच्छभूमिज मनुष्योके सकलसंयम-ग्रहणकी संभावना सिद्ध है—जिसका प्रति-षेध नही होता उसकी संभावनाको स्वीकार करना न्याय-संगत है। ।'

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जयधवलकी रचनाके बहुत बाद हुए हैं—जयधवल शक सख्या ७५६ मे बनकर समाप्त हुआ है और नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटस्वामीकी मूर्तिका निर्माण करानेवाले तथा शक संवत् ६०० में महापुराणको बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीचामुण्डरायके समयमे हुए और उन्होने शक सख्या ६०० के बाद ही चामुडरायकी प्रार्थनादिको लेकर जयधवलादि ग्रंथों परसे गोम्मटसारादि ग्रंथोंकी रचना की है। लब्धिसार ग्रन्थ भी चामुण्डरायके प्रश्नको लेकर जयधवल परसे सारसंग्रह करके रचा गया है; जैसा कि टीकाकार केशववर्णीके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे प्रकट है :—

"श्रीमान्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती सम्यक्त्वचूडामणिप्रभृति-गुणनामाङ्कित-चामुण्डरायप्रश्नानुरूपेण कपायप्रभृतस्य जयधव-लाख्यद्वितीयसिद्धान्तस्य पंचदशानां महाधिकाराणां मध्ये पश्चिमस्कंधाख्यस्य पंचदशस्यार्थं संगृह्य लब्धिसारनामधेयं शास्त्रं प्रारभमाणो भगवत्पंचपरमेष्ठिस्तव-प्रणामपूर्विकां कर्तव्य-प्रतिज्ञां विधत्ते।"

जयधवलपरसे जो चार चूर्णिसूत्र ऊपर (नं० २, ४ में) उद्धृत किये गये हैं उन्हे तथा उनकी टीकाके आशयको लेकर ही नेमिचन्द्राचार्यने उक्त गाथा नं० १६५ की रचना की है। चूर्णिसूत्रोंमें कर्मभूमिक और अकर्मभूमिक शब्दोंका प्रयोग था,

कर्मभूमिकमें म्लेच्छ-खण्डोंके मनुष्य आ सकते थे और अकर्म-भूमिकमें भोगभूमियोंका समावेश हो सकता था। इसीसे जयधवलकारको 'कर्मभूमिक' और 'अकर्मभूमिक' शब्दोंके प्रकरण-संगत वाच्यको स्पष्ट कर देनेकी जरूरत पड़ी और उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि कर्मभूमिकका वाच्य 'आर्यखण्डज' मनुष्य और अकर्मभूमिक का 'म्लेच्छखण्डज' मनुष्य है---साथ ही यह भी बलता दिया कि म्लेच्छखण्डज कन्यासे आर्यपुरुषके सयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाली सन्तान भी एक प्रकारसे म्लेच्छ तथा अकर्म-भूमिक है, उसका भी समावेश 'अकर्मकभूमिक' शब्दमें किया जा सकता है। इसीलिये नेमिचन्द्राचार्यने यह सब समझकर ही अपनी उक्त गाथामें कर्मभूमिक और अकर्मभूमिकके स्थान पर क्रमशः 'अज्ज' तथा 'मिलेच्छ' शब्दोका प्रयोग दूसरा कोई विशेषण या शर्त साथमे जोड़े बिना ही किया है, जो देशामर्शकसूत्रानुसार 'आर्यखण्डज' तथा 'म्लेच्छखण्डज' मनुष्यके वाचक हैं, जैसा कि टीकामे भी प्रकट किया गया है। ऐसी हालतमें यहाँ (लब्धि-सारमे) उस प्रश्न की नौबत नही आती जो जयधवलमे म्लेच्छ-खण्डज मनुष्यके अकर्मभूमिक भावको स्पष्ट करने पर खड़ा हुआ था और जिसका प्रारंभ 'जइ एवं'---'यदि ऐसा है',---इन शब्दोके साथ होता है तथा जिसका समाधान वहाँ उदाहरणात्मक हेतुद्वारा किया गया गया है, फिर भी टीकाकारने उसका कोई पूर्व सम्बन्ध व्यक्त किये बिना ही उसे जयधवल परसे कुछ परि-वर्तनके साथ उद्धृत कर दिया है (यदि टीकाका उक्त मुद्रित पाठ ठीक है तो) और इसीसे टीकाके पूर्व भागके साथ वह कुछ असंगतसा जान पड़ता है।

इस तरह यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रों, वीरसेन-जिनसेनाचार्यों-

के 'जयधवल' नामक भाष्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके लब्धिसार ग्रन्थ और उसकी केशववर्णिकृत टीकापरसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि म्लेच्छखंडोके मनुष्य संयमलब्धिके पात्र हैं—जैनमुनिकी दीक्षा लेकर, छठे गुणस्थानादिकमें चढ़ कर, महाव्रतादिरूप सकलसंयमका पालन करते हुए अपने परिणामोको विशुद्ध कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि म्लेच्छखडोमे रहते हुए वे ऐसा न कर सके; क्योकि वहाँकी भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है। श्री जिनसेनाचार्यने भी, भरत चक्रवर्तीकी दिग्विजयका वर्णन करते हुए '**इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्**' इस वाक्यके द्वारा उस म्लेच्छभूमिको धर्म-कर्मकी अभूमि बतलाया है। वहाँ रहते हुए मनुष्योके धर्म-कर्मके भाव उत्पन्न नही होते, यह ठीक है। परन्तु आर्यखंडमें आकर उनके वे भाव उत्पन्न हो सकते हैं और वे अपनी योग्यताको कार्यमें परिणत करते हुए खुशीसे आर्यखण्डज मनुष्योंकी तरह सकलसंयमका पालन कर सकते हैं। और यह बात पहले ही बतलाई जा चुकी है कि जो लोग सकलसयमका पालन कर सकते हैं—उसकी योग्यता अथवा पात्रता रखते हैं—वे सब गोत्र-कर्मकी दृष्टिमे उच्च गोत्री होते हैं। इसलिये आर्य-खंडोके सामान्यतया सब मनुष्य अथवा सभी कर्मभूमिज मनुष्य सकलसंयमके पात्र होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री भी हैं। यही इस विषय मे सिद्धान्तग्रथोंका निष्कर्ष जान पड़ता है।

विचारकी यह सब साधन-सामग्री सामने मौजूद होते हुए भी, खेद है कि शास्त्रीजी सिद्धान्तग्रंथोके उक्त निष्कर्षको मानकर देना नही चाहते! शब्दोंकी खीचतान-द्वारा ऐसा कुछ डौल बनाना चाहते हैं जिससे यह समझ लिया जाय कि सिद्धान्तकी बातको न तो यतिवृषभने समझा, न जयधवलकार वीरसेन-जिन

सेनाचार्योंने, न सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रने और न उनके टीका-कार केशववर्णीने !! क्योकि यतिवृषभने अपनी चूर्णिमें अकर्म-भूमिक पदके साथ ऐसा कोई शब्द नही रक्खा जिससे उसका वाच्य अधिक स्पष्ट होता या उसकी व्यापक शक्तिका कुछ नियन्त्रण होता ! जयधवलकारने अकर्मभूमिकका अर्थ सामान्य-रूपसे म्लेच्छखडोका विनिवासी मनुष्य कर दिया ! तथा चूर्णि-कारके साथ पूर्ण सहमत न होते हुए भी अपना कोई एक सिद्धान्त कायम नहीं किया !! और जो सिद्धान्त प्रथम हेतुके द्वारा इस रूपमें कायम भी किया था कि सिर्फ वे ही म्लेच्छ राजा सकल-संयमको ग्रहण कर सकते हैं जो चक्रवर्तीकी सेनाके साथ आर्य-खण्डको आकर अपनी बेटी भी चक्रवर्ती या आर्यखंडके किसी दूसरे मनुष्यके साथ विवाह देवें, उसका फिर दूसरे हेतु-द्वारा परित्याग कर दिया और यह लिख दिया कि ऐसे म्लेच्छ राजाओं की लड़कीसे जो सतान पैदा हो वही सकलसयमकी पात्र हो सकती है !!! इसी तरह सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपनी उक्त गाथामे प्रयुक्त हुए 'मिलेच्छ' शब्दके साथ कोई विशेषण नही जोड़ा—आर्यखण्डके मनुष्योके साथ विवाह-सम्बन्ध–जैसी कोई शर्त नही लगाई—जिससे उसकी शक्ति सीमित होकर यथार्थतामें परिणत होती !! और न उनके टीकाकारने ही उस पर कोई लगाम लगाया है; बल्कि खुलेआम म्लेच्छभूमिज-मात्रके लिये सकल संयमके जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट स्थानोंका विधान कर दिया है !!! मेरे खयालसे शास्त्रीजीकी रायमे इन आचार्योंको चूर्णिसूत्र आदिमे ऐसे कोई शब्द रख देने चाहियें थे जिनसे सामान्यतया सब म्लेछोंको सकलसंयमके ग्रहणका अधिकार न होकर सिर्फ उन ही म्लेच्छ-राजाओंको वह प्राप्त होता जो

चक्रवर्तीकी सेनाके साथ आकर अपनी बेटी भी आर्यखण्डके किसी मनुष्यके साथ विवाह देते—बेटी विवाह देनेकी शर्त खास तौर-पर लाज़िमी रक्खी जाती !! अथवा ऐसा कर दिया जाता तो और भी अच्छा होता कि उन बेटियोंसे पैदा होनेवाली सन्तान ही सकलसंयमकी अधिकारिणी है—दूसरा कोई भी म्लेच्छखंडज मनुष्य उसका पात्र अथवा अधिकारी नहीं है !! ऐसी स्थितिमें ही शायद उन आचार्योंकी सिद्धान्तविषयक समझ-बूझका कुछ परिचय मिलता !!! परन्तु यह सब कुछ अब बन नही सकता, इसीसे स्पष्ट शब्दोंके अर्थकी भी खीचतान-द्वारा शास्त्रीजी उसे बनाना चाहते हैं !!!

शास्त्रीजीने अपने पूर्वलेखमें '**तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्**' इस वाक्यकी, जो कि जयधवला और लब्धिसार-टीका दोनोंमे पाया जाता है और उनके प्रमाणोका अन्तिम वाक्य है, चर्चा करते हुए यह बतलाया था कि इस वाक्यमे प्रयुक्त हुए '**तथाजातीयकानां**' पदके द्वारा म्लेच्छोंकी दो जातियोंका उल्लेख किया गया है—एक तो उन साक्षात् म्लेच्छोकी जातिका जो म्लेच्छखंडोसे चक्रवर्ती आदिके साथ आर्यखंडको आ जाते हैं तथा अपनी कन्याएँ भी चक्रवर्ती आदिको विवाह देते हैं और दूसरे उन परम्परा—म्लेच्छोंकी जातिका जो उक्त म्लेच्छ कन्याओंसे आर्यपुरुषोंके संयोग-द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन्ही दो जातिवाले म्लेच्छोके दीक्षाग्रहणका निषेध नही है। साथ ही लिखा था कि—"इस वाक्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य म्लेच्छोके दीक्षाका निषेध है। यदि टीकाकारको लेखकमहोदय (बा० सूरजभानजी) का सिद्धान्त अभीष्ट होता तो उन्हे दो प्रकारके म्लेच्छोंके संयमका विधान बतलाकर उसकी पुष्टिके लिये

उक्त अन्तिम पंक्ति (वाक्य) लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नही थी, क्योकि वह पंक्ति उक्त सिद्धान्त—सभी म्लेच्छ खंडोके म्लेच्छ सकलसंयम धारण कर सकते हैं—के विरुद्ध जाती है।" इस पर मैंने एक नोट दिया था और उसमें यह सुझाया था कि—'यदि शास्त्रीजीको उक्त पदमे ऐसी दो जातियोका ग्रहण अभीष्ट है, तब चूँकि आर्यखडको आए हुए उन साक्षात् म्लेच्छों-की जो जाति होती है वही जाति म्लेच्छखंडोके उन दूसरे म्लेच्छों-की भी है जो आर्यखंडको नही आते हैं, इसलिये साक्षात् म्लेच्छ जातिके मनुष्योंके सकलसयम-ग्रहणकी पात्रता होनेसे म्लेच्छखडोंमें अवशिष्ट रहे दूसरे म्लेच्छ भी सकलसंयमके पात्र ठहरते हैं—कालान्तरमे वे भी अपने भाई-बन्दो (सजातीयो) के साथ आर्य-खडको आकर दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। और इस तरह सकल-संयमग्रहणकी पात्रता एवं संभावनाके कारण म्लेच्छखंडोके सभी म्लेच्छोके उच्चगोत्री होनेसे बाबू सूरजभानजीका वह फलितार्थ अनायास ही सिद्ध हो जाता है, जिसके विरोधमे इतना अधिक द्राविडी प्राणायाम किया गया है।'

म्लेच्छखंडोमे अवशिष्ट रहे म्लेच्छोंकी कोई तीसरी जाति शास्त्रीजी बतला नही सकते थे, इसलिये उन्हे मेरे उक्त नोटकी महत्ताको समझनेमे देर नही लगी और वे ताड़ गये कि इस तरह तो सचमुच हमने खुद ही अपने हाथों अपने सिद्धान्तकी हत्या कर डाली है और अजानमें ही बाबू साहबके सिद्धान्तकी पुष्टि कर दी है !! अब करे तो क्या करे ? बाबू साहबकी बातको मान लेना अथवा चुप बैठ रहना भी इष्ट नही समझा गया, और इसलिये शास्त्रीजी प्रस्तुत उत्तरलेखमे अपनी उस बातसे ही फिर गये हैं !! अब वे '**तथाजातीयकानाम्**' पदमें एक ही जातिके

म्लेच्छोंका समावेश करते हैं और वह है उन म्लेच्छ कन्याओंसे आर्यपुरुषोंके सम्बन्ध-द्वारा उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंकी जाति !!! इसके लिये शास्त्रीजीको शब्दोंकी कितनी ही खींचतान करनी पड़ी है और अपनी नासमझी, कमजोरी, तथा हेराफेरीको जयधवलके रचयिता आचार्य महाराजके ऊपर लादते हुए यहाँ तक भी कह देना पड़ा है कि :—

(१) "आचार्यने सूत्रमें आये हुए 'अकर्मभूमिक' शब्दकी परिभाषाको बदल कर अकर्मभूमिकोमे संयम-स्थान बतलानेका दूसरा मार्ग स्वीकार किया !"

(२) " **'ततो न किंचिद् विप्रतिषिद्धम्'** पदसे यह बात ध्वनित होती है कि 'अकर्मभूमिक' की पहली विवक्षामे कुछ 'विप्रतिषिद्ध' अवश्य था। इसीसे आचार्यको 'अकर्मभूमिक' की पहली विवक्षाको बदल कर दूसरी विवक्षा करना उचित जान पड़ा !"

(३) "यदि आचार्य महाराजको पाँच खंडोके सभी म्लेच्छ मनुष्योमे सकलसंयमग्रहणकी पात्रता अभीष्ट थी और वे केवल वहाँकी भूमिको ही उसमें बाधक समझते थे——जैसा कि सम्पादकजीने लिखा है——तो प्रथम तो उन्हें आर्यखंडमे आगत म्लेछ मनुष्योके संयमप्रतिपत्तिका अविरोध बतलाते समय कोई शर्त नहीं लगानी चाहिये थी। दूसरे, पहले समाधानके बाद जो दूसरा समाधान होना चाहिये था, वह पहले समाधानसे भी अधिक उक्त मतका समर्थक होना चाहिये था और उसके लिए 'अकर्मभूमिक' की परिभाषा बदलनेकी आवश्यकता नही थी !"

(४) "इस प्रकारसे अकर्मभूमिक मनुष्योके सकलसंयम-स्थान बतलाकर भी आचार्यको संतोष नहीं हुआ, जिसका संभाव्य

कारण मैं पहले बतला-आया हूँ। अतः उन्हें अकर्मभूमिक शब्दकी पहली विवक्षा—म्लेच्छ खंडोंके मनुष्य—को छोड़ कर, अकर्मभूमिक शब्दकी दूसरी विवक्षा करनी पड़ी, जिसमें किसीको कोई विप्रति-पत्ति न हो सके। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्यका अभिप्राय किसी-न-किसी प्रकारसे अकर्मभूमिक मनुष्यके संयमस्थान सिद्ध करना है न कि म्लेच्छ-खण्डोंके सब मनुष्योंमें सकलसंयमकी पात्रता सिद्ध करना, यदि उनकी यही मान्यता होती तो वे अकर्मभूमिक शब्दसे विवक्षित म्लेच्छ खंडके मनुष्योंको छोड़कर और अकर्मभूमिककी दूसरी विवक्षा करके सिद्धान्तका परित्याग न करते !!"

शास्त्रीजीके लेखकी ऐसी विचित्र स्थिति होते हुए और यह देखते हुए कि वे अपनी हेराफेरीके साथ जयधवल जैसे महान् ग्रन्थके रचयिता आचार्य महाराजको भी हेराफेरीके चक्करमें डालना चाहते हैं और उनके कथनका लब्धिसारमें निश्चित सार खीचनेवाले सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र-जैसोंकी भी बातको मानकर देना नहीं चाहते, यह भाव पैदा होता है कि तब उनके साथकी इस तत्त्वचर्चाको आगे चलानेसे क्या नतीजा निकल सकता है ? कुछ भी नही। अतः मैं इस बहसको यहाँ ही समाप्त करता हूँ और अधिकारी विद्वानोंसे निवेदन करता हूँ कि वे इस विषयमें अपने-अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करें।

—अनेकान्त वर्ष २, किरण ५, २१-२-१९३९

गलती और गलतफ़हमी : १५ :

'अनेकान्त'के विशेषाङ्क (वर्ष ६, किरण ५-६) मे कुछ ऐसी गलतियाँ हुई हैं, जो सुनने-समझने अथवा लिखनेकी गलतीसे सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरणके तौरपर 'पृष्ठ २२२ पर 'वड़े अच्छे हैं पंडितजी' इस शीर्षकके नीचे एक बालिका-द्वारा भोजन-समयकी जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह कुछ अधूरा और सुनाये हुए श्लोकादि-विषयक अर्थकी कुछ गलती अथवा गलतफ़हमीको लिये हुए है। भोली बालिका शारदाको तो दो एक चलतीसी बातें कहकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनी थी, उसे क्या मालूम कि जिस बातको उसने बूढी अम्मासे सुना था उसका प्रतिवाद कितना महत्त्व रखता है और इसलिये उसे कितनी सावधानीसे ग्रहण तथा प्रकट करना चाहिये। लिखते समय उसके सामने न तो वह श्लोक था और न उसका मेरे द्वारा किया हुआ अर्थ, दोनोकी उड़तीसी स्मृति जान पड़ती है, जिसे लेखमे अंकित किया गया है और उससे सहारनपुरके जैन-समाजमें एक प्रकारकी

आलू-चर्चा

चल पड़ी है। अतः यहाँपर'इस विषयमे कुछ स्पष्टीकरण कर देना उचित जान पड़ता है, जिससे गलतफ़हमी दूर हो सके। कुमारी शारदाने जिस श्लोकको सुनानेकी बात कही है वह गोम्मट-सारादि ग्रन्थोकी टीकाओमें पायी जानेवाली निम्न प्राचीन गाथा है :—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल-लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण च्छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

इस गाथाको सुनाकर यह आशय बतलाया गया था कि 'जो सुखाया हुआ, अग्निमे पकाया हुआ, तपाया हुआ, खटाई-नमक मिलाया हुआ अथवा यत्रसे छिन्न-भिन्न किया हुआ वनस्पति द्रव्य है वह सब प्रासुक (अचित्त) होता है।' और फिर **'प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः'**—प्रासुकके खानेमें कोई पाप नही, यह कहकर बतलाया गया था कि तुम्हारी रसोईमे जो आलूका शाक तय्यार है वह यत्रसे छिन्न-भिन्न करके, खटाई-नमक मिलाकर और अग्निमे पकाकर तय्यार किया गया है—कच्चा तो नही ? तब उसके खानेमे क्या दोष ?

अब मैं यहाँपर इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सचित्त-त्यागी पाँचवे दर्जे (प्रतिमा)के श्रावकके लिये **स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचार**के निम्न पद्यमे यह विधान दिया है कि वह कन्द-मूल-फल-फूलादिक कच्चे नही खाता; जिसका यह स्पष्ट आशय है कि वह अग्निमे पके हुए अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक हुए कन्दमूलादिक खा सकता है और साथ ही यह निष्कर्ष भी निकलता है कि पाँचवे दर्जेसे पहलेके चार दर्जो (प्रतिमाओ) वाले श्रावक कन्दमूलादिकको कच्चे अथवा अप्रासुक (सचित्त) रूपमे भी खा सकते हैं :—

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि ।
नाऽऽमानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥

आलूकी गणना कन्दोमे होनेसे, ऊपरके आचार्यप्रवर-वाक्यसे यह साफ जाना जाता है कि जैनधर्ममे आलूके भक्ष्याभक्ष्य-विषयमे एकान्त नही, किन्तु अनेकान्त है—प्रथम चार दर्जोके श्रावकोके लिये वह नियमितरूपसे त्याज्य न होनेके कारण कच्ची, पक्की आदि सभी अवस्थाओमें भक्ष्य है। इन्द्रियसंयमको लेकर स्वेच्छासे

त्यागे जानेकी बात दूसरी है, उस दृष्टिसे अच्छेसे अच्छे पदार्थका खाना भी छोड़ा जा सकता है। शेष ऊपरके सात दर्जोंवाले श्रावकोंके लिये वह कच्ची दशामें अभक्ष्य है; किन्तु अग्निपक्व अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक होनेकी अवस्थामें अभक्ष्य नहीं है।

इसके सिवाय '**मूलाचार**' नामक अति प्राचीन मान्य ग्रन्थ और उसकी 'आचारवृत्ति' टीकामे मुनियोके लिये भक्ष्याऽभक्ष्यकी व्यवस्था बतलाते हुए जो दो गाथाएँ दी है वे टीकासहित इस प्रकार हैं :—

फल-कंद-मूल-बीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छिंति ते धीरा॥ ६-५९॥

टीका—**फलानि कन्दमूलानि बीजानि अग्निपक्वानि न भवन्ति यानि अन्यदपि आमकं यत्किंचिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छंति नाभ्युपगच्छंति ते धीरा इति।** यदशनीयं तदाह :—

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति॥

टीका—**यद्भवत्यबीजं निर्बीजं निर्वर्तिमं निर्गतमध्यसारं प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्ति।** (६-६०)

इन दोनो गाथाओमेसे पहली गाथामे मुनिके लिये '**अभक्ष्य क्या है**' और दूसरीमे '**भक्ष्य क्या है**' इसका कुछ विधान किया है। पहली गाथामे लिखा है कि—'जो फल, कन्द, मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नही हैं और जो भी कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको अनशनीय (**अभक्ष्य**) समझकर वे धीर मुनि भोजनके लिये ग्रहण नही करते हैं। दूसरी गाथामे यह बतलाया है कि—जो बीजरहित हैं, जिनका मध्यसार (जलभाग ?) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किये गये हैं ऐसे सब खानेके पदार्थों

(वनस्पति-द्रव्यों)को भक्ष्य समझकर मुनि लोग भिक्षामें ग्रहण करते हैं।

मूलाचारके इस सम्पूर्ण कथनपरसे यह बिल्कुल स्पष्ट है और अनशनीय कन्द-मूलोंका '**अनग्निपक्व**' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कन्दमूल नहीं खाते, परन्तु अग्निमें पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये कन्द-मूल वे जरूर खा सकते हैं। दूसरी गाथामें प्रासुक (अचित्त) किये हुए पदार्थोंको भी भोजनमे ग्रहण कर लेनेका उनके लिये विधान किया गया है। यद्यपि अग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कहीं अधिक बढी हुई है। उसमें सुखाए, तपाए, खटाई-नमक मिलाए और यन्त्रादिकसे छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त वनस्पति-पदार्थ भी शामिल होते हैं, जैसा कि ऊपर दी हुई '**सुक्कं पक्कं तत्तं**' इत्यादि प्राचीन गाथासे प्रकट है।

इस तरह जब त्रस-स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाके पूर्ण त्यागी महाव्रती मुनि भी अग्नि-पक्व अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक आलू आदि कन्द-मूल खा सकते हैं तब अणुव्रती गृहस्थ श्रावक[1], जो स्थावरकायकी (जिसमें सब वनस्पतिगर्भित हैं) हिंसाके तो त्यागी ही नही होते और त्रसकाय-जीवोकी हिंसा भी प्राय: संकल्पी ही छोड़ते हैं, कन्दमूलादिकके सर्वथा त्यागी कैसे हो सकते हैं ? इसे विचारशील पाठकोंको स्वयं समझ लेना चाहिये और इसलिये भोगोपभोग-परिमाण-व्रतके कथनमें जहाँ अल्पफल-

१. दसवी प्रतिमा तकके श्रावक गृहस्थ श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकोंके लिये 'गृहतो मुनिवनमित्वा' इत्यादि वाक्यों-द्वारा घर छोड़नेके विधान हैं।

बहुविघातकी दृष्टिसे सामान्य शब्दोमे ऐसे कन्द-मूलोंके त्यागका परामर्श दिया गया है, जो अनन्तकाय हैं, वहाँ भी अनग्निपक्व कच्चे तथा अप्रासुक कन्द-मूलोंके त्यागका ही परामर्श है—अग्नि-पक्व तथा अन्य प्रकारसे प्रासुक एव अचित्त हुए कन्दमूलोंके त्यागका नही, ऐसा समझना चाहिये। आगमकी दृष्टि और नय-विवक्षाको साथमें न लेकर यों ही शब्दार्थ कर डालना भूल तथा गलतीसे खाली नही है। अग्निमे पके अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक हुए कन्द-मूल अनन्तकाय (अनन्त जीवोंके आवास) तो क्या, सचित्त—एक जीवसे युक्त भी नही रहते। फिर उनके सेवन-सम्बन्धमे हिंसा, पाप, दोष तथा अभक्ष्य-भक्षण जैसी कल्पनाएँ कर डालना कहाँ तक न्यायसंगत है? इसे विवेकी जन स्वयं समझ सकते हैं।

जैन-समाजमे कन्दमूलादिका त्याग बडा ही विलक्षण रूप धारण किये हुए है। हल्दी, सोठ तथा दवाई आदिके रूपमे सूखे कन्दमूल तो प्राय. सभी गृहस्थ खाते हैं। परन्तु अधिकाश श्रावक अग्निपक्व तथा अन्य प्रकारसे प्रासुक होते हुए भी गीले, हरे, कन्द-मूल नही खाते। ऐसे लोगोका त्याग शास्त्रविहित मुनियोके त्यागसे भी बढा चढ़ा है!! बहुतसे श्रावक सिद्धान्त तथा नीति पर ठीक दृष्टि न रखते हुए स्वेच्छासे त्याग-ग्रहणका मार्ग अगीकार करते हैं—अर्थात् कितने ही लोग मूली तो खाते हैं, परन्तु उसका सजातीय पदार्थ शलजम नही खाते; अदरक और शकरकन्द तो खाते हैं, परन्तु आलू और गाजर नही खाते। अथवा आलूको तो '**शाकराज**' कहकर खाते हैं, परन्तु दूसरे कितने ही कन्द-मूल नही खाते। और अधिकाश श्रावक कन्द-मूलको अनन्तकाय समझकर ही उनका त्याग करते हैं, परन्तु अनन्त-

कायका ठीक विवेक नहीं रखते—प्रायः रूढ़ि-रिवाज अथवा रूढ़ियोंसे बना हुआ समाजका वातावरण ही उनका पथ-प्रदर्शन करता है। यह सब देखकर आजसे कोई २३ वर्ष पहले ता० २ अक्तूबर १९२० को, अपने ही सम्पादकत्वमे प्रकाशित होनेवाले 'जैन-हितैषी'के संयुक्ताङ्क नं० १०-११ में, मैंने '**शास्त्रीयचर्चा**' नामसे एक लेखमाला प्रारम्भ की थी, जिसमे इस विषयपर दो लेख लिखे थे—(१) क्या मुनि कन्द-मूल खा सकते हैं? (२) क्या सभी कन्द-मूल अनन्तकाय होते हैं? पहले लेखका अधिकाश विषय इस लेखमें आ गया है। दूसरे लेखमे गोम्मटसार और मूलाचार जैसे प्रामाणिक ग्रन्थो के आधारपर यह सिद्ध किया गया था कि—

"सभी कन्द-मूल अनन्तकाय नहीं होते और न सर्वाङ्ग रूपमें ही अनन्तकाय होते हैं और न अपनी सारी अवस्थाओंमें अनन्तकाय रहते हैं। बल्कि वे प्रत्येक (एकजीवाश्रित) और अनन्तकाय (साधारण) दोनों प्रकारके होते हैं। किसीकी छाल ही अनन्तकाय होती है, भीतरका भाग नही और किसीका भीतरी भाग ही अनन्तकाय होता है तो छाल अनन्तकाय नहीं होती, कोई बाहर-भीतर सर्वाङ्ग रूपसे अनन्तकाय होता है और कोई इससे बिलकुल विपरीत क़तई अनन्तकाय नहीं होता, इसी तरह एक अवस्थामें जो प्रत्येक है वह दूसरी अवस्थामें अनन्तकाय हो जाता है और जो अनन्तकाय होता है वह प्रत्येक बन जाता है। प्रायः यही दशा दूसरी प्रकारकी वनस्पतियोंकी है। वे भी प्रत्येक और अनन्तकाय दोनों प्रकारकी होती हैं—आगममें उनके लिये भी उन दोनों भेदोंका विधान किया गया है, जैसा कि ऊपरके[1] (गोम्मटसारके) वाक्योंसे

१. यहाँ गोम्मटसारके जिन वाक्योकी ओर संकेत किया गया है वे इस प्रकार हैं :—

ध्वनित है और मूलाचारकी निम्न गाथाओंसे भी प्रकट है, जिनमें पहली गाथा गोम्मटसारमें भी नं० १८५ पर पायी जाती है :—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीज–बीजरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेया णंतकाया य ॥ २१२ ॥
कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल-पुप्फ-फलं ।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥ २१३॥

ऐसी हालतमें कन्द-मूलों और दूसरी वनस्पतियोंमें अनन्तकायकी दृष्टिसे आमतौरपर कोई विशेष भेद नहीं रहता ।"

साथ ही कन्द-मूलके त्यागियोंको चेतावनी देते हुए लिखा था—

"अतः जो लोग अनन्तकायकी दृष्टिसे कच्चे कन्द-मूलोंका त्याग करते हैं उन्हें इस विषयमें बहुत-कुछ सावधान होनेकी जरूरत है। उनका सम्पूर्ण त्याग विवेकको लिये हुए होना चाहिये। अविवेकपूर्वक जो त्याग किया जाता है वह काय-कष्टके सिवाय किसी विशेष फलका दाता नहीं होता। उन्हें कन्द-मूलोंके नामपर ही भूलकर सबको एकदम अनन्तकाय न समझ लेना चाहिये। बल्कि इस बातकी जाँच करनी चाहिये कि कौन-कौन कन्द-मूल अनन्तकाय हैं और कौन-कौन अनन्त-काय नहीं हैं, किस कन्द-मूलका कौन-सा अवयव (अंग) अनन्तकाय है और कौनसा अनन्तकाय नहीं है। साथ ही यह

मूले कन्दे छल्ली पवाल-साल-दल-कुसुम-फल-बीजे ।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८७ ॥
कंदस्स व मूलस्स व साखा खंधस्स वा वि बहुलतरी ।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८ ॥
बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा ।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥ १८९ ॥

भी देखना चाहिये कि किस-किस अवस्थामें अनन्तकाय होते हैं और किस-किस अवस्थामें अनन्तकाय नहीं रहते। अनेक वनस्पतियाँ भिन्न-भिन्न देशोंकी अपेक्षा जुदा-जुदा रंग, रूप, आकार, प्रकार और गुण-स्वभावको लिये हुए होती हैं। बहुतोंमें वैज्ञानिक रीतिसे अनेक प्रकारके परिवर्तन कर दिये जाते हैं। नाम-साम्यादिकी वजहसे उन सबको एक ही लाठीसे नहीं हाँका जा सकता[1]। संभव है एक देशमें जो वनस्पति अनन्तकाय हो, दूसरे देशमें वह अनन्तकाय न हो अथवा उसका एक भेद अनन्तकाय हो और दूसरा अनन्तकाय न हो। इन तमाम बातोंकी विद्वानोंको अच्छी जाँच-पड़ताल (छानबीन) करनी चाहिये और जाँचके द्वारा जैनागमका स्पष्ट व्यवहार लोगोंको बतलाना चाहिये।"

इसके सिवाय आगमकी कसौटीके अनुसार उक्त लेखमें दो-एक कन्द-मूलोंकी सरसरी जाँच भी दी थी और विद्वानोंको विशेष जाँचके लिए प्रेरित भी किया था।

इस प्रकारकी शास्त्रीय-चर्चाओंसे प्रभावित होकर ग्यारहवीं प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावक ऐलक पन्नालालजीने अपने पिछले जीवनमे अग्निपक्व प्रासुक आलूका खाना प्रारम्भ कर दिया था, जिसकी पत्रोमे कुछ चर्चा भी चली थी।

जान पड़ता है ऐलकजीको जब यह मालूम हुआ होगा कि यह कन्द-मूल-विषयक त्यागभाव जिस श्रद्धाको लेकर चल रहा है वह जैन-आगमके अनुकूल नही है और आगममे यह भी लिखा है कि किसीके गलत बतलाने, समझाने और गलत समझ लेनेके कारण यदि किसी शास्त्रीय-विषयमे अन्यथा श्रद्धा चल

---

१. जैसे टमाटर और बैंगनको एक नहीं कहा जा सकता। गोभी नामके कारण गाठगोभी और बन्दगोभीको फूलगोभीके समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

रही हो उसका शास्त्रसे भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाने पर भी यदि कोई उसे नहीं छोड़ता है तो वह उसी वक्तसे मिथ्यादृष्टि[1] है। तभी उन्होने अपने पूर्वके त्यागभावमे सुधार करके उसे आगमके अनुकूल किया होगा।

उक्त शास्त्रीय-चर्चाके लिखे जानेसे कई वर्ष पहले पं० उमरावसिह (ब्र० ज्ञानानन्दजी) सलावा (मेरठ) निवासी जब मेरी दलीलोसे क़ायल हो गये और उन्हें कन्द-मूल-विषयमे अपनी पूर्वश्रद्धाको स्थिर रखना आगमके प्रतिकूल जँचा तो उन्होने देवबन्दमे मेरी रसोईमे ही प्रासुक आलूका भोजन करके कन्द-मूलके त्याग-विषयमे अपने नियमका सुधार किया था।

जैन-समाजमे सैकड़ो बड़े-बड़े विद्वान् पंडित ऐसे हैं जो अनेक प्रकारसे कन्द-मूल खाते हैं—शास्त्रीय व्यवस्था और पद-विभाजनके अनुसार कन्द-मूल खानेमे कोई दोष भी नही समझते। परन्तु उनमे बहुतमे ऐसे भी हैं जो घर पर तो खुशीसे कन्द-मूल खाते हैं, परन्तु बाहर जानेपर कन्द-मूलके त्यागका प्रदर्शन करके अपनी कुछ शान बनाना चाहते हैं, यह प्रवृत्ति अच्छी नही। दूसरे शब्दोमे, इसे यो कहना चाहिये कि वे रूढिभक्तोके सामने सीधा खडा होनेमे असमर्थ होते हैं। और यह एक प्रकारका मानसिक दौर्बल्य है, जो विद्वानोको शोभा नही देता। उनके इस मानसिक दौर्बल्यके कारण ही समाजमे कितनी ही ऐसी

---

१. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥२८॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड

रूढ़ियाँ पनप रही हैं जिनके लिए शास्त्रका ज़रा भी आधार प्राप्त नही है और जो कितने ही सद्धर्मोका स्थान रोके हुए हैं !! विद्वानोको शास्त्रीय-विषयोंमे ज़रा भी उपेक्षासे काम नही लेना चाहिये। निर्भीक होकर शास्त्रकी बातोंको जनताके सामने रखना उनका खास कर्तव्य है। किसी भी लौकिक स्वार्थके वश होकर इस कर्तव्यसे डिगना नही चाहिये और न सत्यपर पर्दा ही डालना चाहिये। जनताकी हाँ में हाँ मिलाना अथवा मुँहदेखी बात कहना उनका काम नही है। उन्हें तो भोली एवं रूढ़ि-ग्रसित अज्ञ-जनताका पथ-प्रदर्शक होना चाहिये। यही उनके ज्ञानका सदुपयोग है।

जो लोग रूढ़ि-भक्ति के वश होकर रूढ़ियोंको धर्मके आसन पर बिठलाए हुए हैं, रूढ़ियोंके मुकाबलेमें शास्त्रकी बात सुनना नही चाहते, शास्त्राज्ञाको ठुकराते अथवा उसकी अवहेलना करते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है और उनकी ऐसी स्थिति निःसन्देह बहुत ही दयनीय है। उनको समझना चाहिये कि आगममें सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्रको मिथ्याचारित्र और संसार-परिभ्रमण-का कारण बतलाया है। अतः उनका आचरण मात्र रूढ़ियोंका अनुधावन न होकर विवेककी कसौटी पर कसा हुआ होना चाहिये और इसके लिये उन्हें अपने हृदयको सदा ही शास्त्रीय चर्चाओके लिए खुला रखना चाहिये और जो बात युक्ति तथा आगमसे ठीक जँचे उसके मानने और उसके अनुसार अपने आचार-विचारको परिवर्तित करनेमे आनाकानी न करनी चाहिये; तभी वे उन्नतिके मार्गपर ठीक तौर पर अग्रसर हो सकेंगे और तभी धर्म-साधनाका यथार्थ फल प्राप्त कर सकेंगे।

—अनेकान्त वर्ष ६, किरण १०-११, ८-२-१९४४

जैनागम और यज्ञोपवीत

पं० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर सिवनीका **'जैनागम और यज्ञोपवीत'** नामका जो लेख **'अनेकान्त'**के छठे वर्षकी ६वी किरणमें प्रकाशित हुआ है, उस पर विचार :—

उक्त लेखमे विद्वान् लेखकने भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदि-पुराणके जिन वाक्योको आगमप्रमाणके रूपमे उपस्थित किया है वे विवादापन्न कोटिमें स्थित हैं और इसलिए उस वक्त तक प्रमाणमे उपस्थित किये जानेके योग्य नही, जब तक विपक्षकी ओरसे यह कहा जाता है कि **'दक्षिणदेशकी तत्कालीन परिस्थितिके वश मुख्यतः श्रीजिनसेनाचार्यने यज्ञोपवीत (जनेऊ) को अपनाकर उसे जैनाचारमें दाखिल किया है—उनके समयसे पहले प्राय: ऐसा नहीं था और न दूसरे देशोंमें ही वह जैनाचार-का कोई आवश्यक अंग समझा जाता था ।'**

श्रीजिनसेनाचार्यके विषयमे दूसरे पक्षके कथनका उल्लेख करके जो यह कहा गया है कि—**"इस कथनके बारेमें क्या कहा जाय जो भगवत् जिनसेन जैसे महापुरुषकी बातको भी अपने पक्षविशेषके प्रेमवश उड़ा देनेका अद्‌भुत तरीका अंगीकार करते हैं । वीतराग निस्पृह उदात्तचरित्र महापुरुष अपनी ओर-से आगममें मिश्रण करके उसे महावीर-वाणीकी परम्परा कहें यह बात तो समझमें नहीं आती"** । इसे यदि लेखकमहोदय न कहते तो ज्यादा अच्छा होता । क्योंकि इस प्रकारके अवसर पर ऐसी श्रद्धा-विषयक बाते कहना अप्रासंगिक जान पड़ता है और वह प्राय: बिना युक्तिके ही अपनी बातको मान लेनेकी ओर

अपील करता है। कमसे कम जिन विद्वानोंने जैनाचार्योंके शासन-भेदके इतिहासका अध्ययन किया है वे तो ऐसा नहीं कहेंगे। उन्हें तो इतिहासपरसे इस बातका अनुभव होना भी स्वाभाविक है कि समय-समयपर कितनी ही लौकिक विधियोंको जैनाचारमें शामिल किया गया है और फिर बादको उनके संरक्षणार्थ **'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥'** ऐसे-ऐसे वाक्योंकी सृष्टि हुई है। अस्तु, यदि विद्वान लेखकको इस विषयमें दूसरोंको चैलेज करना इष्ट हो तो वे खुले तथा स्पष्ट शब्दोंमें चैलेज करे; तभी दूसरे विद्वान् उसपर गम्भीरता तथा गहरे अनुसंधानके साथ विचार कर सकेंगे और साथ ही **'आगममें मिश्रण'** तथा **'महावीर-वाणीकी परम्परा'** इन सबके मर्मका उद्घाटन भी कर सकेंगे।

कविवर पं० बनारसीदासजीके अर्धकथानक-वाक्योंको उद्धृत करके जो कुछ कहा गया है और उसमें चारित्रमोहनीयके उदयतककी कल्पना की गई है वह भी ऐसा ही कुछ अप्रासंगिक जान पड़ता है। अर्धकथानकके उन वाक्योंपरसे और चाहे कुछ फलित होता हो या न होता हो पर इतना तो स्पष्ट है कि कविवर जनेऊको विप्रवेषका अंग समझते थे—जैनवेषका नहीं, और जिस देश (उ० प्रशदे) में वे रह रहे थे वहाँ जनेऊ विप्रसंस्कृतिका अंग समझा जाता था—जैनसंस्कृतिका नही। तभी उन्होंने अपनेको ब्राह्मण प्रगट करनेके लिए जनेऊको अपनाया था। फिर उनकी कथनीके इस सत्यको यों ही इधर-उधरकी बातोंमें कैसे उड़ाया जा सकता है ?

आदि पुराणके वाक्योंको अलग कर देनेपर लेखमें केवल एक

ही आगम प्रमाण विचारके लिये अवशिष्ट रह जाता है और वह है तिलोयपण्णत्तीका वाक्य । इस वाक्यमे भोगभूमियोंके आभरणोंका उल्लेख करते हुए 'ब्रह्मसूत्र' नामका भी एक आभरण (आभूषण) बतलाया है और वह मुकुट, कुण्डल, हार, मेखलादि जिन ज़ेवरोके साथमे उल्लिखित है उन्हीकी कोटिका कोई ज़ेवर मालूम होता है, सूतके धागोंसे विधिपूर्वक बना हुआ यज्ञोपवीत (जनेऊ) नही—भले ही ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीतको भी कहते हों; क्योकि भोगभूमिमे उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार नही होता है । भोगभूमियोमे तो कोई व्रत भी नही होता और यज्ञोपवीतको स्वय जिनसेनाचार्यने व्रतचिह्न बतलाया है, जैसा कि आदि-पुराण (पर्व ३८,३९)के निम्न वाक्योसे प्रगट है :—

"व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं......................."

"व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् ।"

"व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम् ।"

ऐसी हालतमें **"केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद्विभूषणम्"** (३-२७) इस वाक्यके द्वारा जिनसेनाचार्यने भोगभूमियोके आभूषणोंमे जिस ब्रह्मसूत्रका उल्लेख किया है वह व्रतचिह्नवाला तथा मन्त्रपुरस्सर दिया-लिया हुआ यज्ञोपवीत नही हो सकता । वह तो भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्षो द्वारा दिया हुआ एक प्रकारका आभूषण है—ज़ेवर है ।

भगवान वृषभदेव और भरतेश्वरके आभूषणोंका वर्णन करनेवाले श्रीजिनसेनके जिन वाक्योंको लेखमे उद्धृत किया गया है उनमें भी जिस ब्रह्मसूत्रका उल्लेख है वह भी उसी आकार-

प्रकारका जेवर है जिसे भोगभूमिया लोग पहनते थे'। श्री वृषभदेवके पिता और भरतेश्वरके पितामह नाभिराय भोग-भूमिया ही थे—कर्मभूमिका प्रारम्भ यहाँ वृषभदेवसे हुआ है। भ० वृषभदेव और भरतचक्रीके यज्ञोपवीत-संस्कारका तो कोई वर्णन भगवज्जिनसेनके आदिपुराणमें भी नहीं है। आदिपुराणके कथनानुसार भरतचक्रवर्तीने दिग्विजयादिके अनन्तर जब वृषभ-देवकी वर्ण-व्यवस्थासे भिन्न ब्राह्मण वर्णकी नई स्थापना की तबसे व्रतचिह्नके रूपमें यज्ञोपवीतकी सृष्टि हुई। ऐसी हालतमें व्रतावतरण-विषयक मान्यताको भ्रमपूर्ण बताते हुए विद्वान् लेखकने जो यह लिखा है कि "**भरत महाराजने गृहस्थका पद स्वीकार करके जब दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया था तब भी उनके शरीरपर जिनसेनके शब्दोंमें यज्ञोपवीत था**" और उसके द्वारा यह बतलाना चाहा है कि व्रतावतरण क्रियाके अवसरपर भरतने यज्ञोपवीत नहीं उतारा वह कुछ संगत मालूम नहीं होता। क्योंकि इस कथनसे पहले यह सिद्ध होना आवश्यक है कि दिग्विजयको निकलनेसे पहले भरतका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ था, जो सिद्ध नहीं है। जब यज्ञोपवीत-संस्कार ही नहीं तब भरतके व्रतावतरणकी बात ही कैसे बन सकती है? जिनसेनने तो उक्त अवसरपर भी भरतके शरीरपर (पर्व २६) दूसरे स्थानकी तरह उसी ब्रह्मसूत्र नामके आभूषणका उल्लेख किया है।

इसके सिवाय लेखकने व्रतातरण-क्रियामें सार्वकालिक व्रत-

---

१. इसीसे भ० वृषभदेवके आभूषणोंका वर्णन करते हुए यह भी लिखा है कि उन आभूषणोंसे वे भूषणाङ्ग-कल्पवृक्षके समान शोभते थे :—

इति प्रत्यङ्ग-सङ्गिन्या बभौ भूषण-सम्पदा।
भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणाङ्ग इवांध्रिपः॥ —१६-२३८

नियमोंके अक्षुण्ण रहनेकी जो बात कही है वह तो ठीक है, परन्तु उन व्रत-नियमोंमें यज्ञोपवीतकी गणना नहीं है—उनमें मधु-मांसादिके त्यागरूप वे ही व्रत परिगृहीत हैं जो गृहस्थ-श्रावकोंके (अष्ट) मूलगुण कहलाते हैं, जैसा कि जिनसेनके ही निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

> **यावद्विद्या समाप्तिः स्यात्तावदस्येदृशं व्रतम् ।**
> **ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत्स्याद्यन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥ ११८ ॥**
> **मधुमांस-परित्यागः पञ्चोदुम्बर-वर्जनम् ।**
> **हिंसादि-विरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥ १२३ ॥**

ऐसी हालतमें लेखकमहोदयने उन सार्वकालिक व्रतोंमें यज्ञोपवीतकी कैसे और किस आधारपर गणना कर ली वह कुछ समझमे नही आता !! दूसरोकी मान्यताको भ्रमपूर्ण बतलानेमे तो कोई प्रबल आधार होना चाहिये, ऐसे कल्पित आधारोसे तो काम नही चल सकता ।

इस तरह जिनसेनके जिन वाक्योको लेखमें आगम-प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है वे विचारकी दूसरी दृष्टिसे भी अग्राह्य हैं, और इसलिये उनसे लेखककी इष्ट-सिद्धि अथवा उनके प्रतिपाद्य विषयका समर्थन नही होता । त्रिलोकप्रज्ञप्तिका प्रमाण भी प्रकृत-विषयके समर्थनमे असमर्थ है । उन्हें तो इसके लिये ऐसे प्रमाणोको उपस्थित करना चाहिये था जिनका यज्ञोपवीत-संस्कारके साथ सीधा स्पष्ट सम्बन्ध हो और जो भगवज्जिनसेनसे पूर्वके साहित्यमे पाये जाते हो ।

विपक्षकी ओरसे यह कहा जाता है कि उक्त जिनसेनसे पहलेके बने हुए '**पद्मपुराण**'मे श्रीरविषेणाचार्यने ब्राह्मणोंको '**सूत्रकण्ठाः**'—गलेमे तागा डालनेवाले—जैसे उपहासास्पद या हीनता-द्योतक (हिकारतके) शब्दोमें उल्लेखित किया है । यदि

उस समय तक जैनियोंमें जनेऊका रिवाज हुआ होता अथवा वह जैनसंस्कृतिका अंग होता तो श्रीरविषेण ब्राह्मणोके लिये ऐसे हीन पदोंका प्रयोग न करते जिससे जनेऊकी प्रथा अथवा जनेऊ-धारकोंका ही उपहास होता हो। इसके उत्तरमें विद्वान् लेखकने अपने लेखमे कुछ नही लिखा और न रविषेणाचार्यसे भी पूर्वके किसी जैनागममें यज्ञोपवीत-संस्कारके स्पष्ट विधानका कोई उल्लेख ही उपस्थित किया है।

लेखके अन्तमें यज्ञोपवीतको "**जैनसंस्कृति और जैनधर्मका आवश्यक अंग**" बतलाया है। लेकिन वास्तवमें यज्ञोपवीत यदि जैनसंस्कृति और जैनधर्मका आवश्यक अंग होता तो कमसे कम जैनधर्मके उन आचारादि-विषयक प्राचीन ग्रन्थोंमे उसका विधान जरूर होता जो उक्त जिनसेनाचार्यसे पहलेके बने हुए हैं। ऐसे ग्रन्थोसे श्री वट्टकेरका मूलाचार, कुन्दकुन्दाचार्यका प्रवचनसार तथा चारित्तपाहुडादिक, स्वामी समन्तभद्रका **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, उमास्वामीका **तत्त्वार्थसूत्र**, शिवार्यकी **भगवती आराधना**, पूज्य-पादकी **सर्वार्थसिद्धि**, अकलंकदेवका **तत्त्वार्थराजवार्तिक** और विद्यानन्दका **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**, ये ग्रन्थ खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इनमें कही भी मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्मके धारकोंके लिये व्रतादिकी तरह यज्ञोपवीतकी कोई विधि-व्यवस्था नही है। श्री रविषेणके पद्मपुराण और द्वि० जिनसेनके हरिवंशपुराणमे सैकडो जैनियोंकी कथाएँ हैं, उनमेंसे किसीके यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत होनेका उल्लेख तक भी नही है। ऐसी हालतमें यज्ञो-पवीतको जैनधर्मका कोई आवश्यक अंग नही कहा जा सकता और न यह जैनसंस्कृतिका ही कोई आवश्यक अंग जान पड़ता है।

—अनेकान्तवर्ष ६ कि० ६, १२-४-१९४४

जैनतीर्थङ्करोंके दिव्य-समवसरणमें, जहाँ सभी भव्यजीवों-को लक्ष्यमें रखकर उनके हितका उपदेश दिया जाता है, प्राणीमात्रके कल्याणका मार्ग सुझाया जाता है और मनुष्यों-मनुष्योंमें कोई जाति-भेद न करके राजा-रङ्क सभी गृहस्थोंके बैठनेके लिये एक ही **वलयाकार** मानवकोठा नियत रहता है; जहाँके प्रभावपूर्ण वातावरणसे परस्परके वैरभाव और प्राकृतिक जातिविरोध तकके लिये कोई अवकाश नही रहता; जहाँ कुत्ते-बिल्ली, शेर-भेड़िये, साँप-नेवले, गधे-भैंसे जैसे जानवर भी तीर्थङ्करकी दिव्यवाणीको सुननेके लिए प्रवेश पाते हैं और सब मिलजुलकर एक ही नियत पशुकोठेमें बैठते हैं, जो अन्तका १२वाँ होता है, और जहाँ सबके उदय-उत्कर्षकी भावना एवं साधनाके रूपमे अनेकान्तात्मक 'सर्वोदय तीर्थ' प्रवाहित होता है वहाँ श्रवण, ग्रहण तथा धारणकी शक्तिसे सम्पन्न होते हुए भी शूद्रोके लिए प्रवेशका 'द्वार एकदम बन्द होगा, इसे कोई भी सहृदय विद्वान अथवा बुद्धिमान माननेके लिये तैयार नही हो सकता। परन्तु जैनसमाजमें ऐसे भी कुछ पण्डित हैं जो अपने अद्भुत विवेक, विचित्र संस्कार अथवा मिथ्या धारणाके वश ऐसी अनहोनी बातको भी माननेके लिये प्रस्तुत हैं, इतना ही नहीं, बल्कि अन्यथा प्रतिपादन और गलत प्रचारके द्वारा भोले भाइयों-की आँखोंमें धूल झोंककर उनसे भी उसे मनवाना चाहते हैं। और इस तरह जाने-अनजाने जैन-तीर्थङ्करोंकी महती उदार-सभाके आदर्शको गिरानेके लिये प्रयत्नशील हैं। इन पण्डितोंमें

अध्यापक मङ्गलसेनजीका नाम यहाँ खासतौरसे उल्लेखनीय है, जो अम्बाला छावनीकी पाठशालामें पढ़ाते हैं। हालमें आपका एक सवा दो पेजी लेख मेरी नजरसे गुजरा है, जिसका शीर्षक है "१०० रुपयेका पारितोषिक—सुधारकोंको लिखित शास्त्रार्थका खुला चैलेंज" और जो 'जैन बोधक' वर्ष ६३ के २७वें अङ्कमें प्रकाशित हुआ है। इस लेख अथवा चैलेंजको पढ़कर मुझे बड़ा कौतुक हुआ और साथ ही अध्यापकजीके साहसपर कुछ हँसी आई। क्योंकि लेख पद-पदपर स्खलित है—स्खलित भाषा, अशुद्ध उल्लेख, गलत अनुवाद, अनोखा तर्क, प्रमाण-वाक्य कुछ, उनपरसे फलित कुछ, और इतनी असावधान लेखनीके होते हुए भी चैलेंज का दु:साहस ! इसके सिवाय, खुद ही मुद्दई और खुद ही जज बननेका नाटक अलग !! लेखमें अध्यापकजीने बुद्धिबलसे काम न लेकर शब्दच्छलका आश्रय लिया है और उसीसे अपना काम निकालना अथवा अपने किसी अहंकारको पुष्ट करना चाहा है; परन्तु इस बातको भुला दिया है कि कोरे शब्दच्छलसे काम नहीं निकला करता और न व्यर्थका अहंकार ही पुष्ट हुआ करता है।

आप दूसरोंको तो यह चैलेंज देने बैठ गये कि वे आदिपुराण तथा उत्तरपुराण-जैसे आर्षग्रन्थोके आधारपर शूद्रोंका समवसरणमें जाना, पूजा-वन्दना करना तथा श्रावकके बारह व्रतोंका ग्रहण करना सिद्ध करके बतलाएँ और यहाँ तक लिख गये कि "जो महाशय हमारे नियमके विरुद्ध कार्य कर समाधानका प्रयत्न करेंगे (दूसरे आर्षादि ग्रन्थोंके आधारपर तीनों बातोंको सिद्ध करके बतलायेंगे) उनके लेखको निस्सार समझ उसका उत्तर भी नहीं दिया जावेगा।" परन्तु स्वयं आपने उक्त दोनों ग्रन्थोंके

आधारपर अपने निषेध-पक्षको प्रतिष्ठित नहीं किया—उनका एक भी वाक्य उसके समर्थनमें उपस्थित नहीं किया, उसके लिये आप दूसरे ही ग्रन्थोंका गलत आश्रय लेते फिरे हैं जिनमें एक **'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार'** जैसा अनार्ष ग्रन्थ भी शामिल है, जो विक्रमकी १६वीं शताब्दीके एक पण्डित मेधावीका बनाया हुआ है। यह है अध्यापकजीके न्यायका एक नमूना, जिसे आपने स्वयं जजका जामा पहनकर अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा है और यह घोषित किया है कि "इस चैलेंजका लिखित उत्तर सीधा हमारे पास ही आना चाहिये अन्यथा लेखोके हम जिम्मेवार नहीं होगे।"

इसके सिवाय, लेखमे सुधारकोंको **'आगमके विरुद्ध कार्य करनेवाले'**, **जनताको धोखा देनेवाले'** और **'काली करतूतों वाले'** लिखकर उनके प्रति जहाँ अपशब्दोंका प्रयोग करते हुए अपने हृदय-कालुष्यको व्यक्त किया है वहाँ उसके द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया है कि आप सुधारकोंके किसी भी वाद या प्रतिवादके सम्बन्धमें कोई जजमेंट (फैसला) देनेके अधिकारी अथवा पात्र नही हैं।

गालबन इन्ही सब बातों अथवा इनमेंसे कुछ बातोको लक्ष्यमे लेकर ही विचार-निष्ठ विद्वानोने अध्यापकजीके इस चैलेज-लेखको विडम्बना-मात्र समझा है और इसीसे उनमेसे शायद किसीकी भी अब तक इसके विषयमें कुछ लिखनेकी प्रवृत्ति नहीं हुई; परन्तु उनके इस मौन अथवा उपेक्षाभावसे अनुचित लाभ उठाया जा रहा है और अनेक स्थलों पर उसे लेकर व्यर्थकी कूद-फाँद और गल-गर्जना की जाती है। यह सब देखकर ही आज मुझे अवकाश न होते हुए भी लेखनी उठानी पड़ रही

है। मैं अपने इस लेख-द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अध्यापकजीका चैलेंज कितना बेहूदा, बेतुका तथा आत्मघातक है और उनके लेखमें दिये हुए जिन प्रमाणोंके बलपर कूदा जाता है अथवा अहंकारपूर्ण बातें की जाती हैं वे कितनी निःसार, निष्प्राण एवं असङ्गत हैं और उनके आधारपर खड़ा हुआ किसी का भी अहङ्कार कितना बेकार है।

उक्त चैलेंज-लेख सुधारकोंके साथ आमतौरपर सम्बद्ध होते हुए भी खासतौरपर तीन विद्वानोंको लक्ष्यमें लेकर लिखा गया है—तीन ही उसमे नम्बर हैं। पहले नम्बरपर व्याकरणाचार्य पं० बन्शीधरजी का नाम है, दूसरे नम्बरपर मेरा नाम (जुगलकिशोर) **'सुधारकशिरोमणि'** के पदसे विभूषित! और तीसरे नम्बरपर **'सम्पादक जैनमित्रजी'** ऐसा नामोल्लेख है। परन्तु इस चैलेंजकी कोई कापी अध्यापकजीने मेरे पास भेजनेकी कृपा नही की। दूसरे विद्वानोके पास भी वह भेजी गई या नहीं, इसका मुझे कुछ पता नही, पर खयाल यही होता है कि शायद उन्हें भी मेरी तरह नही भेजी गई है और यों ही—सम्बद्ध बिद्वानोंको खासतौरपर सूचित किये बिना ही—चैलेंजको चरितार्थ हुआ समझ लिया गया है! अस्तु।

लेखमे व्याकरणाचार्य पं० बन्शीधरजीका एक वाक्य, कोई आठ वर्ष पहलेका, जैनमित्रसे उद्धृत किया गया है और वह निम्न प्रकार है—

"जब कि भगवानके समोशरणमें नीचसे नीच व्यक्ति स्थान पाते हैं तो समझमें नही आता कि आज दस्सा लोग उनकी पूजा और प्रक्षालसे क्यों रोके जाते हैं।"

इस वाक्यपरसे अध्यापकजी प्रथम तो यह फलित करते हैं

कि "दस्साओंके पूजनाधिकारको सिद्ध करनेके लिए ही आप (व्याकरणाचार्यजी) समोशरणमें शूद्रोंका उपस्थित होना बतलाते हैं।" इसके अनन्तर—"तो इसके लिए हम आदिपुराण और उत्तरपुराण आपके समक्षमे उपस्थित करते हैं" ऐसा लिखकर व्याकरणाचार्यजीको बाध्य करते हैं कि वे उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर "शूद्रोंका किसी भी तीर्थंकरके समोशरणमें उपस्थित होना प्रमाणो द्वारा सिद्ध करके दिखलावें।" साथ ही तर्कपूर्वक अपने जजमेंटका नमूना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा शूद्रोंका समोशरणमें जाना सिद्ध नही कर सके तो दस्साओंके पूजनाधिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा" और फिर पूछते हैं कि "सङ्गठनकी आड़ लेकर जिन दस्साओंको आपने आगमके विरुद्ध उपदेश देकर पूजनादिका अधिकारी ठहराया है उस पापका भागी कौन होगा?" इसके बाद, यह लिखकर कि "अब हम जिस आगमके विरुद्ध आपके कहनेको मिथ्या बतलाते हैं उसका एक प्रमाण लिखकर भी आपको दिखलाते हैं", जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणका '**पापशोला विकुर्वाणाः**' नामका एक श्लोक यह घोषणा करते हुए कि उसमें "भगवान नेमिनाथके समोशरणमें शूद्रोंके जानेका स्पष्टतया निषेध किया है" उद्धृत करते हैं और उसे ५६वें सर्गका १६०वाँ श्लोक बतलाते हैं। साथ ही पण्डित गजाधरलालजीका अर्थ देकर लिखते हैं—"हमने यह आचार्य वाक्य आपको लिखकर दिखलाया है आप अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों (आदिपुराण-उत्तरपुराण) के प्रमाणों द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खें।"

अध्यापकजीका यह सब लिखना अविचारितरम्य एवं घोर आपत्तिके योग्य है, जिसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

प्रथम तो व्याकरणचार्यजीके वाक्यपरसे जो अर्थ स्वेच्छापूर्वक फलित किया गया है वह उसपरसे फलित नही होता, क्योंकि ''शूद्रोंका **समोशरणमें** उपस्थित होना'' उसमें कहीं नहीं बतलाया गया—'**शूद्र**' शब्दका प्रयोग तक भी उसमें नही है। उसमें साफ तौरपर नीचसे नीच व्यक्तियोंके **समवसरणमें** स्थान पानेकी बात कही गई है और वे नीचसे नीच व्यक्ति '**शूद्र**' ही होते हैं ऐसा कहीं कोई नियम अथवा विधान नहीं है, जिससे 'नीचसे नीच व्यक्ति'का **वाच्यार्थ** 'शूद्र' किया जा सके। उसमें 'नीचसे नीच' शब्दोंके साथ '**मानव**' शब्दका भी प्रयोग न करके '**व्यक्ति**' शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। नीचसे नीच मानव भी एक मात्र शूद्र नहीं होते, नीचसे नीच व्यक्तियोंकी तो बात ही अलग है। 'नीचसे नीच व्यक्ति' शब्दोंका प्रयोग उन हीन तिर्यञ्चोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया जान पड़ता है जो **समवसरणमें** खुला प्रवेश पाते हैं। उनके इस प्रकट प्रवेशकी बातको लेकर ही बुद्धिको अपील करते हुए ऐसा कहा गया है कि जब नीचसे नीच तिर्यञ्च प्राणी भी भगवानके समवसरणमें स्थान पाते हैं तब दस्सा लोग तो, जो कि मनुष्य होनेके कारण तिर्यञ्चोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, समवसरणमें जरूर स्थान पाते हैं, फिर उन्हें भगवानके पूजनादिकसे क्यों रोका जाता है? खेद है कि अध्यापकजीने इस सहजग्राह्य अपीलको अपनी बुद्धिके कपाट बन्द करके उस तक पहुँचने नही दिया और दूसरेके शब्दोंको तोड़-मरोड़कर व्यर्थमें चैलेंजका षड्यन्त्र रच डाला !!

दूसरे, व्याकरणाचार्यजीको एक मात्र **आदि-पुराण** तथा **उत्तरपुराणके** आधारपर किसी तीर्थंकरके **समवसरणमें** शूद्रोंका उपस्थित होना सिद्ध करनेके लिये बाध्य करना किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जासकता; क्योंकि उन्होंने न शूद्रोंके **समवसरण प्रवेश**पर अपने पक्षको अवलम्बित किया है और न उक्त दोनों ग्रन्थोपर ही अपने पक्षका आधार रक्खा है। जब ये दोनों बातें नहीं तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अध्यापकजीकी दृष्टिमें उक्त दोनों ग्रन्थ ही प्रमाण हैं, दूसरा कोई जैनग्रन्थ प्रमाण नही है? यदि ऐसा है तो फिर उन्होंने स्वयं **हरिवंशपुराण** और **धर्मसंग्रहश्रावकाचारके** प्रमाण अपने लेखमें क्यों उद्धृत किये? यदि दूसरे जैनग्रन्थ भी प्रमाण हैं तो फिर एक मात्र **आदिपुराण** और **उत्तरपुराणके** प्रमाणोको उपस्थित करनेका आग्रह क्यो? और दूसरे ग्रंथोके प्रमाणोकी अवहेलना क्यो? यदि समान-मान्यता के ग्रन्थ होनेसे उन्हीपर **पक्ष-विपक्षके** निर्णयका आधार रखना था तो अपने निषेधपक्षको पुष्ट करनेके लिये भी उन्ही ग्रन्थोंपरसे कोई प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था; परन्तु अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये उनका कोई भी वाक्य उपस्थित नही किया गया और न किया जा सकता है; क्योकि उनमे कोई भी वाक्य ऐसा नही है जिसके द्वारा शूद्रोंका **समवसरणमें** जाना निषिद्ध ठहराया गया हो। और जब उक्त दोनों ग्रन्थोंमें शूद्रोंके **समवसरणमें** जाने-न-जाने सम्बन्धी कोई स्पष्ट उल्लेख अथवा विधि-निषेध-परक वाक्य ही नहीं तब ऐसे ग्रन्थोके आधारपर चैलेंज की बात करना चैलेंजकी कोरी विडम्बना नहीं तो और क्या है? इस तरहके तो पूजनादि अनेक विषयोंके सैकड़ों चैलेंज अध्यापकजीको **तत्त्वार्थ-सूत्रादि** ऐसे ग्रन्थोंको लेकर दिये

जा सकते हैं जिनमें उन विषयोंका विधि या निषेध कुछ भी नहीं है। परन्तु ऐसे चैलेंजोंका कोई मूल्य नहीं होता, और इसीसे अध्यापकजीका चैलेंज विद्वद्दृष्टिमें उपेक्षणीय ही नहीं, किन्तु गर्हणीय भी है।

तीसरे अध्यापकजीका यह लिखना कि "यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा शूद्रोंका **समोशरणमें** जाना सिद्ध नहीं कर सके तो दस्साओंके पूजनाधिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा" और भी विडम्बनामात्र हैं और उनके अनोखे तर्क तथा अद्भुत न्यायको व्यक्त करता है! क्योंकि शूद्रोंका यदि **समोशरणमें** जाना सिद्ध न किया जासके तो उन्हींके पूजनाधिकारको व्यर्थ ठहराना था न कि दस्साओंके, जिनके विषयका कोई प्रमाण माँगा ही नही गया! यह तो वह बात हुई कि सबूत किसी विषयका और निर्णय किसी दूसरे ही विषयका! ऐसी जजीपर किसे तर्स अथवा रहम नहीं आएगा और वह किसके कौतुकका विषय नही बनेगी!!

यदि यह कहा जाय कि शूद्रोके **पूजनाधिकारपर** ही दस्साओंका **पूजनाधिकार** अवलम्बित है—वे उनके समानधर्मा हैं—तो फिर शूद्रोके स्पष्ट पूजनाधिकार-सम्बन्धी कथनो अथवा विधि-विधानोको ही क्यो नही लिया जाता? और क्यों उन्हें छोड़कर शूद्रोंके **समवसरणमें** जाने न जानेकी बातको व्यर्थ उठाया जाता है? जैन शास्त्रोंमे शूद्रोके द्वारा पूजनके उत्तम फलकी कथाएँ ही नही मिलती, बल्कि शूद्रोंको स्पष्ट तौर से नित्यपूजनका अधिकारी घोषित किया गया है। साथ ही जैनगृहस्थों, अविरत-सम्यग्दृष्टियों, पाक्षिक **श्रावकों** और **व्रती श्रावकों** सभीको जिनपूजाका अधिकारी बतलाया गया है और शूद्र भी इन सभी कोटियोंमें आते हैं। इतना

ही नहीं, बल्कि **श्रावकका** ऊँचा दर्जा ११वीं प्रतिमा तक धारण कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक भी हो सकते हैं। श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यके शब्दोंमे 'दान और पूजा **श्रावकके** मुख्य धर्म हैं, इन दोनोंके बिना कोई **श्रावक** होता ही नहीं, ('**दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा**') और शूद्र तथा दस्सा दोनों जैनी तथा **श्रावक** भी होते हैं तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वञ्चित किये जा सकते हैं ? नहीं किये जा सकते। उन्हें पूजना-धिकारसे वञ्चित करनेवाला अथवा उनके पूजनमें अन्तराय (विघ्न) डालनेवाला घोर पापका भागी होता है, जिसका कुछ उल्लेख कुन्दकुन्दकी रयणसारगत '**खय-कुट्ठ-सूल-मूलो**' नामकी गाथासे जाना जाता है। इन सब विषयोंके प्रमाणोंका काफी संकलन और विवेचन '**जिनपूजाधिकारमीमांसा**' में किया गया है और उनमें **आदिपुराण** तथा **धर्मसंग्रहश्रावकाचारके** प्रमाण भी संग्रहीत हैं। उन सब प्रमाणों तथा विवेचनों और पूजन-विषयक जैन-सिद्धान्तकी तरफसे आँखें बन्द करके इस प्रकारके चैलेंजकी योजना करना अध्यापकजीके एकमात्र कौटिल्यका द्योतक है। यदि कोई उनकी इस **तर्कपद्धतिको** अपनाकर उन्हींसे उलटकर यह कहने लगे कि 'महाराज, आपही इन **आदिपुराण** तथा **उत्तरपुराणके** द्वारा शूद्रों-का **समवसरणमें** जाना निषिद्ध सिद्ध कीजिये, यदि आप ऐसा नही कर सकेंगे तो दस्साओंके पूजनाधिकारको निषिद्ध करना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा' तो इससे अध्यापकजीपर कैसी बीतेगी, इसे वे स्वयं समझ सकेंगे। उनका तर्क उन्हीके गलेका हार हो जायगा और उन्हें कुछ भी उत्तर देते बन नही पड़ेगा; क्योंकि उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर प्रकृत विषयके निर्णयकी बातको उन्हींने उठाया है और उनमें उनके अनुकूल कुछ भी नही है।

चौथे, 'उस पापका भागी कौन होगा' यह जो अप्रासङ्गिक प्रश्न उठाया गया है वह अध्यापकजीकी हिमाकतका द्योतक है। व्याकरणाचार्यजीने तो आगमके विरुद्ध कोई उपदेश नहीं दिया, उन्होंने तो अधिकारीको उसका अधिकार दिलाकर अथवा अधिकारी घोषित करके पुण्यका ही कार्य किया है। अध्यापकजी अपने विषयमें सोचें कि वे जैनी दस्साओं तथा शूद्रोंके सर्व साधारण नित्यपूजनके अधिकारको भी छीनकर कौनसे पापका उपार्जन कर रहे हैं और उस पापफलसे अपनेको कैसे बचा सकेंगे जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथामें क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगन्दर, जलोदर, नेत्रपीडा, शिरोवेदना, शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदिके रूपमें वर्णित है।

पाँचवे, **हरिवंशपुराणका** जो श्लोक प्रमाणमे उद्धृत किया गया है वह अध्यापकजीकी सूचनानुसार न तो ५९वें सर्गका है और न १९०वें नम्बरका, बल्कि ५७वें सर्गका १७३वाँ श्लोक है। उद्धृत भी वह गलत रूपमें किया गया है, उसका पूर्वार्ध तो मुद्रित प्रतिमें जैसा अशुद्ध छपा है प्रायः वैसा ही रख दिया गया है[1] और उत्तरार्ध कुछ बदला हुआ मालूम होता है। मुद्रित प्रतिमें वह "**विकलांगेंद्रियोद्भ्रांता परियंति वहिस्ततः**" इस रूपमें छपा है, जो प्रायः ठीक है; परन्तु अध्यापकजीने उसे अपने चैलेजमें "**विकलांगेन्द्रियोज्ञाता पारियन्ति वहिस्तताः**" यह रूप दिया है, जिसमें '**ज्ञाता**', '**पारियन्ति**' और '**तताः**' ये तीन शब्द अशुद्ध हैं और श्लोकमें अर्थभ्रम पैदा करते हैं। यदि यह रूप अध्यापकजीका दिया हुआ न होकर प्रेसकी किसी गलतीका

---

१. यथा—"**पापशीलाः विकुर्माणाः शूद्राः पाखण्डपांडवाः**"

परिणाम है तो अध्यापकजीको चैलेंजका अङ्ग होनेके कारण उसे अगले अङ्कमें सुधारना चाहिये था अथवा कमसेकम सुधारक-शिरोमणिके पास तो अपने चैलेजकी एक शुद्ध कापी भेजनी चाहिये थी; परन्तु चैलेजके नामपर यदि यो ही वाहवाही लूटनी हो तो फिर ऐसी बातोंकी तरफ ध्यान तथा उनके लिए परिश्रम भी कौन करे ? अस्तु: उक्त श्लोक अपने शुद्धरूपमे इस प्रकार है :—

पापशीला विकुर्वाणाः शूद्राः पाखण्ड-पाटवाः ।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति वहिस्ततः ॥१७३॥

इसमें शूद्रोके समवसरणमे जानेका कही भी स्पष्टतया कोई निषेध नही है, जिसकी अध्यापकजीने अपने चैलेंजमे घोषणा की हैं। मालूम होता है अध्यापकजीको पं० गजाधरलालजीके गलत अनुवाद अथवा अर्थपरसे कुछ भ्रम हो गया है, उन्होने ग्रन्थके पूर्वाऽपर सन्दर्भपरसे उसकी जॉच नही की अथवा अर्थको अपने विचारोके अनुकूल पाकर उसे जॉचनेकी जरूरत नही समझी, और यही सम्भवत. उनकी भ्रान्ति, मिथ्या धारणा एवं अन्यथा प्रवृत्तिका मूल है। प० गजाधरलालजीका **हरिवंशपुराणका** अनुवाद साधारण चलता हुआ अनुवाद है, इसीसे अनेक स्थलोपर बहुत कुछ स्खलित है और ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नही है। उन्होंने अनुवादसे पहले कभी इस ग्रन्थका स्वाध्याय तक नही किया था, सीधा सादा पुराण ग्रन्थ समझकर ही वे इसके अनुवादमे प्रवृत्त हो गये थे और इससे उत्तरोत्तर कितनी ही कठिनाइयाँ झेलकर '**यथा कथञ्चित्**' रूपमे इसे पूरा कर पाये थे, इसका उल्लेख उन्होने स्वयं अपनी प्रस्तावना (पृ० ४) मे किया है और अपनी त्रुटियो तथा अशुद्धियोके आभासको भी

साथमें व्यक्त किया है। इस श्लोकके अनुवादपरसे ही पाठक इस विषयका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। उनका वह अनुवाद, जिसे अध्यापकजीने चैलेजमें उद्धृत किया है, इस प्रकार है—

'जो मनुष्य पापी नीचकर्म करनेवाले शूद्र पाखण्डी **विकलांग** और **विकलेन्द्रिय** होते वे **समोशरणके** बाहर ही रहते और वहाँसे ही प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे।''

इसमें '**उद्भ्रान्ताः**' पदका अनुवाद तो बिल्कुल ही छूट गया है, '**पापशीलाः**' का अनुवाद 'पापी' तथा '**पाखण्डपाटवाः**'का अनुवाद 'पाखण्डी' दोनो ही अपूर्ण तथा गौरवहीन हैं और ''**समोशरणके** बाहर ही रहते और वहाँसे ही प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे'' इस अर्थके वाचक मूलमे कोई पद ही नहीं हैं, भूतकालकी क्रियाका बोधक भी कोई पद नही है, फिर भी अपनी तरफसे इस अर्थकी कल्पना कर ली गई है अथवा '**परियन्ति बहिस्ततः**' इन शब्दोंपरसे अनुवादकको भारी भ्रान्ति हुई जान पड़ती है। '**परियन्ति**' वर्तमानकाल-सम्बन्धी बहुवचनान्त पद है, जिसका अर्थ होता है '**प्रदक्षिणा**' करते हैं'—न कि '**प्रदक्षिणापूर्वक** नमस्कार करते थे'। और '**वहिस्ततः**' का अर्थ है उसके बाहर, उसके किसके ? **समवसरण**के नही, बल्कि उस **श्रीमण्डप**के बाहर जिसे पूर्ववर्ती श्लोक[1]मे '**अन्तः**' पदके द्वारा उल्लेखित किया है, जहाँ भगवान्‌की गन्धकुटी होती है और जहाँ **चक्रपीठ**पर चढ़कर उत्तम भक्तजन भगवानकी तीन वार प्रदक्षिणा करते हैं, अपनी शक्ति तथा विभवके अनुरूप यथेष्ट पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं और फिर हाथ जोड़े हुए अपनी-

---

१. **प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादितः।**
उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥१७२॥

अपनी सोपानोंसे उतर कर आनन्दके साथ यथास्थान बैठते हैं। और जिसका वर्णन आगेके निम्न पद्योंमें दिया है :—

छत्रचामरभृङ्गाद्यवहाय जयाजिरे।
आप्तैरनुगताः कृत्वा विशन्त्यंजलिमीश्वराः ॥१७४॥
प्रविश्य विधिवद्भक्त्या प्रणम्य मणिमौलयः।
चक्रपीठं समारुह्य परियन्ति त्रिरीश्वरम् ॥१७५॥
पूजयन्तो यथाकामं स्वशक्तिविभवार्चनैः।
सुराऽसुरनरेन्द्राद्या नामादेशं (?) नमन्ति च ॥१७६॥
ततोऽवतीर्य सौपानैः स्वैः स्वैः स्वाञ्जलिमौलयः।
रोमाञ्चव्यक्तहर्षास्ते यथास्थानं समासते ॥१७७॥

—हरिवंशपुराण सर्ग ५७

इन पद्योंके साथमें आदिपुराणके निम्न पद्योंको भी ध्यानमें रखना चाहिये, जिनमें **भरतचक्रवर्तीके समवसरणस्थित श्रीमण्डप-**प्रवेश आदिका वर्णन है और जिनसे संक्षेपमें यह जाना जाता है कि **मानस्तम्भोंको** आदि लेकर **समवसरणकी** कितनी भूमि और कितनी रचनाओंको उल्लंघन करनेके बाद अन्त:प्रवेशकी नौबत आती है, और इसलिए अन्त:प्रवेशका आशय **श्रीमण्डप**-प्रवेशसे है, जहाँ **चक्रपीठादिके** साथ गन्धकुटी होती है, न कि **समवसरण**-प्रवेशसे :—

परीत्य पूजयन्मानस्तम्भानत्यैत्ततः परम्।
खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥१८॥
द्वितीयसालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिम्।
स्तूपान्प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥१७॥
ततो दौवारिकैर्देवैः सम्भ्राम्यद्भिः प्रवेशितः।
श्रीमण्डपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ॥१६॥

ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टयम् ।
लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥१६॥
ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान् ।
सोऽर्चयामास सम्प्रीतः पूतैर्गन्धादिवस्तुभिः ॥२०॥
मध्ये गन्धकुटीद्धिं परार्ध्यं हरिविष्टरे ।
उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्ष्यत ॥२१॥
—आदिपुराण पर्व २४

इन सब प्रमाणोंकी रोशनीमें '**वहिस्ततः**' पदोंका वाच्य श्रीमण्डपका बाह्य प्रदेश ही हो सकता है—**समवणरण**का बाह्य प्रदेश नहीं; जो कि पूर्वाऽपर-कथनोंके विरुद्ध पड़ता है। और इसलिये पं० गजाधरलालजीने १७२वे पद्यमे प्रयुक्त हुए '**अन्तः**' पदका अर्थ "**समवसरणमें**" और १७३वें पद्यमें प्रयुक्त '**वहिस्ततः**' पदोंका अर्थ '**समवसरणके** बाहर' करके भारी भूल की है। अध्यापकजीने विवेकसे काम न लेकर अन्धानुसरणके रूपमें उसे अपनाया है और इसलिये वे भी उस भूलके शिकार हुए हैं। उन्हें अब समझ लेना चाहिये कि **हरिवंशपुराणका** जो पद्य उन्होने प्रमाणमे उपस्थित किया है वह **समवसरणमें** शूद्रादिकोंके जानेका निषेधक नही है, बल्कि उनके जानेका स्पष्ट सूचक है; क्योंकि वह उनके लिये **समवसरणमें श्रीमण्डपके** बाहर प्रदक्षिणा-विधिका विधायक है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि '**शूद्राः**' पदके साथमें जो "**विकुर्वाणाः**' विशेषण लगा हुआ है वह वह उन शूद्रोके असत् शूद्र होनेका सूचक है जो खोटे अथवा नीचकर्म किया करते हैं, और इसलिये सत्शूद्रोंसे इस प्रदक्षिणा-विधिका सम्बन्ध नहीं है—वे अपनी रुचि तथा भक्तिके अनुरूप **श्रीमण्डपके** भीतर जाकर **गन्धकुटीके** पाससे भी प्रदक्षिणा कर सकते हैं। प्रदक्षिणाके **समवसरणमें** दो ही प्रधान मार्ग नियत

होते हैं—एक **गन्धकुटीके** पास **चक्रपीठकी** भूमिपर और दूसरा **श्रीमण्डपके** बाह्य प्रदेशपर। **हरिवंशपुराणके** उक्त श्लोकमें **श्रीमण्डपके** बाह्य प्रदेशपर प्रदक्षिणा करनेवालोंका ही उल्लेख है और उनमे प्रायः वे लोग शामिल हैं जो पाप करनेके आदी हैं—आदतन (स्वभावतः) पाप किया करते हैं, खोटे या नीच कर्म करनेवाले असत् शूद्र हैं, धूर्तताके कार्यमे निपुण (महाधूर्त) हैं, अङ्गहीन अथवा इन्द्रियहीन हैं और पागल हैं अथवा जिनका दिमाग चला हुआ है। और इसलिये **समवसरणमें** प्रवेश न करनेवालोके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है।

छठे, अध्यापकजीने व्याकरणाचार्यजीके सामने उक्त श्लोक और उसके उक्त अर्थको रखकर उनसे जो यह अनुरोध किया है कि "आप अन्य इतिहासिक ग्रन्थो (आदिपुराण-उत्तरपुराण) के प्रमाणो द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खे" वह बड़ा ही विचित्र और बेतुका मालूम होता है ! जब अध्यापकजी व्याकरणाचार्यजीके कथनको अगमविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये उनके समक्ष एक आगम-वाक्य और उसका अर्थ प्रमाणमें रख रहे हैं तब उन्हीसे उसके अविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये कहना और फिर अविरोधमे भी विरोधकी शङ्का करना कोरी हिमाकतके सिवाय और क्या हो सकता है ? और व्याकरणाचार्यजी भी अपने विरुद्ध उनके अनु-रोधको माननेके लिये कब तैयार हो सकते हैं ? जान पड़ता है अध्यापकजी लिखना तो कुछ चाहते थे और लिख गये कुछ और ही हैं, और यह आपकी स्खलित भाषा तथा असावधान-लेखनी-का एक खास नमूना है, जिसके बल-बूतेपर आप सुधारकोंको **लिखित शास्त्रार्थका चैलेंज देने बैठे हैं !!**

सातवें, शूद्रोंका समवसरणमें जाना जब अध्यापकजीके उपस्थित किये हुए हरिवंशपुराणके प्रमाणसे ही सिद्ध है तब वे लोग **वहाँ** जाकर भगवानकी पूजा-वन्दनाके अनन्तर उनकी दिव्य-वाणीको भी सुनते हैं, जो सारे **समवसरणमें** व्याप्त होती है, और उसके फलस्वरूप **श्रावक**के व्रतोंको भी ग्रहण करते हैं, जिनके ग्रहणका पशुओंको भी अधिकार है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। फिर **आदिपुराण-उत्तरपुराण**के आधारपर उसको अलगसे सिद्ध करनेकी जरूरत भी क्या रह जाती है? कुछ भी नहीं।

इसके सिवाय, किसी कथनका किसी ग्रन्थमे यदि विधि तथा प्रतिषेध नही होता तो वह कथन उस ग्रन्थके विरुद्ध नहीं कहा जाता। इस बातको आचार्य **वीरसेन**ने धवलाके **क्षेत्रानुयोग-**द्वारमें निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

"ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्तविरुद्धं, तत्थ विधिप्पडिसेधाभावादो।" (पृ० २२)

अर्थात्—लोककी उत्तरदक्षिण सर्वत्र सात राजु मोटाईका जो कथन है वह **'करणानुयोगसूत्र'**के विरुद्ध नही है; क्योंकि उस सूत्रमें उसका यदि विधान नहीं है तो प्रतिषेध भी नही है।

शूद्रोका **समवसरणमें** जाना, पूजावन्दना करना और **श्रावक**के व्रतोंका ग्रहण करना इन तीनों बातोंका जब **आदिपुराण** तथा **उत्तरपुराणमें** स्पष्टरूपसे कोई विधान अथवा प्रतिषेध नही है तब इनके कथनको **आदिपुराण** तथा **उत्तरपुराणके** विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। वैसे भी इन तीनो बातोंका कथन **आदि-पुराणा**दिकी रीति, नीति और पद्धतिके **विरुद्ध** नही हो सकता; **क्योंकि आदिपुराणमें मनुष्योंकी** वस्तुतः एक ही जाति मानी है,

उसीके वृत्ति (आजीविका)-भेदसे ब्राह्मणादिके चार भेद बतलाये हैं[1], जो वास्तविक नही हैं। उत्तरपुराणमें भी साफ कहा है कि इन ब्राह्मणादि वर्णों—जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य-शरीरमें नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिकमे गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जातिभेदके विरुद्ध है[2]। इसके सिवाय, आदिपुराणमें दूषित हुए कुलोकी शुद्धि और अनक्षरम्लेच्छों तकको कुलशुद्धि-आदिके द्वारा अपनेमें मिला लेनेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी पाई जाती हैं[3]। ऐसे उदार उपदेशोकी मौजूदगीमें शूद्रोके समवसरणमे जाने आदिको किसी तरह भी आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके विरुद्ध नही कहा जा सकता। विरुद्ध न होनेकी हालतमे उनका 'अविरुद्ध' होना सिद्ध है, जिसे सिद्ध करनेके लिये अध्यापकजी

---

१. मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चतुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

२. वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधान-प्रवर्तनात् ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ (उ. पु. गुणभद्र)

३. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥४०-१६८॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥—१६९॥
स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजा-बाधा-विधायिनः।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ ४२-१७९ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः

१००) रु० के पारितोषिककी घोषणा कर रहे हैं और उन रुपयोंको बाबू राजकृष्ण प्रेमचन्दजी दरियागञ्ज कोठी नं० २३ देहलीके पास जमा बतलाते हैं।

चैलेञ्ज-लेखमें मेरी '**जिनपूजाधिकारमीमांसा**' पुस्तकका एक अंश उद्धृत किया गया है, जो निम्न प्रकार है—

"**श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणके द्वितीय सर्ग**में, महावीरस्वामीके **समवसरण**का वर्णन करते हुए लिखा है :— **समवसरण**में जब **श्रीमहावीरस्वामी**ने मुनिधर्म और **श्रावक**धर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारो वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोने **श्रावक**के बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं किन्तु उनकी पवित्र वाणीका यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यञ्चोने भी **श्रावक**के व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्मश्रवणके लिये शूद्रोका समवसरणमें जाना प्रकट है।"

इस अंशको '**समोशरण**' जैसे कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ उद्धृत करनेके बाद अध्यापकजी लिखते हैं—"इस लेखको आप संस्कृत हरिवंशपुराणके प्रमाणों द्वारा सत्य सिद्ध करके दिखलावें। आपको इसकी असलियत स्वयं मालूम हो जावेगी।"

मेरी **जिनपूजाधिकारमीमांसा** पुस्तक आजसे कोई ३५ वर्ष पहले अप्रैल सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी। उस वक्त तक जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणकी पं० दौलतरामजी कृत भाषा वचनिका ही लाहौरसे (सन् १९१० में) प्रकाशमें आई थी और वही अपने सामने थी। उसमें लिखा था—

"जिस समय जिनराजने व्याख्यान किया उस समय

समवसरणमें सुर-असुर, नर-तिरयञ्च सभी थे, सो सबके समीप सर्वज्ञने मुनिधर्मका व्याख्यान किया, सो मुनि होनेको समर्थ जो मनुष्य तिनमे केईक नर संसारसे भयभीत परिग्रहका त्याग कर मुनि भये शुद्ध है जाति कहिये मातृपक्ष कुल कहिये पितृपक्ष जिनके ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सैकड़ों साधु भये ॥१३१,१३२॥ ···और कैएक मनुष्य चारों ही वर्णके पञ्च **अणुव्रत** तीन **गुणव्रत** चार शिक्षा व्रत धार **श्रावक** भये। और चारो वर्णकी कईएक स्त्री श्राविका भई ॥१३४॥ और सिंहादिक तिर्यंच बहुत श्रावकके व्रत धारते भये, यथाशक्ति नेमविषै तिष्ठे ॥ १३५ ॥"

इस कथनको लेकर ही मैंने **जिनपूजाधिकारमीमांसा**के उक्त लेखांशकी सृष्टि की थी। पाठक देखेगे, कि इस कथनके आशयके विरुद्ध उसमें कुछ भी नहीं है। परन्तु अध्यापकजी इस कथनको शायद मूलग्रन्थके विरुद्ध समझते हैं और इसीलिये संस्कृत हरिवशपुराणपरसे उसे सत्य सिद्ध करनेके लिये कहते हैं। उसमें भी उनका आशय प्रायः उतने ही अंशसे जान पड़ता है जो शूद्रोके **समवसरण**में उपस्थित होकर व्रत ग्रहणसे सम्बन्ध रखता है और उनके प्रकृत चैलेंज-लेखका विषय है। अतः उसीपर यहाँ विचार किया जाता है और यह देखा जाता है कि क्या पंडित दौलतरामजीका वह कथन मूलके आशयके विरुद्ध है। श्रावकीय व्रतोके ग्रहणका उल्लेख करनेवाला मूलका वह वाक्य इस प्रकार है:—

पंचधाऽणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्री-पुरुषा दधुः ॥१३४॥

इसका सामान्य शब्दार्थ तो इतना ही है कि 'समवसरण-स्थित कुछ स्त्रीपुरुषोंने पंच प्रकार **अणुव्रत**, तीन प्रकार **गुणव्रत**

और चार प्रकार **शिक्षाव्रत** ग्रहण किये।' परन्तु '**विशेषार्थको** दृष्टिसे' उन स्त्रीपुरुषोंको चारों वर्णोंके बतलाया गया है; क्योंकि किसी भी वर्णके स्त्री-पुरुषोंके लिये **समवसरणमें** जाने और व्रतोंके ग्रहण करनेका कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसके सिवाय, ग्रन्थके पूर्वाऽपर-कथनोंसे भी इसकी पुष्टि होती है और वही अर्थ समीचीन होता है जो पूर्वाऽपर-कथनोंको ध्यानमें रखकर अविरोध रूपसे किया जाता है। **समवसरणमें** असत् शूद्र भी जाते हैं यह **श्रीमण्डपसे** बाहर उनके प्रदक्षिणा-विधायक वाक्यके विवेचनसे ऊपर जान चुके हैं। यहाँ पूर्वाऽपर-कथनोंके दो नमूने और नीचे दिये जाते हैं :—

(क) **समवसरणके श्रीमण्डपमें वलयाकार** कोष्ठकोंके रूपमें जो बारह सभा-स्थान होते हैं उनमेंसे मनुष्योके लिये केवल तीन स्थान नियत होते हैं—पहला **गणधरादि** मुनियोंके लिये, तीसरा **आर्यिकाओंके** लिये और ११वाँ शेष सब मनुष्योंके लिये। इस ११वे कोठेका वर्णन करते हुए **हरिवंशपुराणके** दूसरे सर्गमें लिखा है—

सपुत्र-वनितानेक-विद्याधर-पुरस्सराः ।
न्यषीदन् मानुषा नानाभाषा-वेष-रुचस्ततः ॥ ८६ ॥

अर्थात्—१०वें कोठेके अनन्तर पुत्र और वनिताओं-सहित अनेक **विद्याधरोंको** आगे करके मनुष्य बैठे, जो कि (प्रान्तादिके भेदोंसे) नाना भाषाओके बोलनेवाले, नाना वेषोंको धारण करनेवाले और नाना वर्णों वाले थे।''

इसमें किसी भी वर्ण अथवा जाति-विशेषके मानवोके लिये ११वें कोठेको रिज़र्व नही किया गया है बल्कि '**मानुषाः**' जैसे सामान्य पदका प्रयोग करके और उसके विशेषणको '**नाना**' पदसे

विभूषित करके सबके लिये उसे खुला रक्खा गया है। साथमें '**विद्याधरपुरस्सरा:**' विशेषण लगाकर यह भी स्पष्ट कर दिया कि उस कोठेमे विद्याधर और भूमिगोचरी दोनों प्रकारके मनुष्य एक साथ बैठते हैं। विद्याधरका '**अनेक**' विशेषण उनके अनेक प्रकारोंका द्योतक है, उनमें मातङ्ग (चण्डाल) जातियोंके भी विद्याधर होते हैं और इसलिये उन सबका भी उसके द्वारा समावेश समझना चाहिए।

(ख) ५८वें सर्गके तीसरे पद्यमें भगवान **नेमिनाथ**की वाणीको '**चतुर्वर्णाश्रमाश्रया**' विशेषण दिया गया है, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि **समवसरण**मे भगवानकी जो वाणी प्रवर्तित हुई वह चारों वर्णों और चारों आश्रमोका आश्रय लिये हुए थी—अर्थात् चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चारों आश्रमों ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्तको लक्ष्यमें रखकर प्रवर्तित हुई थी। और इसलिये वह **समवसरण**मे चारों वर्णों तथा चारो आश्रमोके प्राणियोंकी उपस्थितिको और उनके उसे सुनने तथा ग्रहण करनेके अधिकारको सूचित करती है।

ऐसी हालतमें पं० दौलतरामजीने अपनी भाषा वचनिकामें '**स्त्रीपुरुषा:**' पदका अर्थ जो 'चारों वर्णके स्त्रीपुरुष' सुझाया है वह न तो असत्य है और न मूलग्रन्थके विरुद्ध है। तदनुसार **जिन-पूजाधिकारमीमांसा**की उक्त पंक्तियोमे मैंने जो कुछ लिखा है वह भी न असत्य है और न ग्रन्थकारके आशयके विरुद्ध है। और इसलिये अध्यापकजीने कोरे शब्दच्छलका आश्रय लेकर जो कुछ कहा है वह बुद्धि और विवेकसे काम न लेकर ही कहा जा सकता है। शायद अध्यापकजी शूद्रोंमें स्त्री-पुरुषोंका होना ही न मानते

हों और न उन्हें मनुष्य ही जानते हों, और इसीसे **'मानुषाः'** तथा **'स्त्री-पुरुषाः'** पदोंका उन्हें वाच्य ही न समझते हों !!!

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि जिस **हरिवंशपुराणके** कुछ शब्दोका गलत आश्रय लेकर अध्यापकजी शूद्रों तथा दस्साओंको जिनपूजाके अधिकारसे वञ्चित करना चाहते हैं उसके २६वें सर्गमे **वसुदेवकी** मदनवेगा-सहित **'सिद्धकूट-जिनालय'** की यात्राके प्रसङ्गपर उस जिनालयमें पूजावन्दनाके बाद अपने-अपने स्तम्भका आश्रय लेकर बैठे हुए[1] **मातङ्ग** (चाण्डाल) जातिके **विद्याधरोंका** जो परिचय[2] कराया गया है वह किसी भी ऐसे आदमीकी आँखें खोलनेके लिये पर्याप्त है जो शूद्रों तथा दस्साओके अपने पूजन-निषेधको हरिवंशपुराणके आधारपर प्रतिष्ठित करना चाहता है। क्योकि उससे इतना ही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि **मातङ्ग** जातियोके चाण्डाल लोग भी तब **जैनमन्दिरमें** जाते और पूजन करते थे, बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशान-भूमिकी हड्डियोके आभूषण पहने हुए, वहाँकी राख बदनमें मले हुए तथा मृगछालादि ओढ़े, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथोमे लिये हुए भी जैन-

---

१. कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तम्भानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥

२. देखो, श्लोक १४ से २३ तथा 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' पृष्ठ ३१ से ३५। यहाँ उन दसमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं—

श्मशानाऽस्थि-कृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसराः ।
श्मशान-निलयास्त्वेते श्मशान-स्तम्भमाश्रिताः ॥ १६ ॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बर-स्रजः ।
कालनील-स्तम्भमध्येत्य स्थिताः काल-श्व-पाकिनः ॥ १८ ॥

मन्दिर में जा सकते थे[1], और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके स्थान भी नियत थे, जिससे उनका जैनमन्दिरमे जाने आदिका और भी नियत अधिकार पाया जाता है[2]।

मेरे उक्त लेखांश और उसपर अपने वक्तव्यके अनन्तर अध्यापकजीने महावीरस्वामीके **समवसरणवर्णनसे** सम्बन्ध रखने-वाला **धर्मसंग्रहश्रावकाचारका** एक श्लोक निम्न प्रकार अर्थ-सहित दिया है—

"मिथ्यादृष्टिरभव्योप्यसंज्ञी कोऽपि न विद्यते।
यश्चानध्यवसायोऽपि यः संदिग्धो विपर्ययः॥ १३६॥

अर्थात्—श्रीजिनदेवके **समोशरणमें मिथ्यादृष्टि अभव्यअसंज्ञी-अनध्यवसायी-संशयज्ञानी** तथा **मिथ्यात्वी** जीव नहीं रहते हैं।"

इस श्लोक और उसके गलत अर्थको उपस्थित करके अध्यापकजी बड़ी धृष्टता और गर्वोक्तिके साथ लिखते हैं—

"बाबू जुगलकिशोरजीके निराधार लेखको **धर्मसंग्रहश्रावका-चारके** प्रमाणसहित लेखको आप मिलान करे—पता लग जायगा कि वास्तवमें आगमके विरुद्ध जैनजनताको धोखा कौन देता है ?"

---

१. यहाँपर इस उल्लेखपरसे किसीको यह समझने की भूल न करनी चाहिए कि लेखक आजकल वर्तमान जैनमन्दिरोंमें भी ऐसे अपवित्र वेषसे जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

२. श्रीजिनसेनाचार्यने ९वी शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे ऐसे लोगोका जैनमन्दिरमें जाना आदि आपत्तिके योग्य नही ठहराया और न उससे मन्दिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा ?

मेरा **जिनपूजाधिकारमीमांसावाला** उक्त लेख निराधार नहीं है यह सब बात पाठक ऊपर देख चुके हैं; अब देखना यह है कि अध्यापकजीके द्वारा प्रस्तुत **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**का लेख कौनसे प्रमाणको साथमें लिये हुए है और उन दोनोंके साथ आप मेरे लेखकी किस बातका मिलान कराकर **आगमविरुद्ध** कथन और धोखादेही जैसा नतीजा निकालना चाहते हैं ? **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**के उक्त श्लोकके साथ अनुवादको छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण-वाक्य नहीं है। मालूम होता है अध्यापकजीने अनुवादको ही दूसरा प्रमाण समझ लिया है, जो मूलके अनुरूप भी नहीं है और न मेरे उक्त लेखके साथ दोनोंका कोई सम्बन्ध ही है। मेरे लेखमें चारों वर्णोंके मनुष्योंके **समवसरण**में जाने और व्रत ग्रहण करनेकी बात कही गई है, जब कि **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**के उक्त श्लोक और अनुवादमे उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं है। क्या अध्यापक जी शूद्रोंको सर्वथा **मिथ्यादृष्टि; अभव्य, असंज्ञी** (मनरहित) **अनध्यवसायी, संशयज्ञानी** तथा विपरीत (या अपने अर्थके अनुरूप 'मिथ्यात्वी') ही समझते हैं और इसीसे उनका **समवसरणमें** जाना निषिद्ध मानते हैं ? यदि ऐसा है तो आपके इस आगमज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानपर रोना आता है; क्योंकि आगमसे अथवा प्रत्यक्षसे इसकी कोई उपलब्धि नहीं होती—शूद्र लोग इनमेंसे किसी एक भी कोटिमे सर्वथा स्थित नही देखे जाते। और यदि ऐसा नही है अर्थात् अध्यापकजी यह समझते हैं कि शूद्र लोग **सम्यग्दृष्टि, भव्य, संज्ञी, अध्यवसायी, असंशय-ज्ञानी** और **अविपरीत** (अमिथ्यात्वी) भी होते हैं तो फिर उक्त श्लोक और उसके अर्थको उपस्थित करनेसे क्या नतीजा ? वह उनका कोरा चित्तभ्रम अथवा पागलपन नहीं तो और क्या

है ? क्योंकि उससे शूद्रोंके **समवसरण**में जानेका तब कोई निषेध सिद्ध नहीं होता। खेद है कि अध्यापकजी अपने बुद्धिव्यवसायके इसी बल-बूतेपर दूसरोंको आगमके विरुद्ध कथन करनेवाले और जनताको धोखा देनेवाले तक लिखनेकी धृष्टता करने बैठे हैं !!

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि अध्यापकजीका उक्त श्लोकपरसे यह समझ लेना कि **समवसरण**में **मिथ्यादृष्टि** तथा **संशयज्ञानी** जीव नही होते कोरा भ्रम है—उसी प्रकारका भ्रम है जिसके अनुसार वे '**विपर्यय**' पदका अर्थ '**मिथ्यात्वी**' करके '**मिथ्यादृष्टि**' और '**मिथ्यात्वी**' शब्दोके अर्थमे अन्तर उपस्थित कर रहे हैं—और वह उनके आगमज्ञानके दिवालियेपनको भी सूचित करता है। क्योंकि आगम में कही भी ऐसा विधान नही है जिसके अनुसार सभी मिथ्यादृष्टियो तथा संशयज्ञानियोका **समवसरण**मे जाना वर्जित ठहराया गया हो; बल्कि जगह-जगह-पर **समवसरण**में भगवान्‌के उपदेशके अनन्तर लोगोके सम्यक्त्व-ग्रहणकी अथवा उनके संशयोके उच्छेद होनेकी बात कही गई है और जो इस बातकी स्पष्ट सूचक है कि वे लोग उससे पहले मिथ्यादृष्टि थे अथवा उन्हें किसी विषयमें सन्देह था। दूर जानेकी भी जरूरत नही, अध्यापकजीके मान्य ग्रन्थ **धर्मसंग्रहश्राव-काचार**को ही लीजिये, उसके निम्न पद्यमें जिनेन्द्रसे अपनी अपनी शङ्काके पूछने और उनकी वाणीको सुनकर सन्देह-रहित होनेकी बात कही गई है—

निजनिज-हृदयाकूतं पृच्छन्ति जिनं नराऽमरा मनसा।
श्रुत्वाऽनक्षरवाणी बुध्यन्तः स्युर्विसन्देहाः ॥३-५४॥

हरिवंशपुराणके ५८वें सर्गमें कहा है कि नेमिनाथकी वाणी-को सुनकर कितने ही जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए, जिससे यह

स्पष्ट होता है कि वे पहले सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टि थे :—

ते सम्यग्दर्शनं केचित्संयमासंयमं परे ।
संयमं केचिदायाताः संसारावासभीरवः ॥३०७॥

भगवान् आदिनाथके समवसरणमें मरीचि मिथ्यादृष्टिके रूपमे ही गया, जिनवाणीको सुनकर उसका मिथ्यात्व नहीं छूटा, और सब मिथ्या तपस्वियोकी श्रद्धा बदल गई और वे सम्यक् तपमें स्थित होगये, परन्तु मरीचिकी श्रद्धा नही बदली और इस लिये अकेला वही प्रतिबोधको प्राप्त नहीं हुआ; जैसा कि जिनसेनाचार्यके आदिपुराण और पुष्पदन्त-कृत महापुराणके निम्न वाक्योसे प्रकट है—

"**मरीचि-वर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः ।**"
—आदिपुराण २४-८२

"**दंसणमोहणीय-पडिरुद्धउ एक्कु मरीइ णेय पडिबुद्धउ**"
—महापुराण, संधि ११

वास्तवमें वे ही मिथ्यादृष्टि समवसरणमें नही जा पाते हैं जो अभव्य होते हैं—भव्य मिथ्यादृष्टि तो असंख्याते जाते हैं और उनमेसे अधिकांश सम्यग्दृष्टि होकर निकलते हैं—और इस लिये '**मिथ्यादृष्टिः**' तथा '**अभव्योऽपि**' पदोंका एक साथ अर्थ किया जाना चाहिये, वे तीनो मिलकर एक अर्थके वाचक हैं और वह अर्थ है—'वह **मिथ्यादृष्टि** जो **अभव्य** भी है'। **धर्मसंग्रहश्रा०के** उक्त श्लोकका मूलस्रोत **तिलोयपण्णत्तीकी** निम्न गाथा है, जिसमे '**मिच्छादिट्ठिअभव्वा**' एक पद है जो एक ही प्रकारके व्यक्तियोंका वाचक है—

मिच्छाइट्ठिअभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं ।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा ॥४-९३२

इसी तरह '**संदिग्धः**' पद भी संशयज्ञानीका वाचक नहीं

है—संशयज्ञानी तो असंख्याते समवसरणमे जाते हैं और अधिकाश अपनी-अपनी शङ्काओंका निरसन करके बाहर आते हैं—बल्कि उन मुश्तभा प्राणियोका वाचक है जो बाह्यवेषादिके कारण अपने विषयमे शङ्कनीय होते हैं अथवा कपटवेषादिके कारण दूसरोंके लिये भयङ्कर (dangerous, risky) हुआ करते हैं। ऐसे प्राणी भी समवसरण-सभाके किसी कोठेमे विद्यमान नही होते हैं।

तीसरे नम्बरपर अध्यापकजीने सम्पादक जैनमित्रजीका एक वाक्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है :—

"**समोशरण**में मानवमात्रके लिये जानेका पूर्ण अधिकार है चाहे वह किसी भी वर्णका अर्थात् जातिका चाण्डाल ही क्यों न हो।"

इसपर टीका करते हुए अध्यापकजीने केवल इतना ही लिखा है—"सम्पादक जैनमित्रजी अपनेसे विरुद्ध विचारवालेको पोंगापन्थी बतलाते हैं और अपने लेख द्वारा **समोशरण**में चाण्डालको भी प्रवेश करते हैं। बलिहारी आपकी बुद्धिकी।"

इससे सम्पादक जैनमित्रजी बहुत सस्ते छूट गये हैं। नि:सन्देह उन्होने बड़ा गज़ब किया जो अध्यापकजी जैसे विरुद्ध विचारवालोको 'पोगापन्थी' बतला दिया ! परन्तु अपने रामकी रायमे अध्यापकजीने उससे भी कही ज्यादा गजब किया है जो **समवसरण**मे चाण्डालको भी प्रवेश करानेवालेकी बुद्धिपर 'बलिहारी' कह दिया !! क्योंकि पद्मपुराणके कर्ता श्रीरविषेणाचार्यने व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण बतलाया है—दूसरे सत्-शूद्रादिकोकी तो बात ही क्या है ?—और स्वयं ही नही बतलाया; बल्कि देवोंने—**अर्हन्तों** तथा **गणधरोंने**—बतलाया है, ऐसा स्पष्ट निर्देश किया है—

"**व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।**" ११-२०३

ऐसी हालतमें उन चाण्डालोंको **समवसरण**में जानेसे कौन रोक सकता है ? ब्राह्मण होनेसे उनका दर्जा तो शूद्रोंसे ऊँचा होगया।

और स्वामी **समन्तभद्रने** तो **रत्नकरण्डश्रावका**चार (पद्य २८) में अव्रती चाण्डालको भी सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न होनेपर 'देव' कह दिया है और उन्होंने भी स्वयं नही कहा; बल्कि देवोने वैसा कहा है ऐसा '**देवा देवं विदुः**' इन शब्दोंके द्वारा स्पष्ट निर्देश किया है। तब उस देव चाण्डालको **समवसरणमें** जानेसे कौन रोक सकता है, जिसे मानव होनेके अतिरिक्त देवका भी दर्जा मिल गया ?

इसके सिवाय, म्लेच्छ देशोंमे उत्पन्न हुए म्लेच्छ मनुष्य भी सकल संयम (महाव्रत) धारण करके जैनमुनि हो सकते हैं ऐसा **श्रीवीरसेनाचार्यने** जयधवला टीकामे और **श्रीनेमिचन्द्राचार्य** (द्वितीय) ने लब्धिसार माथा १९३ की टीकामे व्यक्त किया है[1]। तब उन मुनियोंको **समवसरणमें** जानेसे कौन रोक सकता है ? वे तो गन्धकुटीके पासके सबसे प्रधान **गण**धर-मुनिकोठेमें बैठेंगे, उनके लिये दूसरा कोई स्थान ही नहीं है।

ऐसी स्थितिमें अध्यापकजी किस किस आचार्यकी बुद्धिपर 'बलिहारी' होंगे ? इससे तो बेहतर यही है कि वे अपनी ही बुद्धिपर बलिहारी हो जाएँ और ऐसी अज्ञानतामूलक, उपहास-जनक एवं आगमविरुद्ध व्यर्थकी प्रवृत्तियोंसे बाज़ आएँ।

—अनेकान्त वर्ष ९ कि० ५, २-६-१९४८

---

१. देखो, उक्त टीकाएँ तथा 'भगवान महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक पृ० २६

कानजी स्वामी और जिनशासन : १८ :

प्रास्ताविक

श्रीकुन्दाचार्यकी कृतियोंमे 'समयसार' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो आजकल अधिकतर पठन-पाठनका विषय बना हुआ है। इसकी १५वी गाथा अपने प्रचलित रूपमें इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥ १५॥

इसमें बतलाया गया कि '**जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष जैसे रूपमें देखता है वह सारे जिनशासनको देखता है।**' इस सामान्य कथन पर मुझे कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुईं और मैंने उन्हें कुछ आध्यात्मिक विद्वानों एवं समयसार-रसिकोंके पास भेजकर उनका समाधान चाहा अथवा इस गाथाका टीकादि-के रूपमें ऐसा स्पष्टीकरण मांगा जिससे उन शंकाओंका पूरा समाधान होकर गाथाका विषय स्पष्ट और विशद हो जाए। परन्तु कहीं से कोई उत्तर प्राप्त नही हुआ। दो एक विद्वानोंसे प्रत्यक्षमें भी चर्चा चलाई गई पर सफल-मनोरथ नही हो सका। और इसलिये मैंने इस गाथाकी व्याख्याके लिये १००) रुपएके पुरस्कारकी एक योजना की और उसे अपने ५००) रु० के पुरस्कारोंकी उस विज्ञप्तिमे अग्रस्थान दिया जो अनेकान्त वर्ष ११ (सन् १९५२) की संयुक्त किरण नं० ४-५ में प्रकाशित हुई है। गाथाकी व्याख्यामे जिन बातोंका स्पष्टीकरण चाहा गया वे इस प्रकार हैं:—

(१) आत्माको अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य और अविशेषरूपसे देखनेपर सारे जिनशासनको कैसे देखा जाता है?

(२) उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस द्रष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है ?

(३) वह जिनशासन श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति और अकलंक-जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे क्या कुछ भिन्न है ?

(४) यदि भिन्न नहीं है तो इन सबके द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति कैसे बैठती है ?

(५) इस गाथामे 'अपदेससंतमज्झ' नामक जो पद पाया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् 'अपदेससुत्तमज्झं' रूपसे भी उल्लेखित करते हैं, उसे 'जिणसासणं' पदका विशेषण बतलाया जाता है और उससे द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुतका भी अर्थ लगाया जाता है, यह सब कहाँ तक संगत है अथवा पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्बन्ध क्या होना चाहिए ?

(६) श्रीअमृतचन्द्राचार्य इस पदके अर्थके विषयमें मौन हैं और जयसेनाचार्यने जो अर्थ किया है वह पदमें प्रयुक्त हुए शब्दोको देखते हुए कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है, यह क्या ठीक है अथवा उस अर्थमें खटकने-जैसी कोई बात नही है ?

(७) एक सुझाव यह भी है कि यह पद 'अपवेससंत-मज्झं' (अप्रवेशसान्तमध्यं) है, जिसका अर्थ अनादिमध्यान्त होता है और यह 'अप्पाणं (आत्मानं) पदका विशेषण है, न कि 'जिणसासणं' पदका। शुद्धात्माके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्ड (६) में और सिद्धसेनाचार्यने स्वयम्भूस्तुति (प्रथमद्वात्रिंशिका) में 'अनादिमध्यान्त' पदका प्रयोग किया है। समयसारके एक कलशमें अमृतचन्द्राचार्यने भी 'मध्याद्यन्त-विभागमुक्त' जैसे शब्दों-द्वारा इसी बातका उल्लेख किया है।

इन सब बातोंको भी ध्यानमे लेना चाहिये और तब यह निर्णय करना चाहिये कि क्या उक्त सुझाव ठीक है ? यदि ठीक नहीं है तो क्यो ?

(८) १०वी गाथामें शुद्धनयके विषयभूत आत्माके लिए पाँच विशेषणोका प्रयोग किया गया है, जिनमेसे कुल तीन विशेषणोका ही प्रयोग १५वीं गाथामें हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए शेष दो विशेषणो 'नियत' और 'असंयुक्त'को भी उपलक्षणके रूपमे ग्रहण किया जाता है; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मूलकारका ऐसा ही आशय था तो फिर इस १५वी गाथामे उन विशेषणोको क्रमभंग करके रखनेकी क्या जरूरत थी ? १४वी गाथा[1]के पूर्वार्धको ज्योका त्यो रख देने पर भी शेष दो विशेषणोको उपलक्षणके द्वारा ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया; तब क्या इसमे कोई रहस्य है, जिसके स्पष्ट होनेकी जरूरत है ? अथवा इस गाथाके अर्थमें उन दो विशेषणोको ग्रहण करना युक्त नही है ?

विज्ञप्तिके अनुसार किसी भी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्याके रूपमे अपना निबन्ध भेजनेकी कृपा नही की, यह खेदका विषय है ! हालाँकि विज्ञप्तिमें यह भी निवेदन किया गया था कि '**जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमें न हों अथवा उसे लेना न चाहेंमे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायगा।** उन्हे अपने अपने इष्ट एवं अधिकृत विषय पर लोकहितकी दृष्टिसे लेख लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये।'

---

१. उक्त १४ वी गाथा इस प्रकार है :—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं जणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

इस निवेदनका प्रधान संकेत उन त्यागी महानुभावों—क्षुल्लकों, ऐलकों, मुनियों, आत्मार्थिजनों तथा निःस्वार्थ-सेवा-परायणोकी ओर था जो अध्यात्मविषयके रसिक हैं और सदा समयसारके अनुचिन्तन एवं पठन-पाठनमें लगे रहते हैं। परन्तु किसी भी महानुभावको उक्त निवेदनसे कोई प्रेरणा नहीं मिली अथवा मिली हो तो उनकी लोकहितकी दृष्टि इस विषयमें चरितार्थ नही हो सकी और इस तरह प्रायः छह महीनेका समय यो ही बीत गया। इसे मेरा तथा समाजका एक प्रकारसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

गत माघ मासमें (जनवरी सन् १९५३ में) मेरा विचार वीरसेवामन्दिरके विद्वानो-सहित श्रीगोम्मटेश्वर–बाहुबलीजीके मस्तकाभिषेकके अवसर पर दक्षिणकी यात्राका हुआ और उसके प्रोग्राममे खास तौरसे जाते वक्त सोनगढ़का नाम रक्खा गया और वहाँ कई दिन ठहरनेका विचार स्थिर किया गया, क्योंकि सोनगढ़ श्रीकानजीस्वामीमहाराजकी कृपासे आध्यात्मिक प्रवृत्तियोका गढ़ बना हुआ है और समयसारके अध्ययन-अध्यापन-का विद्यापीठ समझा जाता है। वहाँ स्वामीजीसे मिलने तथा अनेक विषयोके शंका-समाधानकी इच्छा बहुत दिनोंसे चली जाती थी, जिनमे समयसारका उक्त विषय भी था, और इसीलिये कई दिन ठहरनेका विचार किया गया था।

मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जबकि १२ फरवरीको सुबह स्वामीजी-का अपने लोगोके सम्मुख प्रथम प्रवचन प्रारम्भ होनेसे पहले ही सभाभवनमे यह सूचना मिली कि '**आजका प्रवचन सययसारकी १५वीं गाथा पर मुख्तार साहबकी शंकाओंको लेकर उनके समाधान-रूपमें होगा।**' और इसलिये मैंने उस प्रवचनको बड़ी

उत्सुकताके साथ गौरसे सुना, जो घंटा भरसे कुछ ऊपर समय तक होता रहा है। सुनने पर मुझे तथा मेरे साथियोंको ऐसा लगा कि इसमें मेरी शंकाओंका तो स्पर्श भी नही किया गया है—यो ही इधर-उधरकी बहुतसी बातें गाथा तथा गाथेतर-सम्बन्धी कही गई हैं। चुनाँचे सभाकी समाप्तिके बाद मैंने उसकी स्पष्ट विज्ञप्ति भी कर दी और कह दिया कि आजके प्रवचनसे मेरी शंकाओंका तो कोई समाधान हुआ नही। इसके बाद एक दिन मैंने स्वय अलहदगीमे श्रीकानजीस्वामीसे कहा कि आप मेरी शंकाओका समाधान लिखा दीजिए और नही तो अपने किसी शिष्यको ही बोलकर लिखा दीजिए। इसके उत्तरमें उन्होने कहा कि **'न तो मैं स्वयं लिखता हूँ और न किसीको बोलकर लिखाता हूँ, जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनमें ही कह देता हूँ।'** इस उत्तरसे मुझे बहुत बड़ी निराशा हुई, और इसी लिये यात्रासे वापिस आनेके बाद, अनेकान्त (वर्ष ११) की १२ वी किरणके सम्पादकीयमे, **'समयसारका अध्ययन और प्रवचन'** नामसे मुझे एक नोट लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ा, जो इस विषयके अपने पूर्व तथा वर्तमान अनुभवोंको लेकर लिखा गया है और जिसके अन्तमे यह भी प्रकट किया गया है कि—

"निःसन्देह समयसार-जैसा ग्रन्थ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास-जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विषय नहीं है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमें कोरी भावुकतामें बहनेवालोंकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकांत कहते हैं और जो मिथ्यात्वमें

परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।"

साथ ही उक्त किरणके उसी सम्पादकीयमे एक नोटद्वारा, '**पुरस्कारोंकी योजनाका नतीजा**' व्यक्त करते हुए, यह इच्छा भी व्यक्त कर दी गई थी कि यदि कमसे कम दो विद्वान अब भी समयसारकी १५वी गाथाके सम्बन्धमें अभीष्ट व्याख्यात्मक निबन्ध लिखनेके लिए अपनी आमादगी १५ जून तक जाहिर करेंगे तो उस विषयके पुरस्कारकी पुनरावृत्ति कर दी जाएगी अर्थात् निबन्धके लिये यथोचित समय निर्धारित करके पत्रोंमे उसके पुरस्कारकी पुनः घोषणा निकाल दी जाएगी। इतने पर भी किसी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्या लिखनेके लिए अपनी आमादगी जाहिर नही की और न सोनगढ़से ही कोई आवाज़ आई। और इसलिये मुझे अवशिष्ट विषयोंके पुरस्कारोकी योजनाको रद्द करके दूसरे नये पुरस्कारोकी योजना करनी पड़ी, जो वर्ष १२ के अनेकान्त किरण न० २ में प्रकाशित हो चुकी है। और इस तरह उक्त गाथाकी चर्चाको समाप्त कर देना पड़ा था।

हालमें कानजीस्वामीके '**आत्मधर्म**' पत्रका नया आश्विनका अंक नं० ७ दैवयोगसे[1] मेरे हस्तगत हुआ, जिसमें '**जिनशासन**'

---

१ 'दैवयोगसे' लिखनेका अभिप्राय इतना ही है कि 'आत्मधर्म' अपने पास या वीरसेवामन्दिरमे आता नहीं है, पहले वह 'अनेकान्त' के परिवर्तनमें आता था, जबसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी-जैसोंके कुछ लेख स्वामीजीके मन्तव्योंके विरुद्ध अनेकान्तमें प्रकाशित हुए तबसे आत्मधर्म अनेकान्तसे रुष्ट हो गया और उसने दर्शन देना ही बन्द कर दिया। पीछे किसी सज्जनने एक वर्षके लिये उसे अपनी ओरसे वीरसेवा-मन्दिरको भिजवाया था, उसकी अवधि समाप्त होते ही अब फिर उसका

शीर्षकके साथ कानजीस्वामीका एक प्रवचन दिया हुआ है और उसके अन्तमे लिखा है—"श्री **समयसार गाथा १५ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचनसे**।" इस प्रवचनकी कोई तिथि-तारीख साथमें सूचित नही की गई, जिससे यह मालूम होता कि क्या यह प्रवचन वही है जो अपने लोगोके सामने ता० १२ फरवरीको दिया गया था अथवा उसके बाद दिया गया कोई दूसरा ही प्रवचन है। यदि यह प्रवचन वही है जो १२ फरवरीको दिया गया था, जिसकी सर्वाधिक सभावना है, तो कहना होगा कि वह उस प्रवचनका बहुत कुछ संस्कारित रूप है। संस्कारका कार्य स्वयं स्वामीजीके द्वारा हुआ है या उनके किसी शिष्य अथवा प्रधान शिष्य श्रीरामजी मानिकचन्दजी दोशी वकीलके द्वारा, जोकि आत्मधर्मके सम्पादक भी हैं; परन्तु वह कार्य चाहे किसीके भी द्वारा सम्पन्न क्यो न हुआ हो, इतना तो सुनिश्चित है कि यह लेखबद्ध हुआ प्रवचन स्वामीजीको दिखला-सुनाकर और उनकी अनुमति प्राप्त करके ही छापा गया है और इसलिए इसकी सारी जिम्मेदारी उन्हीके ऊपर है। अस्तु।

इस लेखबद्ध संस्कारित प्रवचनसे भी मेरी शकाओका कोई समाधान नही होता। आठमेसे सात शंकाओको तो इसमे प्रायः छुआ तक भी नहीं गया है, सिर्फ दूसरी शकाका ऊपरा-ऊपरी

दर्शन देना बन्द है; जबकि अपना 'अनेकान्त' पत्र कई वर्षोसे बराबर कानजीस्वामीकी सेवामे भेटस्वरूप जा रहा है। और इसलिए यह अंक अपने पास सोनगढके आत्मधर्म-आफिससे भेजा नही गया है—जबकि १५ वी गाथाका विषय होनेसे भेजा जाना चाहिए था—बल्कि दिल्लीमें एक सज्जनके यहाँसे इत्तफाकिया देखनेको मिल गया है। यदि यह अंक न मिलता तो इस लेखके लिखे जानेका अवसर ही प्राप्त न होता। इस अंकका मिलना ही प्रस्तुत लेखके लिखनेमें प्रधान निमित्त कारण है।

स्पर्श करते हुए जिनशासनके रूप-विषयमें जो कुछ कहा गया है वह बड़ा ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पड़ता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्रायः एकान्त मिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिनशासनके स्वरूप-विषयमें लोगोंको गुमराह करनेवाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तंभोको भी इसमे "**लौकिकजन**" "**अन्यमती**" जैसे शब्दोसे याद किया है और प्रकारान्तरसे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होने जिनशासनको ठीक समझा नही; यह सब असह्य जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमे समयाभावके होते हुए भी मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचनलेखपर अपने विचार व्यक्त करूँ, जिसमे सर्वसाधारणपर यह स्पष्ट हो जाय कि प्रस्तुत प्रवचन समयसारकी १५ वी गाथापर की जानेवाली उक्त शकाओका समाधान करनेमे कहाँ तक समर्थ है और जिनशासनका जो रूप इसमे निर्धारित किया गया है वह कितना सगत अथवा सारवान् है। उसीके लिए प्रस्तुत लेखका यह सब प्रयत्न है। आशा है सहृदय विद्वज्जन दोनो लेखोंपर गंभीरताके साथ विचार करनेकी कृपा करेगे और जहाँ कही मेरी भूल होगी उसे प्रेमके साथ मुझे सुझानेका भी कष्ट उठाएँगे, जिससे मैं उसको सुधारनेके लिए समर्थ हो सकूँ।

गाथाके एक पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्बन्ध

उक्त गाथाका एक पद '**अपदेससंतमज्झं**' इस रूपमे प्रचलित है। प्रवचनलेखमे गाथाको संस्कृतानुवादके रूपमे प्रस्तुत करते हुए इस पदका संस्कृत रूप '**अपदेशसान्तमध्यं**' दिया है, जिससे यह जाना जाता है कि श्रीकानजीस्वामीको पदका यह प्रचलित रूप ही इष्ट तथा मान्य है, जयसेनाचार्यने संत (सान्त) के स्थान-

पर जो **'सुत्त'** (सूत्र) शब्द रक्खा है वह आपको स्वीकार नहीं है। अस्तु, इस पदके रूप, अर्थ और सम्बन्धके विषयमें जो विवाद है उसे शका न० ५ मे निबद्ध किया गया है। छठी शंका इस पदके उस अर्थसे सम्बन्ध रखती है जिसे जयसेनाचार्यने **'अपदेससुत्तमज्झं'** पद मानकर अपनी टीकामें प्रस्तुत किया है और जो इस प्रकार है :—

"अपदेससुत्तमज्झं अपदेशसूत्रमध्यं, अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशशब्दः द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति।"

इसमे **'अपदेस'** का अर्थ जो **'द्रव्यश्रुत'** और **'सुत्तं'** का अर्थ **'भावश्रुत'** किया गया है वह शब्द-अर्थकी दृष्टिसे एक खटकनेवाली वस्तु है, जिसकी वह खटकन और भी बढ़ जाती है जब यह देखने मे आता है कि **'मध्य'** शब्द का कोई अर्थ नही किया गया—उसे वैसे ही अर्थसमुच्चयके साथमे लपेट दिया गया है।

कानजीस्वामीने यद्यपि **'सुत्त'** शब्दकी जगह **'संत** (सान्त)**'** शब्द स्वीकार किया है फिर भी इस पदका अर्थ वही द्रव्यश्रुत-भावश्रुतके रूपमें अपनाया है जिसे जयसेनाचार्यने प्रस्तुत किया है, चुनाँचे आपके यहाँसे समयसारका जो गुजराती अनुवाद सन् १९४२ मे प्रकाशित हुआ है उसमे **'सान्त'** का अर्थ **'ज्ञानरूपी-भावश्रुत'** दिया है, जो और भी खटकनेवाली वस्तु बन गया है।

सातवीं शंका इस प्रचलित पदके स्थानपर जो दूसरा पद सुझाया गया है उससे सम्बन्ध रखती है। वह पद है **'अपवेससंत-मज्झं'**। इस संसूचित तथा दूसरे प्रचलित पदमें परस्पर बहुत ही थोड़ा सिर्फ एक अक्षरका अन्तर है—इसमें **'वे'** अक्षर है तो उसमें

'दे', शेष सब ज्यों का त्यों है। लेखकोंकी कृपासे **'वे'** का **'दे'** लिखा जाना अथवा पन्नोके चिपक जाने आदिके कारण **'वे'** का कुछ अंश उड़कर उसका 'दे' बन जाना तथा पढ़ा जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इस संसूचित पदका अर्थ **'अनादिमध्यान्त'** होता है और यह विशेषण शुद्धात्माके लिए अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है, जिसके कुछ उदाहरण शंकामे नोट किये गये हैं और फिर पूछा गया है कि यदि पदका यह सुझाव ठीक नही है तो क्यो ? ऐसी स्थितिमें प्रचलित-पद और तद्विषयक यह सुझाव विचारणीय जरूर हो जाता है। इस तरह तीन शंकाएँ प्रचलित-पदके रूपादि-विषयसे सम्बन्ध रखती हैं, जिन्हें प्रवचनलेखमें विचारके लिये छुआ तक भी नही गया—समाधानकी तो बात ही दूर है—यह उस लेखको पढकर पाठक स्वयं जान सकते हैं। हो सकता है कि स्वामीजीके पास इन शंकाओके समाधान-विषय-मे कुछ कहनेको न हो और इसीसे उन्होंने अपने उस वाक्य ("जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनमे ही कह देता हूँ") के अनुसार कुछ न कहा हो। कुछ भी हो, पर इससे समयसारके अध्ययनकी गहराईको ठेस जरूर पहुँचती हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि गत वर्ष (सन् १९५२ में) सागरमे वर्णीजयन्तीके अवसर पर और इस वर्ष खास इन्दौरमे यात्राके अवसर पर मेरी इस पदके रूपादि-विषयमे पं० वंशीधरजी न्यायालंकारसे भी, जो कि जैन-सिद्धान्तके एक बहुत बड़े ज्ञाता हैं, चर्चा आयी थी, उन्होने उक्त सुझावको ठीक बतलाते हुए कहा कि हम पहलेसे इस पदको **'अप्पाणं'** पदका विशेषण मानते आये हैं, और तब इसके **'अप-देससुत्तमज्झं'** (अप्रदेशसूत्रमध्यं) रूपको लेकर एक दूसरे ही ढंगसे

इसके 'अनादिमध्यान्त' अर्थकी कल्पना करते थे जो कि एक क्लिष्ट कल्पना थी। अब इसके प्रस्तावित रूपसे अर्थ बहुत ही स्पष्ट तथा सरल (सहज बोधगम्य) हो गया है। साथ ही यह भी बतलाया कि श्रीजयसेनजीने इस पदका जो अर्थ किया है और उसके द्वारा इसे '**जिणसासणं**' पदका विशेषण बनाया है वह ठीक तथा सगत नही है।

गाथाके अर्थमें अतिरिक्त विशेषण

प्रस्तुत गाथाका अर्थ करते हुए उसमें आत्माके लिये पूर्व गाथा-प्रयुक्त '**नियत**' और '**असंयुक्त**' विशेषणोको उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है, जो कि इस गाथामे प्रयुक्त नही हुए हैं। इन्ही अप्रयुक्त एव अतिरिक्त विशेपणोके ग्रहणसे शका न० ८ का सम्बन्ध है और उसमे यह जिज्ञासा प्रकट की गई है कि इन विशेपणोका ग्रहण क्या मूलकारके आशयानुसार है ? यदि है तो फिर १४वी गाथामे प्रयुक्त हुए पॉच विशेषणोंको इस गाथामे क्रमभग करके क्यों रखा गया है जब कि १४वी गाथाके पूर्वार्धको ज्योका त्यो रख देनेपर भी काम चल सकता था अर्थात् शेप दो विशेपणो '**अविशेष**' और '**असंयुक्त**' को उपलक्षण-द्वारा ग्रहण किया जा सकता था ? और यदि नही है, तो फिर अर्थमे इनका ग्रहण करना ही अयुक्त है। इस शकाको भी स्वामीजीने अपने प्रवचनमे छूआ तक नही है, और इसलिए इसके विपयमे भी वही बात कही जा सकती हैं, जो पिछली तीन शंकाओके विपयमे कही गई है—अर्थात् इस शकाके विषयमे भी उन्हे कुछ कहनेके लिए नही होगा और इसीसे कुछ नही कहा गया।

यहाँ पर एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि कुछ अर्सा हुआ मुझे एक पत्र रोहतक (पूर्वपंजाब) से डाक-

द्वारा प्राप्त हुआ था जिसपर स्थानके साथ पत्र लिखनेकी तारीख तो है, परन्तु बाहर भीतर कहीं भी पत्र भेजनेवाले सज्जनका कोई नाम उपलब्ध नही होता। संभवतः वे सज्जन बाबू नानकचन्दजी एडवोकेट जान पड़ते हैं, जो कि समयसारके स्वाध्यायके प्रेमी हैं और उस प्रेमी होनेके नाते ही पत्रमें कुछ लिखनेके प्रयासका उल्लेख भी किया गया है। इस पत्रमे आठवीं शंकाके विषयमें जो कुछ लिखा है उसे उपयोगी समझकर यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

'गाथा न० १५ के पहले चरणमे जो क्रम-भग है वह बहुत ही रहस्यमय है। यदि गाथा नं० १५ मे गाथा नं० १४ का पूर्वार्ध दे दिया जाता तो दो विशेषण '**अविशेष**' और '**असंयुक्त**' छूट जाते। ये विशेपण किसी दूसरे विशेषणके उपलक्षण नहीं हो सकते। क्रमभग करने पर दो विशेषण '**नियत**' और '**असंयुक्त**' छूटे हैं सो इनमेसे '**नियत**' विशेषण तो '**अनन्य**' का उपलक्षण है। जो वस्तु अनन्य होती है वह '**नियत**' अवश्य होती है, इस कारण अनन्य कह देनेसे नियतपना आ ही गया। इसी तरह 'अविशेष' कहनेसे असंयुक्तपना आ ही गया। संयोग विशेषोमे ही हो सकता है सामान्यमे नही—सामान्य तो दो द्रव्योका सदा ही जुदा जुदा रहता है। सयुक्तपना किसी द्रव्यके एक विशेषका दूसरे द्रव्यके विशेषसे एकत्व हो जाना है। श्रीकुन्दकुन्दने क्रमभंग करके अपनी (निर्माण) कलाका प्रदर्शन किया है और गाथा न० १५ मे भी शुद्धनयके पूर्णस्वरूपको सुरक्षित रक्खा है। अविशेष और असंयुक्तका इस प्रकारका सम्बन्ध अन्य तीन विशेषणो-से नहीं है जिस प्रकारका नियतका अनन्यसे असंयुक्तका अविशेषसे है।'

शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन

प्रस्तुत गाथामे आत्माको अबद्धस्पृष्टादि-रूपसे देखनेवाले शुद्धात्मदर्शीको सम्पूर्ण जिनशासनका देखनेवाला बतलाया है। इसीसे प्रथमादि चार शंकाओंका सम्बन्ध है। पहली शंका सारे जिनशासनको देखनेके प्रकार तरीके अथवा ढंग (पद्धति) आदिसे सम्बन्ध रखती है, दूसरीमें उस **द्रष्टा-द्वारा** देखे जानेवाले जिनशासनका रूप पूछा गया है, तीसरीमे उस रूपविशिष्ट जिनशासनका कुछ महान् आचार्यो-द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनके साथ भेद-अभेदका प्रश्न है, और चौथीमे भेद न होनेकी हालतमे यह सवाल किया गया है कि तब इन आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी सगति कैसे बैठती है? इनमेसे पहली, तीसरी और चौथी इन तीन शंकाओके विषयमें प्रवचनलेख प्रायः मौन है। उसमें बार-बार इस बातको तो अनेक प्रकारसे दोहराया गया है कि जो शुद्धात्माको देखता-जानता है वह समस्त जिनशासनको देखता-जानता है अथवा उसने उसे देख-जान लिया; परन्तु उन विशेषणोके रूपमे शुद्धात्माको देखने-जानने-मात्रसे सारे जिन-शासनको कैसे देखता-जानता है या देखने-जाननेमें समर्थ होता है अथवा किस प्रकारसे उसने उसे देख-जान लिया है, इसका कहीं भी कोई स्पष्टीकरण नही है और न भेदाऽभेदकी बातको उठाकर उसके विषयमे ही कुछ कहा गया है; सिर्फ दूसरी शंकाके विषयभूत जिनशासनके रूप-विषयको लेकर उसीके सम्बन्धमें जो कुछ कहना था वह कहा गया है। अब आगे उसीपर विचार किया जाता है।

श्रीकानजीस्वामी महाराजका कहना है कि '**जो शुद्ध आत्मा**

है वह जिनशासन है' यह आपके प्रवचनका मूल सूत्र है, जिसे प्रवचनलेखमें अग्रस्थान दिया गया है और इसके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि शुद्धात्मा और जिनशासन दोनों एक ही हैं, नामका अन्तर है, जिनशासन ही शुद्धात्माका दूसरा नाम है। परन्तु शुद्धात्मा तो जिनशासनका एक विषय प्रसिद्ध है, वह स्वयं जिनशासन अथवा समग्र जिनशासन कैसे हो सकता है ? जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं, अशुद्धात्मा भी उसका विषय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेष पाँच द्रव्य भी उसके विषय हैं, कालचक्रके अवसर्पिणो उत्सर्पिणी आदि भेद-प्रभेदोका तथा तीन लोककी रचनाका विस्तृत वर्णन भी उसके अन्तर्गत है। वह सप्त तत्त्वो, नव पदार्थो, चौदह गुणस्थानों, चतुर्दशादि जीवसमासो, षट् पर्याप्तियों, दस प्राणों, चार संज्ञाओ, चौदह मार्गणाओं, द्विविध-चतुर्विध्यादि उपयोगों और नयो तथा प्रमाणोंकी भारी चर्चाओ एवं प्ररूपणाओंको आत्मसात् किये अथवा अपने अंक (गोद) मे लिये हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुवा रत्नत्रयादि धर्म-विधानों, कुमार्गमथनो और कर्मप्रकृतियोके कथनोपकथनसे भरपूर है। संक्षेपमे जिनशासन जिनवाणीका रूप है, जिसके द्वादश अग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिये हुए प्रसिद्ध हैं। ऐसी हालतमें जब कि शुद्धात्मा जिनशासनका एकमात्र विषय भी नही है तब उसका जिनशासनके साथ एकत्व कैसे स्थापित किया जा सकता है ? उसमे तो गुणस्थानों तथा मार्गणाओं आदिके स्थान तक भी नही हैं; जैसा कि स्वय कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें प्रतिपादित किया है[1]।

---

[1] देखो, समयसार गाथा ५२ से ५५

यहाँ विषयको ठीक हृदयङ्गम करनेके लिए इतना और भी जान लेना चाहिए कि जिनशासनको जिनवाणीकी तरह जिन-प्रवचन, जिनागम–शास्त्र, जिनमत, जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिन-धर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग भी कानजी स्वामीने अपने प्रवचनमे जिनशासनके स्थानपर उसी तरह किया है जिस तरह कि '**जिनवाणी**' और '**भगवानकी वाणी**' जैसे शब्दो-का किया है। इससे जिन-भगवानने अपनी दिव्य-वाणीमे जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुए सूत्रो–शास्त्रोमे निबद्ध है वह सब जिनशासनका अग है, इसे खूब ध्यानमे रखना चाहिये।

अब मैं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत 'समयसार'के शब्दोमे ही यह बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिनभगवानने अपनी वाणीमे उन सब विषयोकी देशना (शास्ति) की है जिनकी ऊपर कुछ सूचना दी गई है। वे शब्द गाथाके नम्बर सहित इस प्रकार हैं:—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते················· ॥४८॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥
पज्जत्ताऽपज्जता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥
उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥
जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ जीवो ॥१४१॥
सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठी त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त-पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदएण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥
तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९१॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ॥१९८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ॥२४८॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ॥२५१॥
अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥
वद समिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥
ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

इन सब उद्धरणोंसे तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने प्रवचन-सारमे जिनशासनके साररूपमें जिन जिन बातोका उल्लेख अथवा संसूचन किया है उन सबको देखनेसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नही है, जिनशासन

निश्चय और व्यवहार दोनों नयों तथा उपनयोंके कथनको साथ-साथ लिये हुए ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप सारे अर्थसमूहको उसकी सब अवस्थाओं-सहित अपना विषय किये हुए है।

यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पॉच विशेषण—अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त—कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होंगे। परन्तु जिनशासनको अबद्धस्पृष्टादिक-रूपमे कैसे कहा जा सकता है? जिनशासन जिनका शासन अथवा जिनसे समुद्भूत शासन होनेके कारण जिनके साथ सम्बद्ध है, जिस अर्थसमूहकी प्ररूपणाको वह लिये हुए है उसके साथ भी वह सम्बद्ध है, जिन शब्दोके द्वारा अर्थसमूहकी प्ररूपणा की जाती है उनके साथ भी उसका सम्बन्ध है। इस तरह शब्द-समय, अर्थ-समय और ज्ञान-समय तीनोके साथ जब जिनशासनका सम्बन्ध है तब उसे अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा जा सकता है? नही कहा जा सकता। और कर्मोके बन्धनादिकी तो उसके साथ कोई कल्पना ही नही बनती, जिससे उस दृष्टिके द्वारा उसे अबद्धस्पृष्ट कहा जाय। **'अनन्य'** विशेषण भी उसके साथ घटित नहीं होता; क्योकि वह शुद्धात्माको छोड़कर अशुद्धात्माओं तथा अनात्माओको भी अपना विषय किये हुए है अथवा यो कहिए कि वह अन्य शासनो मिथ्यादर्शनोको भी अपनेमें स्थान दिये हुए है। श्री सिद्धसेनाचार्यके शब्दोमें तो वह जिनप्रवचन **'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय'** है, इतने पर भी भगवत्पदको प्राप्त है, अमृतका सार है और संविग्न-सुखाधिगम्य है; जैसा कि सन्मतिसूत्रके अन्तमें उसकी मंगलकामनाके लिये प्रयुक्त किये गये निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमियसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥३-७०॥

इस तरह जिनशासनका **'अनन्य'** विशेषण नही बनता । **'नियत'** विशेषण भी उसके साथ घटित नही होता; क्योकि प्रथम तो सब जिनो—तीर्थंकरोंका शासन फोनोग्राफके रिकार्डकी तरह एक ही अथवा एक ही प्रकारका नही रहा है अर्थात् ऐसा नहीं कि जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे खिरी वही जँची-तुली दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकली हो—बल्कि अपने अपने समयकी परिस्थिति, आवश्यकता और प्रतिपाद्योंके अनुरोधवश कथनशैली-की विभिन्नताके साथ कुछ-कुछ दूसरे भेदको भी वह लिये हुए रहा है, जिसका एक उदाहरण मूलाचारकी निम्न गाथासे जाना जाता है :—

बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति ।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥७-३६॥

इसमे बतलाया है कि 'अजितसे लेकर पार्श्वनाथपर्यन्त बाईस तीर्थंकरोने 'सामायिक' संयमका और ऋषभदेव तथा वीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' संयमका उपदेश दिया है ।' अगली गाथाओमें उपदेशकी इस विभिन्नताके कारणको, तात्कालिक परिस्थितियोका कुछ उल्लेख करते हुए, स्पष्ट किया गया है तथा और भी कुछ विभिन्नताओंका सकारण सूचन किया गया है । इस विषयका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये **'जैनतीर्थं-करोंका शासनभेद'** नामक वह निबन्ध देखना चाहिए जो प्रथमत: अगस्त सन् १६१६ के **'जैन हितैषी'** पत्रमें और बादको **'जैनाचार्योंका शासनभेद'** नामक ग्रन्थके परिशिष्टों **'क, ख'** में परिवर्धनादिके साथ प्रकाशित हुआ है और जिसमे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोके अनेक प्रमाणोंका संकलन है । साथ

ही, यह भी प्रदर्शित किया गया है कि उन भेदोंके कारण मुनियोंके मूलगुणोमे भी अन्तर रहा है।

दूसरे जिनवाणीके जो द्वादश अंग हैं उनमे अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण और दृष्टिवाद जैसे कुछ अग ऐसे हैं जो सब तीर्थकरोंकी वाणीमे एक ही रूपको लिये हुए नही हो सकते !

तीसरे, विविध नयभंगोंको आश्रय देने और स्याद्वादन्यायको अपनानेके कारण जिनशासन सर्वथा एक रूपमे स्थिर नही रहता—वह एक ही बातको कही कभी निश्चय नयकी दृष्टिसे कथन करता है तो उसीको अन्यत्र व्यवहारनयकी दृष्टिसे कथन करनेमे प्रवृत्त होता है और एक ही विषयको कही गौण रखता है तो दूसरी जगह उसीको मुख्य बनाकर आगे ले आता है। एक ही वस्तु जो एक नयदृष्टिसे विधिरूप है वही उसमे दूसरी नयदृष्टिसे निषेधरूप भी है। इसी तरह जो नित्यरूप है वही अनित्यरूप भी है और जो एक रूप है वही अनेकरूप भी है। इसी सापेक्ष नयवादमे उसकी समीचीनता संनिहित और सुरक्षित रहती है, क्योकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक हैं। इसीसे उसका व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ या असत्यार्थ नही होता। यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो श्री जिनेन्द्रदेव उसे अपनाकर उसके द्वारा मिथ्या उपदेश क्यो देते ? जिस व्यवहारनयके उपदेश अथवा वक्तव्यसे सारे जैनशास्त्र अथवा जिनागमके अंग भरे पड़े हैं वह तो निश्चयनयकी दृष्टिमें अभूतार्थ है, जबकि व्यवहारनयकी दृष्टिमे वह शुद्धनय या निश्चय-नय भी अभूतार्थ–असत्यार्थ है जोकि वर्तमानमे अनेक प्रकारके सुदृढ कर्मबन्धनोंसे बँधे हुए, नाना प्रकारकी परतन्त्रताओंको

धारण किये हुए, भवभ्रमण करते और दुःख उठाते हुए संसारी जीवात्माओंको सर्वथा कर्मबन्धनसे रहित अबद्धस्पृष्टादिके रूपमें उल्लेखित करता है और उन्हे पूर्णज्ञान तथा आनन्दमय बतलाता है, जो कि प्रत्यक्षके विरुद्ध ही नही, किन्तु आगमके भी विरुद्ध है—आगममे आत्माके साथ कर्मबन्धनका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। जिसका कुछ सूचन कुन्दकुन्दके समयसारादि ग्रन्थोमें भी पाया जाता है। यहाँ प्रसंगवश इतना और प्रकट किया जाता है कि शुद्ध या निश्चयनयको द्रव्यार्थिक और व्यवहार-नयको पर्यायार्थिकनय कहते हैं। ये दोनों मूलनय पृथक् रहकर एक दूसरेके वक्तव्यको किस दृष्टिसे देखते हैं और उस दृष्टिसे देखते हुए सम्यग्दृष्टि हैं या मिथ्यादृष्टि, इसका अच्छा विवेचन श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रकी निम्न गाथाओंमें किया है—

दव्वट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जवत्थ अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१०॥
उप्पज्जंति वियंति य भावा पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥११॥
दव्वं पज्जव-विउयं दव्व-विजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा होदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥
एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥१३॥

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—'पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक नयका वक्तव्य (विशेष) अवस्तु है। पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिमे सब पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता

है। द्रव्य पर्यायके (उत्पाद-व्ययके) बिना और पर्याय द्रव्यके (ध्रौव्यके) बिना नही होते; क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्य–सत्का अद्वितीय लक्षण हैं; ये (उत्पादादि) तीनों एक दूसरेके साथ मिलकर ही रहते हैं, अलग-अलग रूपमें ये द्रव्य (सत्) के कोई लक्षण नही होते और इसलिये दोनों मूलनय अलग-अलग रूपमे—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं। अर्थात् दोनो नयोमेसे जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सत् रूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशमे पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षीनयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थ रूपसे अपने विषय (वक्तव्य) का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशको अंशरूपमें ही (पूर्णरूपमें नही) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता : सम्यग्दृष्टि कहलाता है।'

ऐसी हालतमे जिनशासनका सर्वथा '**नियत**' विशेषण नहीं बनता। चौथा '**अविशेष**' विशेषण भी उसके साथ संगत नहीं बैठता; क्योकि जिनशासन अनेक विषयोके प्ररूपणादि-सम्बन्धी भारी विशेषताओको लिये हुए है, इतना ही नही, बल्कि अनेकान्तात्मक स्याद्वाद उसकी सर्वोपरि विशेषता है, जो अन्य शासनोमे नही पाई जाती। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें लिखा है कि '**स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम्** (१०२) अर्थात् '**स्यात्**' शब्दका प्रयोग आपके ही न्यायमे है, दूसरोके न्यायमे नही, जो कि अपने वाद (कथन) के पूर्व उसे न अपनानेके कारण अपने शत्रु आप बने हुए हैं।

साथ ही यह भी प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रका **'स्यात्'** शब्द-पुरस्सर कथनको लिये हुए जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन (शासन) है—वह दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) का अविरोधक होनेसे अनवद्य (निर्दोष) है, जब कि दूसरा **'स्यात्'** शब्दपूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन (शासन) नही है, क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोके विरोधको लिये हुए है (१३८)। अकलकदेवने तो स्याद्वादको जिनशासनका अमोघलक्षण बतलाया है; जैसाकि उनके निम्न सुप्रसिद्ध वाक्यसे प्रकट है—

श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादाऽमोघलांछनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

स्वामी समन्तभद्रने अपने **'युक्त्यनुशासन'** मे, श्रीवीरजिनके शासनको, एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न बतलाते हुए, जिन बिशेषोंकी विशिष्टतासे अद्वितीय प्रतिपादित किया है वे निम्न कारिकासे भली प्रकार जाने जाते हैं—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थं ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

इसमें बताया है कि वीरजिनका शासन दया, दम, त्याग और समाधिकी निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करनेवाला है और अनेकान्तवादसे भिन्न दूसरे सभी प्रवादों (प्रकल्पित एकान्तवादों) से अबाध्य है, (यही सब उसकी विशेषता है) और इसीलिये वह अद्वितीय है—सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है ।

और श्रीसिद्धसेनाचार्यने जिन-प्रवचन (शासन) के लिए

'मिथ्यादर्शन-समूहमय' **'अमृतसार'** जैसे जिन विशेषणोंका प्रयोग सन्मतिसूत्रकी अन्तिम गाथामें किया है उनका उल्लेख ऊपर आ चुका है, यहाँ उक्त सूत्रकी पहली गाथाको और उद्धृत किया जाता है जिसमें जिनशासनके दूसरे कई महत्वके विशेषणोंका उल्लेख है :—

सिद्धं सिद्धन्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमय-विसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥

इसमे भवको जीतनेवाले जिनों—अर्हन्तोंके शासनको चार विशेपणोंसे विशिष्ट बतलाया है—१. सिद्ध (अकल्पित एवं प्रतिष्ठित), २ सिद्धार्थोका स्थान (प्रमाणसिद्ध पदार्थोंका प्रतिपादक), ३. शरणागतोंके लिये अनुपम सुखस्वरूप (मोक्षसुख) तककी प्राप्ति करानेवाला ४ कुसमयोंके शासनका निवारक (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनारूढ बने हुए सब मिथ्यादर्शनोके गर्वको चूर-चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न) ।

स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव—जैसे महान् जैनाचार्योंके उपर्युक्त वाक्योसे जिनशासनकी विशेषताओं या उसके सविशेषरूपका ही पता नही चलता, बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूलस्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। परन्तु इस स्वरूप-कथनमे कही भी शुद्धात्माको जिनशासन नही बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई सज्जन उक्त महान् आचार्योंको, जो कि जिनशासनके स्तम्भस्वरूप माने जाते हैं, **'लौकिकजन'** या **'अन्यमती'** कहने लगे और यह भी कहने लगे कि **'उन्होंने जिनशासनको जाना या समझा तक नहीं'** तो विज्ञ पाठक उसे क्या कहेंगे, किन शब्दोसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेंगे यह मैं नहीं जानता, विज्ञ पाठक

इस विषयके स्वतन्त्र अधिकारी हैं और इसलिये इसका निर्णय मैं उन्हीं पर छोड़ता हूँ। यहाँ तो मुझे जिनशासन-सम्बन्धी इन उल्लेखोंके द्वारा सिर्फ इतना ही बतलाना या दिखलाना इष्ट है कि सर्वथा '**अविशेष**' विशेषण उसके साथ संगत नही हो सकता। और उसीके साथ क्या, किसीके भी साथ वह पूर्णरूपेण संगत नही हो सकता, क्योकि ऐसा कोई भी द्रव्य, पदार्थ या वस्तु-विशेष नही हैं जो किसी भी अवस्था, पर्याय, भेद, विकल्प या गुणको लिये हुए न हो। इन अवस्था तथा पर्यायादिका नाम ही '**विशेष**' है और इसलिये जो इन विशेषोंसे सर्वथा शून्य है, वह अवस्तु है। पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना पर्याय होते हो नहीं, दोनोमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इस सिद्धान्तको स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने भी अपने पंचास्तिकायग्रन्थकी निम्न गाथामें स्वीकार किया है और उसे श्रमणोका सिद्धान्त बतलाया है—

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

ऐसी हालतमे शुद्धात्मा भी इस श्रमण-सिद्धान्तसे बहिर्भूत नही हो सकता, उसे जो 'अविशेष' कहा गया है वह किस दृष्टिको लिये हुए है, इसे कुछ गहराईमे उतरकर जाननेकी जरूरत है। मात्र यह कह देनेसे काम नही चलेगा कि शुद्धनयकी दृष्टिसे वैसा कहा गया है; क्योकि कोई भी सम्यक्नय ऐसा नही है जो नियमसे शुद्धजातीय हो—अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो। जैसा कि सिद्धसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णत्थि णओ णियम शुद्धजाईओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणाय उ विसेसो ॥९॥

जो नय अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो वह सम्यक्नय न

होकर मिथ्यानय है। आचार्य सिद्धसेनने सन्मतिसूत्र (३-४६) में उसे दुर्निक्षिप्त शुद्धनय (अपरिशुद्धनय) बतलाया है और लिखा है कि वह स्व-पर दोनो पक्षोका विघातक होता है।

रहा पाँचवाँ **'असंयुक्त'** विशेषण, वह भी जिनशासनके साथ लागू नही होता; क्योकि जो शासन अनेक प्रकारके विशेषोसे युक्त है, अभेद-भेदात्मक अर्थतत्त्वोकी विविध कथनीसे संगठित है और अंगों आदिके अनेक सम्बन्धोको अपने साथ जोड़े हुए है उसे सर्वथा असयुक्त कैसे कहा जा सकता है ? नही कहा जा सकता।

इस तरह शुद्धात्मा और जिनशासनको एक बतलानेसे शुद्धात्माके जो पाँच विशेषण जिनशासनको प्राप्त होते हैं वे उसके साथ संगत नही बैठते। इसके सिवा शुद्धात्मा केवलज्ञानस्वरूप है, जब कि जिनशासनके द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ऐसे दो मुख्य भेद किये जाते हैं, जिनमे भावश्रुत श्रुतज्ञानके रूपमे है, जिसका केवलज्ञानके साथ और नही तो प्रत्यक्ष परोक्षका भेद तो है ही। रहा द्रव्यश्रुत, वह शब्दात्मक हो या अक्षरात्मक, दोनो ही अवस्थाओमें जड़ रूप है—ज्ञानरूप नही। चुनाँचे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी **'सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण जाणए किंचि। तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति॥'** इत्यादि गाथाओंमे ऐसा ही प्रतिपादन किया है और शास्त्र तथा शब्दको ज्ञानसे भिन्न बतलाया है। ऐसी हालतमे शुद्धात्माके साथ द्रव्यश्रुतका एकत्व स्थापित नही किया जा सकता और यह भी शुद्धात्मा तथा जिनशासनको एक बतलानेमें बाधक है।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि कानजी स्वामीके प्रवचनलेखके प्रथम पैराग्राफमें जो यह लिखा है कि—

'शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने

शुद्धआत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है। —यह बात श्री आचार्यदेव समयसारकी पन्द्रहवीं गाथामें कहते है :—'

यह सर्वांशमें ठीक नही है; क्योंकि उक्त गाथामें श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यने ऐसा कही भी नही कहा कि **'जो शुद्ध आत्मा है वह जिन शासन है'** और न **'इसलिये'** अर्थका वाचक कोई शब्द ही गाथामे प्रयुक्त हुआ है। यह सब कानजी स्वामीकी निजी कल्पना है। गाथामें जो कुछ कहा गया है उसका फलितार्थ इतना ही है कि जो आत्माको अबद्धस्पृष्टादि विशेषणोके रूपमें देखता है वह समस्त जिनशासनको भी देखता है।' परन्तु कैसे देखता है? शुद्धात्मा होकर देखता है या अशुद्धात्मा रहकर देखता है? किस दृष्टिसे या किन साधनोंसे देखता है और आत्माके इन विशेषणोंका जिनशासनको पूर्णरूपमें देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है और वह किस रीति-नीतिसे कार्यमे परिणत किया जाता है, यह सब उसमे कुछ बतलाया नही। इन्ही सब बातोंको स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत थी और इन्हीसे पहली शंकाका सम्बन्ध था, जिन्हें न तो स्पष्ट किया गया है और न शंकाका कोई दूसरा समाधान ही प्रस्तुत किया है—दूसरी बहुत सी फालतू बातोको प्रश्रय देकर प्रवचनको लम्बा किया गया है।

सारे जिनशासनको देखनेमें हेतु

श्रीकानजीस्वामीने अपने प्रवचनमें कहा है कि—**'शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है, इसलिए जो जीव अपने शुद्ध आत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।'** इस तर्कवाक्यसे यह फलित होता है कि अपने शुद्ध आत्माको देखने-जाननेवाला जीव जो समस्त जिनशासनको देखता-जानता है उसके उस

देखने-जाननेमें हेतु शुद्धात्मा और जिनशासनका (स्वरूपादिसे) एकत्व है । यह हेतु कानजी स्वामीके द्वारा नया ही आविष्कृत हुआ है; क्योंकि प्रस्तुत मूल गाथामे न तो ऐसा उल्लेख है कि **'जो शुद्धात्मा वह जिनशासन है'** और न सारे जिनशासनकी जानकारीको सिद्ध करनेके लिए किसी हेतुका ही प्रयोग किया गया है—उसमें तो '**इसलिये**' अर्थका वाचक कोई पद वा शब्द भी नही है जिससे बलात् हेतुप्रयोगकी कुछ कल्पना की जाती। ऐसी हालतमें स्वामीजीने अपने उक्त तर्कवाक्यकी बातको जो आचार्य कुन्दकुन्द-द्वारा गाथामे कही गई बतलाया है वह कुछ संगत मालूम न होकर उनकी निजी कल्पना ही जान पडती है। अस्तु, इस कल्पनाके द्वारा जिस नये हेतुकी ईजाद की गई है वह असिद्ध है अर्थात् शुद्धात्मा और समस्त जिनशासनका एकत्व किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होता, दोनोंको एक माननेमे अनेक असंगतियो अथवा दोषापत्तियाँ उपस्थित होती हैं, जिनका कुछ दिग्दर्शन एवं स्पष्टीकरण ऊपर '**शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन**' शीर्षकके नीचे किया जा चुका है।

जब यह हेतु असिद्धसाधनके रूपमे स्थित है तब इसके द्वारा समस्त जिनशासनको देखने-जानने रूप साध्यकी सिद्धि नही बनती। अभी तक सम्पूर्ण जिनशासनको देखने-जाननेका विषय विवादापन्न नही था—मात्र देखने-जाननेका प्रकारादि ही जिज्ञासाका विषय बना हुआ था—अब इस हेतु-प्रयोगने संपूर्ण जिनशासनके देखने-जाननेको भी विवादापन्न बनाकर उसे ही नही, किन्तु गाथाके प्रतिपाद्य-विषयको भी झमेलेमे डाल दिया है।

कानजी स्वामीने जिस प्रकार अपने उक्त तर्कवाक्यकी बातको श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-द्वारा गाथामें कही गई बतलाया है उसी प्रकार

यह भी बतलाया है कि "**इस गाथामें आचार्यदेवने जैनदर्शनका मर्म खोलकर रखा है** ।" यह कथन भी आपका कुछ संगत मालूम नही होता; क्योंकि गाथाके मूलरूपको देखते हुए उसमें जैनदर्शन अथवा जिनशासनके मर्मको **खोलकर रखने**-जैसी कोई बात प्रतीत नही होती। जिनशासनका लक्षण या स्वरूप तक भी उसमें दिया हुआ नही है। यदि दिया हुआ होता तो दूसरी शंकाका विषयभूत वह प्रश्न ही पैदा न होता कि '**उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस दृष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है** ?" गाथामें सारे जिनशासनको देखने मात्रका उल्लेख है—उसे सार या संक्षेपादिके रूपमे देखनेकी भी कोई बात नही है। **सारा** जिन-शासन अथवा जिनप्रवचन द्वादशाग-जिनवाणीके विशालरूपको लिये हुए है, उसे शुद्धात्मदर्शीके द्वारा—शुद्धात्माके द्वारा नही—कैसे देखा जाता है, किस दृष्टि या किन साधनोसे देखा जाता है, साक्षात्‌रूपमे देखा जाता है या असाक्षात्‌रूपमे और आत्माके उन **पाँच विशेषणोंका** जिनशासनको पूर्ण रूपमें देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है अथवा वे कैसे उसे देखनेमें सहायक होते हैं, ये सब बातें गाथामे जैनदर्शनके मर्मकी तरह रहस्यरूपमे स्थित हैं। उनमेसे किसीको भी आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने गाथामे खोलकर नही रक्खा है। जैनदर्शन अथवा जिनशासनके मर्मको खोलकर बतानेका कुछ प्रयत्न कानजीस्वामीने अपने प्रवचनमें जरूर किया है; परन्तु वे उसे यथार्थरूपमे खोलकर बता नही सके—भले ही आत्मधर्मके सम्पादक उक्त प्रवचनको उद्‌धृत करते हुए यह लिखते हों कि '**उस (१५ वीं गाथा) में भरा हुआ जैन-शासनका अतिशय महत्वपूर्ण रहस्य पूज्य स्वामीजीने इस प्रवचनमें स्पष्ट किया है (खोलकर रखा है)** ।' यह बात आगे चलकर पाठकोंको स्वतः मालूम पड़ जायगी। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही

बतलाना चाहता हूँ कि अपने द्वारा खोले गये मर्म या रहस्यको कानजीस्वामीका श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके मत्थे मढ़ना किसी तरह भी समुचित नही कहा जा सकता। इससे साधारण जनता व्यर्थ ही भ्रमका शिकार बनती है। अस्तु; कानजीस्वामीने जिन-शासनका जो भी मर्म या रहस्य अपने प्रवचनमे खोलकर रक्खा है उसका मूलसूत्र वही है कि '**जो शुद्ध आत्मा है वह जिनशासन है।**' यह सूत्र कितना सारवान् अथवा दोषपूर्ण है और जिन-शासनके विषयमे लोगोको कितना सच्चा ज्ञान देनेवाला या गुमराह करनेवाला है इसका कुछ दिग्दर्शन इस लेखमे पहले कराया जा चुका है। अब मैं जिनशासनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रवचनकी कुछ दूसरी बातोंको लेता हूँ।

जिनशासनका सार

प्रवचनमे आगे चलकर समस्त जिनशासनकी बातको छोड़कर उसके सारकी बातको लिया गया है और उसके द्वारा यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि शुद्धात्मदर्शनके साथ संपूर्ण जिनशासनके दर्शनकी संगति बिठलाना कठिन है। चुनांचे स्वामीजी सारका प्रसंग न होते हुए भी स्वयं प्रश्न करते हैं कि "**समस्त जैन-शासनका सार क्या है?**" और फिर उत्तर देते हैं—"**अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करना**"। जब उक्त सूत्रके अनुसार शुद्धात्मा और जिनशासन एक हैं तब जिनशासनका सार वही होना चाहिये था जो कि शुद्धात्माका सार है न कि शुद्धात्माका अनुभव करना; परन्तु शुद्धात्माका सार कुछ बतलाया नहीं गया, अतः जिनशासनका सार जो शुद्धात्माका अनुभवन प्रकट किया गया है वह विवादापन्न हो जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो वह संसारी अशुद्धात्माके कर्तव्यका एक आंशिक सार है—पूरा

सार भी नहीं है; क्योंकि एकमात्र शुद्धात्माका अनुभव करके रह जाना वा उसीमें अटके रहना उसका कर्तव्य नही है, बल्कि उसके आगे भी उसका कर्तव्य है और वह है कर्मोपाधिजनित अपनी अशुद्धताको दूर करके शुद्धात्मा बननेका प्रयत्न, जिसे एकान्त-दृष्टिके कारण छोड़ दिया गया जान पड़ता है। और इसलिये वह जिनशासनका सार नही है। जिनशासन वस्तुतः निश्चय और व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो मूल नयोके कथनोपकथनोको आत्मसात् किये हुए है और इसलिये उसका सार वही हो सकता है जो किसी एक ही नयके वक्तव्यका एकान्त पक्षपाती न होकर दोनोंके समन्वय एवं अविरोधको लिए हुए हो। इस दृष्टिसे अति संक्षेपमें यदि जिनशासनका सार कहना हो तो यह कह सकते हैं कि—**नयविरोधसे रहित जीवादि तत्त्वों तथा द्रव्योंके विवेक सहित जो आत्माके समीचीन विकास-मार्गका प्रतिपादन है वह जिनशासन है।'** ऐसी हालतमें केवल अपने शुद्धात्माका अनुभव करना यह जिनशासनका सार नही कहला सकता। अशुद्धात्माओंके अनुभव बिना शुद्धात्माका अनुभव बन भी नही सकता और न अशुद्धात्माके कथन बिना शुद्धात्मा कहनेका व्यवहार ही बन सकता है। अतः जिनशासनसे अशु-द्धात्माके कथनको अलग नही किया जा सकता और जब उसे अलग नही किया जा सकता तब सारे जिनशासनके देखने और अनुभव करनेमे एकमात्र शुद्धात्माको देखना या अनुभव करना नहीं आता, जिसे जिनशासनके साररूपमें प्रस्तुत किया गया है।

वीतरागता और जैनधर्म

श्रीकानजीस्वामी अपने प्रवचनमे कहते हैं कि "**शुद्ध आत्माके अनुभवसे वीतरागता होती है और वही (वीतरागता ही) जैन-**

धर्म है, जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नहीं है ।'' यह कथन आपका सर्वथा एकान्त-दृष्टिसे आक्रान्त है—व्याप्त है, क्योकि जैनदर्शनका ऐसा कोई भी नियम नही जिससे शुद्धात्मानुभवके साथ वीतरागताका होना अनिवार्य कहा जा सके—वह होती भी है और नही भी होती । शुद्ध आत्माका अनुभव हो-जानेपर भी रागादिककी परिणति चलती है, इन्द्रियोके विषय भोगे जाते हैं, राज्य किये जाते हैं, युद्ध लड़े जाते हैं और दूसरे भी अनेक राग-द्वेषके काम करने पड़ते हैं, जिन सबके उल्लेखोसे जैनशास्त्र भरे पड़े हैं । इसकी वजह है दोनोके कारणोका अलग अलग होना । शुद्धात्माका अनुभव जिस सम्यग्दर्शनके द्वारा होता है उसके प्रादुर्भावमे दर्शनमोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वादि तीन और चरित्रमोहनीयकी अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी चार ऐसी सात कर्म-प्रकृतियोके उपशमादिक निमित्त कारण हैं और वीतरागता जिस वीतरागचरित्रका परिणाम है उसकी प्रादुर्भूतिमे चारित्रमोहनीयकी समस्त कर्म-प्रकृतियोका क्षय निमित्त कारण है । दोनोके निमित्त कारणोका एक साथ मिलना अवश्यभावी नही है और इसलिये स्वात्मानुभवके होते हुए भी बहुधा वीतरागता नही होती ।

इस विषयमे यहाँ दो उदाहरण पर्याप्त होगे—एक सम्यग्दृष्टि देवोका और दूसरा राजा श्रेणिकका । राजा श्रेणिकको मोहनीयकर्मकी उक्त सातों प्रकृतियोके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ और इसलिए उसके द्वारा अपने शुद्धात्माका अनुभव तो हुआ परन्तु वीतरागताका कारण उपस्थित न होनेके कारण वीतरागता नही आ सकी और इसलिये उसने राज्य किया, भोग भोगे, अनेक प्रकारके राग-द्वेषोको अपनेमे आश्रय दिया तथा अपघात करके मरण किया । वह मरकर पहले नरकमें गया, वहाँ भी उसके

वह क्षायिक सम्यक्त्व और स्वात्मानुभव मौजूद है परन्तु प्रस्तुत वीतरागता पास नही फटकती, नित्य ही नरक-पर्यायाश्रित अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम और अशुभतर देह वेदना तथा विक्रियाका शिकार बना रहना होता है, साथ ही दुःखोंको समभाव-विहीन होकर सहना पड़ता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि देव, जिनके क्षायिक सम्यक्त्व तक होता है, अपने आत्माका अनुभव तो रखते हैं, परन्तु प्रस्तुत वीतरागता उनके भी पास नही फटकती है—वे सदा रागादिकमें फँसे हुए, अपना जीवन प्रायः **आमोद-प्रमोद** एवं क्रीडाओमे व्यतीत करते हैं, पर्यायधर्मके कारण चरित्रके पालनेमें सदा असमर्थ भी बने रहते हैं, फिर भी चारित्रसे अनुराग तथा धर्मात्माओंसे प्रेम रखते हैं और उनमेसे कितने ही जैन तीर्थकरोके पचकल्याणकके अवसरो पर आकर उनके प्रति अपना बड़ा ही भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं, ऐसा जैनशास्त्रोसे जाना जाता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि शुद्धात्माके अनुभवसे वीतरागताका होना लाजिमी नही है और इसलिए कानजी स्वामीका एकमात्र अपने शुद्धात्माके अनुभवसे वीतरागताका होना बतलाना कोरा एकान्त है।

इसी तरह '**वीतरागता ही जैनधर्म है**; जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नही है' यह कथन भी कोरी एकान्त कल्पनाको लिये हुए है; क्योकि इससे केवल वीतरागता अथवा सर्वथा वीतरागता ही जैनधर्मका एकमात्र रूप रहकर उस समीचीन चरित्रधर्मका विरोध आता है जिसका लक्षण अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्ति है, जो व्रतो, समितियों तथा गुप्तियों आदिके रूपमें स्थित है और जिसका जिनेन्द्रदेवने व्यवहारनयकी दृष्टिसे अपने

शासनमें प्रतिपादन किया है; जैसा कि द्रव्यसंग्रहकी निम्न गाथासे प्रकट है :—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥ ४५ ॥

साथ ही, मुनिधर्म और श्रावक (गृहस्थ) धर्म दोनोंके लोपका भी प्रसंग आता है; क्योकि दोनों ही प्राय: सरागचरित्रके अंग हैं, जिसे व्यवहारचारित्र भी कहते हैं। इनके लोपसे जिन-शासनका विरोध भी सुघटित होता है; क्योंकि जिनशासनमें इनका केवल उल्लेख ही नही, बल्कि गृहस्थो तथा गृहत्यागियोके लिये इन धर्मोके अनुष्ठानका विधान है और इन दोनो धर्मोके कथनों तथा उल्लेखोंसे अधिकांश जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं जिनमें श्रीकुन्दकुन्दके चारित्तपाहुड आदि ग्रन्थ भी शामिल हैं। इन दोनो धर्मोको जिनशासनसे अलग करदेनेपर जैनधर्मका फिर क्या रूप रह जायगा उसे विज्ञ पाठक सहजमे ही अनुभव कर सकते हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सरागचारित्र, जो सब ओरसे शुभभावोंकी सृष्टिको साथमे लिये होता है तथा शुभोपयोगी कहलाता है, वीतरागचारित्रका साधक है—बाधक नही[1]। उसकी भूमिकामें प्रवेश किये बिना वीतराग-चारित्र तक किसीकी गति भी नहीं होती। वीतरागचारित्र मोक्षका यदि साक्षात् हेतु है तो वह पारम्पर्य हेतु है[2]। दोनों

१. इसीसे स्वामी समन्तभद्रने 'रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः' इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि चारित्रका अनु-ष्ठान—चाहे वह सकल हो या विकल—रागद्वेषकी निवृत्तिके लिये किया जाता है।

२. **"स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोगलक्षण-वीतरागचारित्रस्य पार-पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति।"—द्रव्यसंग्रहटीकायां, ब्रह्मदेवः**

मोक्षके हेतु हैं तब एकका दूसरेके साथ विरोध कैसा ? इसीसे जिस निश्चयनयका विषय वीतरागचारित्र है वह अपने साधक अथवा सहायक व्यवहारनयके विषयका विरोधी नहीं होता, बल्कि अपने अस्तित्वके लिये उसकी अपेक्षा रखता है। जो निश्चयनय व्यवहारकी अपेक्षा नही रखता, व्यवहारनयके विषयको जैनधर्म न बतलाकर उसका विरोध करता है और एकमात्र अपने ही विषयको जैनधर्म बतलाता हुआ निरपेक्ष होकर प्रवर्तता है वह शुद्ध–सच्चा निश्चयनय न होकर अशुद्ध एवं मिथ्या निश्चयनय है और इसलिये वीतरागतारूप अपनी अर्थक्रियाके करनेमें असमर्थ है; क्योंकि निरपेक्ष सभी नय मिथ्या होते हैं तथा अपनी अर्थ-क्रिया करनेमें असमर्थ होते हैं और सापेक्ष सभी नय सच्चे वास्तविक होते तथा अपनी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ होते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् (देवागम)

ऐसी हालतमें जो निरपेक्ष निश्चयनयका अवलम्बन लिये हुए हों वे वीतरागताको प्राप्त नही होते। इसीसे श्रीअमृतचन्द्र-सूरि और जयसेनाचार्यने पचास्तिकायकी १७२वी गाथाकी टीकामें लिखा है कि 'व्यवहार तथा निश्चय दोनो नयोके अवि-रोधसे (सापेक्षसे) ही अनुगम्यमान हुआ वीतरागभाव अभीष्ट-सिद्धि (मोक्ष) का कारण बनता है, अन्यथा दोनों नयोंके परस्पर निरपेक्षसे नही :—

तदिदं वीतरागत्वं व्यवहार-निश्चयाऽविरोधेनैवानुगम्य-मानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।'—(अमृतचंद्रः)

'तच्च वीतरागत्वं निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां साध्य-साधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षा-भ्यामिति वार्तिकं।   —(जयसेनः)

यदि जैनधर्ममे रागमात्रका सर्वथा अभाव माना जाय तो जैनधर्मानुयायी जैनियोके द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके धर्ममेसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान नही बन सकेगा। सन्तान-पालन और प्रजा-संरक्षणादि जैसे लौकिक धर्मोंकी बात छोडिये, देवपूजा, अर्हन्तादिकी भक्ति, स्तुति-स्तोत्रोंका पाठ, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, दया, परोपकार, इन्द्रियनिग्रह, कषाय-जय, मन्दिर-मूर्तियोका निर्माण, प्रतिष्ठापन, व्रतानुष्ठान, धर्मोपदेश, प्रवचन, धर्मश्रवण, वात्सल्य, प्रभावना, सामायिक और ध्यान जैसे कार्योंको ही लीजिये, जो सब पारलौकिकक धर्मकार्योंमे परिगणित हैं और जैन धर्मानुयायियोके द्वारा किये जाते हैं। ये सब अपने-अपने विषयके रागभावको साथमे लिये हुए होते हैं और उत्तरोत्तर अपने विषयकी रागोत्पत्तिमे बहुधा कारण भी पड़ते हैं। रागभावको साथमें लिये हुए होने आदिके कारण ये सब कार्य क्या जैनधर्मके कार्य नही हैं? यदि जैनधर्मके कार्य नहीं है तब क्या जैनेतरधर्मके कार्य हैं या अधर्मके कार्य हैं? श्रीकानजी स्वामी इनमेसे बहुतसे कार्योको स्वयं करते-कराते तथा दूसरोके द्वारा अनुष्ठित होने पर उनका अनुमोदन करते हैं, तब क्या उनके ये कार्य जैनधर्मके कार्य नही हैं? मै तो कमसे कम इसे माननेके लिये तैयार नही हूँ और न यही माननेके लिये तैयार हूँ कि ये सब कार्य उनके द्वारा बिना रागके ही जड़ मशीनोकी तरह सचालित होते हैं। मैने उन्हे स्वयं स्वेच्छासे प्रवचन करते, शंका-समाधान करते और अर्हन्तादिकी भक्तिमे भाग लेते देखा है, उनकी सस्था 'जैनस्वाध्यायमन्दिरट्रस्ट' तथा उसकी प्रवृत्तियोको भी देखा है और साथ ही यह भी देखा है कि वे रागरहित नही है। परन्तु यह सब कुछ देखते हुए भी मेरे हृदय पर ऐसी कोई छाप नहीं पड़ी जिसका फलितार्थ यह हो कि आप जैन नहीं या आपके कार्य

जैनधर्मके कार्य नहीं। मैं आपको पक्का जैन समझता हूँ, आपके कार्योंको रागमिश्रित होने पर भी जैनधर्मके कार्य मानता हूँ और यह भी मानता हूँ कि उनके द्वारा जैनधर्म तथा समाजकी कितनी ही सेवा हुई है। इसीसे आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा बहुमान है—आदर है और मैं आपके सत्संगको अच्छा समझता हूँ; परन्तु फिर भी सत्यके अनुरोधसे मुझे यह मानने तथा कहनेके लिये बाध्य होना पडता है कि आपके प्रवचन बहुधा एकान्तकी ओर ढले होते हैं—उनमे जाने-अनजाने वचनाऽनयका दोष बना रहता है। जो वचन-व्यवहार समीचीन नय-विवक्षाको साथमें लेकर नही होता अथवा निरपेक्षनय या नयोंका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त किया जाता है वह वचनानयके दोषसे दूषित कहलाता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें यह प्रकट करते हुए कि वीरजिनेन्द्रका अनेकान्त-शासन सभी अर्थक्रियार्थी जनोके द्वारा अवश्य आश्रयणीय ऐसी एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न है, फिर भी वह जो विश्वव्यापी नहीं हो रहा है उसके कारणोंमें प्रवक्ताके इस वचनाऽनय दोषको प्रधान एव असाधारण बाह्य कारणके रूपमें स्थित बतलाया है[1]—कलिकाल तो उसमे साधारण बाह्य कारण है—और यह ठीक ही है, प्रवक्ताओके प्रवचन यदि वचनानयके दोषसे रहित हों और वे सम्यक् नयविवक्षाके द्वारा वस्तुतत्त्वको स्पष्ट एवं विशद करते हुए बिना किसी अनुचित पक्षपातके श्रोताओंके सामने रक्खे जायँ तो उनसे श्रोताओका कलुषित आशय भी बदल सकता है और तब कोई ऐसी खास वजह नहीं रहती

१, कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥ ५॥

जिससे जिनशासन अथवा जैनधर्मका विश्वव्यापी प्रचार न हो सके। स्वामी समन्तभद्रके प्रवचन स्याद्वादन्यायकी तुलामे तुले हुए होनेके कारण वचनानयके दोषसे रहित होते थे, इसीसे वे अपने कलियुगी समयमे श्रीवीरजिनके शासनतीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं, जिसका उल्लेख कनडीके एक प्राचीन शिलालेखमे पाया जाता है[1] और जिस तीर्थ-प्रभावनाका अकलंकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने भी बड़े गौरवके साथ अपने अष्ट-शती भाष्यमे उल्लेख किया है[2]।

श्रीकानजीस्वामी अपने प्रवचनों पर यदि कड़ा अकुश रखें, उन्हे निरपेक्ष-निश्चयनयके एकान्तकी ओर ढलने न दें, उनमें निश्चय-व्यवहार दोनो नयोंका समन्वय करते हुए उनके वक्तव्यो-का सामजस्य स्थापित करें, एक दूसरेके वक्तव्यको परस्पर उपकारी मित्रोके वक्तव्यकी तरह चित्रित करे—न कि स्व-पर-प्रणाशी शत्रुओके वक्तव्यकी तरह—और साथ ही कुन्दकुन्दा-चार्यके '**ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे**' इस वाक्य-को खास तौरसे ध्यानमें रखते हुए उन लोगोको जो कि अपरम-भावमे स्थित हैं—वीतरागचरित्रकी सीमातक न पहुँचकर साधक-अवस्थामें स्थित हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन कर रहे हैं—व्यवहारनयके द्वारा उस व्यवहारधर्मका उपदेश दिया करें जिसे तरणोपायके रूपमे '**तीर्थ**' कहा गया है, तो उनके द्वारा

---

१. देखो, युक्त्यनुशासनकी प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय।

२. तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेर्भव्यानामकलंकभाव-कृतये प्राभावि काले कलौ। येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं, कृत्वा विव्रियते···।

जिनशासनकी अच्छी ठोस सेवा बन सकती है और जैनधर्मका प्रचार भी काफी हो सकता है। अन्यथा, एकान्तकी ओर ढल जानेसे तो जिनशासनका विरोध और तीर्थका लोप ही घटित होगा।

हाँ, जब स्वामीजी रागरहित वीतराग नही और उनके कार्य भी रागसहित पाये जाते हैं तब एक नई समस्या और खडी होती है, जिसे समयसारकी निम्न दो गाथाये उपस्थित करती हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणमयं तु सव्वागमधरो वि॥ २०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥ २०२॥

इन गाथाओंमे बतलाया है कि 'जिसके परमाणुमात्र भी रागादिक विद्यमान है वह सर्वागमधारी (श्रुतकेवली-जैसा) होने पर भी आत्माको नही जानता, जो आत्माको नही जानता वह अनात्माको भी नही जानता, (इस तरह) जो जीव-अजीवको नही जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?—नही हो सकता। आचार्य श्रीकुन्दकुन्दके इस कथनानुसार क्या श्रीकानजी स्वामीके विषयमें यह कहना होगा कि वे रागादिके सद्भावके कारण आत्मा-अनात्मा (जीव-अजीव) को नही जानते और इसलिए सम्यग्दृष्टि नहीं है? यदि नहीं कहना होगा और नहीं कहना चाहिए तो यह बतलाना होगा कि वे कौनसे रागादिक हैं जो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यको विवक्षित हैं। उन रागादिकके सामने आने पर यह सहजमे ही फलित हो जायगा कि दूसरे रागादिक ऐसे भी हैं जो जैनधर्ममे सर्वथा निषिद्ध नहीं हैं।

जहाँ तक मैंने इस विषयमे विचार किया है और स्वामी समन्तभद्रने अपने युक्त्यनुशासनको **'एकान्तधर्माभिनिवेशमूला:'** इत्यादि कारिकासे मुझे उसकी दृष्टि प्रदान की है, उक्त गाथोक्त

रागादिक वे रागादिक हैं जो एकान्त-धर्माभिनिवेशमूलक होते हैं--एकान्तरूपसे निश्चय किये हुए वस्तुके किसी भी धर्ममें अभिनिवेशरूप जो मिथ्याश्रद्धान है वह उनका मूल कारण होता है--और मोही-मिथ्यादृष्टि जीवोंके मिथ्यात्वके उदयमें जो अहंकार-ममकारके परिणाम होते हैं उनमे वे उत्पन्न होते है। ऐसे रागादिक जिन्हे अमृतचन्द्राचार्यने उक्त गाथाओंकी टीकामें मिथ्यात्वके कारण 'अज्ञानमय' लिखा है, वे जहाँ जीवादिकके सम्यक् परिज्ञानमे बाधक होते हैं वहाँ समतामे--वीतरागतामें--भी बाधक होते हैं इसीसे उन्हे निषिद्ध ठहराया गया है। प्रत्युत इसके, जो रागादिक एकान्त धर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमें चरित्रमोहके उदयवश होते हैं वे उक्त गाथाओंमें विवक्षित नही हैं। वे ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमे बाधक हैं और न समता-वीतरागताकी साधनामें ही बाधक होते हैं। सम्यक्दृष्टि जीव विवेकके कारण उन्हे कर्मोदयजन्य रोगके समान समझता है और उनको दूर करनेकी बराबर इच्छा रखता एव चेष्टा करता है। इसीसे जिनशासनमें उन रागादिके निषेधकी ऐसी कोई खास बात नहीं जैसी कि मिथ्यादर्शनके उदयमे होनेवाले रागादिककी है। सरागचारित्रके धारक श्रावकों तथा मुनियोमे ऐसेही रागका सद्भाव विवक्षित है--जो रागादिक दृष्टिविकारके शिकार हैं वे विवक्षित नही हैं।

इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि न तो एकमात्र वीतरागता ही जैनधर्म है और न जैनशासनमे रागका सर्वथा निषेध ही निर्दिष्ट है। अतः कानजीस्वामीका **'वीतरागता ही जैनधर्म है'** इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहारनयके

वक्तव्यका विरोधी है, वचनानर्थके दोषसे दूषित है और जिन-शासनके साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती।

क्या शुभ भाव जैनधर्म नहीं ?

श्री कानजीस्वामीने अपने प्रवचन-लेखमें आचार्य कुन्दकुन्दके भावप्राभृतकी गाथाको उद्धृत करके यह बतलानेकी चेष्टा की है कि जिनशासनमें पूजादिक तथा व्रतोके अनुष्ठानको 'धर्म' नही कहा है, किन्तु 'पुण्य' कहा है। धर्म दूसरी चीज है और वह मोह-क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम है:—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

इस गाथामें पूजा-दान-व्रतादिकके धर्मरूप होनेका कोई निषेध नही, 'पुण्णं' पदके द्वारा उन्हे पुण्य-प्रसाधक धर्मके रूपमें उल्लेखित किया गया है। धर्म दो प्रकारका होता है—एक वह जो शुभ-भावोके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्ध-भावोके द्वारा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकारके कर्मास्रवका कारण नही होता। प्रस्तुत गाथामे दोनों प्रकारके धर्मोका उल्लेख है। यदि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी दृष्टिमे पूजा-दान-व्रतादिक धर्म-कार्य न होते तो वे रयणसारकी निम्न गाथामे दान तथा पूजाको श्रावकोका मुख्य धर्म और ध्यान तथा अध्ययनको मुनियोंका मुख्य धर्म न बतलाते :—

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि ॥११॥

और न चारित्रप्राभृतकी निम्नगाथामे अहिंसादिव्रतोके अनुष्ठान-रूप संयमाचरणको श्रावकधर्म तथा मुनिधर्मका नाम ही देते :—

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उद्देसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥२६॥

उन्होंने तो चारित्रप्राभृतके अन्तमे सम्यक्त्व-सहित इन दोनों धर्मोका फल अपुनर्भव (मुक्त–सिद्ध) होना लिखा है । तब वे दान-पूजा-व्रतादिकको धर्मकी कोटिसे अलग कैसे रख सकते हैं ? यह सहज ही समझा जा सकता है ।

स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार) मे सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु·' इस वाक्यके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको वह समीचीनधर्म बतला कर जिसे धर्मके ईश्वर तीर्थकरादिकने निर्दिष्ट किया है उस धर्मकी व्याख्या करते हुए सम्यक्चारित्रके वर्णनमे '**वैयावृत्य**' को शिक्षाव्रतोमे अन्तर्भूत धर्मका एक अग बतलाया है, जिसमें दान तथा सयमियोकी अन्य सब सेवा और देव-पूजा ये तीनो शामिल हैं; जैसा कि उक्त ग्रन्थके निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११॥
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२॥
देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ ११३ ॥

साथ ही यह भी बतलाया है कि धर्म नि·श्रेयस तथा अभ्युदय दोनो प्रकारके फलोको फलता है, जिसमे अभ्युदय पुण्यप्रसाधक अथवा पुण्यरूप धर्मका फल होता है और वह पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्यको बल, परिजन और काम-भोगोंकी समृद्धि एवं अतिशयको लिये रहता है; जैसा कि तत्स्वरूप-निर्देशक निम्न पद्यसे जाना जाता है :—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बल-परिजन-काम-भोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥३५॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब वाक्योंसे स्पष्ट है कि **पूजा तथा दानादिक धर्मके अंग हैं**, वे मात्र अभ्युदय अथवा पुण्य-फलको फलनेकी वजहसे धर्मकी कोटिसे नहीं निकल जाते। धर्म अभ्युदयरूप पुण्य-फलको भी फलता है, इसीसे लोकमें भी पुण्यकार्यको धर्मकार्य और धर्मको पुण्य कहा जाता है। जिस पुण्यके विषयमें **'पुण्यप्रसादात्किं किं न भवति'** (पुण्यके प्रसादसे क्या कुछ नही होता) जैसी लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, वह यों ही धर्मकी कोटिसे निकाल कर उपेक्षा किये जानेकी वस्तु नहीं है। तीन लोकके अधिपति धर्म-तीर्थंकरके पदकी प्राप्ति भी उस सर्वातिशायि पुण्यका ही फल है—पुण्यसे भिन्न किसी दूसरे धर्मका नही, जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।

ऐसी हालतमे कानजीस्वामीका पूजा-दान तथा व्रतादिकको धर्मकी कोटिसे निकाल कर यह कहना कि उनका करना 'धर्म' नही है और इसके लिये जैनमत तथा जिनेन्द्र भगवानकी दुहाई देते हुए यह प्रतिपादन करना कि **'जैनमतमें जिनेश्वर भगवानने व्रत-पूजादिके शुभ भावोंको धर्म नहीं कहा है—आत्माके वीतरागभावको ही धर्म कहा है।'**[1] कितना असंगत तथा वस्तु-स्थितिके विरुद्ध है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

---

१. श्रीकानजी स्वामीकी सोनगढ़ीय संस्थासे प्रकाशित समयसार (गुटका) में भी धर्मका अर्थ 'पुण्य' किया है।
(देखो गाथा २१० पृ० १५७)

मैं तो यहाँ सिर्फ इतना ही कहूँगा कि यह सब कथन जिन-शासनके एकांगी अवलोकन अथवा उसके स्वरूप-विषयक अधूरे एवं विकृत ज्ञानका परिणाम है। जब श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् एवं पुरातन आचार्य, जो कि जैनधर्मके आधारस्तम्भ माने जाते हैं, पूजा-दान-व्रतादिकको धर्मका अंग बतलाते हैं, तब जैनमत और जिनेश्वरदेवका वह कौनसा वाक्य हो सकता है जो धर्मरूपमे इन क्रियाओंका सर्वथा उत्थापन करता हो? कोई भी नही हो सकता। शायद इसीसे वह प्रमाणमें उपस्थित नही किया जा सका। इतने पर भी जो विद्वान् आचार्य पूजा-दान-व्रतादिको 'धर्म' प्रतिपादन करते हैं उन्हे "लौकिक जन" तथा "अन्यमती" तक कहनेका दुःसाहस किया गया है, यह बडा ही चिन्ताका विषय है। इस विषयमे कानजी महाराजके शब्द इस प्रकार हैं:—

"कोई-कोई लौकिकजन तथा अन्यमती कहते है कि पूजादिक तथा व्रत-क्रिया सहित हो वह जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नही है। देखो, जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं, उन्हें "लौकिक जन" और "अन्यमती" कहा है।"

इन शब्दोंकी लपेटमें, जाने-अनजाने, श्रीकुन्द-कुन्द समन्तभद्र, उमास्वामी, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दादि सभी महान् आचार्य आ जाते हैं, क्योंकि इनमेंसे किसीने भी शुभभावोंका जैनधर्ममे निषेध नही किया है, प्रत्युत इसके, उन्होने अनेक प्रकारसे उनका विधान किया है। ऐसे चोटीके महान् आचार्योंको भी "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" बतलाना दुःसाहसकी ही नहीं, किन्तु धृष्टताकी भी हद हो जाती है। ऐसी अविचारित एवं बेतुकी वचनावली शिष्टजनोंको बहुत ही अखरती तथा असह्य जान पड़ती है।

जिन कुन्दकुन्दाचार्यका कानजी स्वामी सबसे अधिक दम भरते हैं और उन्हें अपना आराध्य गुरुदेव बतलाते हैं वे भी जब पूजा-दान-व्रतादिकका धर्मके रूपमें स्पष्ट विधान करते हैं तब अपने उक्त वाग्बाणोंको चलाते हुए उन्हें कुछ आगा-पीछा सोचना चाहिए था। क्या उन्हें यह समझ नहीं पड़ा कि इससे दूसरे महान् आचार्य ही नहीं, किन्तु उनके आराध्य गुरुदेव भी निशाना बने जा रहे है ?

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी दोनों प्रकारके श्रमणों (मुनियों) को जैन-धर्म-सम्मत माना है। जिनमेंसे एक अनास्रवी और दूसरा सास्रवी होता है, अर्हन्तादिमें भक्ति और प्रवचनाभियुक्तोंमें वत्सलताको मुनियोकी शुभचर्या बतलाया है; शुद्धोपयोगी श्रमणोके प्रति वन्दन, नमस्करण, अभ्युत्थान और अनुगमन द्वारा आदर-सत्कारकी प्रवृत्तिको, जो सब शुद्धात्मवृत्तिके संत्राणकी निमित्तभूत होती है, सरागचारित्रकी दशामें मुनियोकी चर्यामे सम्यग्दर्शन-ज्ञानके उपदेश, शिष्योके ग्रहण-पोषण और जिनेन्द्र पूजाके उपदेशको भी विहित बतलाया है, साथ ही यह भी बतलाया है कि जो मुनि काय-विराधनासे रहित हुआ नित्य ही चातुर्वर्ण्य श्रमण-संघका उपकार करता है वह रागकी प्रधानताको लिये हुए श्रमण होता है, परन्तु वैयावृत्यमें उद्यमी हुआ मुनि यदि काय-खेदको धारण करता है तो वह श्रमण नहीं रहता, किन्तु गृहस्थ (श्रावक) बन जाता है; क्योकि उस रूपमें वैयावृत्य करना श्रावकोंका धर्म है; जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथाओसे प्रकट है :—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥३-४५॥

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥-४६॥
वंदण-णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥-४७॥
दंसण-णाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ -४८ ॥
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो सो ॥ -४९ ॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावज्जत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि, हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ -५० ॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके इन वचनोसे स्पष्ट है कि जैन-धर्म या जिनशासनसे शुभ भावोको अलग नही किया जा सकता और न मुनियो तथा श्रावकोंके सरागचरित्रको ही उससे पृथक् किया जा सकता है। ये सब उसके अग हैं, अंगोंसे हीन अगी अधूरा या लंडूरा होता है। तब कानजी स्वामीका उक्त कथन जिनशासनके दृष्टिकोणसे कितना बहिर्भूत एवं विरुद्ध है उसे बतलाने की जरूरत नही रहती। खेद है कि उन्होंने पूजा-दान-व्रतादिकके शुभ भावोंको धर्म मानने तथा प्रतिपादन करने वालोको "**लौकिकजन**" तथा "**अन्यमती**" तो कह डाला, परन्तु यह बतलानेकी कृपा नही की कि उनके उस कहनेका क्या आधार है—किसने कहाँपर वैसा मानने तथा प्रतिपादन करने-वालोंको "**लौकिक जन**" आदिके रूपमें उल्लेखित किया है? जहाँ तक मुझे मालूम है ऐसा कही भी उल्लेख नही हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारमें '**लौकिक जन**' का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है :—

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि।३-६९

इसमें आचार्य जयसेनकी टीकानुसार, यह बतलाया गया है कि—'जो वस्त्रादि परिग्रहका त्यागकर निर्ग्रन्थ बन गया और दीक्षा लेकर प्रव्रजित हो गया है ऐसा मुनि यदि ऐहिक कार्योंमें प्रवृत्त होता है अर्थात् भेदाभेदरूप रत्नत्रयभावके नाशक ख्याति-पूजा-लाभके निमित्तभूत ज्योतिष-मंत्रवाद और वैद्यकादि जैसे जीवनोपायके लौकिक कर्म करता है, तो वह तप-संयमसे युक्त हुआ भी '**लौकिक**' (दुनियादार) कहा गया है।

इस लक्षणके अन्तर्गत वे आचार्य तथा विद्वान् कदापि नही आते जो पूजा-दान-व्रतादिके शुभ भावोंको 'धर्म' बतलाते हैं। तब कानजी महाराजने उन्हे '**लौकिक जन**' ही नही, किन्तु '**अन्यमती**' तक बतलाकर जो उनके प्रति गुरुतर अपराध किया है उसका प्रायश्चित्त उन्हें स्वयं करना चाहिए। ऐसे वचनाऽनयके दोषसे दूषित निरर्गल वचन कभी कभी मार्गको बहुत बड़ी हानि पहुँचानेके कारण बन जाते हे। शुद्धभाव यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्तिका मार्ग है—साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नही होती, फिर साधनकी अवहेलना कैसी? साधनरूप मार्ग ही जैन तीर्थकरोका तीर्थ है, धर्म है, और उस मार्गका निर्माण व्यवहारनय करता है। शुभ-भावोके अभावमे अथवा उस मार्गके कट जानेपर कोई शुद्धत्वको प्राप्त नहीं होता। शुद्धात्माके गीत गाये जायें और शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग अपने पास हो नहीं, तब उन गीतोसे क्या नतीजा? शुभभावरूप मार्गका उत्थापन सचमुचमे जैनशासनका उत्थापन है और जैन तीर्थके लोपकी ओर कदम बढ़ाना है—भले ही वह कैसी भी भूल, गलती, अजानकारी या नासमझीका परिणाम क्यों न हो?

शुभमें अटकनेसे डरनेकी भी बात नहीं है। यदि कोई शुभमें

अटका रहेगा तो शुद्धत्वके निकट तो रहेगा—अन्यथा शुभसे किनारा करनेपर तो इधर-उधर अशुभ राग तथा द्वेशादिकमे भटकना पड़ेगा और फलस्वरूप अनेक दुर्गतियोंमें जाना होगा। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने इष्टोपदेशमे ठीक कहा है :—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्बत नारकम्।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥ ३॥

अर्थात्—व्रतादि शुभ राग-जनित पुण्यकर्मोके अनुष्ठान-द्वारा देवपद (स्वर्ग) का प्राप्त करना अच्छा है, न कि हिसादि अव्रतरूप पापकर्मोको करके नरक-पदको प्राप्त करना। दोनोमे बहुत बडा अन्तर उन दो पथिकोके समान है जिनमेसे एक छायामे स्थित होकर सुखपूर्वक अपने साथीकी प्रतीक्षा कर रहा है और दूसरा वह है जो तेज धूपमे खडा हुआ अपने साथीकी बाट देख रहा है और आतपजनित कष्ट उठा रहा है। साथीका अभिप्राय यहाँ उस सुद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी सामग्रीसे है जो मुक्तिकी प्राप्तिमे सहायक अथवा निमित्तभूत होती है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी इसी बातको मोक्खपाहुडकी '**वरं वय-तवेहि सग्गो**' इत्यादि गाथा न० २५ मे निर्दिष्ट किया है। फिर शुभमे अटकनेसे डरनेकी ऐसी कौनसी बात है जिसकी चिन्ता कानजी महाराजको सताती है? खासकर उस हालतमे जबकि वे नियतिवादके सिद्धान्तको मान रहे हैं और यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय जिस क्रमसे जिस समय होनेकी है वह उस क्रमसे उसी समय होगी उसमें किसी भी निमित्तसे कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमे शुभभावोको अधर्म बतलाकर उनको मिटाने अथवा छुड़ानेका उपदेश देना भी व्यर्थका प्रयास जान पड़ता है। ऐसा करके वे उलटा अशुभ-राग-द्वेषादि-

की प्रवृत्तिका मार्ग साफ कर रहे हैं; क्यो कि शुद्धभाव छद्मस्था-वस्थामें सदा स्थिर नही रहता, कुछ क्षणमें उसके समाप्त होते ही दूसरा भाव आएगा। वह भाव यदि धर्मकी मान्यताके निकल जानेसे शुभ नही होगा तो लोगोकी अनादिकालीन कुसस्कारोके वश अशुभमें ही प्रवृत्त होना पडेगा।

अब यहाँ एक प्रश्न और पैदा होता है वह यह कि जब कानजी महाराज पूजादिके शुभ रागको धर्म नही मानते तब वे मन्दिर, मूर्तियो तथा मानस्तम्भादिके निर्माणमें और उनकी पूजा-प्रतिष्ठाके विधानमें योग क्यो देते हैं ? क्या उनका यह योगदान उन कार्योंको अधर्म एव अहितकर मानते हुए किसी मजबूरीके वशवर्ती है ? या तमाशा देखने-दिखलानेकी किसी भावनाको साथमे लिये हुए हैं ? अथवा लोक-संग्रहकी भावनासे लोगोको अपनी ओर आकर्षित करके उनमे अपने किसी मत-विशेषके प्रचार करनेकी दृष्टिसे प्रेरित है ? यह सब एक समस्या है, जिसका उनके द्वारा शीघ्र ही हल होनेकी बड़ी जरूरत है; जिससे उनकी कथनी और करनीमे जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके।

उपसंहार और चेतावनी

कानजी महाराजके प्रवचन बराबर एकान्तकी ओर ढले चले जा रहे हैं और इससे अनेक विद्वानोंका आपके विषयमें अब यह खयाल हो चला है कि आप वास्तवमें कुन्दकुन्दाचार्यको नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान् जैन आचार्यो को ही वस्तुत: मान्य करते हैं; क्योंकि उनमेंसे कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनोमेसे किसी एक ही नयके एकान्त-पक्षपाती नही हुए हैं; बल्कि दोनों नयोंको परस्पर साक्षेप,

अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए, एक दूसरेके मित्र-रूपमें मानते तथा प्रतिपादन करते आये हैं; जब कि कानजी महाराजकी नीति कुछ दूसरी ही जान पडती है। वे अपने प्रवचनोंमे निश्चय अथवा द्रव्यार्थिकनयके इतने एकान्त पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नयके वक्तव्यका विरोध तक कर बैठते हैं—उसे शत्रुके वक्तव्य-रूपमें चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहनेके लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तताको लक्षित कराता है और उन्हे श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंके उपासकोंकी कोटिसे निकाल कर अलग करता है अथवा उनके वैसा होनेमे सन्देह उत्पन्न करता है। और इसीलिए उनका अपनी कार्य-सिद्धिके लिए कुन्दकुन्दादिकी दुहाई देना प्रायः वैसा ही समझा जाने लगा है जैसा कि कांग्रेस सरकार गाँधीजीके विषयमें कर रही है—वह जगह-जगह गाँधीजी की दुहाई देकर और उनका नाम ले-लेकर अपना काम तो निकालती है परन्तु गाँधीजीके सिद्धान्तोंको वस्तुतः मान कर देती हुई नजर नहीं आती।

कानजी स्वामी और उनके अनुयायियोंकी प्रवृत्तियोंको देख-कर कुछ लोगोको यह भी आशंका होने लगी है कि कही जैन-समाजमे यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नही जा रहा है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायोंकी कुछ-कुछ ऊपरी बातोंको लेकर तीनोके मूलमें ही कुठाराघात करेगा और उन्हें आध्यात्मिकताके एकान्त गर्तमें धकेल कर एकान्त-मिथ्यादृष्टि बनानेमें यत्नशील होगा; श्रावक तथा मुनिधर्मके रूपमें सच्चारित्र एवं शुभ भावोंका उत्थापन कर लोगोको केवल 'आत्मार्थी' बनानेकी चेष्टामें संलग्न रहेगा; उसके द्वारा शुद्धात्मा-

के गीत तो गाये जायँगे, परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग पासमें न होनेसे लोग "इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टाः" की दशाको प्राप्त होंगे; उन्हें अनाचारका डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है—सर्व प्रकारके कर्म-बन्धनोसे रहित शुद्ध-बुद्ध है और उस पर वस्तुतः किसी भी कर्मका कोई असर नहीं होता, तब बन्धनसे छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका यत्न भी कैसा ? और पापकर्म जब आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते तब उनमें प्रवृत्त होनेका भय भी कैसा ? पाप और पुण्य दोनों समान, दोनों ही अधर्म; तब पुण्य जैसे कष्ट-साध्य कार्यमें कौन प्रवृत्त होना चाहेगा ? इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी समय पिछले तीनों सम्प्रदायोंका हित-शत्रु बनकर भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और जैन-समाजको वह हानि पहुँचाएगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायोंके संघर्ष-द्वारा नहीं पहुँच सकी है; क्योंकि तीनोमें प्राय. कुछ ऊपरी बातोमें ही संघर्ष है—भीतरी सिद्धान्तकी बातोंमे नहीं। इस चौथे सम्प्रदायके द्वारा तो जिन-शासनका मूलरूप ही परिवर्तित हो जायगा—वह अनेकान्तके रूपमे न रह कर आध्यात्मिक एकान्तका रूप धारण करनेके लिये बाध्य होगा।

यदि यह आशंका ठीक हुई तो निःसन्देह भारी चिन्ताका विषय है और इसलिए कानजी स्वामीको अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट कर देनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराजका ऐसा कोई अभिप्राय नही होगा जो उक्त चौथे जैन-सम्प्रदायके जन्मका कारण हो। परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायियोंकी जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो गई हैं उनसे वैसी आशंकाका होना अस्वा-भाविक नही है और न भविष्यमें वैसे सम्प्रदायकी सृष्टिको ही

अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अतः कानजी महाराजकी इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदायको जन्म देनेकी नहीं है, तो उन्हें अपने प्रवचनोंके विषयमे बहुत ही सतर्क एवं सावधान होनेकी जरूरत है—उन्हें केवल वचनो-द्वारा अपनी पोजीशनको स्पष्ट करनेकी ही जरूरत नही है, बल्कि व्यवहारादिके द्वारा ऐसा सुदृढ़ प्रयत्न करनेकी भी जरूरत है जिससे उनके निमित्तको पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्यमें खड़ा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदयमें जो आशंका उत्पन्न हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानोंका विचार उनके विषयमें कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाय।

आशा है अपने एक प्रवचन-लेखके कुछ अंशोंपर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेख पर[1] कानजी महाराज सविशेषरूपसे ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और उसका सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एवं प्रवचन-शैलीकी समुचित तब्दीलीके रूपमे शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।[2]

---

१. प्रस्तुत प्रवचन-लेखमे और भी बहुत सी बातें आपत्तिके योग्य हैं, जिन्हें इस समय छोड़ा गया है—नमूनेके तौर पर कुछ बातोंका ही यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है—जरूरत होनेपर फिर किसी समय उनपर विचार प्रस्तुत किया जा सकेगा।

२. अनेकान्त वर्ष १२, किरण ६,८ और वर्ष १३ कि०, १ नवम्बर १९५३, जनवरी और जुलाई १९५४।

हीराचन्दजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ : १६ :

प्राथमिक

'समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी' नामक मेरे लेख[1] के तृतीय भाग[2] को लेकर बा० हीराचन्दजी बोहरा बी० ए०, विशारद अजमेरने 'श्री पं० मुख्तार सा० से नम्र निवेदन' नामका एक लेख अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ भेजा है, जो उनकी इच्छानुसार अविकलरूपसे[3] अनेकान्त वर्ष १३ किरण ५ में प्रकाशित किया गया है। लेखसे ऐसा मालूम होता है कि बोहराजीने मेरे पिछले दो लेखोको—लेखके पूर्ववर्ती दो भागों-को—नही देखा या पूरा नही देखा, देखा होता तो वे मेरे समूचे लेखकी दृष्टिको अनुभव करते और तब उन्हें इस लेखके लिखनेकी जरूरत ही पैदा न होती। मेरा समग्र लेख प्रायः जिनशासनके स्वरूप-विषयक विचारसे सम्बन्ध रखता है और

---

१. यह लेख इस निबन्धावलीमें 'कानजी स्वामी और जिनशासन' नामसे मुद्रित है।

२. 'क्या शुभभाव जैनधर्म नही ?'

३. अविकल रूपसे प्रकाशित करनेमें बोहराजीके लेखमें कितनी ही गलत उल्लेखादिके रूपमें ऐसी मोटी भूलें स्थान पा गई हैं जिन्हें अन्यथा (सम्पादित होकर प्रकाशनकी दशामें) स्थान न मिलता; जैसे 'क्या शुभ भाव जैनधर्म नहीं ?' इसके स्थान पर 'क्या शुभभाव धर्म नहीं ?' इसे लेखका उपशीर्षक बतलाना।

कानजीस्वामीके 'जिन-शासन' शीर्षक प्रवचन-लेखको लेकर लिखा गया है, जो 'आत्मधर्म' के अतिरिक्त 'अनेकान्त' वर्ष १२, सन् १९५३ की किरण ६ में भी प्रकाशित हुआ है। "जिनशासन-को जिनवाणीकी तरह जिनप्रवचन, जिनागम-शास्त्र, जिनमत, जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिनधर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग स्वामीजीने अपने प्रवचन-लेखमें जिनशासनके स्थानपर उसी तरह किया है जिस तरह कि 'जिनवाणी' और 'भगवानकी वाणी' जैसे शब्दोका किया है। इससे जिन-भगवानने अपनी दिव्य वाणीमे जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुए सूत्रो—शास्त्रोमे निबद्ध है वह सब जिनशासनका-अग है, इसे खूब ध्यानमें रखना चाहिये।" ऐसी स्पष्ट सूचना भी मेरी ओरसे लेखके प्रथम भागमें की जा चुकी है, जो अनेकान्तकी उसी छठी किरणमे प्रकाशित हुआ है। और इस सूचनाके अनन्तर श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत समयसारके शब्दोमे यह भी बतलाया जा चुका है कि "एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नही है"; जैसा कि कानजी स्वामी "जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है" इन शब्दो-द्वारा दोनोंका एकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। शुद्धात्मा जिनशासनका एक विषय प्रसिद्ध है वह स्वयं जिनशासन अथवा समग्र जिनशासन नही है। "जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं। अशुद्धात्मा भी उसका विषय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेष पाँच द्रव्य भी उसके अन्तर्गत हैं। वह सप्ततत्त्वों, नवपदार्थों, चौदह गुणस्थानो, चतुर्दशादि जीव-समासों, षट्पर्याप्तियों, दस प्राणो, चार संज्ञाओं, चौदह मार्गणाओं, द्विविध-चतुर्विध्यादि उपयोगो और नयों तथा

प्रमाणोंकी भारी चर्चाओं एवं प्ररूपणाओंको आत्मसात् किये अथवा अपने अंक (गोद) मे लिये हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुआ रत्नत्रयादि धर्मविधानों, कुमार्गमथनों और कर्मप्रकृतियोंके कथनोपकथनसे भरपूर है। संक्षेपमे जिनशासन जिनवाणीका रूप है, जिसके द्वादश अंग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिए हुए प्रसिद्ध हैं।" इस कथनकी पुष्टिमें समयसारकी जो गाथाएँ उद्धृत की जा चुकी हैं उनके नम्बर हैं—४६, ४८, ५६, ५६, ६०, ६७, ७०, १०७, १४१, १६१, १६२, १६३, १६१, १६८, २५१, २६२, २७३, ३५३, ४१४। इन गाथाओको उद्धृत करनेके बाद प्रथम लेखमें लिखा था :—

"इन सब उद्धरणोसे तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने प्रवचनसारमें जिनशासनके साररूपमे जिन-जिन बातोका उल्लेख अथवा ससूचन किया है उन सबको देखनेसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि 'एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नहीं है। जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनो नयो तथा उपनयोंके कथनको साथ-साथ लिये हुए ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप सारे अर्थसमूहको उसकी सब अवस्थाओ-सहित अपना विषय किये हुए हैं'।"

साथ ही यह भी बतलाया था कि "यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पाँच विशेषण अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होगे, और फिर यह स्पष्ट किया गया था कि जिनशासन उक्त विशेषणोंके रूपमें परिलक्षित नही होता। वे उसके साथ घटित नही होते अथवा संगत नहीं बैठते और इसलिए दोनोंकी एकता बन नहीं सकती। इस स्पष्टीकरणमें

स्वामी समन्तभद्र, जिनसेन और अकलंकदेव-जैसे महान् आचार्योंके कुछ वाक्योंको भी उद्धृत किया गया था, जिनसे जिनशासनका बहुत कुछ मूल स्वरूप सामने आ जाता है, और फिर फलितार्थरूपमे विज्ञ पाठकोंसे यह निवेदन किया गया था कि—

"स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अलकदेव जैसे महान् जैनाचार्योके उपर्युक्त वाक्योमे जिनशासनकी विशेषताओ या उसके सविशेषरूपका ही पता नही चलता, बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूलस्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। परन्तु इस स्वरूप-कथनमे कही भी शुद्धात्माको जिनशासन नही बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई सज्जन उक्त महान् आचार्योको, जो कि जिनशासनके स्तम्भस्वरूप माने जाते हैं, 'लौकिकजन' या 'अन्यमती' कहने लगे और यह भी कहने लगे कि 'उन्होने जिनशासनको जाना या समझा तक नही' तो विज्ञ पाठक उसे क्या कहेंगे, किन शब्दोंसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेंगे (इत्यादि)।"

कानजी स्वामीका उक्त प्रवचन-लेख जाने-अनजाने ऐसे महान् आचार्योंके प्रति वैसे शब्दोंके संकेतको लिये हुए है, जो मुझे बहुत ही असह्य जान पड़े और इसलिए अपने पास समय न होते हुए भी मुझे उक्त लेख लिखनेके लिए विवश होना पड़ा, जिसकी सूचना भी प्रथम लेखमे निम्न शब्दो द्वारा की जा चुकी है—

"जिनशासनके रूपविषयमे जो कुछ कहा गया है वह बहुत ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पड़ता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्राय: एकान्तमिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिनशासनके स्वरूप-विषयमें लोगोको गुमराह करनेवाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तम्भोंको

भी इसमें "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" जैसे शब्दों से याद किया है और प्रकारान्तरसे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होने जिनशासनको ठीक समझा नही, यह सब असह्य जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमे समयाभावके होते हुए भी मेरे लिये यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचन-लेख पर अपने विचार व्यक्त करूँ (इत्यादि)।"

कानजी स्वामीके व्यक्तित्वके प्रति मेरा कोई विरोध नही है, मैं उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ; चुनांचे अपने लेखके दूसरे भागमे मैंने यह व्यक्त भी किया था कि—"आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा बहुमान है—आदर है और मैं आपके सत्संगको अच्छा समझता हूँ, परन्तु फिर भी सत्यके अनुरोधसे मुझे यह मानने तथा कहनेके लिये बाध्य होना पड़ता है कि आपके प्रवचन बहुधा एकान्तकी ओर ढले होते हैं—उनमे जाने-अनजाने वचनानयका दोष बना रहता है। जो वचन-व्यवहार समीचीन नय-विवक्षाको साथमे लेकर नही होता अथवा निरपेक्षनय या नयोका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त किया जाता है वह वचनानयके दोषसे दूषित कहलाता है।"

साथ ही यह भी प्रकट किया था कि—"श्री कानजी स्वामी अपने वचनोपर यदि कड़ा अंकुश रक्खें, उन्हें निरपेक्ष-निश्चय-नयके एकान्तकी ओर ढलने न दें, उनमें निश्चय-व्यवहार दोनों नयोंका समन्वय करते हुए उनके वक्तव्योंका सामजस्य स्थापित करें, एक दूसरेके वक्तव्यको परस्पर उपकारी मित्रोके वक्तव्यकी तरह चित्रित करें—न कि स्व-परप्रणाशी-शत्रुओके वक्तव्यकी तरह—और साथ ही कुन्दकुन्दाचार्यके **'ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे'** इस वाक्यको खास तौरसे ध्यानमे रखते हुए

उन लोगोंको जो कि अपरमभावमें स्थित हैं—वीतराग चारित्र-की सीमातक न पहुँचकर साधक-अवस्थामें स्थित हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन कर रहे हैं—व्यवहारनय के द्वारा उस व्यवहारधर्मका उपदेश दिया करें जिसे तरणोपायके रूपमें 'तीर्थ' कहा जाता है, तो उनके द्वारा जिनशासनको अच्छी सेवा हो सकती है और जिनधर्मका प्रचार भी काफी हो सकता है। अन्यथा, एकान्तकी ओर ढल जानेसे तो जिनशासनका विरोध और तीर्थका लोप ही घटित होगा।''

इसके सिवा समयसारकी दो गाथाओं नं० २०१, २०२ को लेकर जब यह समस्या खड़ी हुई थी कि इन गाथाओके अनुसार जिसके परमाणुमात्रमे भी रागादिक विद्यमान हैं वह आत्मा अनात्मा (जीव-अजीव) को नही जानता और जो आत्मा अनात्माको नही जानता वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता। कानजी स्वामी चूँकि राग-रहित वीतराग नही और उनके उपदेशादि कार्य भी रागसहित पाये जाते हैं, तब क्या रागादिकके सद्भावके कारण यह कहना होगा कि वे आत्मा-अनात्माको नहीं जानते और इसलिए सम्यग्दृष्टि नही हैं? इस समस्याको हल करते हुए मैंने लिखा था कि '**नहीं कहना चाहिए**' और फिर स्वामी समन्तभद्रके एक वाक्यकी सहायतासे उन रागादिकको स्पष्ट करके बतलाया था जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथाओंमें विवक्षित हैं—अर्थात् यह प्रकट किया था कि मिथ्यादृष्टिजीवोके मिथ्यात्वके उदयमे जो अहकार-ममकारके परिणाम होते हैं उन परिणामोसे उत्पन्न रागादिक यहाँ विविक्षित हैं—जो कि मिथ्यात्वके कारण 'अज्ञानमय' होते एव समतामे बाधक पड़ते हैं। वे रागादिक यहाँ विवक्षित नहीं हैं जोकि एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमें चारित्र-

मोहके उदय-वश होते हैं और जो ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमें बाधक हैं और न समता—वीतरागता-की साधनामें ही बाधक होते हैं। और इस तरह कानजी स्वामी-पर घटित होनेवाले आरोपका परिमार्जन किया था।

इन सब बातोंसे तथा इस बातसे भी कि कानजीस्वामीके चित्रोंको अनेकान्तमें गौरवके साथ प्रकाशित किया गया है यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कानजी स्वामीके व्यक्तित्वके प्रति अपनी कोई बुरी भावना नही, उनकी वाक्परिणति एवं वचनपद्धति सदोष जान पडती है, उसीको सुधारने तथा गलतफहमीको न फैलने देनेके लिये ही सद्भावनापूर्वक उक्त लेख लिखनेका प्रयत्न किया गया था। उसी सद्भावनाको लेकर लेखके पिछले (तृतीय) भागमें इस बातको स्पष्ट करके बतलाते हुए कि 'श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंने पूजा-दान-व्रतादि-रूप सदाचार (सम्यक्-चारित्र) को—तद्विषयक शुभभावोंको—धर्म बतलाया है—जैनधर्म अथवा जिनशासनके अंगरूपमें प्रति-पादन किया है। अतः उनका विरोध (उन्हें जिनशासनसे बाह्यकी वस्तु एवं अधर्म प्रतिपादन करना) जिनशासनका विरोध है, उन महान् आचार्योंका भी विरोध है और साथ ही अपनी उन धर्मप्रवृत्तियोंके भी वह विरुद्ध पड़ता है जिनमें शुभ-भावोंका प्राचुर्य पाया जाता है'; कानजी स्वामीके सामने एक समस्या हल करनेके लिये रक्खी थी और उसके शीघ्र हल होनेकी जरूरत व्यक्त की गई थी, जिससे उनकी कथनी और करणीमें जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामंजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके। साथ ही, उन पर यह प्रकट किया था कि उन्होंने जो ये शब्द कहे हैं कि "जो जीव पूजादिके शुभ-

रागको धर्म मानते हैं उन्हें 'लौकिक जन' और 'अन्यमती' कहा है" उनकी लपेट में, जाने-अनजाने, श्री कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वामी, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दादि सभी महान् आचार्य आ जाते हैं, क्योंकि उनमेंसे किसीने भी शुभभावोंका जैनधर्म(जिनशासन)मे निषेध नही किया है, प्रत्युत इसके अनेक प्रकार से उनका विधान किया है और इससे उनपर (कानजी स्वामीपर) यह आरोप आता है कि उन्होने ऐसे चोटी-के महान् जैनाचार्योंको 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' कहकर अपराध किया है, जिसका उन्हे स्वयं प्रायश्चित्त करना चाहिये।

इसके सिवा, उनपर यह भी प्रकट किया गया था "कि अनेक विद्वानोंका आपके विषयमे अब यह मत हो चला है कि आप वास्तवमे कुन्दकुन्दाचार्यको नही मानते, और न स्वामी समन्तभद्र-जैसे दूसरे महान् जैन आचार्योंको ही वस्तुतः मान्य करते हैं— यों ही उनके नामका उपयोग अपनी किसी कार्यसिद्धिके लिए उसी प्रकार कर रहे हैं जिस प्रकार कि सरकार अक्सर गाधीजी के नामका करती है और उनके सिद्धान्तोंको मानकर नही देती; और इस तरह एक दूसरे बड़े आरोपकी सूचना की गई थी। साथ ही अपने परिचयमे आए कुछ लोगोंकी उस आशकाको भी व्यक्त किया गया था जो कानजी स्वामी और उसके अनुयायियोकी प्रवृत्तियोको देखकर लोकहृदयोंमे उठने लगी हैं और उनके मुखसे ऐसे शब्द निकलने लगे हैं कि "कही जैन-समाजमे यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नही जा रहा है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायोंकी कुछ-कुछ ऊपरी बातोंको लेकर तीनोके मूलमें ही कुठाराघात करेगा" (इत्यादि)। और उसके बाद यह निवेदन किया गया था :—

"यदि यह आशंका ठीक हुई तो नि.सन्देह भारी चिन्ताका विषय है और इस लिए कानजी स्वामीको अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट कर देनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराजका ऐसा कोई अभिप्राय नही होगा जो उक्त चौथा जैन-सम्प्रदायके जन्मका कारण हो। परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायिओंकी जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो गई हैं उनसे वैसी आशंकाका होना अस्वाभाविक नहीं है और न भविष्यमे वैसे सम्प्रदायकी सृष्टिको ही अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अतः कानजी महाराजकी इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदायको जन्म देने की नही है, तो उन्हे अपने प्रवचनोके विषयमे बहुत ही सतर्क एवं सावधान होने की जरूरत है—उन्हें केवल वचनों द्वारा ही अपनी पोजीशनको स्पष्ट करनेकी जरूरत नही है, बल्कि व्यवहारादिकके द्वारा भी ऐसा सुदृढ प्रयत्न करने की जरूरत है जिससे उनके निमित्तको पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्यमें खड़ा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदयमें जो आशंका उत्पन्न हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानोंका विचार उनके विषयमें कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाय। आशा है अपने एक प्रवचनके कुछ अंशों पर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेखपर कानजी महाराज सविशेष रूपसे ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और उसका सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एव प्रवचन-शैली की समुचित तब्दीलीके रूपमें शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।"

मेरे इस निवेदन को पाँच महीनेका समय बीत गया; परन्तु खेद है कि अभीतक कानजी स्वामीकी ओरसे उनका कोई वक्तव्य मुझे देखनेको नही मिला, जिससे अन्य बातोंको छोड़कर कमसे

कम इतना तो मालूम पड़ता कि उन्होंने अपनी पोजीशनका क्या कुछ स्पष्टीकरण किया है, उस समस्याका क्या हल निकाला है जो उनके सामने रखी गई है, उन आरोपोका किस रूपमे परि-मार्जन किया है जो उनपर लगाये गये हैं, और लोकहृदयमे उठी एव मुँह पर आई हुई आशंका को निर्मूल करनेके लिए क्या कुछ प्रयत्न किया है। मैं बराबर श्रीकानजी महाराजके उत्तर तथा वक्तव्यकी प्रतीक्षा करता रहा हूँ और एक दो बार श्री हीराचन्दजी बोहराको भी लिख चुका हूँ कि वे उन्हें प्रेरणा करके उनका वक्तव्यादि शीघ्र भिजवाएँ, जिससे लगे हाथों उस-पर भी विचार किया जाय और अपनेसे यदि कोई गलती हुई हो तो उसे सुधार दिया जाय; परन्तु अन्तमे बोहराजीके एक पत्रको पढकर मुझे निराश हो जाना पड़ा। जान पडता है कानजी स्वामी सब कुछ पी गये हैं—इतने गुरुतर आरोपोकी भी अवाञ्छनीय उपेक्षा कर गये हैं—और कोई प्रत्युत्तर, स्पष्टीकरण या वक्तव्य देना नही चाहते। वे जिस पदमे स्थित हैं उसकी दृष्टिसे उनकी यह नीति बडी ही घातक जान पड़ती है। जब वे उपदेश देते हैं और उसमे दूसरोका खण्डन-मण्डन भी करते हैं तब मेरे उक्त लेखके विषयमे कुछ कहने अथवा अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिये उन्हे कौन रोक सकता था? वक्तव्य तो गलतियो-गलतफहमियोको दूर करने के लिये अथवा दूसरोंके समाधानकी दृष्टिसे बड़े-बड़े मन्त्रियो, सेनानायकों, राजेमहाराजो, राष्ट्रपतियो और धर्म-ध्वजियों तक को देने पड़ते हैं, तब एक ब्रह्मचारी श्रावकके पदमे स्थित कानजी स्वामीके लिये ऐसी कौन बात उसमे बाधक है, यह कुछ समझमे नही आता! वक्तव्य न देनेसे उल्टा उनके अहंकारका द्योतन होता है और दूसरी भी कुछ कल्पनाओंको अवसर मिलता है। अस्तु, उनका इस विषयमें

यह मौन कुछ अच्छा मालूम नही देता—उससे भविष्यमें हानि होनेकी भारी संभावना है। भविष्यमें यदि वैसा कोई चौथा सम्प्रदाय स्थापित होनेको हो तो स्वामीजीके शिष्य-प्रशिष्य कह सकते हैं कि यदि स्वामीजीको यह सम्प्रदाय इष्ट न होता तो वे पहले ही इसका विरोध करते जब उन्हें इसकी कुछ सूचना मिली थी, परन्तु वे उस समय मौन रहे हैं अतः **'मौनं सम्मति-लक्षणं'** की नीतिके अनुसार वे इस चौथे सम्प्रदायकी स्थापनासे सहमत थे, ऐसा समझना चाहिये। साथ ही किसी विषयमे परस्पर मत-भेद होने पर उन्हें यह भी कहनेका अवसर मिल सकेगा कि स्वामीजी कुन्दकुन्दादि आचार्योंका गुणगान करते हुए भी उन्हे वस्तुतः जैनधर्मी नही मानते थे—'लौकिक जन' तथा 'अन्यमती' समझते थे, इसीसे जब उन महान आचार्योंको वैसा कहनेका आरोप लगाया गया था तो वे मौन हो रहे थे—उन्होने उसका कोई विरोध नही किया था।

ऐसी वर्तमान और सम्भाव्य वस्तु-स्थितिमें मेरे समूचे लेखकी दृष्टिको ध्यानमें रखते हुए यद्यपि श्रीबोहराजीके लिये प्रस्तुत लेख लिखने अथवा उसको छापनेका आग्रह करनेके लिए कोई माकूल वजह नही थी, फिर भी उन्होने उसको लिखकर जल्दी अनेकान्तमे छापनेका जो आग्रह किया है वह एक प्रकारसे 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' की नीतिको चरितार्थ करता है।

लेखके शुरूमें कुछ शंकाओंको उठाकर मुझसे उनका समाधान चाहा गया है और फिर सबूतके रूपमें कतिपय प्रमाणोंको—अष्टपाहुडके टीकाकार पं० जयचन्दजी और मोक्षमार्गके रचयिता पं० टोडरमलजीके वाक्योंको साथ ही कुछ कानजी स्वामीके वाक्योंको भी—उपस्थित किया गया है, जिससे मैं शंकाओंका

समाधान करते हुए कही कुछ विचलित न हो जाऊँ; इस कृपाके लिए मैं श्री बोहराजीका आभारी हूँ। उनकी शंकाओंका समाधान आगे चल कर किया जायगा, यहाँ पहले उनके प्रमाणों पर एक दृष्टि डाल लेना और यह मालूम करना उचित जान पड़ता है कि वे कहाँ तक उनके अभिमत विषयके समर्थक होकर प्रमाण कोटिमें ग्रहण किये जा सकते हैं।

प्रमाण और उनकी जाँच

(१) श्रीकुन्दकुन्दके भावपाहुडकी ८३वीं गाथाके प० जयचन्दजीकृत 'भावार्थ' को डबल इनवर्टेडकामाज" ... " के भीतर इस ढंगसे उद्धृत किया गया है जिससे यह मालूम होता है कि वह उक्त गाथाका पूरा भावार्थ है—उसमें कोई घटा-बढ़ी नहीं हुई अथवा नही की गई है। परन्तु जाँचसे वस्तु-स्थिति कुछ दूसरी ही जान पड़ी। उद्धृत भावार्थका प्रारम्भ निम्न शब्दोमें होता है :—

"लौकिकजन तथा अन्यमती केई कहे हैं जो पूजा आदिक शुभ क्रिया तिनिविषै अर व्रतक्रियासहित है सो जिनधर्म है सो ऐसा नांही है। जिनमतमे जिनभगवान ऐसा कह्या है जो पूजादिक विषै अर व्रतसहित होय सो तो पुण्य है।"

इस अंश पर दृष्टि डालते ही मुझे यहाँ धर्मका 'जिन' विशेषण अन्यमतीका कथन होनेसे कुछ खटका तथा असंगत जान पड़ा, और इसलिये मैंने इस टीकाग्रन्थकी प्राचीन प्रतिको देखना चाहा। खोज करते समय दैवयोगसे देहलीके नये मन्दिरमे एक अति सुन्दर प्राचीन प्रति मिल गई जो टीकाके निर्माणसे सवा दो वर्षबाद (सं० १८६६ पौष बदी २ को) लिखकर समाप्त हुई है। इस टीका-प्रतिसे बोहरा जीके उद्धरणका मिलान करते

समय स्पष्ट मालूम हो गया कि वहाँ धर्मके साथ 'जिन' या कोई दूसरा विशेषण लगा हुआ नही है। साथ ही यह भी पता चला कि मोह-क्षोभसे रहित आत्माके निज परिणामको धर्म बतलाते हुए भावार्थका जो अन्तिम भाग "तथा एकदेश मोहके क्षोभकी हानि होय है ताते शुभ परिणामकूँ भी उपचारसे धर्म कहिये है" इस वाक्य से प्रारम्भ होता है उसके पूर्वमें निम्न दो वाक्य छूट गये अथवा छोड़ दिए गये हैं :—

"ऐसे धर्मका स्वरूप कह्या है। अर शुभ परिणाम होय तब या धर्मकी प्राप्तिका भी अवसर होय है।"

इस भावार्थमे पं० जयचन्दजीने दो दृष्टियोंसे धर्मकी बातको रक्खा है—एक कुछ लौकिकजनों तथा अन्यमतियों के कथनकी दृष्टिसे और दूसरी जिनमत (जैनशासन) की अनेकांतदृष्टिसे। अनेकान्तदृष्टिसे धर्म निश्चय और व्यवहार दोनों रूपसे स्थित है। व्यवहारके बिना निश्चयधर्म बन नही सकता, इसी बातको पं० जयचन्दजी ने "अर शुभ परिणाम (भाव) होय तो या धर्मकी प्राप्तिका भी अवसर होय है" इन शब्दोके द्वारा व्यक्त किया है। जब शुभ भावके बिना शुद्धभावरूप निश्चयधर्मकी प्राप्तिका अवसरही प्राप्ति नही हो सकता तब धर्मकी देशनामें शुभभावोको जिनशासनसे अलग कैसे किया जा सकता है और कैसे यह कहा जा सकता है कि शुभभाव जैनधर्म या जिनशासनका कोई अंग नहीं, इसे साधारण पाठक भी सहज ही समझ सकते हैं।

इसके सिवा पं० जयचन्दजीने उक्त भावार्थमें यह कहीं भी नही लिखा और न उनके किसी वाक्यसे यह फलित होता है कि "जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हें 'लौकिक-

जन' और 'अन्यमती' कहा है।'' लौकिकजन और अन्यमतीके इस लक्षणको यदि कोई भावार्थके उक्त प्रारम्भिक शब्दों परसे फलित करने लगे तो वह उसकी कोरी नासमझीका ही द्योतक होगा; क्योकि वहाँ 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' ये दोनो पद प्रथम तो लक्ष्यरूपमे प्रयुक्त नही हुए हैं दूसरे इनके साथ 'केई' विशेषण लगा हुआ है जिसके स्थान पर कानजी स्वामीके वाक्यमे 'कोई कोई' विशेषणका प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ है कि कुछ थोड़े से लौकिकजन तथा अन्यमती ऐसा कहते हैं—सब नही कहते; तब जो नही कहते उनपर वह लक्षण उनके लौकिक जन तथा अन्यमती होते हुए भी कैसे घटित हो सकता है? नही हो सकता, और इसलिए कानजीस्वामीका उक्त लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित ठहरता है और चूँकि उसकी गति उन महान् पुरुषों तक भी पाई जाती है जिन्होने सरागचारित्र तथा शुभभावोंको भी जैनधर्म तथा जिनशासनका अग बतलाया है और जो न तो लौकिकजन है और न अन्यमती, इसलिए उक्त लक्षण अतिव्याप्तिके कलकसे भी कलंकित है? साथ ही उसमे 'धर्मके' स्थान पर 'जैनधर्म' का गलत प्रयोग किया गया है। अत: उक्त 'भावार्थमे' 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' शब्दोके प्रयोगमात्रसे यह नही कहा जा सकता कि ''जो वाक्य श्रीकानजी स्वामीने लिखे हैं वे इनके नही, अपितु श्री पं० जयचदजीके हैं।'' श्रीबोहराजीने यह अन्यथा वाक्य लिखकर जो कानजी स्वामीकी वकालत करनी चाही है और उन्हें गुरुतर आरोपसे मुक्त करनेकी चेष्टा की है यह वकालतकी अति है और उन जैसे विचारकोंको शोभा नही देती। ऐसी स्थितिमे उक्त वाक्यके अनन्तर मेरे ऊपर जो निम्न शब्दोकी कृपावृष्टि की गई है उनका आभार किन शब्दोंमे व्यक्त करूँ यह मुझे कुछ सूझ नही पड़ता—विज्ञ

पाठक तथा स्वयं बोहराजी इस विषयमें मेरी असमर्थताको अनुभवकर सकेंगे, ऐसी आशा है। वे शब्द इस प्रकार हैं—

"तो क्या मुख्तार सा० की दृष्टिमें श्री प० जयचन्द्रजी भी उन्ही विशेषणोके पात्र हैं जो पडितजीने इन्ही शब्दोके कारण श्रीकानजी स्वामीके लिये खुले दिलसे प्रयोग किये हैं। यदि नहीं तो ऐसी भूलके लिए खेद शीघ्र प्रकट किया जाना चाहिए।"

हाँ, यहाँ पर मैं इतना जरूर कहूँगा कि श्रीकानजी स्वामी पर जो यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने अपने उक्त वाक्य-द्वारा जाने-अनजाने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलकदेव और विद्यानन्दादि—जैसे महान् आचार्योको '**लौकिकजन**" और "**अन्यमतो**" बतलाकर भारी अपराध किया है, जिसका उन्हें स्वयं प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका श्रीबोहराजीके उक्त प्रमाणसे कोई परिमार्जन नहीं होता—वह ज्योका त्यों खड़ा रहता है; और इसलिए उनका यह प्रमाण कोई प्रमाण नही, किन्तु प्रमाणाभासकी कोटिमें स्थित है, जिससे कुछ भोले भाई ही ठगाये जा सकते हैं।

(२) पं० टोडरमलजी-कृत मोक्षमार्गप्रकाशकके जो वाक्य प्रमाणरूपमे उपस्थित किए गए हैं वे प्राय: सब अप्रासंगिक असंगत अथवा प्रकृत-विषयके साथ सम्बन्ध न रखनेवाले हैं, क्योंकि वे द्रव्यलिंगी मुनियो तथा मिथ्यादृष्टि-जैनियोंको लक्ष्य करके कहे गये हैं, जबकि प्रस्तुत पूजा-दान-व्रतादिरूप सराग-चारित्र एव शुभ-भावोंका विषय सम्यक्चारित्रका अग होनेसे वैसे मुनियों तथा जैनियोंसे सम्बन्ध नहीं रखता; बल्कि उन मुनियो तथा जैन-श्रावकोंसे सम्बन्ध रखता है जो सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसीसे पंचमादि-गुणस्थानवर्ति-जीवोंके लिये उन पूजा-दान-व्रतादिका

सविशेष रूपसे विधान है। स्वामी समन्तभद्रने, सम्यक्चारित्रके वर्णनमें उन्हें योग्य स्थान देते हुए, उनकी दृष्टिको निम्न वाक्यके द्वारा पहले ही स्पष्ट कर दिया है :—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
राग-द्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

इसमें बतलाया है कि 'मोहान्धकाररूप अज्ञानमय मिथ्यात्वका अपहरण होनेपर—उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी दशाको प्राप्त होनेपर—सम्यग्दर्शनकी—निर्विकार दृष्टिकी—प्राप्ति होती है, और उस दृष्टिकी प्राप्तिसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ जो साधुपुरुष है वह राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यक्चारित्रका अनुष्ठान करता है। इससे स्पष्ट है कि जिस चारित्रका उक्त-ग्रन्थमें आगे विधान किया जा रहा है वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान-पूर्वक होता है—उनके विना अथवा उनसे शून्य नही होता—और उसका लक्ष्य है राग-द्वेषकी निवृत्ति। अर्थात् राग-द्वेषकी निवृत्ति साध्य है और व्रतादिका आचरण, जिसमें पूजा-दान भी शामिल हैं, उसका साधन है। जब तक साध्यकी सिद्धि नही होती तब तक साधनको अलग नही किया जा सकता—उसकी उपादेयता बराबर बनी रहती है। सिद्धत्वकी प्राप्ति होनेपर साधनकी कोई आवश्यकता नही रहती और इस दृष्टिसे वह हेय ठहरता है। जैसे कोठेकी छतपर पहुँचनेपर यदि फिर उतरना न हो तो सीढ़ी (नसेनी) बेकार हो जाती है अथवा अभिमत स्थानपर पहुँच जानेपर यदि फिर लौटना न हो तो मार्ग बेकार हो जाता है; परन्तु उससे पूर्व अथवा अन्यथा नही। कुछ लोग एकमात्र साधनोंको ही साध्य समझ लेते हैं—असली साध्यकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं होती—ऐसे साधकोंको लक्ष्य

करके भी पं० टोडरमलजीने कुछ वाक्य कहे हैं; परन्तु वे लोग दृष्टिविकारके कारण चूँकि मिथ्यादृष्टि होते हैं अतः उन्हें लक्ष्य करके कहे गये वाक्य भी अपने विषयसे सम्बन्ध नही रखते और इसलिये वे प्रमाण कोटिमे नही लिये जा सकते—उन्हें भी प्रमाणबाह्य अथवा प्रमाणाभास समझना चाहिये। और उनसे भी कुछ भोले भाई ही ठगाये जा सकते हैं—दृष्टिविकारसे रहित आगमके ज्ञाता व्युत्पन्न पुरुष नही।

पं० टोडरमल्लजीके वाक्य जिन रागादिके सर्वथा निषेधको लिये हुए हैं वे प्राय: वे रागादिक हैं जो दृष्टिविकारके शिकार हैं तथा जो समयसारकी उपर्युल्लिखित गाथा न० २०१, २०२ में विवक्षित हैं और जिनका स्पष्टीकरण स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनकी **'एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्'** इत्यादि कारिकाके आधारपर पिछले लेखमें, कानजी-स्वामीपर आनेवाले एक आरोपका परिमार्जन करते हुए, प्रस्तुत किया गया था—वे रागादिक नही हैं जो कि एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमे चारित्रमोहके उदयवश होते हैं और जो ज्ञानमय होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमें बाधक हैं और न समता–वीतरागताकी साधनामे ही बाधक होते हैं। इसीसे जिन-शासनमे सरागचारित्रकी उपादेयताको अगीकार किया गया है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है और वह यह कि जब सम्यक्चारित्रका लक्ष्य 'रागद्वेषकी निवृत्ति' है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, तब सरागचारित्र उसमे सहायक कैसे हो सकता है ? वह तो रागसहित होनेके कारण लक्ष्यकी सिद्धिमें उल्टा बाधक पड़ेगा। परन्तु बात ऐसी नही है, इसके लिये **'कंटकोन्मूलन'** सिद्धान्तको लक्ष्यमें लेना चाहिये। जिस प्रकार पैरमें चुभे

हुए और भारी वेदना उत्पन्न करनेवाले काँटेको हाथमें दूसरा अल्पवेदनाकारक एवं अपने कन्ट्रोलमें रहनेवाला काँटा लेकर और उसे पैरमें चुभाकर उसके सहारेसे निकाला जाता है उसी प्रकार अल्पहानिकारक एक शत्रुको उपकारादिके द्वारा अपनाकर उसके सहारेसे दूसरे महाहानिकारक प्रबल शत्रुका उन्मूलन (विनाश) किया जाता है। राग-द्वेष और मोह ये तीनों ही आत्माके शत्रु हैं, जिनमे राग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकार है और अपने स्वामियों सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिके भेदसे और भी भेदरूप हो जाता है। सम्यग्दृष्टिका राग पूजा-दान-व्रतादिरूप शुभ भावोंके जालमे बँधा हुआ है और इससे वह अल्पहानिकारक शत्रुके रूपमें स्थित है, उसे प्रेमपूर्वक अपनानेसे अशुभराग तथा द्वेष और मोहका सम्पर्क छूट जाता है, उनका सम्पर्क छूटनेसे आत्माका बल बढ़ता है और तब सम्यग्दृष्टि उस शुभरागका भी त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है और उसे वह उसी प्रकार त्याग देता है जिस प्रकार कि पैरका काँटा निकल जाने पर हाथके काँटेको त्याग दिया जाता अथवा इस आशंकासे दूर फेंक दिया जाता है कि कहीं कालान्तरमें वह भी पैरमें न चुभ जाय; क्योंकि उस शुभरागसे उसका प्रेम कार्यार्थी होता है, वह वस्तुतः उसे अपना सगा अथवा मित्र नही मानता और इसलिए कार्य होजाने-पर उसे अपनेसे दूर कर देना ही श्रेयकर समझता है। प्रत्युत इसके, मिथ्यादृष्टिके रागकी दशा दूसरी होती है, वह उसे शत्रुके रूपमें न देखकर मित्रके रूपमें देखता है, उससे कार्यार्थी प्रेम न करके सच्चा प्रेम करने लगता है और इसी भ्रमके कारण उसे दूर करनेमें समर्थ नहीं होता। यही सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिके शुभरागमें परस्पर अन्तर है—एक रागद्वेषको निवृत्ति

अथवा बन्धनसे मुक्तिमें सहायक है तो दूसरा उसमें बाधक है। इसी दृष्टिको लेकर सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको मोक्षमार्गमें परिगणित किया गया है और उसे वीतरागचारित्रका एक साधन माना गया है।

जो लोग एकमात्र वीतराग अथवा यथाख्यातचारित्रको ही सम्यक्चारित्र मानते हैं उनकी दशा उस मनुष्य-जैसी है जो एकमात्र ऊपरके डंडेको ही सीढ़ी अथवा भूमिके उस निकटतम भागको ही मार्ग समझता है जिससे अगला कदम कोठेकी छतपर अथवा अभिमत स्थानपर पड़ता है, और इस तरह बीचका मार्ग कट जानेसे जिस प्रकार वह मनुष्य ऊपरके डडे या कोठेकी छतपर नही पहुँच सकता और न निकटतम अभिमत स्थानको ही प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार वे लोग भी न तो यथाख्यात-चारित्रको ही प्राप्त होते हैं और न मुक्तिको ही प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे लोग वास्तवमें जिनशासनको जानने-समझने और उसके अनुकूल आचरण करनेवाले नहीं कहे जा सकते; बल्कि उसके दूषक विघातक एवं लोपक ठहरते हैं; क्योकि जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनो मूलनयोके कथनको साथ लेकर चलता है और किसी एक ही नयके वक्तव्यका एकान्त पक्षपाती नहीं होता। प० टोडरमलजीने दोनो नयोकी दृष्टिको साथमें रक्खा है और इसलिए किसी शब्दछलके द्वारा उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। हाँ, जहाँ कहीं वे चूके हो वहाँ श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंके वचनोंसे ही उसका समाधान हो सकता है। पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशकके ७वें अधिकार-में ही यह साफ लिखा है कि—

"सो महाव्रतादि भए ही वीतरागचारित्र हो है ऐसा सम्बन्ध

जानि महाव्रतादिविषैं चारित्रका उपचार (व्यवहार) किया है।''

''शुभोपयोग भए शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) होय जाय बहुरि जो शुभोपयोगही को भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे होय।''

इन वाक्योंमें वीतरागचारित्रके लिए महाव्रतादिके पूर्व अनुष्ठानका और शुद्धोपयोगके लिए शुभोपयोग रूप पूर्वपरिणति-के महत्वको ख्यापित किया गया है।

ऐसी स्थितिमे जिस प्रयोजनको लेकर पं० टोडरमलजीके जिन वाक्योंको उद्धृत किया गया है उनसे उसकी सिद्धि नही होती।

यहाँ पर मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि श्री बोहराजीने प० टोडरमल्लजीके वाक्योको भी डबल इन्वर्टेड कामाज ''—'' के भीतर रक्खा है और वैसा करके यह सूचित किया तथा विश्वास दिलाया है कि वह उनके वाक्योका पूरा रूप है—उसमें कोई पद-वाक्य छोड़ा या घटाया-बढ़ाया गया नहीं है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी मालूम नही होती—वाक्योके उद्धृत करनेमें घटा-बढी की गई है जिसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। बोहराजी का वह उद्धरण, जो मिश्र-भावोके वर्णनसे संबंध रखता है, निम्न प्रकार है:—

''जे अंश वीतराग भए तिनकरि सवर ही है—अर जे अंश सराग रहे तिनकरि पुण्यबन्ध है—एकप्रशस्त रागहीतैं पुण्यास्रव भी मानना और सवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। सम्यग्दृष्टि अवशेष सरागताको हेय श्रद्धहै है, मिथ्यादृष्टि सरागभावविषै संवरका भ्रम करि प्रशस्तराग रूप कर्मनिको उपादेय श्रद्धहै है।''

इस उद्धरणका रूप पं० टोडरमल्लजीकी स्वहस्तलिखित

प्रति परसे संशोधितकर छपाये गये सस्ती ग्रन्थमालाके संस्करणमें निम्न प्रकार दिया है :—

"जे अंश वीतराग भए तिनकरि संवर है अर जे अंश सराग रहे तिनकरि बंध है। सो एक भावतैं तौ दोयकार्य बनैं परन्तु एक प्रशस्त रागहीतैं पुण्यास्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव विषै भी यह सरागता है, यह वीतरागता है ऐसी पहचानि सम्यग्दृष्टि हीके होय तातैं अवशेष सरागताको हेय श्रद्धहै है मिथ्यादृष्टिके ऐसी पहचानि नाहीं तातैं सरागभाव विषै सवरका भ्रम करि प्रशस्तरागरूप कार्यनिकौं उपादेय श्रद्धहै है।"

श्रीबोहराजीके उद्धरणकी जब इस उद्धरणसे तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि उन्होंने अपने उद्धरणमें उन पद-वाक्यों को छोड़ दिया है जिन्हें यहाँ रेखाङ्कित किया गया है और जो सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिकी वैसी श्रद्धाके सम्बन्धमें हेतुके उल्लेखको लिये हुए हैं। उनमेंसे द्वितीय तथा तृतीय रेखाङ्कित वाक्योंके स्थान पर क्रमशः 'सम्यग्दृष्टि' तथा 'मिथ्यादृष्टि' पदोंका प्रयोग किया गया है और उद्धरणकी पहली पंक्तिमें 'संवर है' के आगे 'ही' और दूसरी पंक्तिमें 'बन्ध' के पूर्व 'पुण्य' शब्दको बढ़ाया गया है। और इस तरह दूसरेके वाक्योंमें मनमानी काट-छाँट कर उन्हें असली वाक्योंके रूपमें प्रस्तुत किया गया है, जो कि एक बड़े ही खेदका विषय है! जो लोग जिज्ञासुकी दृष्टिसे इधर तो अपनी शंकाओंका समाधान चाहें अथवा वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय करनेके इच्छुक बनें और उधर जान-बूझकर प्रमाणोंको गलत रूपमें प्रस्तुत करें, यह उनके लिए शोभास्पद नहीं है। इससे तो यह जिज्ञासा तथा निर्णयबुद्धिकी कोई बात नहीं रहती;

बल्कि एक विषयकी अनुचित वकालत ठहरती है, जिसमें झूठे-सच्चे जाली और बनावटी सब साधनोसे काम लिया जाता है।

कानजीस्वामीके वाक्य

(३) श्री बोहराजीने कानजीस्वामीके कुछ वाक्योंको भी (आत्मधर्म वर्ष ७ के ४ थे अंकसे) प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है और आपने इस उपस्थितीकरणका यह हेतु दिया है कि इससे मेरी तथा मेरे समान अन्य विद्वानोकी धारणा कानजीस्वामीके सम्बन्धमें ठीक तौरपर हो सकेगी। अतः मैंने आपकी प्रेरणाको पाकर आपके द्वारा उद्धृत कानजीस्वामीके वाक्योको कई बार ध्यानसे पढा; परन्तु खेद है कि वे मेरी धारणाको बदलनेमे कुछ भी सहायक नहीं हो सके। प्रत्युत इसके, वे भी प्रायः असंगत और प्रकृत-विषयके साथ असम्बद्ध जान पड़े। इन वाक्योंको भी श्रीबोहराजीने डबल इन्वर्टेड कामाज "——" के भीतर रक्खा है और वैसा करके यह सूचित किया तथा विश्वास दिलाया है कि वह कानजीस्वामीके उन वाक्योका पूरा रूप है जो आत्म-धर्मके उक्त अकमे पृष्ठ १४१–१४२ पर मुद्रित हुए हैं—उसमें कोई घटा-बढ़ी नही की गई है। परन्तु जाँचनेसे यहाँ भी वस्तुस्थिति अन्यथा पाई गई, अर्थात् यह मालूम हुआ कि कानजीस्वामीके वाक्योको भी कुछ काट-छाँट कर रक्खा गया है—कहीं 'तो' शब्दको निकाला तो कही 'भी', 'ही' तथा 'और' शब्दोंको अलग किया, कही शब्दोंको आगे-पीछे किया तो कहीं कुछ शब्दोंको बदल दिया, कही डैश (—) को हटाया तो कही उसे बढ़ाया; इस तरह एक पेजके उद्धरणमें १५-१६ जगह काट-छाँटकी कलम लगाई गई। हो सकता है कि काट-छाँटका यह कार्य कानजीस्वामीके साहित्यको कुछ सुधारकर रखनेकी

दृष्टिसे किया गया हो, जब कि वैसा करनेका लेखकजीको कोई अधिकार नहीं था; क्योंकि उससे उद्धरणकी प्रामाणिकताको बाधा पहुँचती है। कुछ भी हो, इस काट-छाँटके चक्करमे पड़ कर उद्धरणका अन्तिम वाक्य सुधारकी जगह उलटा विकारग्रस्त हो गया है, जिसका उद्धृत रूप इस प्रकार है :—

"जीवको पापसे छुड़ा कर मात्र पुण्यमे नही लगा देना है किन्तु पाप और पुण्य इन दोनोसे रहित धर्म—उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।"

जब कि कानजीस्वामीके उक्त लेखमे वह निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

"जीवको पापसे छुड़ा कर मात्र पुण्यमे नही लगा देना है, किन्तु पाप और पुण्य दोनोसे रहित ज्ञायकस्वभाव बतलाना है। इसलिये पुण्य-पाप और उन दोनोंसे रहित धर्म,—उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।"

इस वाक्यसे रेखाङ्कित शब्दोके निकल जानेके कारण बोहराजीके द्वारा उद्धृत वाक्य कितना बेढंगा बन गया है, इसे बतलानेकी जरूरत नही रहती। अस्तु; अब मैं कानजीस्वामीके वाक्योपर एक नजर डालता हुआ यह बतलाना चाहता हूँ कि प्रकृत-विषयके साथ वे कहाँ तक सगत हैं और कानजीस्वामीकी ऐसी कौनसी नई एवं समीचीन-विचारधाराको उनके द्वारा सामने लाया गया है जो कि विद्वानोकी धारणाको उनके सम्बन्धमें बदलनेके लिये समर्थ हो सके।

अपना प्रकृत-विषय जिनशासन अथवा जैनधर्मके स्वरूपका और उसमें यह देखनेका है कि पूजा-दान व्रतादिके शुभभावोंको अथवा सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको वहाँ धर्मरूपसे कोई स्थान

प्राप्त है या कि नहीं। श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योके ऐसे वाक्योंको प्रमाण में उपस्थित किया गया था जो साफ तौरपर पूजा-दान-व्रतादिके भावो एवं सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको 'धर्म' प्रतिपादन कर रहे हैं, उन पर तो श्री बोहराजीने दृष्टि नही डाली अथवा उन्हें यों ही नजरसे ओझल कर दिया—और कानजीस्वामीके ऐसे वाक्योको उद्धृत करने बैठे हैं जिनसे उनकी कोई सफाई भी नही होती। और इससे मालूम होता है कि आप उक्त महान् आचार्योके वाक्योंपर कानजीस्वामीके वाक्योंको बिना किसी हेतुके ही महत्व देना चाहते हैं। यह श्रद्धा-भक्तिकी अति है 'और ऐसी ही भक्तिके वश कुछ भक्तजन यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'भगवान् महावीरके बाद एक कानजीस्वामी ही धर्मकी सच्ची देशना करनेवाले पैदा हुए हैं, ऐसा सुना जाता है, मालूम नही यह कहाँ तक ठीक है। यदि ठीक है तो ऐसे भक्तजन, उत्तरवर्ती केवलियों श्रुतकेवलियों तथा दूसरे ऋद्धिधारी एवं भावलिंगी महान् आचार्योकी अवहेलनाके अपराधी हैं। अस्तु, कानजीस्वामीके जिन वाक्योंको उद्धृत किया गया है वे पुण्य, पाप और धर्मके विवेकसे सम्बन्ध रखते हैं। उनमे वही एक राग अलापा गया है कि पुण्यकर्म किसी प्रकार धर्म नही होता, धर्मका साधन भी नही, बन्धन होनेसे मोक्षमार्गमे उसका निषेध है, पुण्य और पाप दोनोसे जो रहित है वह धर्म है। कानजीस्वामीने एक वाक्यमें व्यवहारसे पुण्यका निषेध न करनेकी बात तो कह दी, परन्तु उसे 'धर्म' कहकर या मानकर नहीं दिया, ऐसी एकान्त धारणा समाई है! जब कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, जिन्हें वे अपना आराध्य गुरुदेव बतलाते हैं, उसे धर्म भी प्रतिपादन करते हैं अर्थात् पूजादान-

व्रतादिके वैसे शुभ भावोंको पुण्य और धर्म दोनों नामोंसे उल्लेखित करते हैं, जिसका स्पष्टीकरण पहले उस लेखमें किया जा चुका है जिसके विरोधमें ही बोहराजीके प्रस्तुत विचारलेखका अवतार हुआ है और जिसे उनकी इच्छानुसार अनेकान्त वर्ष १३ की किरण ५में प्रकाशित किया जा चुका है। वह वाक्य इस प्रकार है :—

"पुण्य बंधन है इसलिये मोक्षमार्गमे उसका निषेध है—यह बात ठीक है; किन्तु व्यवहारसे भी उसका निषेध करके पापमार्ग प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विषके समान है, अकेले पापसे तो नरक निगोदमें जायेगा।"

यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि इस वाक्यमें जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है वह प्रतिपाद्य वस्तु कानजी स्वामीकी अपनी निजी है या किसी अन्य मत से ली गई है अथवा जिन-शासनका अंग होनेसे जैनधर्मके अन्तर्गत है ? यदि यह कहा जाय कि वह कानजीस्वामीकी अपनी निजी वस्तु है तो एक तो उसका यहाँ विचारमे प्रस्तुत करना असंगत है; क्योंकि प्रस्तुत विचार जिनशासनके विषयसे सम्बन्ध रखता है, न कि कानजीस्वामीकी किसी निजी मान्यतासे। दूसरे, कानजीस्वामीके सर्वज्ञादिरूप कोई विशिष्ट ज्ञानी न होनेसे उनके द्वारा नरक-निगोदमें जानेके फ़तवेकी बात भी साथमें कुछ बनती नहीं—निराधार ठहरती है। तीसरे, पुण्यरूप विकारकार्य इस तरह करने योग्य हो जाता है और कानजीस्वामीका यह कहना है कि "विकारका कार्य करने योग्य है—ऐसा माननेवाला जीव विकारको नही हटा सकता।" तब फिर ऐसे विकार-कार्यका विधान क्यों, जिससे कभी छुटकारा न हो सके ? यह उनके विरुद्ध एक नई आपत्ति खड़ी

होती है। यदि उसे अन्यमतकी वस्तु बतलाया जाय तो भी यह उसका प्रस्तुतीकरण असगत है; साथ ही जैनधर्म एवं जिन-शासनसे बाह्य ऐसी वस्तुके प्रतिपादनका उन पर आरोप आता है जिसे वे मिथ्या और अभूतार्थ समझते हैं।' और यदि यह कहा जाय कि वह जिनशासनकी ही प्रतिपाद्य वस्तु है तो फिर कानजी-स्वामीके द्वारा यह कहना कैसे संगत हो सकता है कि पूजा-दान-व्रतादिके रूपमें शुभभाव जैनधर्म नही है?—दोनों बातें परस्पर विरुद्ध पड़ती हैं। इसके सिवाय, कानजी स्वामीका मोक्षमार्गमें पुण्यका निषेध बतलाना और उसे धर्मका साधन भी न मानना जैनागमोके विरुद्ध जाता है, क्योंकि जैनागमोमें मोक्षके उपाय अथवा साधन-रूपमें उसका विधान पाया जाता है, जिसके दो नमूने यहाँ दिये जाते हैं:—

(क) **असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।**
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमे श्री अमृतचन्द्राचार्यने बतलाया है कि 'रत्नत्रयकी विकलरूपसे (एक देश या आंशिक) आराधना करनेवालेके जो शुभभावजन्य पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह मोक्षकी साधनामें सहायक होनेसे मोक्षोपाय (मोक्षमार्ग) के रूपमे ही परिगणित है, बन्धनोपायके रूपमें नही।'

श्री अमृतचन्द्राचार्य-जैसे परम आध्यात्मिक विद्वान् भी जब सम्यग्दृष्टिके पुण्य-बन्धक शुभभावोको मोक्षोपायके रूपमें मानते तथा प्रतिपादन करते हैं तब कानजीस्वामीका वैसा माननेसे इनकार करना और यह प्रतिपादन करना कि 'जो कोई शुभभा-वमय पुण्य कर्मको धर्मका साधन माने उसके भी भवचक्र कम

नही होगे' उनकी आध्यात्मिक एकान्तताका यदि सूचक समझा जाय तो शायद कुछ भी अनुचित नही होगा ।

(ख) मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः ।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥
—तत्त्वानुशासन

इसमें श्रीरामसेनाचार्यने यह निर्दिष्ट किया है कि मोक्ष-मार्ग दो भेदोंमे विभक्त है—एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार-मोक्षमार्ग । निश्चय-मोक्षमार्ग साध्यरूपमें स्थित है और व्यवहार-मोक्षमार्ग उसका साधन है । साधन साध्यका विरोधी नहीं होता, दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-संबंध रहता है और इसलिये एकको दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता । ऐसी स्थितिमें निश्चय-मोक्षमार्ग यदि जिनशासनका अंग है तो व्यवहार-मोक्षमार्ग भी उसीका अंग है, और इसलिए जिनशासनका यह लक्षण नही किया जा सकता कि 'जो शुद्धआत्मा वह जिनशासन है' और न यही कहा जा सकता कि 'पूजा-दान व्रतादिके शुभभाव जैनधर्म नही हैं ।' ऐसा विधान और प्रतिपादन दृष्टि-विकारको लिये हुए एकान्तका द्योतक है; क्योंकि व्यवहार-मोक्षमार्गमे जिस सम्यक्चारित्रका ग्रहण है वह अशुभसे निवृत्ति और शुभमे प्रवृत्तिको लिये हुए प्रायः अहिंसादि-व्रतों, ईर्यादि-समितियों और सम्यग्योग-निग्रह-लक्षण-गुप्तियोके रूपमें होता है[1]; जैसा कि द्रव्यसंग्रहकी निम्न गाथासे जाना जाता है :—

---

१. इस सम्यक्चारित्रको 'सारागचारित्र' भी कहते हैं और यह निश्चय-मोक्षमार्गमे परिगृहीत 'वीतरागचारित्र' का उसी प्रकार साधन है जिस प्रकार काँटेको काँटेसे निकाला जाता अथवा विषको विषसे मारा जाता है । सरागचारित्रकी भूमिकामें पहुँचे बिना वीतरागचारित्र तक कोई पहुँच भी

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

इस गाथामे स्पष्ट रूपसे यह भी बतलाया गया है कि चारित्रका यह स्वरूप व्यवहारनयकी दृष्टिसे जिनेंद्र भगवानने कहा है; जब जिनेन्द्रका कहा हुआ है तब जिनशासनसे उसे अलग कैसे किया जा सकता है ? अतः कानजी स्वामीके ऐसे वचनोंको प्रमाणमें उद्धृत करनेसे क्या नतीजा, जो जिनशासनकी दृष्टिसे बाह्य एकान्तके पोषक हैं अथवा अनेकान्ताभासके रूपमे स्थित हैं और साथ ही कानजीस्वामीपर घटित होनेवाले आरोपोकी कोई सफाई नही करते ।

एक प्रश्न

कानजीस्वामीके वाक्योको उद्धृत करनेके अनन्तर श्रीबोहरा-जीने मुझसे पूछा है कि "आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है" यह वाक्य कानजीस्वामीके कौनसे प्रवचन या साहित्यमे मैंने देखा है । परन्तु यह बतलानेकी कृपा नही की कि मैंने अपने लेखमे किस स्थान पर यह लिखा है कि कानजीस्वामीने उक्त वाक्य कहा है, जिससे मेरे साथ उक्त प्रश्नका सम्बन्ध ठीक घटित होता । मैंने वैसा कुछ भी नहीं लिखा, जो कुछ लिखा है वह लोगोंकी आशंकाका उल्लेख करते हुए उनकी समझके रूपमे लिखा है; जैसा कि लेखके निम्न शब्दोसे प्रकट है :—

नही सकता । वीतरागचारित्र यदि मोक्षका साक्षात् साधक है तो सराग-चारित्र परम्परा साधक है; जैसा कि द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

"स्वशुद्धात्मानुभूतिरूप-शुद्धोपयोगलक्षण-वीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रम् ।"

"शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग पासमें न होनेसे लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा:' की दशाको प्राप्त होगे; उन्हें अनाचारका डर नही रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्तत: अबद्धस्पृष्ट है—सर्व प्रकारके कर्मबन्धनोसे रहित शुद्ध-बुद्ध है—और उस पर वस्तुत: किसी भी कर्मका कोई असर नही होता, तब बन्धनसे छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका यत्न भी कैसा ?" इत्यादि।

ये शब्द कानजीस्वामीके किसी वाक्यके उद्धरणको लिये हुए नही है, इतना स्पष्ट है; और इनमे आध्यात्मिक एकान्तताके शिकार मिथ्यादृष्टि लोगोकी जिस समझका उल्लेख है वह कानजीस्वामी तथा उनके अनुयायियोकी प्रवृत्तियोको देखकर फलित होनेवाली है ऐसा उक्त शब्दवाक्योके पूर्वसम्बन्धसे जाना जाता है—न कि एकमात्र कानजीस्वामीके किसी वाक्यविशेषसे अपनी उत्पत्तिको लिये हुए है। ऐसी स्थितिमे उक्त शब्दावलीमें प्रयुक्त "आत्मा एकान्तत: अबद्धस्पृष्ट है" इस वाक्यको मेरे द्वारा कानजीस्वामीका कहा हुआ बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त एव संगत नही कहा जा सकता—वह उक्त शब्दविन्यासको ठीक न समझ सकनेके कारण किया गया मिथ्या आरोप है।

इसके सिवाय, यदि कोई दूसरा जन कानजीस्वामीके सबधमे अपनी समझको उक्त वाक्यके रूपमे चरितार्थ करे तो वह कोई अद्भुत या अनहोनी बात भी नही होगी, जिसके लिये किसीको आश्चर्यचकित होकर यह कहना पड़े कि हमारे देखने-सुननेमे तो वैसी बात आई नही; क्योकि कानजी महाराज जब सम्यग्दृष्टिके शुभभावो तथा तज्जन्य पुण्यकर्मोको मोक्षोपायके रूपमे नही मानते—मोक्षमार्गमें उनका निषेध करते हैं—तब वे आध्यात्मिक एकान्तकी ओर पूरी तौरसे ढले हुए हैं ऐसी कल्पना करने और

तदनुकूल कहनेमें किसीको क्या संकोच हो सकता है ? शुद्ध या निश्चयनयके एकान्तसे आत्मा अबद्धस्पृष्ट है ही। परन्तु वह सर्वथा अबद्धस्पृष्ट नही है, और यह वही कह सकता है जो दूसरे व्यवहारनयको भी साथमें लेकर चलता है—उसके वक्तव्यको मित्रके वक्तव्यकी दृष्टिसे देखता है, शत्रुके वक्तव्यकी दृष्टिसे नही, और इसलिये उसका विरोध नही करता। जहाँ कोई एक नयके वक्तव्यको ही लेकर दूसरे नयके वक्तव्यका विरोध करने लगता है वही वह एकान्तकी ओर चला जाता और उसमें ढल जाता है। कानजीस्वामीके ऐसे दूसरे भी अनेकानेक वाक्य हैं जो व्यवहारनयके वक्तव्यका विरोध करनेमें तुले हुए हैं, उनमेंसे कुछ वाक्य उनके उसी 'जिनशासन' शीर्षक प्रवचन-लेखसे यहाँ उद्धृत किये जाते है, जिसके विषयमें मेरी लेखमाला प्रारम्भ हुई थी :–

१. "आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त देखना वह वास्तवमें जैनशासन नही; परन्तु कर्मके सम्बधसे रहित शुद्ध देखना वह जैनशासन है।"

२. "आत्माको कर्मके सम्बन्ध वाला और विकारी देखना वह जैनशासन नही है।"

३. "जैनशासनमे कथित आत्मा जब विकाररहित और कर्मसम्बन्धररित है तब फिर इस स्थूल शरीरके आकार वाला तो वह कहाँसे हो सकता है ?"

४. "वास्तवमें भगवानकी वाणी कैसा आत्मा बतलानेमें निमित्त है ?—अबद्धस्पृष्ट एक शुद्ध आत्माको भगवानकी वाणी बतलाती है, और जो ऐसे आत्माको समझता है वही जिनवाणीको यथार्थतया समझा।"

५. "बाह्यमें जड़ शरीरकी क्रियाको आत्मा करता है और

उसकी क्रियासे आत्माको धर्म होता है—ऐसा जो देखता है (मानता है) उसे तो जैनशासनकी गंध भी नहीं है। तथा कर्मके कारण आत्माको विकार होता है या विकारभावसे आत्माको धर्म होता है—यह बात भी जैनशासनमें नहीं है।"

६. "आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह बाह्यमें शरीर आदिकी क्रिया नहीं करता; शरीरकी क्रियासे उसे धर्म नहीं होता; कर्म उसे विकार नही करता और न शुभ-अशुभ विकारी भावोंसे उसे धर्म होता है। अपने शुद्ध विज्ञानघन स्वभावके आश्रयसे ही उसे वीतरागभावरूप धर्म होता है।"

इस प्रकारके स्पष्ट वाक्योंकी मौजूदगी में यदि कोई यह समझने लगे कि 'कानजीस्वामी आत्माको 'एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट' बतलाते हैं तो इसमें उसकी समझको क्या दोष दिया जा सकता है ? और कैसे उस समझका उल्लेख करनेवाले मेरे उक्त शब्दोंको आपत्तिके योग्य ठहराया जा सकता है ? जिनमें आत्माके 'एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट' का स्पष्टीकरण करते हुए डैश (—) के अनन्तर यह भी लिखा है कि वह "सर्व प्रकारके कर्मबन्धनोसे रहित शुद्धबुद्ध है और उस पर वस्तुतः किसी भी कर्मका कोई असर नही होता।" कानजीस्वामी अपने उपर्युक्त वाक्योमें आत्माके साथ कर्मसम्बन्धका और कर्मके सम्बन्ध से आत्माके विकारी होने अवथा उस पर कोई असर पड़नेका साफ निषेध कर रहे हैं और इस तरह आत्मामें आत्माकी विभावपरिणमनरूप वैभाविकी शक्तिका ही अभाव नहीं बतला रहे; बल्कि जिनशासनके उस सारे कथनका भी उत्थापन कर रहे और उसे मिथ्या ठहरा रहे हैं जो जीवात्माके विभाव परिणमनको प्रदर्शित करनेके लिए गुणस्थानों जीवसमासों और मार्गणाओं आदिकी प्ररूपणाओंमें

ओत-प्रोत है और जिससे हजारों जैनग्रन्थ भरे हुए हैं। श्रीकुन्द-कुन्दाचार्य 'समयसार' तकमें आत्माके साथ कर्मके बन्धनकी चर्चाएँ करते हैं और एक जगह लिखते हैं कि 'जिस प्रकार जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं उसी प्रकार पुद्गलकर्मोंका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है' और एक दूसरे स्थान पर ऐसा भाव व्यक्त करते हैं कि 'प्रकृतिके अर्थ चेतनात्मा उपजता विनशता है, प्रकृति भी चेतनके अर्थ उपजती विनशती है, इस तरह एक दूसरेके कारण दोनोंका बन्ध होता है और इन दोनोके संयोगसे ही संसार उत्पन्न होता है। यथाः—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंते।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥"
"चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि य चेयट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णपच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥"

परन्तु कानजी महाराज अपने उक्त वाक्यों-द्वारा कर्मका आत्मा पर कोई असर ही नहीं मानते, आत्माको विकार और सम्बन्धसे रहित प्रतिपादित करते हैं और यह भी प्रतिपादित करते हैं कि भगवानकी वाणी अबद्धस्पृष्ट एक शुद्धात्माको बतलाती है (फलतः कर्मबन्धनसे युक्त अशुद्ध भी कोई आत्मा है इसका वह निर्देश ही नहीं करती)। साथ ही उनका यह भी विधान है कि आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह शरीरादिकी (मन-वचन-कायकी) कोई क्रिया नहीं करता—अर्थात् उनके परिणमनमें कोई निमित्त नहीं होता और न मन-वचन-कायकी क्रियासे उसे किसी प्रकार धर्मकी प्राप्ति ही होती है। यह सब जैन आगमों अथवा

महर्षियोंकी देशनाके विरुद्ध आत्माको एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट प्रतिपादन करना नहीं तो और क्या है ? आत्मा यदि सदा शुद्ध विज्ञानघन है तो फिर संसार-पर्याय कैसे बनेगी ? संसार-पर्यायके अभावमें जीवोंके संसारी तथा मुक्त ये दो भेद नहीं बन सकेंगे, संसारी जीवोंके अभावमें मोक्षमार्गका उपदेश किसे ? अतः वह भी न बन सकेगा और इस तरह सारे धर्मतीर्थके लोपका ही प्रसंग उपस्थित होगा। और आत्मा यदि सदा शुद्ध विज्ञानघनके रूपमें नही है तो फिर उसका शुद्ध विज्ञानघन होना किसी समय या अन्तसमयकी बात ठहरेगा, उसके पूर्व उसे अशुद्ध तथा अज्ञानी मानना होगा, वैसा माननेपर उसकी अशुद्धि तथा अज्ञानताकी अवस्थाओ और उनके कारणोको बतलाना होगा। साथ ही, उन उपायों-मार्गोंका भी निर्देश करना होगा जिनसे अशुद्धि आदि दूर होकर उसे शुद्ध विज्ञानघनत्वकी प्राप्ति हो सकेगी; तभी आत्मद्रव्यको यथार्थरूपमें जाना जा सकेगा। आत्माका सच्चा तथा पूरा बोध करानेके लिए जिनशासनमें यदि इन सब बातोंका वर्णन है तो फिर एकमात्र शुद्ध आत्माको 'जिनशासन' नाम देना नहीं बन सकेगा और न यह कहना ही बन सकेगा कि पूजादान-व्रतादिके शुभ भावों तथा व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप सरागचारित्रको जिनशासनमे कोई स्थान नही—वे मोक्षोपायके रूपमें धर्मका कोई अंग हो नही हैं। ऐसी हालत में कानजी महाराज पर घटित होनेवाले आरापोंके परिमार्जनका जो प्रयत्न श्रीबोहराजीने किया है वह समुचित प्रतीत नही होता।

शंका और समाधान

अब मैं बोहराजीकी शंकाओंको लेता हूँ, जो संख्यामें ११ हैं। शंकाओंके समर्थनमें प्रस्तुत किये गये प्रमाणोंका ऊपर

निरसन एवं कदर्थन हो जानेपर जब वे प्रमाण-कोटिमें स्थिर नहीं रह सके—परीक्षाके द्वारा प्रमाणाभास करार दे दिये गये—तब उनके बलपर प्रतिष्ठित होनेवाली शंकाओंमें यद्यपि कोई खास सत्त्व या दम नहीं रहता, विज्ञ पाठकोंद्वारा ऊपरके विवेचनकी रोशनीमें उनका सहज ही समाधान हो जाता है, फिर भी चूँकि श्रीबोहराजीका अनुरोध है कि मैं उनकी शंकाओका समाधान करके उसे भी अनेकान्तमें प्रकाशित कर दूँ और तदनुसार मैंने अपने इस उत्तर-लेखके प्रारम्भमे यह सूचित भी किया था कि "उनकी शंकाओंका समाधान आगे चलकर किया जायगा, यहाँ पहले उनके प्रमाणोंपर एक दृष्टि डाल लेना और यह मालूम करना उचित जान पडता है कि वे कहाँ तक उनके अभिमत-विषयके समर्थक होकर प्रमाणकोटिमें ग्रहण किये जा सकते हैं।" अत: यहाँ बोहराजीकी प्रत्येक शंकाको क्रमश: उद्धृत करते हुए उसका यथावश्यक संक्षेपमे ही समाधान नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

शंका १—दान, पूजा, भक्ति, शील, संयम, महाव्रत, अणुव्रत आदिके परिणामोसे कर्मोका आस्रव बन्ध होता है या संवर निर्जरा ?

समाधान—इन दान, पूजा और व्रतादिकके परिणामोंका स्वामी जब सम्यग्दृष्टि होता है, जो कि मेरे लेखमें सर्वत्र विवक्षित रहा है, तब वे शुभ परिणाम अधिकांशमें संवर-निर्जराके हेतु होते हैं, आस्रवपूर्वक बन्धके हेतु कम पड़ते हैं; क्योकि उस स्थितिमें वे सराग सम्यक्‌चारित्रके अंग कहलाते हैं। सम्यक् चारित्रके साथ जितने अंशोमें रागभाव रहता है उतने अंशोंमें ही कर्मका बन्ध होता है, शेष सब चारित्रोंके अंशोंसे कर्मबन्धन नहीं

होता—वे कर्मनिर्जरादिके कारण बनते हैं; जैसाकि श्रीअमृत-चंद्राचार्यके निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥ (पु० सि०)

इसी बातको श्रीवीरसेनाचार्यने, अपनी जयधवला टीकामें, और भी स्पष्ट करके बतलाया है। वे सरागसंयममें मुनियोकी प्रवृत्तिको युक्तियुक्त बतलाते हुए लिखते हैं कि उससे बन्धकी अपेक्षा असख्यातगुणी निर्जरा (कर्मोसे मुक्ति) होती है। साथ ही यह भी लिखते हैं कि भावपूर्वक अरंहतनमस्कार भी—जो कि भक्तिभावरूप सरागचारित्रका ही एक अंग है—बन्धकी अपेक्षा असंख्यात गुणकर्मक्षयका कारण है, उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति होती है :—

"सरागसंजमो गुणसेढिणिज्जराए कारणं, तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्जगुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं बट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं। अरहंतणमोक्कारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उत्तंच—

अरहंतणमोक्कारं भावेण जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥"

इसके सिवाय, मूलाचारके समयसाराधिकारमें यत्नाचारसे चलनेवाले दयाप्रधान साधुके विषयमें यह साफ लिखा है कि उसके नये कर्मका बन्ध नही होता और पुराने बँधे कर्म झड़ जाते हैं अर्थात् यत्नाचारसे पाले गये महाव्रतादिक संवर और निर्जराके कारण होते हैं—

जदं तु चरमाणस्य दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥२३॥

यत्नाचारके विषयमें महाव्रती मुनियों और अणुव्रती श्रावकोंकी स्थिति प्रायः समान है, और इसलिये यत्नाचारसे पाले गये अणुव्रतादिक भी श्रावकोके लिये सवर-निर्जराके कारण हैं ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ पर मैं इतना और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानमे, चाहे वह महाव्रतादिकके रूपमे हो या अणुव्रतादिकके रूपमें, जो भी उद्यम किया जाता या उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' है, जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणो य जो होइ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणियं असढं चरंतस्स॥१०॥

इसी तरह इच्छाके निरोधका नाम भी 'तप' है; जैसा कि चारित्रसारके '**रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः**' इस वाक्यसे जाना जाता है। मुनियों तथा श्रावकोंके अपने-अपने व्रतोके अनुष्ठान एवं पालनमें कितनी ही इच्छाका निरोध करना पड़ता है और इस दृष्टिसे भी उनका व्रताचरण तपश्चरणको लिये हुए है और '**तपसा निर्जरा च**' इस सूत्रवाक्यके अनुसार तपसे सवर और निर्जरा दोनो होते हैं, यह सुप्रसिद्ध है।

ऐसी स्थितिमे यह नही कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टिकेउक्त शुभभाव एकान्ततः बन्धके कारण हैं; बल्कि यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अधिकांशमें कर्मोंके सवर तथा निर्जराके कारण हैं।

शंका २—यदि इन शुभ भावोसे कर्मोंकी संवर निर्जरा होती है तो शुद्धभाव (वीतरागभाव) क्या कार्यकारी रहे ? यदि कार्यकारी नहीं तो उनका महत्व शास्त्रोंमें कैसे वर्णित हुआ ?

समाधान—शुभ भावोंसे कर्मोंकी संवर तथा निर्जरा होनेपर

शुद्ध भावोंकी कार्यकारितामें कोई बाधा नहीं पड़ती, वे संवर-निर्जराके कार्यको सविशेषरूपसे सम्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। शुभ और शुद्ध दोनों प्रकारके भाव कर्मक्षयके हेतु हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो कर्मोका क्षय ही नही बन सकेगा; जैसा कि श्रीवीरसेनाचार्यके जयधवला-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सुह-सुद्ध-परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।
(पृष्ठ ६)

इसके अनन्तर आचार्य वीरसेनने एक पुरातन गाथाको उद्धृत किया है जिसमे "**उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा**" वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव कर्मक्षयके कारण हैं। इससे प्रस्तुत शकाके समाधानके साथ पहली शंकाके समाधानपर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है और यह दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट हो जाता है कि शुभभाव भी कर्मक्षयके कारण हैं। शुद्धभावोका तो प्रादुर्भाव भी शुभभावोंका आश्रय लिये बिना होता नही। इस बातको पं० जयचन्दजी और पं० टोडरमलजीने भी अपने निम्न वाक्योंके द्वारा व्यक्त किया है, जिनके अन्य वाक्योंको बोहराजीने प्रमाणमे उद्धृत किया है और इन वाक्योका उद्धरण छोड़ दिया है।

"अर शुभ परिणाम होय तब या धर्म (मोह-क्षोभसे रहित आत्माके निज परिणाम) की प्राप्तिका भी अवसर होय है।"
(भावपाहुड-टीका)

"शुभोपयोग भए शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) हो जाय।" (मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ७)

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि

मुनियों और श्रावकोंके शुद्धोपयोगका क्या स्वरूप होता है, इस विषयमें अपराजितसूरिने भगवती-आराधनाकी गाथा नं० १८३४ की टीकामें कुछ पुरातन पद्योंको उद्धृत करते हुए जो प्रकाश डाला है वह भी इस अवसर पर जान लेनेके योग्य है। पं० हीरालालजी शास्त्रीने उसे अनेकान्त वर्ष १३, किरण ८ में 'मुनियों और श्रावकोंका शुद्धोपयोग' शीर्षकके साथ प्रकट किया है। यहाँ उसके अनुवाद रूपमें[१] प्रस्तुत किये गये कुछ अंशोको ही उद्धृत किया जाता है :—

'मैं जीवोंको नही मारूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, चोरी नही करूँगा, भोगोको नही भोगूँगा, धनको नही ग्रहण करूँगा, शरीरको अतिशय कष्ट होने पर भी रातमें नहीं खाऊँगा, मैं पवित्र जिनदीक्षाको धारण करके क्रोध, मान, माया और लोभके वश बहुदुख देनेवाले आरम्भ-परिग्रहसे अपनेको युक्त नही करूँगा।······इस प्रकार आरंभपरिग्रहादिसे विरक्त होकर शुभ-कर्मके चिन्तनमें अपने चित्तको लगाना सिद्ध अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, जिनचैत्य, संघ और जिनशासनकी भक्ति करना और इनके गुणोमें अनुरागी होना तथा विषयोंसे विरक्त रहना, यह मुनियोंका शुद्धोपयोग है।'

'विनीतभाव रखना, संयम धारण करना, अप्रमत्तभाव रखना, मृदुता, क्षमा, आर्जव और सन्तोष रखना, आहार भय मैथुन परिग्रह इन चार संज्ञाओको, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंको तथा रस ऋद्धि और सात गौरवोंको जीतना, उपसर्ग और परीषहोंपर विजय प्राप्त करना, सम्यग्दर्शन,

---

१. मूल वाक्योंके लिये उक्त टीका ग्रंथ या अनेकान्तकी उक्त आठवीं (फरवरी १९५५ की) किरण देखनी चाहिए।

सम्यग्ज्ञान तथा सरागसंयम धारण करना, दश प्रकारके धर्मोका चिन्तवन करना, जिनेन्द्र-पूजन करना, पूजा करनेका उपदेश देना, निःशंकितादि आठ गुणोको धारण करना, प्रशस्तरागसे युक्त तपकी भावना रखना, पाँच समितियोंका पालना, तीन गुप्तियोंका धारण करना, इत्यादि यह सब भी मुनियोका शुद्धोपयोग है।'

'ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा रखना, एक क्षणके लिए भी व्रतभंगको अनिष्टकारक समझना, निरन्तर साधुओकी संगति करना, श्रद्धा-भक्ति आदिके साथ विधिपूर्वक उन्हें आहारादि दान देना, श्रम या थकान दूर करनेके लिए भोगोंको भोगकर भी उनके परित्याग करनेमें अपनी असामर्थ्यकी निन्दा करना, सदा घरबारके त्याग करनेकी वांछा रखना, धर्म-श्रवण करनेपर अपने मनमें अति आनन्दित होना, भक्तिसे पंच-परमेष्ठियोंकी स्तुति-प्रणाम-द्वारा पूजा करना, अन्य लोगोंको भी स्वधर्ममे स्थित करना, उनके गुणोंको बढ़ाना, और दोषोंका उपगूहन करना, साधर्मियोंपर वात्सल्य रखना, जिनेन्द्रदेवके भक्तों-का उपकार करना, जिनेन्द्रशास्त्रोंका आदर-सत्कार-पूर्वक पठन-पाठन करना, और जिनशासनकी प्रभावना करना, इत्यादि गृहस्थोंका शुद्धोपयोग है।'

इन सब कथनसे स्पष्ट जाना जाता है कि जिन दान, पूजा, भक्ति, शील, संयम और व्रतादिके भावोंको हमने केवल शुभ परिणाम समझ रक्खा है उनके भीतर कितने ही शुद्ध भावोंका समावेश रहता है, जिन पर हमारी दृष्टि ही नहीं है—हमने शुद्ध भावोंकी एकान्ततः कुछ विचित्र ही कल्पना मनमें करली है—यहाँ तो अहिंसादि शुभकर्मोके चित्तमें चिन्तनको भी शुद्धो-पयोगमें शामिल किया है।

शंका ३—जिन शुभभावोंसे कर्मोंका आस्रव होकर बंध होता है, क्या उन्हीं शुभभावोसे मुक्ति भी हो सकती है ? क्या एक ही परिणाम जो बंधके भी कारण हैं, वे ही मुक्तिका कारण भी हो सकते हैं। यदि ये परिणाम बंधके ही कारण है तो इन्हें धर्म (जो मुक्तिका देनेवाला) कैसे माना जाय ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिके वे कौनसे शुभ भाव हैं जिनसे केवल कर्मोंका आस्रव होकर बन्ध ही होता है, मुझे उनका पता नहीं। शंकाकारको उन्हे बतलाना चाहिए था। पहली-दूसरी शंकाओके समाधानसे तो यह जाना जाता है कि सम्यग्दृष्टिके पूजा-दान-व्रतादि रूप शुभभाव अधिकांशमे कर्मक्षय अथवा कर्मो-की निर्जराके कारण हैं और इसलिए मुक्तिमें सहायक हैं। मिश्र-भावकी अवस्थामे ऐसा होना संभव है कि एक परिणामके कुछ अंश बन्धके कारण हो और शेष अंश बन्धके कारण न होकर कर्मोंकी निर्जरा अथवा मुक्ति के कारण हों। सराग सम्यक् चारित्रकी अवस्थामें प्रायः ऐसा ही होता है और इसका खुलासा पहली शंकाके समाधानमें आगया है। सम्यग्दृष्टिके शुभ परिणाम जब सर्वथा बन्धके कारण नही तब शंकाके तृतीय अंशके लिए कोई स्थान ही नही रहता। धर्मको ब्रेकटके भीतर 'जो मुक्ति-का देने वाला' बतलाया है वैसा एकान्त भी जिनशासनमें नहीं है। जिनशासनमें धर्म उसे प्रतिपादित किया है जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि होती है, जैसा कि सोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है जो स्वामी समंतभद्रके 'निःश्रेयसमभ्युदयं' इत्यादि कारिकाके वचनको लक्ष्यमें लेकर लिखा गया है :—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (नीतिवाक्यामृत)

शंका ४—उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी मुनि शुभोपयोगरूप उच्चतम

निर्दोष क्रियाओंका परिपालन करते हुए भी (यहाँ तक कि अनंतवार मुनिव्रत धारण करके भी) मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही क्यों पड़ा रह जाता है ? आपके लेखानुसार तो वह शुद्धत्वके निकट (मुक्तिके निकट) होना चाहिए। फिर शास्त्रकारोंने उसे असंयमी सम्यग्दृष्टिसे भी हीन क्यों माना है ?

समाधान—द्रव्यलिंगी मुनि चाहे वह उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी हो या जघन्य, सम्यग्दृष्टि नहीं होता और इस लिए उसकी क्रियाएँ सम्यक्चारित्रकी दृष्टिसे उच्चतम तथा निर्दोष नहीं कही जा सकती। निर्दोष क्रियाएँ वही होती हैं जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक न होनेवाली क्रियाएँ मिथ्याचारित्रमें परिगणित हैं, चाहे वे बाहरसे देखनेमें कितनी ही सुन्दर तथा रुचिकर क्यों न मालूम देती हों, उन्हें सत्क्रियाभास कहा जायगा और वे सम्यक्चारित्रके फलको नही फल सकेंगी। जब तक उस द्रव्यलिंगी मुनिके आत्माको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होगी तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही चला जायगा।

मेरे उस लेखमें कही भी द्रव्यलिंगी मुनियोंकी क्रियाएँ विवक्षित नही है—शुभभावरूप जो भी क्रियाएँ विवक्षित हैं वे सब सम्यग्दृष्टिकी विवक्षित हैं चाहे वह मुनि हो या श्रावक। अतः मेरे लेखानुसार वह द्रव्यलिंगी मुनि शुद्धत्वके निकट होना चाहिये ऐसा लिखना मेरे लेख तथा उसकी दृष्टि को न समझनेका ही परिणाम कहा जा सकता है।

शंका ५—यदि शुभभवोंमे अटके रहनेसे डरनेकी कोई बात नहीं है तो संसारी जीवको अभी तक मुक्ति क्यों नही मिली ? अनादिकालसे जीवका परिभ्रमण क्यों हो रहा है ? क्या वह अनादिकालसे पापभाव ही करता आया है ? यदि नहीं, तो उसके

भवभ्रमणमें पापके ही समान पुण्य भी कारण है या नही ? यदि पुण्यभाव भी बन्धभाव होनेसे भवभ्रमणमें कारण हैं तो उसमें अटके रहनेसे हानि हुई या लाभ ?

समाधान—शुद्धत्वका लक्ष्य रखते हुए द्रव्य-क्षेत्र-कालभावादिकी परिस्थितियोंके अनुसार शुभमें अटके रहनेसे सम्यग्दृष्टिको सचमुच डरनेकी कोई बात नही है—वह यथेष्ट साधन-सामग्रीकी प्राप्तिपर एक दिन अवश्य मुक्तिको प्राप्त होगा। असंख्य संसारी जीवोको अब तक ऐसा करके ही मुक्ति मिली है। अनादिकालसे जिनका परिभ्रमण हो रहा था वेही सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर शुद्धत्वका लक्ष्य रखते हुए शुभभावोंका आश्रय लेकर—उनमें कुछ समय तक अटके रह कर—भवभ्रमणसे छूटे हैं। और इस लिये यह कहना कि संसारी जीवको अभी तक मुक्ति क्यो नही मिली वह कोरा भ्रम है। संसारी जीवोंमेसे जिनको अभी तक मुक्तिकी प्राप्ति नही हुई उनके विषयमें समझना चाहिये कि उन्हे सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्तिके साथ दूसरी योग्य साधन-सामग्रीकी अभी तक उपलब्धि नही हुई है। सम्यग्दर्शनसे विहीन कोरे शुभभाव मुक्तिके साधन नहीं और न कोरा पुण्यबन्ध ही मुक्तिका कारण होता है वह तो कषायोकी मन्दतादिमे मिथ्यादृष्टिके भी हुआ करता है। वह पुण्यभाव अपने लेखमें विवक्षित नही रहा है। ऐसी स्थितिमें शंकाके शेष अंशके लिये कोई स्थान नही रहता। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके पुण्यभाव तथा उनमे अटके रहनेकी दृष्टिमें बहुत बड़ा अन्तर है—एक उसे सर्वथा उपादेय मानता है तो दूसरा उसे कथंचित् उपादेय मानता हुआ हेय समझता है, और इसलिए दोनोकी मान्यतानुसार उनके हानि-लाभमें अन्तर पड़ जाता है। पुण्यबन्ध सर्वथा ही हानिकारक तथा भवभ्रमणका

कारण हो, ऐसी कोई बात भी नहो है। तीर्थंकर-प्रकृति और सर्वार्थसिद्धिमें गमन करानेवाले पुण्यकर्मका बंध जल्दी ही मुक्ति-को निकट लानेवाला होता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसार (गा० ४५) मे 'पुण्णफला अरहंता' वाक्यके द्वारा ऐसे ही सातिशय पुण्यका उल्लेख किया है जिसका फल अर्हत्पदकी प्राप्ति है और अर्हत्पदप्राप्ति तद्भव मुक्तिकी गारंटी है।

शंका ६—यदि शुभमें अटके रहनेमें कोई हानि नहीं है तो फिर शुद्धत्वके लिये पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? क्योकि आपके लेखानुसार जब इनसे हानि नही तो जीव इन्हें छोड़नेका उद्यम ही क्यों करे। क्या आपके लिखनेका यह तात्पर्य नही हुआ कि इसमें अटके रहनेसे कभी न कभी तो संसार परिभ्रमण रुक जावेगा ? शुभक्रिया करते करते मुक्ति मिल जावेगी, ऐसा आपका अभिप्राय हो तो शास्त्रीय प्रमाण द्वारा इसे और स्पष्ट कर देनेकी कृपा करें।

समाधान—शुद्धत्वकी प्राप्तिका लक्ष्य रखते हुए जब किसीको परिस्थितियोके वश शुभमें अटकना पड़ता है तो उसके लिए शुद्ध-त्वके पुरुषार्थकी आवश्यकता कैसे नही रहती ? आवश्यकता तो उसको नहीं रहती जो शुद्धत्वका कोई लक्ष्य ही नही रखता और एकमात्र शुभभावोंको ही सर्वथा उपादेय समझ बैठा है, ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी स्थिति दूसरी है, उसका लक्ष्य शुद्ध होते हुए परिस्थितियोके वश कुछ समय शुभमें अटके रहनेसे कोई विशेष हानि नहीं होती। यदि वह शुभका आश्रय न ले तो उसे अशुभराग-द्वेषादिके वश पड़ना पड़े और अधिक हानि-का शिकार बनना पड़े। शुभका आश्रय लिये बिना कोई शुद्धत्व-को प्राप्त भी नहीं होता, यह बात पहले भी प्रकट की जा चुकी

है। अतः मेरे लिखनेका जो तात्पर्य निकाला गया है वह लेख तथा उसकी दृष्टिको न समझनेका ही परिणाम है। लेखमें "शुद्धत्व यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्तिका मार्ग है—साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती, फिर साधनकी अवहेलना कैसी ?" इत्यादि वाक्योंके द्वारा लेखकी दृष्टिको भली प्रकार समझा जा सकता है। जिसका लक्ष्य शुद्धत्व है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवको लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि उसे शुभमें अटकनेसे डरनेकी भी ऐसी कोई बात नही है, ऐसा जीव ही यदि शुभमें अटका रहेगा तो शुद्धत्वके निकट रहेगा।

शंका ७—यदि पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं तो शास्त्रकारोंने पुण्यको भिन्न संज्ञा क्यों दी ?

समाधान—यह शंका कुछ विचित्र-सी जान पड़ती है। मैंने ऐसा कही लिखा नही कि 'पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं।' जो कुछ लिखा है उसका रूप यह है कि "धर्म दो प्रकारका होता है—एक वह जो शुभभावोंके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्धभावके द्वारा किसी भी प्रकारके (बन्धकारक) कर्मास्रवका कारण नही होता[1]। इससे यह साफ फलित होता है कि धर्मका विषय बड़ा है—वह व्यापक है, पुण्यका विषय उसके अन्तर्गत आ जाता है; इसलिये वह व्याप्य है। इस दृष्टिसे दोनोंको एक ही नहीं कहा जा सकता, धर्मका एक प्रकार होनेसे पुण्यको भी धर्म कहा जाता है। इसके सिवाय, एक ही वस्तुकी दृष्टिविशेषसे यदि अनेक संज्ञाएँ हो तो उसमें बाधाकी कौन सी बात है ? एक-एक वस्तुकी अनेक-अनेक संज्ञाओंसे तो ग्रन्थ भरे पड़े हैं, फिर

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष १३, किरण १, पृ० ५

धर्मको पुण्य संज्ञा देने पर आपत्ति क्यों ? श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने जब स्वयं पूजा-दान-व्रतादिको एक जगह 'धर्म' लिखा है और दूसरी जगह 'पुण्य' रूपमें उल्लेखित किया है[1] तब उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि धर्मके एक प्रकारका उल्लेख करनेकी दृष्टिसे ही उन्होने पुण्यप्रसाधक धर्मको 'पुण्य' संज्ञा दी है। अत: दृष्टि-विशेषके वश एकको अनेक संज्ञाएँ दिये जानेपर शंका अथवा आश्चर्य की कोई बात नही।

शंका ८—यदि पुण्य भी धर्म है तो सम्यग्दृष्टि श्रद्धामें पुण्यको दण्डवत् क्यों मानता है ?

समाधान—यदि सम्यग्दृष्टि श्रद्धामें पुण्यको दण्डवत् मानता है तो यह उसका शुद्धत्वकी ओर बढ़ा हुआ दृष्टिविशेषका परिणाम हो सकता है—व्यवहारमें वह पुण्यको अपनाता ही है और पुण्यको सर्वथा अधर्म तो वह कभी भी नहीं समझता। यदि पुण्यको सर्वथा अधर्म समझे तो यह उसके दृष्टिविकारका सूचक होगा, क्योकि पुण्यकर्म किसी उच्चतम भावनाकी दृष्टिसे हेय होते हुए भी सर्वथा हेय नही है।

शंका ९—यदि शुभभाव जैनधर्म है तो अन्यमती जो दान, पूजा, भक्ति आदिको धर्म मानकर उसीका उपदेश देते हैं, क्या वे भी जैनधर्मके समान हैं ? उनमें और जैन धर्ममें क्या अन्तर रहा ?

समाधान—जैनधर्म और अन्यमत-सम्मत दान, पूजा, भक्ति आदिकी जो क्रियाएँ है वे दृष्टिभेदको लिये हुए हैं और इसलिए बाह्यमें प्राय: समान होते हुए भी दृष्टिभेदके कारण उन्हें सर्वथा

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १३, किरण १, पृ० ५

समान नही कहा जा सकता। दृष्टिका सबसे बड़ा भेद सम्यक् तथा मिथ्या होता है। वस्तुतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाको लिये हुए जो दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, जिसमे कारणविपर्यय स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेदविपर्यय के लिए कोई स्थान नही होता और वह दृष्टि अनेकान्तात्मक होती है, प्रत्युत इसके जो दृष्टि वस्तुतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाको लिये हुए नही होती, वह सब मिथ्यादृष्टि कहलाती है, उसके साथ कारणविपर्ययादि लगे रहते हैं और वह एकान्तदृष्टि कही जाती है। सम्यग्दृष्टिके दान-पूजादिकके शुभभाव सम्यक्-चारित्रका अग होनेसे धर्ममे परिगणित हैं; जबकि मिथ्यादृष्टिके वे भाव मिथ्याचारित्रका अंग होनेसे धर्ममे परिगणित नही हैं। यही दोनोंमे मोटे रूपसे अन्तर कहा जा सकता है। जो जैनी सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि हैं उनकी क्रियाएँ भी प्राय: उसी कोटिमे शामिल हैं।

शंका १०—धर्म दो प्रकारका है—ऐसा जो आपने लिखा है तो उसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कोई जीव दोनोमेंसे किसी एकका भी आचरण करे तो वह मुक्तिका पात्र हो जाना चाहिए; क्योकि धर्मका लक्षण आचार्य समन्तभद्रस्वामीने यही किया है कि जो उत्तम अविनाशी सुखको प्राप्त करावे वही धर्म है। तो फिर द्रव्यलिगी मुनि मुक्तिका पात्र क्यो नही हुआ? उसे मिथ्यात्व गुणस्थान ही कैसे रहा? आपके लेखानुसार तो उसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी?

समाधान—यह शंका भी कुछ बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है। मैने धर्मको जिस दृष्टिसे दो प्रकारका बतलाया है उसका उल्लेख शंका ७ के समाधानमें आ गया है और उससे वैसा कोई तात्पर्य फलित नहीं होता। द्रव्यलिंगीकी कोई क्रियाएँ मेरे लेखमे

विवक्षित ही नहीं हैं। शंका ४ के समाधानानुसार जब द्रव्यलिंगी मुनि ऊँचे दर्जेकी क्रियाएँ करता हुआ भी शुद्धत्वके निकट नहीं तब वह मुक्तिका पात्र कैसे हो सकता है? मुक्तिका पात्र सम्यग्दृष्टि होता है, मिथ्यादृष्टि नही। मेरे लेखानुसार द्रव्य-लिंगी मुनिको मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी, ऐसा समझना बुद्धिका कोरा विपर्यास है; क्योंकि मेरे लेखमें सम्यग्दृष्टिके ही शुभ भाव विवक्षित हैं—मिथ्यादृष्टि या द्रव्यलिंगी मुनिके नही। शंकाकारने धर्मका जो लक्षण स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया है वह भी भ्रमपूर्ण है। स्वामी समन्तभद्रने धर्मका यह लक्षण नही किया कि 'जो उत्तम अविनाशीसुखको प्राप्त करावे वही धर्म है।' उन्होंने तो '**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः**' इस वाक्यके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्मका लक्षण प्रतिपादन किया है—उत्तम अविनाशी सुखको प्राप्त करना तो उस धर्मका एक फलविशेष है, लक्षण नही। फल, उसका अभ्युदय-सुख भी है, जो '**निःश्रेयसमभ्युदयं**' इत्यादि कारिका (१३०) में सूचित किया गया है, जो उत्तम होते हुए भी अविनाशी नही होता और जिसका स्वरूप '**पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्य-बल**' इत्यादि कारिका (१३५) में दिया हुआ है, जिसे मैंने अपने लेखमें उद्धृत भी किया था, फिर भी ऐसी शंकाका किया जाना कोई अर्थ नही रखता।

शंका ११—धर्म मोक्षमार्ग है या संसारमार्ग? यदि शुभ-भाव भी मोक्षमार्ग है तो क्या मोक्षमार्ग दो हैं?

समाधान—धर्म मोक्षमार्ग है या संसारमार्ग, यह धर्मकी जाति अथवा प्रकृतिकी स्थितिपर अवलम्बित है। सामान्यतः धर्ममात्रको सर्वथा मोक्षमार्ग या संसारमार्ग नहीं कहा जा सकता।

धर्म लौकिक भी होता है और पारलौकिक अर्थात् परमार्थिक भी। गृहस्थोंके लिये दो प्रकारके धर्मका निर्देश मिलता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक, जिसमे लौकिक धर्म लोकाश्रित—लोककी रीति-नीतिके अनुसार प्रवृत्त—और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित—आगमशास्त्रकी विधि-व्यवस्थाके अनुरूप प्रवृत्त—होता है, जैसाकि आचार्य सोमदेवके निम्नवाक्यसे प्रकट है :—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥ (यशस्तिलक)

लौकिकधर्म प्रायः संसारमार्ग है और पारलौकिक (पारमार्थिक) धर्म प्रायः मोक्षमार्ग। धर्म सुखका हेतु है इसमे किसीको विवाद नहीं (धर्मः सुखस्य हेतुः) चाहे वह मोक्षमार्गके रूपमें हो या संसारमार्गके रूपमें और इसलिये मोक्षमार्गका आशय है मोक्षसुखकी प्राप्तिका उपाय और संसारमार्गका अर्थ है संसार-सुखकी प्राप्तिका उपाय। जो पारमार्थिक धर्म मोक्षमार्गके रूपमें स्थित है वह साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो भागोमें विभाजित है, साक्षात्में प्रायः उन परमविशुद्ध भावोका ग्रहण है जो यथाख्यातचारित्रके रूपमे स्थित होते हैं, और परम्परामें सम्यक्दृष्टिके वे सब शुभ तथा शुद्ध भाव लिये जाते हैं जो सामायिक, छेदोपस्थापनादि दूसरे सम्यक्चारित्रोके रूपमें स्थित होते हैं और जिनमे सद्दान-पूजा-भक्ति तथा व्रतादिके अथवा सरागचारित्रके शुभ-शुद्ध-भाव शामिल हैं। जो धर्म परम्परा-रूपमें मोक्षसुखका मार्ग है वह अपनी मध्यकी स्थितिमे अक्सर ऊँचेसे ऊँचे दर्जेके संसारसुखका हेतु बनता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्रमें ऐसे समीचीन-धर्मके दो फलोका निर्देश किया है—एक निःश्रेयससुखरूप और दूसरा अभ्युदयसुख-स्वरूप

(१३०)। निःश्रेयससुखको सर्वप्रकारके दुःखोंसे रहित, सदा स्थिर रहनेवाले शुद्धसुखके रूपमे उल्लेखित किया है, और अभ्युदयसुखको पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्य (स्वामित्व) से युक्त हुआ बल, परिजन, काम तथा भोगोंकी प्रचुरताके साथ लोकमें अतीव उत्कृष्ट और आश्वर्यकारी बतलाया है। और इसलिए वह धर्म संसारके उत्कृष्ट सुखका भी मार्ग है, यह समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें सम्यग्यदृष्टिके शुभ-भावोको मोक्षमार्ग कहना न्याय-प्राप्त है और मोक्षमार्ग अवश्य ही दो भागोमे विभक्त है—एकको निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरेको व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूपमें स्थित है तो व्यवहारमोक्षमार्ग उसके साधनरूपमें स्थित है, जैसा कि रामसेनाचार्य-कृत तत्त्वानुशासनके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥

साध्यकी सिद्धि होनेतक साधनको साध्यसे अलग नहीं किया जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि 'साध्य तो जिन-शासन है, किन्तु उसका साधन जिनशासनका कोई अंश नहीं है'। सच पूछा जाय तो साधनरूप मार्ग ही जैनतीर्थंकरोंका तीर्थ है—धर्म है, और उस मार्गका निर्माण व्यवहारनय[1] करता है। शुभ-

---

१. श्री वीरसेनाचार्यने जयधवलामें लिखा है कि 'व्यवहारनय बहु-जीवानुग्रहकारी' है और वही आश्रय किये जानेके योग्य है, ऐसा मनमें अवधारण करके ही गोतम गणधरने महाकम्मपयडीपाहुडकी आदिमें मंगलाचरण किया है :—

"जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सि-दव्वो त्ति मणेणावधारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कदं ॥"

भावोंके अभावमे अथवा उस मार्गके कट जाने पर कोई शुद्धत्वको प्राप्त ही नही होता। शुभभावरूप मार्गका उत्थापन सचमुचमें जैनशासनका उत्थापन है---भले ही वह कैसी भी भूल, गलती, अजानकारी या नासमझीका परिणाम क्यों न हो, इस बालको मै अपने उस लेखमे पहले प्रकट कर चुका हूँ। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, सल्लेखना अथवा एकादश प्रतिमादिके रूपमे जो श्रावकाचार समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) आदिमे वर्णित है और पंच-महाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, पंचेन्द्रियरोध, पंचाचार, षडावश्यक, दशलक्षण, परीषहजय अथवा अट्ठाईस मूलगुणो आदिके रूपमे जो मुनियोका आचार, मूलाचार, चारित्तपाहुड और भगवती आराधना आदिमे वर्णित है, वह सब प्रायः व्यवहारमोक्षमार्ग है और उसे धर्मेश्वर जिनेद्रदेवने 'धर्म' या 'सच्चारित्र' कहा है; जैसा कि कुछ निम्न वाक्योसे भी जाना जाता है :—

१. **धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। अभ्युदयं फलति सद्धर्मः** (रत्नकरण्ड)

२. **असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।**
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं (द्रव्यसं०)

३. **एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।**
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे॥ (चारित्तपा०)

४. **दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।**
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सो वि॥ (रयणसार)

५. **एयारस-दसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।**
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहि॥ (बारसाणुपेक्खा)
"णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।"

६. **दशविधमनगाराणमेकादशधोत्तरं तथा धर्मं।**
देशयमानो व्यहरत् त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः॥ (निर्वाणभक्ति

७. तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः ।
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि ।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै—
राचारं परमेष्ठिनोजिनपतेर्वीरं नमामो वयम् ॥ (चारित्रभक्ति)

इनमेसे पहले नं० के दो वाक्य स्वामी समन्तभद्रके हैं, जिनमें यह सूचित किया गया है कि रत्नकरण्डमें जिस धर्मका वर्णन है वह धर्मेश्वर (वीर-वर्द्धमानतीर्थंकर) के द्वारा कहा गया है और वह समीचीनधर्म अभ्युदयफलको भी फलता है। दूसरे नं० का वाक्य नेमिचन्द्राचार्यका है, जिसमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको सच्चारित्र बतलाया है और लिखा है कि वह व्रत, समिति तथा गुप्तिके रूपमे है और उसे व्यवहारनयकी दृष्टिसे जिनेन्द्रने प्रतिपादित किया है। तीसरे, चौथे और पाँचवें नम्बरके वाक्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत ग्रन्थोके हैं, जिनमें अणुव्रतादि तथा एकादश प्रतिमाओंके रूपमे आचारको श्रावकधर्म और महाव्रतादि तथा दशलक्षणादिरूप आचारको मुनिधर्मके रूपमें निर्दिष्ट किया है। साथ ही, यह भी निर्दिष्ट किया है कि दान, पूजा श्रावकका मुख्य धर्म है—उसके बिना कोई श्रावक नही होता, और ध्यान तथा अध्ययन यतिका मुख्य धर्म है उसके बिना कोई यति—मुनि नही होता। इसके सिवाय, बारसअणुपेक्खामें यह भी प्रतिपादित किया गया है कि निश्चयनयसे जीव सागार (गृहस्थ) अनगार (मुनि) के धर्मसे भिन्न है अर्थात् गृहस्थ और मुनिका धर्म निश्चयनयका विषय नहीं है—वह सब व्यवहारनयका ही विषय है। छठे-सातवे नंबरके वाक्य पूज्यपादाचार्यके हैं जिनमेंसे एकमें उन्होने यह सूचित किया है कि मुनियोके दस प्रकार धर्म-की और गृहस्थोंके ग्यारह प्रकार धर्मकी देशना करते हुए श्रीवीर-

जिनेन्द्रने तीस वर्ष तक विहार किया है, और दूसरेमें यह प्रतिपादित किया है कि तीन गुप्तियो, पॉच समितियो और पंचव्रतोके रूपमें जो तेरह प्रकारका चारित्र (धर्म) है वह वीरजिनेन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

उपसंहार

हमारे नित्यके 'चत्तारि मंगलं' नामके प्राचीनतम पाठमें 'केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं, 'केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमो, और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' इन वाक्योके द्वारा केवलि-जिन-प्रणीत धर्मको मंगलभूत और लोकोत्तम मानते हुए उसके शरणमें प्राप्त होनेकी नित्य भावना की जाती है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि श्रीकुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्रादि महान् आचार्योके प्राचीन ग्रन्थोमे श्रावकों तथा मुनियोके जिस धर्मकी देशना—प्ररूपणा की गई है और जिसका स्पष्ट आभास ऊपर उद्धृत वाक्योसे होता है वह केवलि-जिन-प्रणीत है या कि नही ? यदि है तो वह धर्म जिनशासनका अंग हुआ, उसे जिनशासनसे बाह्य कैसे किया जा सकता है और कैसे कानजीस्वामीके ऐसे कथनको संगत ठहराया जा सकता है जो सम्यग्दृष्टिके पूजा-दान-व्रतादिके शुभभावोंको जैनधर्म ही नही बतलाता; प्रत्युत इसके, जिनशासनमें उन्हें धर्मरूपसे प्रतिपादनका ही निषेध करता है और फलतः उन प्राचीन आचार्योपर अन्यथा कथनका दोषारोपण भी करता है जो उसे जिनोपदिष्ट धर्म बतला रहे हैं ? और यदि कानजीस्वामीकी दृष्टिमें वह सब धर्म केवलिजिन-प्रणीत नही है, तब वह न तो मंगलभूत है न लोकोत्तम है, न हमें उसकी शरणमें ही जाना चाहिए या उसे अपनाना चाहिए, ऐसी कानजीस्वामीकी यदि धारणा है और इसीसे वे उसका निषेध करके उसे

गृहस्थों तथा मुनियोंसे छुड़ाना चाहते हैं, तो फिर वे चतुर्थसम्प्रदायको जन्म देना चाहते हैं ऐसी यदि कोई कल्पना करे तो उसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है, जिससे बोहराजी कुछ क्षुब्ध होकर विरोधमे प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं—खासकर ऐसी हालतमे जब कि कानजीस्वामी अपना वक्तव्य देकर कोई स्पष्टीकरण भी करना नहीं चाहते ? क्योंकि जैनियोके वर्तमान तीनो सम्प्रदाय प्राचीन ग्रन्थोमें निर्दिष्ट हुए मुनियों तथा श्रावकोके आचारको केवलजिन-प्रणीत धर्म मानते हैं और इसीसे उसकी शरण प्राप्त करना तथा उसे अपनाना अपना कर्तव्य समझते हैं। अपने-अपने महान् आचार्योंके इस कथनकी प्रामाणिकतापर उन्हें अविश्वास नही है, जब कि कानजीस्वामीकी बाहर-भीतरकी स्थिति कुछ दूसरी ही प्रतिभासित होती हैं।

आशा है मेरे इस समग्र विवेचनसे श्रीबोहराजीको समुचित समाधान प्राप्त होगा और वे श्रीकानजीस्वामीकी अनुचित वकालतके सम्बन्धमें अपनी भूलको महसूस करेंगे[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष १३, किरण ५, ६, ७, ८, ११, १२ नवम्बर १९५४–जून १९५५

: २ :

समालोचनात्मक निबन्ध

(क) ग्रन्थ-समालोचनात्मक

१. द्रव्य-संग्रहका अंग्रेजी संस्करण

२. 'जयधवला'का प्रकाशन

३. प्रवचनसारका नया संस्करण

(ख) ग्रन्थेतर-समालोचनात्मक

४. नया सन्देश (समालोचना करनेवाला जैनी नहीं)

५. चिन्ताका विषय और कर्तव्य

६. एक ही अमोघ उपाय

७. लेखक ज़िम्मेदार या सम्पादक

८. भट्टारकीय-मनोवृत्तिका नमूना

९. डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल

१०. समाजका वातावरण दूषित

द्रव्य-संग्रहका अंग्रेजी संस्करण : १ :

आरासे श्रीयुत कुमार देवेंद्रप्रसादजीके आधिपत्यमे 'दि सैक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स' अर्थात् 'जैनियोके पवित्र ग्रथ' नामकी एक ग्रंथमाला निकलनी आरम्भ हुई है, जिसके जनरल एडीटर या प्रधान सम्पादक श्रीयुत प्रोफेसर शरच्चन्द्र घोषाल एम० ए०, बी० एल०, सरस्वती, काव्यतीर्थ, विद्याभूषण, भारती नामके एक बंगाली विद्वान है। इस ग्रथमालाका पहला ग्रथ 'द्रव्य-सग्रह' जो अभी हालमे प्रकाशित हुआ है, मेरे सामने उपस्थित है। द्रव्य-सग्रह, श्रीनेमिचन्द्राचार्यका बनाया हुआ जैनियोका एक प्रसिद्ध ग्रथ है, जिसमे कुल ५८ गाथाएँ है और जिसपर ब्रह्मदेवकी बनाई हुई एक विस्तृत सस्कृत टीका भी पाई जाती है। अनेक बार यह मूल ग्रंथ हिन्दी-मराठी आदि अनुवादसहित छपकर प्रकाशित हो चुका है। इस तरह इस ग्रंथके कई संस्करण निकल चुके हैं। परन्तु अभी तक अंग्रेजी संसारके लिये इस ग्रंथका दरवाजा बन्द था—वह प्राय. इसके लाभोसे वंचित ही था। उक्त ग्रथमालाके उत्साही कार्यकर्ताओंकी कृपासे अब वह दरवाजा उक्त समारके लिए भी खुल गया है, यह बड़े ही संतोष और हर्ष की बात है। ग्रथके उपोद्घात (Preface) मे, उक्त ग्रंथमालाके प्रकाशित करनेका उद्देश्य और अभिप्राय प्रकट करते हुए लिखा है कि 'इस ग्रंथमालामे जैनियोके उन सम्पूर्ण पवित्र ग्रंथोको प्रकाशित करनेका विचार है जिन्हें जैनियोके सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते है और उन्हें भी जो जैनियोके किसी खास सम्प्रदाय-द्वारा प्रमाण माने गये हैं।' साथ ही यह भी

सूचित किया गया है कि 'इस ग्रंथमालामें सभी जैन संप्रदायोके पवित्र ग्रंथ बिना किसी तरफदारी या पक्षपातके समान आदरके पात्र बनेगे।' इस तरह इस ग्रथमालाके द्वारा जैनियोके सम्पूर्ण उत्तम और प्रामाणिक ग्रंथोको (प्राचीन सस्कृत टीकाओ तथा अंग्रेजी अनुवादादि-सहित) प्रकाशित करके जैन-अजैन सभीके लिये पक्षपात-रहित अनुसधान करनेके वास्ते एक विशाल क्षेत्र तैयार करनेका अनुष्ठान किया गया है, जिसमे अजैन लोक जैनियो-के तत्त्वोका यथार्थ स्वरूप जानकर और जैनी भाई अपने-अपने सम्प्रदायके वास्तविक भेदो तथा उनके कारणोंको पहचानकर परस्परका अज्ञानजन्य मनोमालिन्य दूर कर सकें। ग्रथमालाके सस्थापको और सचालकोके ये सब आशय और विचार बडे ही स्तुत्य और अभिनन्दनीय हैं। मै हृदयसे उनके इस उद्देश्यका समर्थन करता हुआ इसके शीघ्र सफल होनेकी भावना करता हूँ।

उक्त ग्रथमालाका यह आलोच्य ग्रथ, द्रव्य-संग्रह, बडी सुन्दरताके साथ बढिया कागज पर छपाया गया है। सुवर्णाक्षरोमे अकित मनोहर जिल्द बधी हुई है; और छपाई सफाई सब उत्तम हुई है। ग्रथमे, मूलग्रथका प्रत्येक प्राकृत पद्य पहले देवनागरी अक्षरोमे, फिर अग्रेजी अक्षरोमे छापा गया है और उसकी सस्कृत छाया दोनो प्रकारके अक्षरोमे नीचे फुटनोटके तौरपर दी गई है। प्रत्येक मूल पद्यको उभयाक्षरोमे छापनेके बाद सबसे पहले उसका 'पदपाठ' दोनो प्रकारके अक्षरोमे, अग्रेजो अनुवाद-सहित, भिन्न टाइपमे, दिया गया है और फिर कुछ मोटे टाइपमे उसका क्रमबद्ध अग्रेजी अनुवाद साथमे लगाया गया है। अनुवादमे जीव-अजीवादि पारिभाषिक शब्दोको प्रायः ज्योका त्यों रखकर ब्रैकटो आदिमे उनका स्पष्टीकरण किया गया है और इस तरह पाठकोको समझनेकी गडबडीसे बचाया गया है। इसके बाद

अंग्रेजी टीका (Commentary) रक्खी गई है। यह टीका ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीकाका अनुवाद नही है। संस्कृतकी उक्त टीका, आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय और व्यवहारका पृथक्करण करते हुए, कुछ विस्तारके साथ लिखी गई है; परन्तु यह अंग्रेजी टीका उक्त दृष्टिको छोडकर एक दूसरे ही ढंग पर, संक्षेपके साथ, तैयार की गई है। इसके तैयार करनेमे दूसरे ग्रथोके जिन वाक्योसे सहायता ली गई है, अथवा जिनका आशय तथा अनुवाद इस टीकामे शामिल किया गया है, उन सबका उल्लेख भी मय पतेके फुटनोट्स आदिमे कर दिया गया है। यही इस टीकामे एक खास खूबी है और इससे एक विषयपर अनेक विद्वानोके मतोका एक साथ बोध हो जाता है। परन्तु यह कार्य कुछ अधिक विस्तार और खोजके साथ होता तो और भी अच्छा रहता। अस्तु।

टीकामे अनेक बातें ऐसी भी लिखी गई हैं, जिनका कोई प्रमाण नही दिया गया और जिनका दिग्दर्शन पाठकोको आगे चलकर कराया जायगा। इस टीकाके सिवाय ब्रह्मदेवकी उक्त सस्कृत टीका भी, अलग पृष्ठसंख्या डालकर, ग्रथके साथ शामिल की गई है, परन्तु उसका कोई अनुवाद नही दिया गया। ग्रंथमें ५ पृष्ठके उपोद्घातके अतिरिक्त, ३० पेजकी एक प्रस्तावना (Introduction) भी लगाई गई है, जिसमे चामुंडरायके द्वारा गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके बनने तथा नेमिचन्द्रके समयादिका विचार किया गया है। इस प्रस्तावनाका अधिकांश शरीर मिस्टर लेविस राइस आदि दूसरे विद्वानोके शब्दोसे बना हुआ है, जिन्हें लेखक महाशयने उक्त विद्वानोंके ग्रंथोसे ज्योंका त्यो उद्धृत करके रक्खा है और स्थान-स्थान पर इस विषयकी सूचना देकर अपनी उदारताका परिचय दिया है। प्रस्तावनासे सम्बन्ध रखनेवाले

गोम्मटेश्वरकी मूर्ति, मन्दिर, पहाड़ और शिलालेख आदि ६ फोटो-चित्र भी साथमे लगे हुए हैं, जिनमेसे अधिकाश चित्र पहले जैनसिद्धान्त-भास्करादिकमे निकल चुके हैं। 'नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीका चामुंडरायको शास्त्रोपदेश करना' नामका एक चित्र किसी स्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुआ है, जिसका नाम नहीं दिया गया। इस चित्रके सम्बन्धमे लिखा है कि वह त्रिलोकसारकी एक अत्यन्त प्राचीन, सुन्दर चित्रमय, हस्तलिखित प्रतिपरसे लिया गया है, परन्तु वह प्रति कहाँपर मौजूद है और किस सन्-सवत्की लिखी हुई है, इन सब बातोको सूचित करनेकी शायद जरूरत नही समझी गई !

चित्रको देखनेसे मालूम होता है कि, वह किसी ग्रंथके एक पत्रका फोटो है। उसके ऊपरके भागमे 'श्रीजिनदेवजी' के बाद 'बलगोविन्द सिहामणि' इत्यादि त्रिलोकसारकी पहली गाथा लिखी हुई है और बाई ओरके हाशियेपर उसकी संस्कृत टीका अकित की गई है। नीचेके भागमे एक ओर भगवान् नेमिनाथका मूर्ति-सहित सुन्दर मन्दिर बनाया गया है, जिसके दोनो तरफ क्रमशः बलभद्र और नारायण बैठे हुए भक्तिसे नम्रचित्त होकर हाथ जोड़े भगवान् नेमिनाथका स्तवन कर रहे हैं, और दूसरी ओर श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती एक ऊँचे आसन पर बैठे तथा सिद्धान्त-पुस्तक सामने रक्खे हुए चामुण्ड राजा और इतर सभ्य लोगोको शास्त्रके अर्थका व्याख्यानकर रहे हैं, ऐसा भाव दिख-लाया गया है। चित्र अनेक दृष्टियोंसे अच्छा बना है और त्रिलोकसारकी उक्त गाथाको लेकर ही बनाया गया है।

इन ६ चित्रोसे अलग दो चित्र अंगरेजी टीकाके साथ भी लगाए गये हैं, जिनमे एक अलोकाकाशका सूचक और दूसरा पंचपरमेष्ठीके ध्यानका व्यंजक है। अन्तिम चित्र रंगीन और

देखनेमें मनोहर मालूम होता है। इस प्रकार इस ग्रंथमें ११ चित्र हैं, जो जिल्दके साथ बँधे हुए हैं और उनकी सूचना भी ग्रंथमे एक सूची-द्वारा दी गई है। ये सब चित्र बहुत बढ़िया कागज पर छपाये गये हैं और इनकी रक्षाके लिये साथमे एक-एक बारीक कागज भी लगाया गया है। इन सब चित्रोंके सिवाय ग्रन्थमे तीन चित्र और भी रक्खे हुए हैं, जो ग्रंथके सब प्रकारसे तैयार हो जानेके बाद पीछेसे शामिल किये गये हैं और इसलिये उनकी बाइंडिंग भी नही हो सकी। इनमेसे पहला चित्र श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका किसी प्राचीन मूर्तिपरसे उतारा हुआ फोटो है। परन्तु वह मूर्ति कहाँपर मौजूद है और उसपर नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीका सूचक क्या चिह्न पाया गया है, यह सब उक्त चित्रमे कुछ भी नही बतलाया गया, जो बतलाना चाहिए था। दूसरा चित्र द्रव्यसंग्रहके अंगरेजी अनुवाद, टीका, उपोद्घात, प्रस्तावना और नोट्स आदिके प्रधान संपादक तथा लेखक प्रोफेसर शरच्चन्द्रजी घोषालका है। ये दोनो चित्र भी जिल्दके साथ बँधने चाहियें थे। रहा तीसरा चित्र, वह जैनियोके कुछ चिह्नोका द्योतक है और उसका इस ग्रथसे प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नही है। दूसरे, यह चित्र 'बुकमार्कर' नामके एक अलग पत्रखड पर भी अकित है जो ग्रथमे, रेशमी फीतेसे अलग, पठित पाटको सूचित करनेके लिये रक्खा गया है। इसलिये इसको अलगसे छपाकर रखनेमे फिजूल ही अर्थव्यय किया गया है।

चित्रोको छोड़कर ग्रन्थमे, अनेक प्रकारकी सूचियाँ भी लगाई गई हैं। जैसे १. साधारण विषय-सूची, २ उन पुस्तको तथा पत्रोकी नाम-सूची जिनसे इस ग्रन्थके तैयार करनेमे सहायता ली गई अथवा परामर्श किया गया, ३. स्वर-व्यंजनोको अंगरेजी अक्षरोंमे किस प्रकारसे लिखा गया उसकी निदर्शक सूची, ४. मूल

ग्रन्थकी विषय-सूची, ५ गाथासूची, ६. छायासूची, ७. प्रस्तावनामें उल्लिखित खास-खास शब्दो तथा नामोकी बृहत् सूची (General Index)। पहली और चौथे नम्बरकी दोनो विषय-सूचियोको छोडकर शेष सब सूचियाँ अकारादि क्रमसे लिखी गई हैं। अन्तिम बृहत्सूचीके अन्तमे मुझे यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि वह सूची कुमार देवेन्द्रप्रसादजीकी धर्मपत्नी श्रीमती 'श्रीकान्तकुमारी देवी' के द्वारा तैयार हुई है। भारतकी स्त्रियाँ यदि योग्यता प्राप्त करके अपने पुरुषोको उनके कार्योंमे इस प्रकार सहायता देकर वास्तविक सहधर्मिणी बनने लगे तो देशका बहुत कुछ उद्धार हो सकता है। अस्तु।

ग्रन्थमे एक १८ पेजका परिशिष्ट भी लगाया हुआ है, जिसमे (A) जिन और जिनेश्वर, (B) जैन देवता, (C) द्वीपायन-की कथा, (D) शब्द, (E) धर्म और अधर्मास्तिकाय, (F) ध्यान, इन सब बातोके सम्बन्धमे कुछ जरूरी सूचनाएँ दी गई हैं। इस प्रकार द्रव्यसग्रहके इस सस्करणको एक उत्तम और उपयोगी संस्करण बनानेकी हर तरहसे चेष्टा की गई है। इसके तैयार करनेमे जो परिश्रम किया गया है वह नि सन्देह बहुत प्रशसनीय है। और यह कहनेमे मुझे कोई संकोच नहीं हो सकता कि हिन्दीमे अभीतक इसकी जोडका कोई संस्करण प्रकाशित नही हुआ। सब मिलाकर इस संस्करणकी पृष्ठ-संख्या ३१८ है (३८१ नही, जैसाकि पहली सूचीके अन्तमे सूचित किया गया है)। मूल्य इस सस्करणका, पृष्ठ-नोटिस्से साढ़े पांच रुपये मालूम होता है; परन्तु किसी नोटिसमें मैंने साढ़े चार रुपये भी देखा है। यह ग्रन्थ एक दूसरे मोटे किन्तु हलके कागज पर भी छपा है। शायद वह मूल्य उसका हो।

इस ग्रंथके प्रकाशित करनेमे जो अर्थव्यय हुआ है, उसका

छठा भाग रायसाहब बाबू प्यारेलालजी, वकील चीफकोर्ट, देहलीने अपने पुत्र आदीश्वरलालके विवाहोत्सवकी खुशीमें प्रदान किया है और दूसरा छठा भाग करनालके रईस लाला मुन्शीलालजीकी धर्मपत्नी, अर्थात् देहरादूनके सरकारी खजानची ला० अजित प्रसादकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेली देवीकी माताकी ओरसे दिया गया है। इन उदार व्यक्तियोकी तरफ़से यह ग्रन्थ ओरियटल लायब्रेरियो और उन विद्वानोको भेटस्वरूप दिया जाता है जो जैनफिलासोफी और जैन-साहित्यसे विशेष अनुराग रखते हैं, ऐसा इस ग्रंथके शुरूमें प्रकाशक-द्वारा सूचित किया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थका साधारण परिचय देने अथवा सामान्यालोचनाके बाद अब कुछ विशेष समालोचना की जाती है, जिससे इस ग्रंथमालाके द्वारा भविष्यमे जो ग्रथ निकले उनके प्रकाशित करनेमें विशेष सावधानी रक्खी जाय और इस ग्रथमे जो खास-खास भूलें हुई हैं उनका निराकरण और सुधार हो सके:—

१ ग्रथके अन्तमे एक पेजका शुद्धिपत्र लगा हुआ है। इसमे बिन्दु-विसर्ग और मात्रा तककी जिन अशुद्धियोंको शुद्ध किया गया है उनके देखनेसे मालूम होता है कि ग्रंथका संशोधन बड़ी सूक्ष्म-दृष्टिके साथ हुआ है और इसलिये उसमें कोई अशुद्धि नही रहनी चाहिये। परन्तु तो भी संस्कृत प्राकृतके पाठोमे उस प्रकारकी अनेक अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। अंगरेजीमे सूत्रकृताङ्गको 'सूत्रक्रिताङ्ग', विष्णुवर्धनको 'विष्नुवर्धन', संज्ञाको 'सञ्ज्ञा', भवनवासीको 'भुवनवासी', अनुप्रवेशको 'अनुप्रबेश', और आभ्यन्तरको 'आब्यंतर' गलत लिखा है[1]। इस प्रकारकी साधारण अशुद्धियोंको छोड़कर कुछ मोटी अशुद्धियाँ भी देखनेमे आती हैं; जैसे पृष्ठ २ पर प्रमेय-रत्नमालाके स्थानमे 'परीक्षा-

१. देखो, पृ० नं० XII, XXVIII, XL, LIV, 57, 87.

मुख,' पृ० ३८ पर अप्रत्याख्यानकी जगह 'प्रत्याख्यान' और प्रत्याख्यानकी जगह 'अप्रत्याख्यान,' पृ० ४८ पर अजीवविषयको 'जीवविषय' गलत लिखा है। पृ० XXXIII पर पेज नं० X का हवाला गलत दियागया, पृ० XLV पर द्रव्यसग्रहकी कुछ गाथाओके नम्बर ठीक नही लिखे गये और पृ० XLI पर गोम्मटसारके 'जीवकाड' का संपादन पं० मनोहरलालजीके द्वारा सन् १९१४ मे होना लिखा है जो ठीक नही, उसका संपादन पं० खूबचंदजीने सन् १९१६ मे किया है। इन सब बातोके सिवाय शुद्धिपत्रमें पृ० XLV का जो संशोधन दिया है उसके द्वारा शुद्ध पाठको उलटा अशुद्ध बनाया गया है, क्योंकि द्रव्य-सग्रहके द्वितीय भागमे पुण्य-पापकी जगह जीव-अजीवका कथन नही है। इतना होने पर भी संपूर्ण ग्रंथ अपेक्षाकृत बहुत शुद्ध और साफ छपा है, यह कहनेमें कोई संकोच नही हो सकता।

२ ग्रन्थके उपोद्घातमें दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार चार अनुयोगोके नाम क्रमश· चरणानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और द्रव्यानुयोग दिये हैं और लिखा है कि 'चरणानुयोगको प्रथमानुयोग भी कहते हैं, क्योंकि वह अनुयोगोकी सूचीमे सबसे पहले आता है।' परन्तु यह लिखना बिल्कुल प्रमाणरहित है। चरणानुयोगको प्रथमानुयोग नही कहते और न दिगम्बर सम्प्रदा-यमे उपर्युक्त क्रमसे चार अनुयोग माने ही गये है। रत्नकरड-श्रावकाचारादि ग्रन्थोसे प्रथमानुयोग और चरणानुयोगका स्पष्ट भेद पाया जाता है। उनमें प्रथमानुयोगसे अभिप्राय धर्मकथानु-योगसे है और चरणानुयोगको तीसरे नम्बर पर रक्खा है। इसी उपोद्घातमे 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' को द्वादशाङ्गमेसे एक अंग सूचित किया है, जो अग न होकर एक ग्रन्थका नाम है, अथवा दृष्टिवाद नामके अंगका एक अंश-विशेष है।

३. उपोद्घातमे एक स्थान पर, श्रीकुंदकुदाचार्यके प्रवचन-सारादि ग्रथोको उमास्वामीके तत्वार्थसूत्र और सिद्धसेनके सम्मतिप्रकरणसे पीछेके बने हुए ग्रथ (Later works) लिखा है। परन्तु बिना किसी प्रमाणके ऐसा लिखना ठीक नही। कुद-कुदका अस्तित्व सिद्धसेनादिकसे पहले पाया जाता तथा माना जाता है।

४ प्रस्तावनामें, नेमिचन्द्राचार्यके 'त्रिलोकसार' का परिचय देते हुए, लिखा है कि 'इस ग्रन्थमे पृथ्वीके घूमनेसे दिन और रात कैसे होते हैं, इस बातका कथन किया गया है' :—"And there is a mention how night and day are caused by motion of the earth." परन्तु त्रिलोकसारमें पृथ्वीके घूमने आदिका कोई कथन नही है। उसमे सूर्यादिककी गतिसे दिन और रातका होना बतलाया है। अत: इस लिखनेको लेखक-महाशयकी निरी कल्पना अथवा पश्चिमी संस्कारोंका फल कहना चाहिये।

५. चामुडरायने गोम्मटसारपर जो अपने कर्णाटकदेशकी भाषामे टीका लिखी थी उसका नाम, इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामे, 'वीरमार्तण्डी' बतलाया गया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'चामुडरायकी उपाधियोमेंसे एक उपाधि 'वीरमार्तण्ड' होनेसे उसने अपनी उस टीकाका नाम 'वीरमार्तण्डी' रक्खा है, जिसका अर्थ है वीरमार्तण्डके द्वारा रची हुई'; परन्तु इसके लिए कोई खास प्रमाण नही दिया गया। गोम्मटसारके कर्मकाडकी जिस अन्तिम गाथा (नं० ९७२) परसे यह सारी कल्पना की गई है उससे इसका भले प्रकार समर्थन नही होता। उसके '**सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी**' इस वाक्यमे 'वीरमार्तण्डी' चामुंड-रायका विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वीरमार्तण्ड' नामकी

उपाधिका धारक। श्रीयुत पण्डित मनोहरलालजीने भी अपनी टीकामे, जिसे उन्होने सस्कृतादि टीकाओके आधार पर बनाया है, ऐसा ही अर्थ सूचित किया है।

६. इस ग्रन्थके सम्पादक प्रोफेसर शरच्चन्द्रजी घोषालने अपने एक पत्रमे, जो सन् १९१६ के जैनहितैषीके छठे अंकमे मुद्रित हुआ है, चामुडराय और नेमिचंद्रका समय ईसाकी ११वी शताब्दि प्रगट किया था, और गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके प्रतिष्ठित होने का समय ईस्वी सन् १०७४ बतलाया था। इसके प्रत्युत्तर-मे मैंने कुछ प्रमाणोके साथ उक्त समयको ईसाकी १०वी शताब्दि सूचित करते हुए प्रोफेसर साहबसे यह निवेदन किया था कि वे उसपर फिरसे विचार करें। यद्यपि प्रोफेसर साहबने उक्त लेखका कोई उत्तर नही दिया, परन्तु इस ग्रथकी प्रस्तावनासे मालूम होता है कि उन्होने उस पर विचार जरूर किया है। और इसीलिए उन्होने अपने पूर्वविचारको बदलकर मेरी उस सूचनाके अनुसार चामुडरायका समय वही ईसाकी १० वी शताब्दि, इस प्रस्तावनामे, स्थिर किया है। साथ ही इतना विशेष और लिखा है कि गोम्मटेश्वरकी मूर्ति ईस्वी सन् ९८० मे, २ री अप्रैलको प्रतिष्ठित हुई है। आपके लेखानुसार इस तारीख (२ अप्रैल ९८०) मे ज्योतिषशास्त्रानुसार वे सब योग पूरी तौरमे घटित होते हैं जो बाहुबलिचरित्रके 'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये' इत्यादि पद्यमे वर्णित हैं। अर्थात् दूसरी अप्रैल सन् ९८० को 'विभव' सम्वत्सर, 'चैत्र शुक्ल पचमी' तिथि, रविवारका दिन, सौभाग्य योग और मृगशिरा नक्षत्र था। उसी दिन कुभ लग्नमे यह प्रतिष्ठा हुई है। रही कल्कि सवत् ६०० की बात, उसके संबधमे आपने यह कल्पना उपस्थित की है कि 'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये' का अर्थ कल्कि संवत् ६०० के स्थानमे

'कल्किकी छट्ठी शताब्दी' किया जाय, जिसके अनुसार कल्कि संवत् ५०८ उक्त ईस्वी सन् ९८० के बराबर होता है। कल्पना अच्छी की गई है और इसके माननेमे कोई हानि नही, यदि अन्य प्रकारसे सब योग पूर्णतया घटित होते हों। परन्तु ईस्वी सन् ९८० शक सवत् ९०२ के बराबर है। ज्योतिषशास्त्रानुसार शक संवत्मे १२ जोड़कर ६० का भाग देनेसे जो शेष रहता है उससे प्रभव-विभवादि संवतोका क्रमश. नाम मालूम किया जाता है। यथा—

"शकेन्द्रकालाऽर्कयुतः कृत्वा शून्यरसैः हृतः।
शेषाः संवत्सरा ज्ञेयाः प्रभवाद्या बुधैः क्रमात्॥"

इस हिसाबसे शक सवत ९०२ मे १२ जोड़कर ६० का भाग देनेमे अवशेष १४ रहते हैं; और १४ वाँ सवत् 'विक्रम' है, जिससे शक सवत् ९०२ का नाम 'विक्रम' होता है, 'विभव' नही। 'विभव' सवत् दूसरे नम्बर पर है जैसा कि, ज्योतिष-शास्त्रोमे कहे हुए, 'प्रभवो विभव· शुक्लः' इत्यादि संवतोके नाम-सूचक पद्योसे पाया जाता है। ऐसी हालतमें, जब ईस्वी सन् ९८० मे 'विभव' संवत्सर ही नही बनता, तब गणित करके अन्य योगोके जाँच करनेकी जरूरत नही है। और इसलिये जब-तक ज्योतिषशास्त्रके वे खास नियम प्रकट न किये जायँ जिनके आधारपर शक स० ९०२ का नाम 'विभव' बन सके तथा अन्य योग भी घटित हो सके, तबतक मिस्टर लेबिस राइस आदि विद्वानोके कथनानुसार यही मानना ठीक होगा कि गोम्मटेश्वरकी मूर्ति ईस्वी सन् ९७८ और ९८४ के मध्यवर्ती किसी समयमें प्रतिष्ठित हुई है।

७. प्रस्तावनामे, ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीकाका परिचय देते हुए, लिखा है कि यह टीका द्रव्यसंग्रहके कर्ता नेमिचन्द्रसे कई

शताब्दी बादकी बनी हुई है। परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया। सिर्फ, विक्रमकी १७ वी शताब्दिमे बनी हुई स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकामे इस टीकाके कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं, इतने परसे ही उक्त निश्चय दृढ किया गया है, जो ठीक नही है। ऐसा करना तर्क-पद्धतिसे बिल्कुल गिरा हुआ है। इसके लिये कुछ विशेष अनुसंधानोकी जरूरत है।

ब्रह्मदेवने अपनी इस टीकाकी प्रस्तावनामे लिखा है कि 'यह द्रव्यसग्रह नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवके द्वारा, भाण्डागारादि अनेक नियोगोके अधिकारी सोमनामके राजश्रेष्ठिके निमित्त, आश्रमनाम नगरके मुनिसुव्रत चैत्यालयमे रचा गया है, और वह नगर उस समय धाराधीश महाराज भोजदेव कलिकालचक्रवर्ति-संबन्धी श्रीपाल मंडलेश्वरके अधिकारमे था।' साथ ही यह भी सूचित किया है कि 'पहले २६ गाथा-प्रमाण लघुद्रव्यसंग्रहकी रचना की गई थी, पीछेसे, विशेष तत्त्वपरिज्ञानार्थ, उसे बढ़ाकर यह बृहद्द्रव्यसंग्रह बनाया गया है। प्रोफेसर साहबने ब्रह्मदेवके इस कथनको अस्वीकार किया है और उसके दो कारण बतलाये हैं—एक यह कि, खुद द्रव्यसग्रहमे इस विषयका कोई उल्लेख नही है, तथा ग्रंथके अन्तिम पद्यमें ग्रंथका नाम 'बृहद्द्रव्यसग्रह' न देकर 'द्रव्यसग्रह' दिया है। और दूसरा यह कि, यदि इस कथनके अनुसार नेमिचन्द्रका अस्तित्व मालवाके राजा भोजके राजत्वकालमे माना जाय तो नेमिचन्द्रका समय उस समयसे पीछे हो जाता है जो कि शिलालेखो और दूसरे प्रमाणोके आधार-पर इससे पहले सिद्ध किया जा चुका है (अर्थात् ईसाकी १० वी शताब्दिके स्थानमे ११ वी शताब्दि हो जाता है)। इन दोनो कारणोंमेसे पहला कारण बहुत साधारण है और उससे कुछ भी साध्यकी सिद्धि नही हो सकती। ग्रंथकर्ताके लिये ग्रंथमे इस

प्रकारका उल्लेख करना कोई जरूरी नही है, खासकर ऐसे ग्रथमें जो सूत्ररूपसे लिखा गया हो। लघु और बृहत् ये सज्ञायें एक नामके दो ग्रंथोमें परस्पर अपेक्षासे होती हैं, परन्तु जब एक ग्रंथकार अपनी उसी कृतिमे कुछ वृद्धि करता है तो उसे उसका नाम बदलने या उसमे बृहत् शब्द लगानेकी जरूरत नही है। हाँ, ब्रह्मदेवकी तरह दूसरा व्यक्ति उसकी सूचना कर सकता है।

रहा दूसरा कारण, वह तभी उपस्थित किया जा सकता है, जब पहले यह सिद्ध हो जाय कि यह द्रव्यसंग्रह ग्रंथ उन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है जो गोम्मटसार ग्रंथके कर्ता हैं। प्रोफेसर साहबने द्रव्यसंग्रहको उक्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी कृति मानकर ही यह दूसरा कारण उपस्थित किया है। परन्तु ग्रथभरमे इस बातके सिद्ध करनेकी कोई चेष्टा नही की गई (जिसकी बहुत बड़ी जरूरत थी) कि यह ग्रंथ वास्तवमे उक्त सिद्धान्तचक्रवर्तीका ही बनाया हुआ है। कोई भी ऐसा प्राचीन ग्रथ प्रमाणमे नही दिया गया, जिसमे यह ग्रंथ गोम्मटसारके कर्ताकी कृतिरूपसे स्वीकृत हुआ हो, और न यह बतलाया गया कि द्रव्यसग्रहके कर्ताका समय कुछ पीछे मान लेनेसे कौन-सी बाधा उपस्थित होती है। ऐसी हालतमे ब्रह्मदेवके उक्त कथनको सहसा अप्रमाण या असत्य नही ठहराया जा सकता। ब्रह्मदेवका वह कथन ऐसे ढंगसे और ऐसी तफ़सीलके साथ लिखा गया है कि, उसे पढ़ते समय यह खयाल आये बिना नही रहता कि या तो ब्रह्मदेवजी उस समय मौजूद थे, जब कि द्रव्यसंग्रह बनकर तैयार हुआ था, अथवा उन्हें दूसरे किसी खास-मार्गसे इन सब बातोका पूरा ज्ञान प्राप्त हुआ है। द्रव्यसंग्रहकी गाथाओंपरसे भी उसके पहले लघु और फिर बृहत् बननेकी कुछ

कल्पना जरूर उत्पन्न होती है[१]। इसके सिवाय संस्कृत टीकामें अनेक स्थानो पर नेमिचन्द्रका सिद्धान्तदेव नामसे उल्लेख किया गया है, 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' नामसे नही, और गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' कहलाते हैं। उन्होंने कर्मकांडकी एक गाथा (नं० ३९७) में स्वयं अपनेको चक्रवर्ती प्रकट भी किया है। साथ ही, एक बात और भी नोट किये जानेके योग्य है और वह यह है कि द्रव्यसग्रहके कर्ताने भावास्रवके भेदोंमे 'प्रमाद' का भी वर्णन किया है और अविरतके पॉच तथा कषायके चार भेद ग्रहण किये हैं। परन्तु गोम्मटसार के कर्ताने 'प्रमाद' को भावास्रवके भेदोमे नही माना और अविरतके (दूसरे ही प्रकारके) बारह तथा कषायके पच्चीस भेद स्वीकार किये हैं, जैसा कि दोनो ग्रन्थोकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है :—

मिच्छताविरदिपमादजोगकोहादओ थ विण्णेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥

—द्रव्यसंग्रह ३०

मिच्छत्तमविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पण बारस पणवीसं पन्नरसा होंति तब्भेया॥

—गोम्मटसार, कर्मकाड ७८६

एक ही विषय पर, दोनो ग्रथोके इन विभिन्न कथनोसे ग्रंथ कर्ताओकी विभिन्नताका बहुत कुछ बोध होता है। इन सब बातो-के मौजूद होते हुए कोई आश्चर्य नही कि द्रव्यसंग्रहके कर्ता गोम्मटसारके कर्तासे भिन्न कोई दूसरे ही नेमिचन्द्र हो। जैन-समाजमे नेमिचन्द्र नामके धारक अनेक विद्वान आचार्य हो गये हैं। एक नेमिचन्द्र ईसाकी ग्यारहवी शताब्दिमें भी हुए हैं जो

---

१. बादको लघुद्रव्यसंग्रहकी खोज होकर वह सर्वप्रथम अनेकान्त वर्ष १२ की किरण ५ में प्रकाशित भी किया जा चुका है।

वसुनन्दि सैद्धान्तिकके गुरु थे और जिन्हें वसुनन्दि-श्रावकाचारमें 'जिनागमरूपी समुद्रकी बेलातरंगोसे धूयमान और सम्पूर्ण जगतमें विख्यात' लिखा है। बहुत सम्भव है कि, यही नेमिचन्द्र द्रव्य-संग्रहके कर्ता हों। परन्तु मेरी रायमें अभी तक यह असिद्ध है कि, द्रव्यसंग्रह कौनसे नेमिचन्द्राचार्यका बनाया हुआ है, और जबतक यह सिद्ध न हो जाय कि द्रव्यसगह तथा गोम्मटसारके कर्ता दोनो एक ही व्यक्ति थे उस समय तक प्रोफेसर साहबकी उक्त ३० पेजकी सारी प्रस्तावना प्रायः व्यर्थ और असम्बन्धित ही रहेगी। क्योकि वह बहुधा गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र और उनके शिष्य चामुण्डरायको लक्ष्य करके ही लिखी गई है।

८. ग्रथभरमें, यद्यपि अनुवादकार्य आमतौरसे अच्छा हुआ है; परन्तु कही-कही उसमें भूलें भी की गई हैं, जिनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

(क) सम्यग्दर्शनादिकका अनुवाद करते हुए 'सम्यक्' शब्द-का अनुवाद (Right) आदिकी जगह (Perfect) अर्थात् 'पूर्ण' किया है, और इस तरह पर पूर्णश्रद्धान, पूर्णज्ञान[1] (केवलज्ञान) और पूर्णचारित्रहीको मोक्षकी प्राप्तिका उपाय बतलाया है। परन्तु श्रद्धानादिककी यह पूर्णता कौनसे गुणस्थान-मे जाकर होती है और उससे पहलेके गुणस्थानोमे सम्यग्दर्शना-दिकका अस्तित्व माना गया है या कि नही, साथ ही इसी ग्रंथकी मूल गाथाओमे रत्नत्रयका जो स्वरूप दिया है उससे उक्त कथनका कितना विरोध आता है, इन सब बातो पर अनुवादक महाशयने कुछ भी ध्यान नही दिया। इसलिए यह अनुवाद ठीक नहीं हुआ।

---

१. देखो इसी ग्रन्थका पृ० ११४ जहाँ Perfect Knowledge (पूर्णज्ञान) उस ज्ञानको बतलाया है जो ज्ञानवरणीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है।

(ख) पृष्ठ ११४ पर, दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले अनन्तदर्शनका अनुवाद Perfect Faith अर्थात् 'पूर्णश्रद्धान' अथवा सम्यक् श्रद्धान किया है, जो जैन दृष्टिसे बिल्कुल गिरा हुआ है। इस अनुवादके द्वारा मोहनीय कर्मके उपशमादिकसे सम्बन्ध रखनेवाले सम्यग्दर्शनको और दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमादिकसे उत्पन्न होनेवाले दर्शनको एक कर दिया गया है।

(ग) पृ०५ पर 'माण्डलिक ग्रन्थकार' का अर्थ 'अन्य समस्त ग्रन्थकार' (All other writers) किया है जो ठीक नही है। माडलिकसे अभिप्राय वहाँ मतविशेषसे है।

(घ) प्रस्तावनामे एक स्थानपर, 'सुयोगे सौभाग्ये मस्त-नाम्नि प्रकटित-भगणे'का अनुवाद दिया है—(When the Auspicious mrigsira star was visible अर्थात् जिस समय शुभ मृगशिरा नक्षत्र प्रकाशित था। इस अनुवादमे 'सुयोगे सौभाग्ये' का कोई ठीक अर्थ नही किया गया। मालूम होता है कि इन पदोमें ज्योतिषशास्त्रविहित 'सौभाग्य' नामके जिस योगका उल्लेख था, उसे अनुवादक महाशयने नही समझा और इसीलिये सौभाग्यका (Auspicious) (शुभ) अर्थ करके उसे मृगशिराका विशेषण बना दिया है। इस प्रकारकी भूलोके सिवाय अनुवादकी तरतीब (रचना) मे भी कुछ भूलें हुई हैं, जिनमे मूल आशयमे कुछ गडबड़ी पड़ गई है ? जैसे कि गाथा न० ४५का अनुवाद। इस अनुवादमे दूसरा वाक्य इस ढगसे रक्खा गया है, जिससे यह मालूम होता है कि पहले वाक्यमें चारित्रका जो स्वरूप कहा गया है, वह व्यवहारनयको छोड़कर किसी दूसरी ही नय-विवक्षासे कथन किया गया है। परन्तु

वास्तवमें मूलका ऐसा अभिप्राय नही है। इसी तरह २१ वें नम्बरकी गाथाका अनुवाद करते हुए निश्चय और व्यवहार कालके स्वरूपमे परस्पर गड़बड़ी की गई हैं। ४४ वी गाथाके अनुवादकी भी ऐसी ही दशा है।

अब ग्रन्थकी अगरेजी टीकामे जो दूसरे शास्त्रविरुद्ध कथन पाये जाते हैं, उनके भी दो-चार नमूने दिखलाकर यह समालोचना पूरी की जाती है :—

(क) पृष्ठ १२ पर गणधरोको केवलज्ञानी लिखा है, जो ठीक नही। गणधर अपनी उस अवस्थामें सिर्फ चार ज्ञानके धारक होते हैं।

(ख) पृ० १५ पर 'प्रत्यभिज्ञान' और हिन्दूफिलासोफीके 'उपमान प्रमाण' को एक बतलाया है। परन्तु स्वरूपसे ऐसा नहीं है। प्रत्यभिज्ञानका सिर्फ एक भेद, जिसे सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं, उपमान प्रमाणके बराबर हो सकता है।

(ग) पृ० ३६ पर यह सूचित किया है कि, जो जीव एक बार निगोदसे निकल जाता है—उन्नति करना प्रारभ कर देता है—वह फिर कभी उस निगोद-दशाको प्राप्त नही होता; उसके पतनका फिर कोई अवसर नही रहता। परन्तु यह कथन जैन-शासनके विरुद्ध है। जैनधर्मकी शिक्षाके अनुसार निगोदसे निकला हुआ जीव फिर भी निगोदमे जा सकता है और उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँचनेके पहले जो उत्थान होता है उसका पतन भी कथंचित् हो सकता है।

(घ) गाथा नं० ३० की टीकामे पाँच प्रकारके मिथ्यात्वों-का जो स्वरूप लिखा है वह प्रायः शास्त्र-सम्मत मालूम नहीं होता। जैसे विपरीत मिथ्यात्व उसे बतलाया है 'जिसमे यह खयाल किया जाता है कि यह या वह दोनों सत्य हो सकते हैं'

और अज्ञान मिथ्यात्व उसे, 'जिसमे श्रद्धानका सर्वथा अभाव होता है अर्थात किसी प्रकारका कोई श्रद्धान नही होता।' इस प्रकारके स्वरूपका तत्वार्थसार और तत्वार्थ-राजवार्तिकादि ग्रन्थो-से मेल नही मिलता।

(५) गाथा न० ४४ की टीकामे ज्ञानावरणीय कर्मके उपशमसे 'ज्ञान' और दर्शनावरणीय कर्मके उपशमसे 'दर्शनका' उत्पन्न होना लिखा है; और इस तरहपर ज्ञान तथा दर्शनको 'औपशमिक' भी प्रगट किया है, जो जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे बिल्कुल गिरा हुआ है ; क्योकि ज्ञान तथा दर्शन 'क्षायिक' और 'क्षापोपशमिक' इस तरह दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार ग्रन्थके परिशिष्टमे, जो यह लिखा है कि केवलज्ञानीको कर्मोका कोई आस्रव नही होता, वह भी जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे ठीक नही है। क्योकि सयोगकेवलीके योग विद्यमान होनेसे कर्मोका आश्रव जरूर होता है—भलेही कषायका अभाव होनेसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध न हो।

अन्तमे मैं अपने मित्र श्रीयुत कुमार देवेन्द्रप्रसादजीको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने प्राचीन जैनग्रंथोको इस प्रकार टीका-टिप्पणादि-सहित, उत्तमताके साथ प्रकाशित करनेका यह महान् बीडा उठाया है। साथ ही, उनसे यह प्रार्थना भी करता हूँ कि, वे भविष्यमे इस बातका पूरा खयाल रक्खे कि उनके यहाँसे प्रकाशित हुए ग्रन्थोंमे इस प्रकारकी भूले न रहने पायें, और इस तरहसे उनकी ग्रन्थमाला एक आदर्श ग्रन्थमाला बनकर अपने उस उद्देश्यको पूरा करे जिसको लेकर वह अव-तरित हुई है[1]।

---

१. जैनहितैषी, भाग १३, पृ० ५४१। ता० ३-१-१९१८

'जयधवला' का प्रकाशन : २ :

श्रीगुणधराचार्य-विरचित 'कसायपाहुड' नामक सिद्धान्तग्रंथ-पर वीरसेनाचार्यकी रची हुई 'जयधवला' टीका है, जो यतिवृषभाचार्यकी चूर्णिको भी साथ मे लिये हुए है और 'जयधवल' सिद्धान्त-के नामसे प्रसिद्ध है। हालमें इस ग्रथरत्नके प्रकाशनकी एक योजना प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम० ए०, एल० एल० बी० की ओरसे प्रकट हुई है, जिसके साथमे ग्रंथकी रचनाका इतिहास ही नहीं, बल्कि ग्रंथ जिस रूपमे—मूलप्राकृत, सस्कृतछाया, हिन्दी अनुवाद व टिप्पणीसहित जिस ढंगसे—प्रकाशित किया जायगा उसका नमूना भी ग्रथके प्रारम्भिक अशको ११ पृष्ठोमें (पृ० ६ से १६ तक) छाप कर दिया है। ग्रथके सम्पादनका सारा भार अकेले प्रोफेसर साहबने अपने कन्धोपर उठाया है और प्रकाशककी जिम्मेदारीको भेलसाके श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द सिताबरायजीने अपने ऊपर लिया है। सेठजीके ११ हजारके दानद्रव्यकी सहायतासे ही यह गुरुतर कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है। ग्रथको प्रायः सौ सौ पृष्ठोके खंडोमे द्विमासिक या त्रैमासिक रूपसे निकालनेका विचार प्रकट किया गया है, जनतासे अधिक संख्यामें ग्राहक होने-की अपील की गई है और उसकी सहायता व सहानुभूति माँगी गई है।

जिस प्राचीन महत्वके ग्रन्थका वर्षोसे सिर्फ नाम ही सुना जाता था, कुछ अपवादोंको छोड़कर शेषको जिसका दर्शन भी अभी तक प्राप्त नही हुआ था और जो मूडबिद्रीकी कालकोठरीसे किसी तरह बाहर आकर भी अलभ्य बना हुआ था उसके एक-दम प्रकाशनकी योजनाके समाचारोको सुनकर किस पुरातन जैन-

प्रभावक और मूलकी अर्थ-गहराई अथवा उसकी नयविवक्षाको प्रकट करनेवाला होना चाहिये—मात्र शब्दानुवादसे काम नहीं चलेगा।

(३) तुलनात्मक अध्ययनको लिये हुए महत्वपूर्ण टिप्पणियोसे ग्रन्थ सर्वत्र विभूषित किया जाना चाहिये।

(४) छपाई अच्छे व्यवस्थित ढगको लिये हुए बहुत ही शुद्ध तथा साफ होनी चाहिये, जिसके लिये यथायोग्य सुन्दर टाइपोकी योजनाके साथ प्रेस-कापी और प्रूफ-रीडिगमे अत्यन्त सावधानी रखनेकी जरूरत है। साथ ही कागज अच्छा पुष्ट, सुदृढ एवं स्थायी होना चाहिये।

प्रकाशनकार्यको हाथमें लेनेसे पहले इन सब बातोपर ठीक तौरसे ध्यान दिया गया मालूम नही होता—मूलादि प्रतियोपरसे मुकाबलेकी तो कोई बात भी योजनापत्रमे नहीं कही गई। इसीसे प्रोफेसर साहबने इतिहास आदिका जो भी नमूना प्रस्तुत किया है वह बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है—कही-कही मूलपाठ तक छूट गया है, संशोधनमे कमी रह गई है, गलत संशोधन भी हुआ है, छापेकी भी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं, छपाईका ढग भी स्खलित है, टिप्पणियाँ बहुत साधारण हैं, अनुवाद जैसा चाहिये वैसा निर्दोष एव प्रभावक नही है, और ग्रंथरचनाका इतिहास तो सम्पादकजीकी अध्ययनादि-विषयक बहुत बडी असावधानीको व्यक्त करता है। उदाहरणके तौरपर यहाँ इन सब त्रुटियोका पाठकोको थोडा-थोडासा परिचय कराया जाता है —

(क) जयधवला टीकाकी रचनाका इतिहास देते हुए, प्रोफेसर साहबने महावीर स्वामीके निर्वाणके पश्चात् एकसौ वर्षमे पाँच श्रुतकेवलियोंका होना बतलाया है, अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् १७३ वर्षमें ग्यारह अंग-दशपूर्वके पाठी ग्यारह

आचार्योंका होना लिखा है, महावीरके निर्वाणसे ६११ वर्ष पीछे द्वादशांगका लुप्त होना प्रकट किया है और इस वीरनिर्वाण संवत् ६११ के बादके किसी समयमें ही, जो विक्रम संवत् ८६५ से पीछेका न होना चहिये, गुणधराचार्यके अस्तित्वको सूचित किया है। **समय-सम्बन्धी यह सब कथन और तो क्या, खुद जयधवला टीकाके ही विरुद्ध है।** क्योकि इस टीकामे, ग्रन्थावता--रके कालक्रमको सूचित करते हुए महावीरके निर्वाणसे १६२ (६२ + १००) वर्षके अन्दर क्रमश: तीन केवलियों और पाँच श्रुत--केवलियों का होना लिखा है, भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् १८३ वर्षके समयमे ग्यारह अग दशपूर्वके पाठियोका होना बतलाया है (''तेसि कालो तेसीदि सदवस्साणि''), महावीरके निर्वाणसे ६८३ (''छस्सदवासाणि तेसीदिवाससमयाहियाणि'') वर्षके बाद आचारांगके (अथवा द्वादशागके) विच्छेद होनेको सूचित किया है और इस ६८३ वर्षके बादकी आचार्य-परम्परामें गुणधराचार्यके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। धवलसिद्धान्त और मुख्य मुख्य ग्रन्थोमें भी यही सब ६८३ वर्षका समय आचारांगके विच्छेद होने तकका दिया है। प्रोफेसर साहबका इसे बिना किसी ऊहापोहके ६११ वर्षका समय बतलाना भ्रमपूर्ण है। जान पड़ता है वे शीघ्रतामे केवलियोंके ६२ वर्षके समयकी गणना करना ही भूल गये और ''तेसीदिसद'' का अर्थ अङ्कादिकी किसी गलतीसे १८३ की जगह १७३ वर्ष समझ गये हैं! फिर भी निर्वाणसे अङ्गविच्छेद तकके सर्वकालपरिमाणको सूचित करनेके लिये शब्दो तथा अङ्कोंमे स्पष्टरूपसे लिखी हुई ६८३ वर्षकी संख्याकी उन्होने क्यो उपेक्षा की, यह कुछ समझमे नही आता !!

(ख) पृष्ठ ११ पर 'गुणहरभडारएण' के अनन्तर और 'गाहासुत्ताणमादीए' से पहले निम्न पाठ छूट गया है, जो आरा

आदि की प्रतियोंमें पाया जाता है और जो इस टीकाग्रन्थके रचने-की प्रतिज्ञाको लिये हुए है :—

"तित्थवोच्छेदभयेणुवइट्ठगाहाणं अवगाहियसयतायाहुउत्थाणं सचुण्णिसुत्ताणं विवरणं कस्सामो। संपहि गुणहरभडारएण"

यदि दूसरी उपलब्ध प्रतियोसे ही मुकाबला कर लिया होता तो इस प्रकारकी त्रुटि न रहती।

(ग) पृष्ठ १४ पर मूलका पाठ इस प्रकार दिया है :—

"'पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण गुणीणं कम्मक्खयकंखुआनमिदि ण वोत्तुं जुत्तं पुण्णवंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो मंगलस्सेव सरागसंजमस्स विपरिच्चागप्प-संगादो।

ण च संजमप्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभाव-प्पसंगादो सरागसंजमो गुणस्सेडि-णिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज-गुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पञ्च-वट्ठाणं कायव्वं। अरहंत-णमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्ज-गुण-कम्म-क्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उत्तं च—"

इसके प्रथम पैरेग्राफमे 'गुणीणं' की जगह 'मुणीणं' पाठका संशोधन होना चाहिये था। पूर्वापर सम्बन्धको देखते हुए 'मुणीणं' पाठ ही ठीक बैठता है—अगले पैरेग्राफमे भी दो स्थानों पर 'मुणीणं' पद ही प्रयुक्त हुआ है। 'परिच्चाग' से पहले 'वि' शब्द को अलग रखना चाहिये था, वह वहाँ 'अपि' का वाचक है, उसे 'परिच्चाग' का अंग बनाकर और 'विपरित्याग' रूपसे छायानुवाद करके जो संशोधन किया गया है वह ठीक नहीं है। इस गलत संशोधन अथवा शुद्धको अशुद्ध बनानेके परिणाम-स्वरूप ही 'मंगलस्सेव' का छायानुवाद 'मंगलस्येव' की जगह

'मंगलस्यैव' किया गया है और तदनुसार उसका अर्थ भी गलत करना पड़ा है।

'ण च संजम–प्पसंगभावेण' यह पाठ प्रसंगको देखते हुए कुछ अशुद्ध एवं अधूरासा जान पड़ता है और संशोधनकी अपेक्षा रखता है।

(घ) पृष्ठ १४ पर उक्त पाठका जो हिन्दी अनुवाद प्रोफेसर साहबने दिया है वह इस प्रकार है :—

"जो पुण्यकर्मबन्धके अभिलाषी देशव्रती (श्रावक) हैं उन्हे मंगल करना उचित है, कर्मक्षयकी आकाक्षा रखनेवाले गुणी (मुनियो) को नही' ऐसा कहना भी उचित नही है, क्योंकि पुण्यबन्धको हेतुत्वके प्रति उन्हें कोई विशेष भाव नही है, तथा इससे तो जो मंगल सराग सयम है उसके ही सर्वथा त्यागका प्रसग आयगा।

और सयम प्रसंगके भावमे निर्वाणगमनके अभावका प्रसंग नही हो सकता। सरागसंयम गुणश्रेणि निर्जराका कारण है और बन्धसे मोक्ष असंख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है, इसीसे सराग-सयममे मुनियोका वर्तना योग्य है। अतः (मंगलका) प्रत्यवस्थान अर्थात् निराकरण नही करना चाहिये। अरहंतका नमस्कार साम्प्रतिक बन्धसे असंख्येय गुणा कर्मक्षयकारक है इससे उसमे भी मुनियोकी प्रवृत्तिका प्रसंग आता है।"

इस अनुवाद परसे विषयका ठीक स्पष्टीकरण नही होता—वह कितनी ही गड़बड़को लिये हुए जान पड़ता है। प्रथम पैरे-ग्राफमें 'क्योंकि' से प्रारम्भ होनेवाला अनुवाद विशेष आपत्तिके योग्य मालूम होता है। वहाँ मूलका भाव इस प्रकार है—

'क्योंकि पुण्यबन्धके हेतुत्वके प्रति (दोनोंमें) कोई विशेष नहीं है—ऐसा नियम नहीं कि श्रावक तो पुण्यबन्धके कारणका

आचरण करें, परन्तु मुनि न करें। (यदि ऐसा विशेष अथवा नियम किया जायगा तो) मंगलकी तरह सरागसंयमके भी त्याग का प्रसंग आएगा—पुण्यबन्धका कारण होनेसे वह भी मुनियोके नही बन सकेगा।'

यदि विषयका स्पष्टीकरण करते हुए इस रूपमे ही अनुवाद रख दिया जाता तो, मैं समझता हूँ, पाठकोको मूलका आशय समझनेमे ज़रा भी दिक्कत न होती।

इसी तरह दूसरे पैरेग्राफका अनुवाद भी आपत्तिके योग्य है। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि 'ण च संजमप्पसंगभावेण' यह पाठ प्रसंगको देखते हुए कुछ अशुद्ध एव अधूरासा जान पड़ना है और वह ठीक ही है; क्योकि 'णिव्वुइगमणाभाव-प्पसंगादो' यह वाक्य हेतुरूपमे प्रयुक्त हुआ है इसलिये अपने पूर्वमे एक पूरे वाक्यके सद्भावकी अपेक्षा रखता है जो उक्त पाठसे पूरी नही होती। सम्भवत: वह वाक्य 'ण च सरागसंजमस्स परिच्चागो जुत्तो' ऐसा कुछ होना चाहिये और उसके अनन्तर 'असंजमप्पसंगभावेण' यह वाक्यखंड उक्त हेतुवाक्यके पूर्वमे रहना चाहिये। इससे मूलका यह आशय स्पष्ट हो जायगा कि—'सराग-संयमका परित्याग ठीक नही है; क्योकि इस तरह असयमका प्रसग उपस्थित होनेसे निर्वाणगमनके अभावका ही प्रसग आएगा।'

इस अनुवादमे 'और बन्धसे मोक्ष असंख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है' यह अश विशेष आपत्तिके योग्य है। इसमे 'तेण' का अर्थ 'और' और 'असंख्येयगुणा' का भाव 'अधिक उत्तम' गलत दिया गया है। मूलका आशय इस प्रकार जान पड़ता है—

'इससे उसमे बन्धकी अपेक्षा मोक्ष असंख्येयगुणा (असंख्यात-गुणी कर्मनिर्जराको लिये हुए) है।'

'अत:' के बाद ब्रैकेटमें 'मंगल' के स्थानपर 'सरागसंयम' होना चाहिये था और 'निराकरण' की जगह 'परित्याग' शब्दका प्रयोग प्रकरणके अधिक अनुकूल रहता। और अन्तिम वाक्यमें 'प्रसग' आता है' ऐसा जो अनुवाद दिया गया है वह भी आपत्तिके योग्य है; क्योकि उससे यह ध्वनि निकलती है 'मानो वह प्रसंग सरागसंयमके परित्यागकी तरह अनिष्ट है'। परन्तु अरहन्तोके नमस्कारमें मुनियोंकी प्रवृत्तिका होना कोई अनिष्ट नहीं है। अत. उस प्रवृत्तिका 'प्रसंग पाया जाता है' या 'प्रसंग ठीक बैठता है' ऐसा कुछ अनुवाद होना चाहिये था। अथवा अनुवादका दूसरा ही ढंग अख्तियार किया जाना चाहिये था।

इसी प्रकारसे अन्यत्र भी अनुवादकी त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जो सब अनुवादको अन्यथा एवं श्रीहीन बनाये हुए हैं और जिनका एक दूसरा नमूना मङ्गलाचरणकी पाँचवी गाथाके अनुवादमें 'णमह' के लिये 'नमस्कार करो' शब्दोंके प्रयोगसे व्यक्त होता है, जब कि प्रकरणको देखते हुए वहाँ 'नमस्कार करता हूँ' या 'नमस्कार है' ऐसा कुछ होना चाहिये था। क्योंकि वहाँ ग्रन्थकार महोदय नमस्कारादि रूपसे स्वयं मङ्गलाचरण कर रहे हैं, न कि दूसरोंको नमस्कारादिकी कोई प्रेरणा कर रहे हैं। 'णमह' का 'नमत' ऐसा छायानुवाद भी ठीक नही है। छायानुवाद अन्यत्र भी कुछ त्रुटिको लिये है, जैसे पहली मूलगाथा मे प्रयुक्त हुए 'पेज्ज' शब्दका संस्कृतछायानुवाद 'पेज्ज' ही रख दिया गया है, जब कि वह 'प्रेय' होना चाहिये था।

(ङ) मंगलाचरणकी दूसरी गाथाके अनुवादमे लिखा है—'वे चौबीस तीर्थंकर मुझपर प्रसन्न होवें'। यह शब्दानुवाद तो है, परन्तु अर्थानुवाद नहीं। ग्रंथकारका यह कथन किस दृष्टिको लिये हुए है उसका इससे कोई स्पष्टीकरण नहीं होता। प्रश्न

यह होता है कि परम वीतरागी चौबीस तीर्थङ्कर क्या किसी पर अप्रसन्न या हीनाधिक रूपमे प्रसन्न भी होते हैं ? यदि ऐसा नही है तो फिर इसे लिखनेका अभिप्राय ? अभिप्राय जिसे आगे डैश (—) डालकर अथवा अर्थात् शब्दके साथ व्यक्त करना चाहिये था, यह है कि 'मैं प्रसन्नतापूर्वक उनके गुणोको अपने हृदयमे धारण करूँ। सदेहास्पद स्थलोंपर इस प्रकारका स्पष्टीकरण साथमे रहनेसे, जिसकी बड़ी जरूरत है, सिद्धान्तके समझनेमे कोई भ्रम नही होता।

(च) ग्रंथके नमूने रूप इन ११ पृष्ठोमे छोटी-छोटी-सी कुल पाँच टिप्पणियाँ हैं और वे भी एक ही प्रकारकी— अर्थात् आदर्शप्रतिमे क्या पाठ है मात्र इसी बातको सूचित करनेवाली हैं, जबकि अनेक महत्वपूर्ण टिप्पणियोका स्थान खाली ही जान पडता है। अस्तु; वह 'आदर्शप्रति' कौनसी अथवा कहाँकी है यह किसी जगह पर भी व्यक्त नही किया गया। आदर्शप्रतिके जिन पाठभेदोका सशोधन किया गया है वे प्रायः लेखकीय मूर्खताके द्योतक अशुद्ध पाठ हैं अथवा शीघ्रतादिवश अक्षरोको ठीक तौर से न पढ़ने और न लिखनेसे सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे पाठभेदोको वास्तवमे पाठभेद ही न कहना चाहिये और न उन्हें दिखलानेकी ऐसी कोई खास जरूरत है; जैसे पहली गाथाकी टिप्पणीमे 'भवण' की जगह आदर्शप्रतिके अर्थशून्य 'वभण' पाठका उल्लेख किया गया है, जो शीघ्रतादिवश अक्षरोके आगे पीछे लिखे जानेका परिणाम है। आराकी प्रतिमे शुद्ध 'भवण' पाठ ही पाया जाता है। इससे टिप्पणीका कार्य बहुत ही साधारण हुआ जान पड़ता है।

(छ) छापेकी भी कितनी ही अशुद्धियाँ देखनेमे आती हैं और वे प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी तीनों में ही पाई जाती हैं।

जैसे पृष्ठ १८ पर 'पेज्जसद्दो' की जगह 'पेज्जसद्दा', पृष्ठ १० पर 'गुणधरमपि' की जगह 'गुणधर-विमपि' और पृष्ठ १४ पर 'उन्हें' 'नहीं' जैसे शब्दोंको अनुस्वारहीन छापा गया है ।

छापते समय कही-कहीं पैरेग्राफका विभाग भी कुछ गड़बड़ा गया है; जैसे पृष्ठ १८ पर 'संपहि गाहाए' इत्यादिको नया पैरेग्राफ डालकर छापना चाहिये था—उसे पूर्वके चालू पैरेग्राफ-में ही शामिल कर दिया गया है । पृष्ठ १६ पर चूर्णिकी टीका-को तो नया पैरेग्राफ डालकर छापा गया है; परन्तु उसके हिन्दी अनुवादको छापते समय पैरेग्राफके विभाग को भुला दिया है—उसे चूर्णिके अनुवादमे ही शामिल कर दिया है । और चूर्णिको छापते समय उसके शुरूमे पैरेग्राफका व्यञ्जक कोई स्थान ही नही छोड़ा गया ! इससे एक नजर डालते ही ऐसा मालूम होता है कि चूर्णिका कुछ अंश छूट गया है अथवा वह पूर्ववर्ती पृष्ठ पर दिया हुआ है, जब कि ऐसा कुछ भी नही है । चूर्णिसूत्रोको यदि अच्छे इटैलिक टाइपमें छापा जाता तो ज्यादा अच्छा रहता ।

मूलगाथा तथा चूर्णिमे प्रयुक्त हुए शब्दों अथवा पदोंकी टीका छापते समय टीकामे उन्हें कुछ बड़े अथवा ब्लॉक टाइपमें छपाना चाहिये था, जिससे दृष्टि डालते ही अभिमत शब्दका अर्थादि मालूम करनेमे पाठकोको सुविधा रहती ।

इस प्रकार त्रुटियोका यह कुछ दिग्दर्शन है । और वह मेरे इस कथनको पुष्ट करता है कि इस ग्रन्थके प्रकाशनमे जरूरतसे कहीं अधिक शीघ्रतासे काम लिया जा रहा है । मुझे इस प्रकारका त्रुटियोसे भरा हुआ चलता काम पसन्द नही है । यदि प्रकाशक सेठजी इतनेपरसे ही सन्तुष्ट हों तो यह उनकी इच्छा है । मेरी रायमें तो इन सिद्धान्त-ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये काम करनेके

ढंग आदिसे परिचित कुछ उदारहृदय अनुभवी विद्वानोंका एक सम्पादकीय बोर्ड नियत किया जाना चाहिये और उसके द्वारा बहुत ही व्यवस्थित रूपसे सम्पादनादिका सब कार्य उत्तमताके साथ चलाना चाहिये। खासकर ऐसी हालतमें जबकि अपना पूरा समय और योग लगानेकी सुविधा भी प्राप्त नही है और वे खुद ही समयादिकी सकीर्णतामय अपनी उस स्थितिका पहलेसे ही उल्लेख कर रहे हैं।

सम्पादकीय बोर्डमे प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय एम० ए० का भी खास स्थान रहना चाहिये, जोकि दिगम्बर समाजमें प्राकृत-भाषाके एक मुख्य विद्वान हैं, कोल्हापुरके राजाराम कॉलिजमे प्राकृत-भाषाके सिखानेका ही काम कर रहे हैं और बहुपरिश्रमी होनेके साथ-साथ साहित्यादि-विषयक शोध-खोजके ऐसे कामोंमे विशेष रुचि रखनेवाले सज्जन हैं।

ग्रन्थके साथमे जब कि हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है तब प्राकृतका संस्कृत छायानुवाद रखने की मेरी रायमे कोई जरूरत नही है। हमारे पंडित लोग प्रायः सस्कृतके आधारपर प्राकृतको लगानेके आदी हो गए हैं, उनकी यह आदत छुड़ानी चाहिये। उन्हें अपने आगमोकी मूलभाषाका अथवा उस प्राकृत-भाषाका स्वतत्ररूपसे बोध होना चाहिये जिसमे उनके प्राचीन मौलिक ग्रन्थ लिखे हुए हैं। इस प्रकारके प्रयत्नों-द्वारा यह सब कुछ हो सकेगा। संस्कृत-छाया के साथमे न रहनेसे व्यर्थका कितना ही परिश्रम बचेगा, ग्रन्थका परिमाण भी एक तिहाईके करीब कम हो जायगा, जिससे लागत कम आएगी और मूल्य भी कम रक्खा जा सकेगा, जिसकी बड़ी जरूरत है।

यहाँ पर मुझे यह देखकर खेद होता है कि ११ पृष्ठोंका जो अंश नमूनेके तौर पर प्रकाशित किया गया है उसका मूल्य चार

आने रक्खा गया है—समाचारपत्रोंमें, चार चार आनेके टिकट भेजकर लोगोंको इस अंशकी खरीदारी कर जयधवलका दर्शन करनेकी प्रेरणा की जा रही है। जब नमूनेका ही इतना मूल्य है तब ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथका मूल्य बहुत अधिक रक्खा जायगा, जिसे मैं किसी तरह भी उचित नहीं समझता। इस विषयमे दिगम्बर समाजको अपने श्वेताम्बरी भाइयोंसे शिक्षा लेनी चाहिये, जो आगमोदयसमिति आदिके द्वारा बहुत कुछ सस्तेमे अपने आगम ग्रन्थोंका प्रचार करके अपनी श्रुतभक्तिका परिचय दे रहे हैं।

इसमे सन्देह नही कि यह ग्रथ जिस रूपमे भी प्रकाशित होगा निकल जायगा जरूर—और नही तो सस्थाओ तथा मन्दिरोंमें ही इसकी एक एक कॉपी मॅगा ली जायगी; क्योकि लोग मुनिदर्शनकी तरह इसके भी दर्शनोंके भूखे हैं, परन्तु ऐसा त्रुटिपूर्ण संस्करण निकालनेसे गलतियाँ और गलतफहमियाँ बहुत कुछ रूढ़ हो जायँगी, जिनका सुधार होना फिर अत्यन्त ही कठिन कार्य होगा। इसीसे प्रकाशित अंश पर अपनी सम्मतिका कुछ विस्तार के साथ लिख देना ही मैंने उचित समझा है। आशा है दूसरे विद्वान् भी इस पर अपनी योग्य सम्मति देनेकी कृपा करेंगे और जहाँ तक हो सके ऐसा यत्न करेंगे जिससे इन सिद्धान्त-ग्रन्थोंका प्रथम संस्करण बहुत ही शुद्ध, स्पष्ट, अभ्रान्त और उपयोगी प्रकाशित होवे[1]।

---

१. जैन जगत वर्ष १०, अंक ३, ता० १-१-१९३४

प्रवचनसारका नया संस्करण : ३ :

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका प्रवचनसार (पवयणसार) जैन वाङ्-मयका एक बहुत ही प्रसिद्ध मान्य ग्रन्थ है और अनेक विषयोमें अपनी खास विशेषता रखता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोमे यह समानरूपसे आदरका पात्र बना हुआ है और सभी इसे गौरवभरी दृष्टिसे देखते हैं। कुछ वर्ष हुए, जब मैं अहमदाबादमे था, तब मैंने अनेक श्वेताम्बर विद्वानोको यह कहते सुना है कि प्रवचनसारकी जोडका दूसरा ग्रंथ जैन-साहित्यमें नही है। और इसमे कुछ भी अत्युक्ति मालूम नही होती—अनेक दृष्टियोसे यह ग्रंथ है भी वास्तवमे ऐसा ही। इस ग्रथरत्न-को सबसे पहले प्रकाशित करनेका श्रेय बम्बईकी 'रायचन्द्र जैन-शास्त्रमाला' को प्राप्त है, जो कि 'परमश्रुतप्रभावक-मडल' नामकी एक उदार श्वेताम्बरीय सस्थाद्वारा सचालित है। इसका प्रथम सस्करण वीर-निर्वाण-संवत् २४३८ विक्रम स० १६६८ में, प० मनोहरलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था और उसी समय मैंने उसको मँगा लिया था। उस वक्त ग्रथ-के साथमे श्रीअमृतचन्द्र सूरिकी 'तत्त्वप्रदीपिका', जय सेनाचार्यकी 'तात्पर्यवृत्ति', पाडे हेमराजकी 'बालावबोध' नामकी हिन्दी भाषा-टीका—इस प्रकार तीन टीकाएँ—एक विषयानुक्रमणिका और एक साधारणसी डेढ़ पेजकी हिन्दी भूमिका (प्रस्तावना) लगी हुई थी। पृष्ठ-सख्या सब मिलाकर ३६० थी और मूल्य था सजिल्द ग्रथका तीन रुपये। ग्रथका यह संस्करण वर्षोंसे अप्राप्य था और इसीलिये बम्बई विश्वविद्यालयने इस ग्रथको अपने कोर्स (पाठ्यक्रम) से निकाल दिया था।

हालमें उक्त ग्रंथका नया संस्करण (सन् १९३५ का छपा हुआ) मुझे प्राप्त हुआ है, जिसके प्रकाशनका सौभाग्य भी उक्त शास्त्रमाला और संस्थाको प्राप्त है। यह संस्करण अपने पहले संस्करणसे कितनी ही बातोमे बढ़ा-चढ़ा है और इसके सम्पादक हैं समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर ए० एन० (नेमिनाथ-तनय आदिनाथ) उपाध्याय, एम० ए०, जो कि कोल्हापुरके राजाराम कॉलेजमे अर्धमागधी भाषाके शिक्षक हैं, सम्पादन-कलामे प्रवीण हैं और एक बड़े ही विनम्र एवं प्रगतिशील इतिहासज्ञ हैं। आपके सम्पादकत्वमे ग्रंथका यह सस्करण चमक उठा है। इसमे मूल गाथाओका अच्छा संशोधन हुआ है—जबकि पहले संस्करणमे भाषादिककी यथेष्ट जानकारी न होनेके कारण वे कितनी ही अशुद्धियोको लिये हुए छाप दी गई थी, टीकाओंका भी कुछ-कुछ संशोधन हो सका है और विषयानुक्रमणिकाको भी कही-कही सुधारा गया है। इसके सिवाय जो-जो बातें अधिक हैं और जो प्रस्तुत संस्करणकी विशेषताएँ हैं वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रस्तुत संस्करणकी अच्छी संक्षिप्त विषय सूची (Contents), अंग्रेजी मे।

(२) ग्रन्थ-सम्पादनादि-विषयक अंग्रेजीकी भूमिका (Preface) प्रथम संस्करणकी डेढ़ पेजी भूमिकाके स्थान पर।

(३) कुन्दकुन्द, उनके समय और उनके ग्रन्थों आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली एक विस्तृत आलोचनात्मक प्रस्तावना (Introduction) अंग्रेजीमें १२६ पृष्ठो पर।

(४) ग्रन्थका एक अच्छा अंग्रेजी अनुवाद (English translation) अनेक उपयोगी फुटनोट्सके साथ ३४ पृष्ठों पर।

(५) ग्रन्थमे प्रयुक्त हुए पारिभाषिक शब्दोकी एक अनु-

क्रमणिका (Index) अंग्रेजीमें उनके तुल्यार्थक शब्दों अथवा अर्थोके साथ गाथाओंके पते सहित ।

(६) ग्रन्थकी अनेक प्रतियोंमे पाये जानेवाले पाठ-भेदोंकी सूची (Variant readings) ।

(७) ग्रन्थकी गाथानुक्रमणिका ।

(८) अमृतचन्द्राचार्यकी टीकामे प्रयुक्त हुए उद्धृताऽनुधृत-पद्योकी वर्णानुक्रम-सूची ।

(९) जयसेनाचार्यकी टीकामे उद्धृत हुए पद्योंकी अनुक्रम-सूची ।

(१०) अंग्रेजी प्रस्तावनामे प्रयुक्त हुए ग्रन्थो, ग्रन्थकारों तथा दूसरे नामो आदिकी बडी सूची (Index to Introduction) ।

इन सब विशेषताओ एवं वृद्धियोंके साथ ग्रंथकी पृष्ठ-संख्या भी बढ़ी है और वह सब मिलकर ५८० हो गई है—अर्थात् प्रथमसंस्करणसे इस सस्करणमे प्राय: २०० पृष्ठ अधिक हैं । कागज पहलेसे अच्छा, जिल्द सुन्दर और गेटअप सब-अप-टु-डेट है । इन सब विशेषताओके साथ ग्रन्थका मूल्य ५) रु० अधिक नही है—भले ही वह उनलोगोको कुछ अखरता हो जो अग्रेजी नही जानते हैं । अब यह ग्रंथ अंग्रेजी पढ़े लिखे विद्वानोके लिए भी बहुत ही उपयोगी हो गया है और प्रत्येक लायब्रेरी, पुस्तकालय, शास्त्रभडार तथा उच्चकोटिकी शिक्षा-सस्थाओमे संग्रह किये जानेके योग्य है । अस्तु ।

इस संस्करणकी सबसे बड़ी खूबी और विशेषता इसकी ऐतिहासिक प्रस्तावना (Introduction) है, जिसे प्रोफ़ेसर साहबने बड़े ही परिश्रमसे तैयार किया है और जो उनके पाण्डित्य, तुलनात्मक अध्ययन तथा गहरे अध्यवसायका द्योतन

करनेके लिये पर्याप्त है। यह प्रस्तावना ग्रंथका गौरव ख्यापित करने और जनताके ज्ञानकी वृद्धि करनेमें बहुत कुछ सहायक है। बम्बई-विश्वविद्यालयने इसकी उपयोगिताको समझते हुए इसके प्रकाशनार्थ ढाई सौ रुपये की सहायता प्रदान की है तथा ग्रथको अपने एम० ए० के कोर्समें रक्खा है, और इस तरह सम्पादक व प्रकाशक दोनोंको ही सम्मानित किया है। अच्छा होता यदि इस अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी-अनुवाद भी साथमे दे दिया जाता, और इस तरह वर्तमान संस्करणकी उपयोगिताको और भी ज्यादा बढ़ा दिया जाता अथवा इस संस्करणके दो विभाग कर दिये जाते। एकमे अग्रेजीकी प्रस्तावना और अग्रेजी अनुवादादिको रख दिया जाता और दूसरेमे प्रस्तावनाका अच्छा प्रामाणिक हिन्दी-अनुवाद दे दिया जाता। साथ ही कुछ अनु-क्रमणिकाओ अथवा सूचियोको भी हिन्दीका रूप देकर रख दिया जाता। इससे हिन्दी-जनताको मूल्यकी भी फिर कोई शिकायत नही रहती और इस संस्करणकी माग भी ज्यादा बढ़ जाती।

यहाँ पर मैं उक्त प्रस्तावनाका पूर्ण परिचय देनेके लिये असमर्थ हूँ—वह तो उसे देखनेसे ही सम्बन्ध रखता है। फिर भी इतना जरूर बतला देना चाहता हूँ कि इस प्रस्तावनाके छह स्थूल विभाग हैं—१. श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, २. कुन्दकुन्दका समय, ३ कुन्दकुन्दके ग्रन्थ, ४. कुन्दकुन्दका प्रवचनसार, ५. प्रवचनसारके टीकाकार और ६. प्रवचनसारकी प्राकृत भाषा। पहले विभागमे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका परिचय, उनके पॉच नामोंकी चर्चा, तद्विषयक-विचारणा, साम्प्रदायिक कथाओकी आलोचना और उनकी गुरु-परम्पराके विचार-विमर्शको लिये हुए, दिया गया है।

दूसरे विभागमें, कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमे साम्प्रदायिक धारणाके साथ चार विद्वानो (पं० नाथूराम प्रेमी, डा० पाठक,

प्रो० चक्रवर्ती, जुगलकिशोर मुख्तार) के मतोंका उल्लेख करते हुए उनपर कुछ प्रकाश डाला गया है और समयकी पूर्वोत्तर सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। साथ ही, इन आनुषङ्गिक विषयों पर विचार किया गया है कि क्या कुन्दकुन्दाचार्य (क) दिगम्बर-श्वेताम्बर विभागके बाद हुए हैं ? (ख) भद्रबाहुके शिष्य थे ? (ग) षट् खण्डागमके टीकाकार थे ? (घ) शिवकुमार राजा के समकालीन थे ? (ङ) तामिल काव्य 'कुरल' के रचयिता थे ?

तीसरे विभागमे, प्रवचनसारको छोड़कर, कुन्दकुन्दके नामसे नामाङ्कित होनेवाले सभी ग्रन्थोकी चर्चा करते हुए, उपलब्ध ग्रन्थोका सक्षेप-विस्तारमे परिचय दिया गया है। अष्ट पाहुडो, रयणसार, वारसअणुवेक्खा, नियमसार, पंचास्तिकायसार और समयसार ग्रन्थोका जो अलग-अलग परिचय, उनके विषयविभाग-को लक्ष्यमे रखते हुए, गाथाओके नम्बरोकी सूचनाके साथ दिया है वह नि:सन्देह बडे ही महत्वका है और उससे उन ग्रन्थोका सारा विषय संक्षेपमें बड़े ही अच्छे ढंगसे सामने आ जाता है। इस परिचयके तैयार करनेमे प्रोफेसर साहबने जो परिश्रम किया है वह बहुत ही प्रशंसनीय है। परिचयके बाद उक्त ग्रन्थो-पर विवेचनात्मक नोट्स (Critical remarks) भी दिये गये हैं, जो कुछ कम महत्वके नही हैं और विचारकी कितनी ही सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

चौथे विभागमें, प्रवचनसारका विचार किया गया है और उसे पॉच उपविभागोंमें बाँटा गया है। एकमे, प्रवचनसारके अध्य-यनकी चर्चा करते हुए उसके देरसे पूर्वदेशीय भाषा-विज्ञों (orientalists) के हाथोंमे पहुँचनेका उल्लेख है। दूसरेमें प्रवचनसारकी मूल गाथाओंकी चर्चा की गई है और दोनों टीकाओं-परसे गाथाओंकी कमी-बेशीका जो भेद उपलब्ध होता है उसे

दर्शाते हुए बढ़ी हुई गाथाओकी प्रकृति आदिका विचार प्रस्तुत किया गया है। तीसरेमे, प्रवचनसारका अध्याय-क्रमसे संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर सार दिया गया है और उसे देते हुए विषय-विभाग-को लक्ष्यमे रखकर गाथाओके नम्बरोकी सूचना भी साथमे कर दी गई है, जिससे वह बहुत ही उपयोगी हो गया है। इसके सिवाय प्रवचनसार पर कुछ विवेचनात्मक नोट्स (critical remarks) भी दिये हैं। चौथे उपविभागमे, प्रचनसारके दार्शनिक रूपका ६ धाराओमे अच्छी विवेचनाओ तथा उपयोगी फुटनोटोंके साथ प्रदर्शन किया गया है और दूसरे दर्शनो तथा सिद्धान्तोके साथ तुलनात्मक अध्ययन एव विचारकी कितनी ही सामग्री सामने रक्खी गई है। धाराओमे ग्रन्थके प्रतिपाद्य दार्शनिक विषयोका अपने ढंगसे मूल गाथाओके पते सहित निरूपण है और उपधाराएँ उनकी व्याख्या, आलोचना, विचारणा अथवा तुलना आदिको लिये हुए हैं। ३६ पृष्ठका यह उपविभाग निःसन्देह बड़े ही महत्वका है और लेखकके विशाल अध्ययन तथा गुरुतर परिश्रम-का अच्छा परिचायक है। और पाँचवेमे प्रवचनसारके तृतीय अध्यायानुसार आदर्श जैन मुनि (श्रमण) का रूप देकर उसके कुछ आचारोंकी आलोचना की गई है।

उक्त ६ धाराओका विषय-विभाग उपधाराओकी संख्या सहित इस प्रकार हैं :—

१—वैधिकी पृष्ठभूमि अथवा जैन पदार्थविद्या (उपधा० १)
२—द्रव्य, गुण और पर्याय (उपधा० ४)।
३ —जीव और पुद्गलका स्वरूप (उपधा० २)।
४—उपयोयत्रय-वाद (उपधा० १)
५—सर्वज्ञता-सिद्धान्त (उपधा० ८)

६—परमाणु-वाद (उपधा० ३)

७—स्याद्वाद, अथवा सापेक्ष-विधानका सिद्धान्त (उपधा० ८)

८—देवता-विषयक जैन-अवधारणा (उपधा० ५) ।

९—भारतीय धार्मिक विचारणामे जैन धर्मका स्थान ।

पाँचवे विभागमे प्रवचनसारके छह टीकाकारोका—१ अमृतचन्द्र, २ जयसेन, ३ बालचन्द्र, ४ प्रभाचन्द्र, ५ मल्लिषेण, ६ पाडे हेमराजका ओर उनकी टीकाओका कुछ परिचय दिया गया है और साथ ही उनके समयादिकका विचार भी किया गया है ।

छठे विभागमें, प्रवचनसारकी आकृत-भाषाको लेकर, उसके व्याकरण-सम्बन्धी विषयो-नियमो उपनियमोकी कितनी ही छान-बीन की गई है, प्राकृनके सौरसेनी और महाराष्ट्री भेदोकी चर्चा करते हुए प्रवचनसारकी भाषाको डा० पिश्चेल (pishel) के मतानुसार, 'जैनसौरसेनी' ठहराया है और श्वेताम्बरीय आगमोत्तरग्रंथोकी भाषाको 'जैनमहाराष्ट्री' बतलाया है । साथ ही, यह सहेतुक प्रकट किया है कि प्रवचनसार जैसे पुरातनजैन सौरसेनी भाषाके ग्रन्थ, जोकि देशी शब्दोसे रहित है, उन प्रचलित श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थोसे प्राचीन हैं जिनमे देशी शब्दोका कितना ही मिश्रण पाया जाता है । १५ पृष्ठोका यह विभाग-प्राकृत-भाषाकी आलोचनाके साथ एक भाषापर दूसरी भाषाके प्रभाव आदिको व्यक्त करते हुए तथा भाषा-विषयक कितनी ही ऐतिहासिक चर्चाको स्थान देते हुए और उसपरसे अनेक निष्कर्षोको निकालते हुए बडे ही ऊहापोहके साथ विद्वत्तापूर्ण ढंगसे लिखा गया है । और इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० साहब जिस अर्धमागधी एवं प्राकृतभाषाके शिक्षक हैं उसका आपको कितना गहरा अभ्यास है ।

अब मैं इन विभागोंमें आई हुई प्रस्तावनाकी कुछ खास-खास बातोंका थोड़ा-सा परिचय, यथावश्यक अपनी समालोचना-के साथ, और भी करा देना चाहता हूँ।

प्रथम विभागमें, पट्टावली आदिके अन्तर्गत एक साम्प्रदायिक पद्यके आधारपर कुन्दकुन्दाचार्यके पाँच नामोकी चर्चा करते हुए और यह बतलाते हुए कि उनका मूलनाम 'पद्मनन्दि' उत्तरनाम कोंडकुन्दाचार्य था, 'वक्रग्रीव' तथा 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामोंको अप्रामाणिक सिद्ध किया है और प्रकट किया है कि इन नामोके दूसरे ही आचार्य हुए हैं। परन्तु 'एलाचार्य' नामके विषयमें निश्चित रूपसे ऐसा कुछ न कहकर उसपर अपना सन्देह ही व्यक्त किया है। सन्देहका प्रधान कारण[1] 'ज्वालिनी-मत' नामक ग्रन्थमें उसके मूल-कर्तृत्व रूपसे हेलाचार्य अथवा एलाचार्य नामका उल्लेख है, जिसका जीवनकाल प्रो० साहब कुछ अधिक पहलेका अनुमान करते हैं। परन्तु इन्द्रनन्दिके ज्वालिनीमतमे उसके मूलकर्ता हेलाचार्यका जिस रूपमें उल्लेख किया है उसपरसे वह कुन्दकुन्द ही नही, किन्तु कुन्दकुन्दके समकालीन कोई दूसरा व्यक्ति भी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्वालिनीमत शक संवत् ८६१ (वि० सं० ९९६) का बना हुआ है और उसमें उक्त हेलाचार्यकी अविच्छिन्न शिष्य-परम्परामें गाङ्गमुनि, नीलग्रीव, बीजावाख्य, आर्याक्षान्तिरसब्बा और क्षुल्लक विरूवट्ट का उल्लेख करके यह स्पष्ट लिखा है कि

इति अनया गुरुपरिपाट्याऽविच्छिन्नसम्प्रदायेण चागच्छत् कन्दर्पेण

१. गौणकारण, चिक्कहनसोगेका एक लेखनकालविहीन शिलालेख है, जिसमें देशीगण और पुस्तक-गच्छके एक एलाचार्यका उल्लेख है; परन्तु उसके साथ कुन्दकन्दकी एकता अथवा अनेकताका कोई पता नहीं चलता है, ऐसा लिखा है।

ज्ञातं'' अर्थात् इस गुरूपरिपाटीसे अविच्छिन्न-सम्प्रदाय-द्वारा चला आया यह शास्त्र कन्दर्पाचार्यको प्राप्त हुआ। कन्दर्पाचार्य और उनके शिष्य गुणनन्दि दोनों के पाससे ('पार्श्वे तयोर्द्वयोरपि') इन्द्रनन्दिने उस शास्त्रको पढ़कर भाषादिके परिवर्तनद्वारा 'ज्वालिनीमत' की नई सरल रचना की है। इससे कन्दर्पाचार्य-का समय इस ग्रंथरचनाके करीबका ही जान पड़ता है, और उनकी अविच्छिन्न गुरु-परम्परामें कुल पाँच नामोंका उल्लेख होनेसे वह प्राय. १२५ या १५० वर्षसे अधिक पूर्वकी मालूम नही होती। ऐसी हालतमें उक्त एलाचार्यका समय विक्रमकी ९वी शताब्दीसे पूर्वका मालूम नही होता। तब कुन्दकुन्दाचार्यके साथ उसका एक-व्यक्तित्व भी नही बन सकता और न इस आधार पर 'एलाचार्य' नामकी प्रामाणिकताको सन्देहकी दृष्टिसे ही देखा जा सकता है। ज्वालिनीमतके मूलकर्त्ता एलाचार्यको तो वैसे भी द्राविडसंघका आचार्य लिखा है—जिस संघकी स्थापना कुन्दकुन्दाचार्यसे बहुत बाद हुई है, कथापरसे उनका समय भी भिन्न जान पड़ता है और स्थान भी उनका मलय-देशस्थ हेमग्राम (होन्नूर) बतलाया है, जब कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका स्थान कोंडकुन्दपुर प्रसिद्ध है और उसीपरसे वे 'कोंडकुन्दाचार्य' कहलाते थे, जिसका श्रुतिमधुर रूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' हुआ है। इसके सिवाय, एलाचार्य नामके दूसरे भी प्रसिद्ध आचार्य हुए ही हैं, जो कि धवलादिके रचयिता वीरसेनके गुरु थे; तब वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ नामोंकी तरह एलाचार्य नामको भी यदि कल्पित एवं भ्रान्तिमूलक मान लिया जाय तो इसमें कोई विशेष आपत्ति उस वक्त तक मालूम नहीं होती जब तक इसके विरुद्ध कोई नया पुष्ट प्रमाण उपस्थित न हो जाय।

इसी प्रथम विभागमें, कथाओं आदिके आधार पर कुन्द-

कुन्दके विदेहगमन और श्रीमंधरस्वामीके समवसरणमें पहुँच कर धार्मिक प्रकाश प्राप्त करनेका उल्लेख करते हुए, यह बतलाया है कि विदेहगमनकी ऐसी ही कथाएँ उमास्वाति तथा पूज्यपादाचार्यके विषयमें भी पाई जाती हैं, जिससे कुन्दकुन्दके विदेहगमनकी घटना संदिग्ध-सी हो जाती है। साथही उसे संदिग्धताकी कोटिसे निकालनेकी कुछ इच्छा से यह भी सुझाया है कि 'कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारकी तीसरी गाथामें जो मानुष क्षेत्रमें स्थित वर्तमान अर्हन्तोंको नमस्कार किया है उसी पर कथा-वर्णित इस बातकी कल्पना की गई मालूम होती है कि 'कुन्दकुन्दने यहाँसे विदेह-स्थित श्रीमंधरस्वामीको नमस्कार किया था और उसीके फलस्वरूप उन्हें विदेह-क्षेत्रकी यात्राका अवसर प्राप्त हुआ था।' कुछ विद्वानोंने प्रो० साहबकी इस सूचना एवं कल्पनाकी प्रशंसा भी की है और उसे "गजबकी सूझ" तक लिखा है। परन्तु मुझे वह निर्दोष मालूम नही होती; क्योंकि एक तो उक्त गाथामें **'वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते'** शब्दोंके द्वारा मनुष्यक्षेत्रमें वर्तमान सभी अर्हन्तोंको बिना किसी विशेषके—श्रीमधरका नामोच्चारण तक न करके—नमस्कार किया गया है, जिससे उस प्रचलित कथाका कोई समर्थन नही होता है जिसमें ध्यानस्थ होकर मन-वचन-कायकी शुद्धि-पूर्वक पूर्वविदेहक्षेत्रके मात्र श्रीमंधरस्वामीको नमस्कार करनेकी बात कही गई हैं। दूसरे, यदि ऐसे निर्विशेष नमस्कारसे श्रीमंधर-स्वामीको ही नमस्कार किया जाना मान लिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि पूज्यपादने श्रीमंधरस्वामीको नमस्कार नहीं किया है; क्योंकि उन्होंने अपनी सिद्धभक्तिके अन्तिम पद्यमें **"भवन्तः सकलजगति ये"** आदि पदोंके द्वारा जगत-भरके सभी वर्तमान देवाधिदेवोंको नमस्कार किया है, जिसमें विदेहक्षेत्रके

श्रीमंधरस्वामी भी आ जाते हैं। जब पूज्यपादने भी श्रीमंधर-स्वामीको नमस्कार किया है तब नमस्कार-सामान्यपरसे कुन्द-कुन्दके विदेहगमनकी घटना को सत्य, और पूज्यपादके विदेह-गमनकी घटनाको असत्य (पीछेसे जोड़ी हुई) भी नही कहा जा सकता। तीसरे, जब विदेह-क्षेत्रमें वर्तमान तीर्थंकरोका होना आगमोदित है और सामायिकादि आवश्यक कृति-कर्मके अवसर-पर सभी मुनिजन नित्य ही विदेहक्षेत्रके उन वर्तमान तीर्थं-करोको नमस्कार करते हैं—जब कि वे "**अड्ढाइज्जदीव-दोस-मुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहंताणं भयवंताणं** .... **सदा करेमि किरियम्मं**" इत्यादि प्रकारके पाठ बोलते हैं, तब विदेह-क्षेत्रके अर्हन्तोको अपने ग्रंथमें नमस्कार करना एक साधारण-सी बात है, उसपरसे किसीके विदेहगमनका नतीजा नही निकाला जा सकता। और न वैसी कोई कल्पना ही की जा सकती है। यों तो बहुतसे ग्रंथकारोने अपने-अपने ग्रंथोंमें विदेह-क्षेत्रवर्ती तीर्थंकरोको नमस्कार किया है। क्या वे सभी विदेह-क्षेत्र हो आए हैं? अथवा उनके ऐसे नमस्कारादिपरसे लोगोने उनके विदेहक्षेत्र-गमनकी कल्पना की है? कदापि नहीं। अतः गाथाके उक्त शब्दोंपरसे कुन्दकुन्दके विदेहगमनकी कल्पनाका जन्म होना मुझे तो समुचित प्रतीत नही होता और न ऐसे उल्लेखोपरसे वह कुछ सत्य ही कहा जा सकता है। वास्तवमें विदेहगमन–जैसी असाधारण घटनाका स्वयं कुन्दकुन्दके द्वारा कोई उल्लेख न होना सन्देहसे खाली नही है।

दूसरे विभागमें—पृष्ठ १६, १७ पर—मेरे इस मतपर कुछ आपत्ति की गई है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य थे और यह संभावना व्यक्त की गई है कि मैंने बोधपाहुडकी गाथा नं० ६१ के साथ, जिसमें '**सीसेण य भद्दबाहुस्स**' शब्दोंके

द्वारा कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य सूचित किया है, गाथा नं० ६२ का अवलोकन नही किया है अथवा उस पर ध्यान नही दिया है, जिसमें श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयघोष किया गया है। परन्तु ऐसा नही है, विचारके समय मेरे सामने दोनों गाथाएँ मौजूद थीं और मैं इस बातसे भी अवगत था कि परम्परा-शिष्य भी अपनेको शिष्यरूपसे उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं—परम्परा-शिष्यके उदाहरणोके लिये Annals of the B. O. R.I. vole xv मे प्रकाशित जिस लेखको देखनेकी प्रेरणा की गई है वह भी मेरा ही लिखा हुआ है। फिर भी दोनो गाथाओकी स्थिति और कथन-शैलीपरसे मैंने यही निश्चय किया है कि उनमें अलग-अलग दो भद्रबाहुओंका उल्लेख है। पहली गाथामे वर्णित भद्रबाहु श्रुतकेवली मालूम नही होते, क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जिन-कथित श्रुतमे ऐसा कोई खास विकार उपस्थित नही हुआ था जिसे उक्त गाथामें '**सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं**' इन शब्दों-द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषासूत्रोमे परिवर्तित हो गया था। इससे ६१ वीं गाथाके भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२ वीं गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होनेवाले प्रथम भद्रबाहुका अन्त्य मंगलके तौरपर जयघोष किया गया है और उन्हे साफ तौरसे 'गमक गुरु' लिखा है। इस तरह दोनों गाथाओंमे दो अलग-अलग भद्रबाहुओंका उल्लेख होना अधिक युक्ति-युक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

तीसरे विभागमें, कुन्दकुन्दके पाहुड ग्रंथोका विचार करते हुए, २४ वें पृष्ठपर यह सूचना की गई है कि कुछ श्वेताम्बर

ग्रंथ भी पाहुड़ (प्राभृत) संज्ञाके धारक हैं और उदाहरणके तौर पर 'जोणीपाहुड' तथा 'सिद्धपाहुड' ऐसे दो नाम भी पेश किये गये हैं, जो 'जैनग्रंथावली' के पृष्ठ ६२ और ६६ पर दर्ज हैं। परन्तु इनके श्वेताम्बर होनेका और कोई प्रमाण नहीं दिया है। मात्र श्वेताम्बरो-द्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली' में दर्ज होनेसे ही वे श्वेताम्बर नही हो जाते। इस ग्रंथावलीमे तो पचासों ग्रंथ ऐसे दर्ज हैं जो दिगम्बर हैं और इस बातसे प्रो० साहब भी अपरिचित नहीं हैं। संभव है उन्हे किसी दूसरे आधारसे इन ग्रथोके श्वेताम्बर होनेका कुछ पता चला हो और वे उसका उल्लेख करना भूल गये हों। परन्तु कुछ भी हो, जोणीपाहुड़ तो दिगम्बर ग्रंथ है ही। उक्त ग्रंथावलीमें भी उसे धरसेनाचार्य-कृत लिखा है, जो कि एक दिगम्बराचार्य हुए हैं, और उसीके पुष्ट करनेके लिये बृहट्टिप्पणीका यह वाक्य भी उद्धृत किया है—"**योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्**"। अस्तु, इस ग्रंथकी जो जीर्ण-शीर्ण एवं खण्डित प्रति पूनाके भण्डारकर इन्स्टीटयूटमे मौजूद है और जिसे देखकर पं० बेचरदासजीने एक नोट लिखा था उससे मालूम होता है कि यह ग्रंथ 'पण्ह-सवण' (प्रश्नश्रवण) मुनिके द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्योंके लिये लिखा गया है। '**इय पण्हसवण-रइए भूयबली-पुष्कयंत-आलिहिए**' इत्यादि वाक्यों परसे उसका समर्थन होता है। चूँकि भूतबलि और पुष्पदन्त मुनिके गुरुका प्रसिद्ध नाम 'धरसेन' था इसीसे शायद बृहट्टिप्पणीमें 'प्रश्नश्रवण' की जगह 'धरसेन' नामका उल्लेख किया गया जान पड़ता है। 'धवला' टीकामें भी '**जोणीपाहुडे भणिदमंततंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेतव्वा**' इस प्रकारके वाक्य-द्वारा इसी ग्रंथका उल्लेख पाया जाता है। रही 'सिद्धपाहुड' की बात, उसके और उसकी टीका तकके

कर्तृत्व-विषयमें उक्त ग्रंथावली बिल्कुल मौन है, लिम्बडीके भण्डारमें भी उसका अस्तित्व है परन्तु उसकी सूची भी कर्तृत्व-विषयमें कोई सूचना नहीं देती। इससे 'सिद्धपाहुड' ग्रंथ दिगम्बर है या श्वेताम्बर, यह अभी कुछ भी नही कहा जा सकता। हो सकता है कि वह कुन्दकुन्दके ८४ पाहुडोंमेंसे ही कोई पाहुड हो।

'षट्खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डों पर कुन्दकुन्द-द्वारा रची हुई 'परिकर्म' नामकी टीकाका विचार करते हुए और उसकी रचनाको कुछ कारणोंसे सन्दिग्ध बतलाते हुए पृष्ठ नं० १८ पर, यह भी प्रकट किया गया है कि 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाओंमें उसके कोई चिह्न नही पाये जाते। परन्तु धवला टीकामें तो 'परिकर्म' नामक ग्रंथका उल्लेख, **'परियम्मे वुत्तं'** 'परियम्मसुत्तेण सह **विरुज्झइ**' इत्यादि रूपसे अनेक स्थानोपर पाया जाता है। यह 'परिकर्म ग्रंथ वह तो हो नहीं सकता जो 'दृष्टिवाद' नामक १२वें अंगका एक खास विभाग—अनेक उपविभागोंको लिये हुए—है, जिसका अस्तित्व बहुत समय पहलेसे उठ चुका था और जो शायद कभी लिपिबद्ध-भी नहीं हुआ था। तब यह 'परिकर्म' ग्रंथ षट्खण्डागमकी टीका-रूपमे इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके कथनानुसार कुन्दकुन्दकृत है या विबुध श्रीधरके मतानुसार कुन्दकुन्दके शिष्य कुन्दकीर्तिका बनाया हुआ है? अथवा षट्खण्डागमकी टीका न होकर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उक्त दोनोंमेसे एकने या किसी तीसरेने ही इसकी रचनाकी है? ये सब बातें विचार किये जानेके योग्य हैं। टीकारूपमें प्रथम दोमेंसे किसीकी भी कृति होनेपर कुन्दकुन्दके समय निर्णयपर इससे कितना ही प्रकाश पड़ सकता है। मालूम होता है 'धवला' का सामान्य रूपसे अवलोकन

करते हुए प्रोफेसर साहबके सामने 'परिकर्म'—विषयक उल्लेख नहीं आए, और इसीसे उन्हें उनपर विचार करनेका अवसर नही मिल सका। आशा है वे भविष्यमें गहरी जाँचके बाद उनपर जरूर प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

कुन्दकुन्दके नामसे प्रसिद्ध होनेवाले 'रयणसार' ग्रंथका विचार करते हुए, २६वें पृष्ठ पर जो यह प्रकट किया गया है वह ठीक ही है कि 'रयणसार' ग्रंथ गाथा-विभेद, विचार-पुनरावृत्ति, अपभ्रंशपद्योकी उपलब्धि गण-गच्छादि उल्लेख और बेतरतीबी आदिको लिए हुए जिस स्थितिमें अपनेको उपलब्ध है उस परसे वह पूरा ग्रंथ कुन्दकुन्दका नही कहा जा सकता, कुछ अतिरिक्त गाथाओकी मिलावटने उसके मूलमे गड़बड़ उपस्थित कर दी है और इसलिये जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायँ तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस रयणसार ग्रंथके कर्ता हैं।

पृष्ठ ४२ पर यह सुझाया गया है कि 'नियमसार' में द्वादशश्रुतस्कंध-रूपसे जो परिच्छेदभेद पाया जाता है वह मूलकृत नही है—मूल परसे उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती, उससे मूलके समझनेमे किसी तरहकी सुगमता भी नही होती और न यही मालूम होता है कि ग्रंथकार कुन्दकुन्दका अभिप्राय अपने ग्रंथमें ऐसे कोई विभाग रखनेका था और इसलिये उक्त विभागोकी सारी जिम्मेदारी टीकाकार पद्मप्रभमलधारी देव पर है, और यह प्राय: ठीक जान पड़ता है।

चौथे विभागमें, प्रवचनसारकी गाथाओंका विचार करते हुए, यह प्रकट किया गया है कि अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार गाथा-संख्या २७५ है, जबकि जयसेनकी टीका परसे वह ३११ उपलब्ध होती हैं और ये बढ़ी हुई गाथाएँ तीन भागोंमें बाँटी

जा सकती हैं—१. नमस्काराद्यात्मक, २. व्याख्यान-विस्तार-विषयक और ३. अपरविषय-विज्ञापनात्मक। साथ ही, यह भी प्रकट किया गया है कि प्रथम दो विभागोंकी कुछ गाथाएँ ऐसी तटस्थ प्रकृतिकी हैं कि उनका अभाव महसूस नही होता और यदि वे मौजूद रहें तो उनसे प्रवचनसारके विषयमे वस्तुत: कोई खास वृद्धि नही होती और इसलिये तृतीय विभागकी गाथाएँ ही खास तौरसे विचारणीय हैं। इन गाथाओमें १४ गाथाएँ ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ साधुओंके लिये वस्त्र-पात्रादिका और स्त्रियों के लिये मुक्तिका निषेध करती हैं। इन गाथाओंका विषय, यद्यपि, कुन्दकुन्दके दूसरे ग्रन्थोंके विरुद्ध नही है—प्रत्युत अनुकूल है—परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध जरूर है और इसलिये अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा इनके छोड़े जानेके विषयमे प्रोफेसर साहबने भावी अनुसंधानके लिये यह कल्पना की है अथवा परीक्षार्थ तर्क उपस्थित किया है कि—'अमृतचन्द्र इतने अधिक आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि साम्प्रदायिक वाद-विवादमें पड़ना नही चाहते थे और संभवत: इस बातकी इच्छा रखते थे कि उनकी टीका, सदीप्त एव तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणोंका विलोप करती हुई, कुन्दकुन्दके अति उदात्त उद्‌गारोके साथ, सभी सम्प्रदायोंको स्वीकृत होवे।' इसमे सन्देह नही कि अमृत-चन्द्र सूरि एक बड़े ही अध्यात्मरसके रसिक विद्वान थे; परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका यह अर्थ नही हो सकता और न इसके कारण उन पर ऐसा कोई आरोप ही लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपनी टीकाको सर्वसम्मत बनाने और साम्प्रदायिकवाद-विवादमें पड़नेसे बचनेके लिये एक महान् आचार्यके ग्रंथकी टीका लिखनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसके

---

१. अमृतचन्द्र सूरिका वह प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार है—

क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥

कितने ही वाक्योंको जानबूझकर छोड़ दिया है और उस छोड़नेकी सूचना तक करना भी अपना कर्तव्य नहीं समझा है। ऐसा आचरण मेरी रायमे आध्यात्मिक प्रकृतिके विरुद्ध है। यदि किसी तरह यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने इसी दृष्टिसे उक्त १४ गाथाओंको छोड़ा है तो फिर शेष २२ गाथाओंको छोड़नेका क्या कारण हो सकता है? उन्हें तो तब निरापद समझकर टीका में जरूर स्थान देना चाहिये था। दूसरे अध्याय-के मंगलाचरण तककी एकमात्र गाथाको स्थान न देना और उसे दूसरे अध्यायोसे भिन्न बिना मंगलाचरणके ही रखना इस बातको सूचित करता है कि अमृतचन्द्र सूरिको मूलका उतना ही पाठ उपलब्ध हुआ है जिसपर उन्होने टीका लिखी है— उन्होने जानबूझकर मूलका कुछ भी अंश छोड़ा नही है। रही साम्प्रदायिक वादविवादमे न पड़नेकी बात, इसका कुछ भी मूल्य नही रहता जब हम देखते हैं कि खुद अमृतचन्द्रने अपने 'तत्त्वार्थसार' मे, जो कि एक प्रकारसे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र-का व्याख्यान अथवा पद्यवार्तिक है, निम्नपद्यके द्वारा यह घोषणा की है कि 'जो साधुको सग्रंथ (वस्त्रादिसहित) होने पर भी निर्ग्रन्थ बतलाते हैं और केवलीको ग्रासाहारी (कवलाहारी) ठहराते हैं वे विपरीत मिथ्यात्वके अन्तर्गत हैं' और इस तरह साफ तौरपर श्वेताम्बरोपर आक्रमण किया है :—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥५–६॥

इसी सिलसिलेमे पृष्ठ ५४ पर एक फुटनोट-द्वारा अमृतचन्द्र सूरिके श्वेताम्बर होनेकी कल्पनाका भले प्रकार निरसन करते हुए और प्रमाणमें उक्त 'सग्रन्थोऽपि च' पद्यको भी उदधृत करते हुए यह प्रकट किया गया है कि चूँकि अमृतचन्द्रने समयसारकी

टीकामें 'नवतत्त्व' एवं 'सप्तपदार्थ' शब्दोंका प्रयोग किया है तथा 'व्यवहारसूत्र' का उल्लेख किया है, इससे ज्यादासे ज्यादा इतना ही पाया जाता है कि उन्हें श्वेताम्बर साहित्यका गाढ़ परिचय था और इस तरहपर प्रकारान्तरसे यह स्वीकृत अथवा सूचित किया है कि इन षष्ठ-अष्टम उपवासादिक जैसी बातोंका एक मात्र सम्बन्ध श्वेताम्बर साहित्यसे है—वहीपरसे उन्हें अपने ग्रंथोंमें लिया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायश्चित्तादिग्रन्थोंमें अष्टमादि उपवासोका कितना ही वर्णन है और कल्पके साथ व्यवहार-सूत्रका उल्लेख भी पाया जाता है। 'धवला' मे तपविद्याओंका स्वरूप देते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि "**छट्ठट्ठमादि तपवासविहाणेहि साहिदाओ तव विज्जाओ**"—अर्थात् जो षष्ठ अष्टमादि उपवासोके द्वारा सिद्धि की जाती हैं वे तपविद्याएँ हैं। धरसेनाचार्यने भूतबलि और पुष्पदन्तको जो दो विद्याएँ सिद्ध करनेको दी थी उन्हे भी धवलामे "**एदाओ छट्ठोववासेहि साहेदु त्ति**" इस वाक्यके द्वारा षष्ठोपवाससे सिद्ध करनेको लिखा है। पूज्यपादने 'निर्वाणभक्ति मे "**षष्ठेन त्वपराह्णभक्तेन जिनः प्रवव्राज**" जैसे वाक्योके द्वारा श्रीवीर भगवान्के षष्ठोपवासके साथ दीक्षित होने आदिका उल्लेख किया है। और कुन्दकुन्दने 'योगभक्ति' मे जो "**वंदे चउत्थभत्तादिजावछम्मासखवणपडिवण्णे**" ऐसा लिखा है वह भी सब इन्ही उपवासोका सूचक है, और अधिक प्रमाणके लिये मूलाचारकी '**छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं**' इत्यादि गाथाका नाम ले देना पर्याप्त होगा, जिसमे इन उपवासोका खुला विधान किया है। इसके सिवाय, अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३०४, ३०५ की टीकामें व्यवहारसूत्रकी जिन गाथाओंको उद्धृत किया है वे श्वेताम्बरीय 'व्यवहारसूत्रमें, जो कि गद्यात्मक है, नहीं

पाई जाती हैं, और इससे वे दिगम्बर सम्प्रदायके व्यवहार-सूत्र-की ही गाथाएँ जान पड़ती हैं, जो इस समय अपनेको अनुपलब्ध है। रही 'पदार्थ' की जगह 'तत्त्व' और 'तत्त्व' की जगह 'पदार्थ' शब्दका प्रयोग करना, यह एक साधारण-सी बात है—इसमें कोई विशेष अर्थभेद नही है—दिगम्बर साहित्यमें तत्त्वके लिये पदार्थ और पदार्थके लिये तत्त्व शब्दका प्रयोग अनेक स्थानो पर देखनेमें आया है। इसके सिवाय, समयसारकी १३वी गाथामें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष नामकी ९ वस्तुओका उल्लेख करके 'तत्व' या 'पदार्थ' ऐसा कुछ भी नाम नहीं दिया गया—मात्र उनके भूतार्थनयसे अभिगत करनेको 'सम्यक्त्व' बतलाया है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्दका अभिप्राय उन्हें टीकाकारके अनुसार 'नवतत्त्व' कहनेका नही था? यदि कुदकुंदका अभिप्राय इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता तो यह भी नही कहा जा सकता कि अमृतचंद्रने श्वेताम्बर साहित्यपरसे 'नवतत्व' की कल्पना की है। नवपदार्थमेंसे पुण्य-पापको निकाल देनेपर जब सप्ततत्त्व ही अवशिष्ट रहते हैं तो उनमें पुण्य-पापके तत्त्वोंको शामिल करनेपर उन्हे 'नवतत्त्व' कहनेमे क्या आपत्ति अथवा विशिटष्ता हो सकती है? कुछ भी नही। अतः ऐसी साधारण-सी बातोपर दिगम्बर-श्वेताम्बरके साहित्य-भेदकी कल्पना कर लेना ठीक मालूम नही होता।

चौथे विभागके चतुर्थ उपविभागकी दूसरी धारामे, द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालते हुए और यह बतलाते हुए कि उमास्वातिने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' मे कुन्दकुन्दकी गुण-पर्याय-विषयक दृष्टिको पूरी तौरसे स्वीकार किया है, सिद्ध-सेनकी तद्विषयक आपत्तियोंका उल्लेख करके उन्हें अच्छे प्रभावक

ढंगसे सदोष सिद्ध किया है और यह स्पष्ट किया है कि कुन्दकुन्द और उमास्वातिने गुण-पर्यायके विषयमें जिस पक्ष (पोजीशन) को अंगीकार किया है वह यथेष्ट रूपसे निर्दोष है। सिद्धसेनने न्याय-वैशेषिक और कुन्दकुन्दके पक्षोको मिलाकर उसमें गड़बड़ अथवा भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

उक्त उपविभागकी पाँचवी धारामें, सर्वज्ञताके सिद्धान्तका कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे स्पष्टीकरण करते हुए उसपर दूसरे दर्शनोंकी दृष्टिसे तथा उपनिषदों आदिकी मान्यताओसे कितना ही प्रकाश डाला गया है, कुमारिलके आक्रमणका भी उल्लेख किया गया है और कुन्दकुन्दके मुकाबलेमे उसकी नि·सारता व्यक्त की गई है। अन्तमे सर्वज्ञताकी आवश्यकता तथा उसकी सिद्धिका विवेचन किया गया है, और इस तरह इस महत्वपूर्ण विषयके लिये प्रस्तावनाका आठ पृष्ठोका स्थान घेरा गया है, जो बहुत कुछ ऊहापोह एवं उपयोगी तथा विचारणीय सूचनाओंको लिये हुए है। इसी प्रकरणमे यह भी सूचित किया गया है कि जहाँ तक उपलब्ध जैनग्रथोसे सम्बन्ध है सर्वज्ञता-विषयक तार्किकवाद वास्तवमे समन्तभद्र (ईसाकी दूसरी शताब्दी) से प्रारम्भ होता है। इससे पहिले उमास्वाति तथा कुन्दकुन्दादिके समयोंमे सर्वज्ञता सिद्धान्तरूपसे प्रचलित थी—उसे सिद्ध करनेकी शायद कोई जरूरत नही समझी जाती थी। साथ ही, यह भी सूचित किया गया है कि इसी समयके करीब जैनियोंने संस्कृत-भाषाको अपनाया है जो कि तर्क पद्धतिके लिये विशेष उपयुक्त थी, और उमास्वाति संस्कृतको अपनानेके लिये प्रथम जैन ग्रंथकार हैं। पिछली सूचनासे यह भी ध्वनित होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके जिस भाष्यको 'स्वोपज्ञ' कहा जाता है उसे प्रोफेसर साहब भी उमास्वातिकृत नहीं मानते हैं; क्योकि उसमें 'उक्तं च' आदि रूपसे

दूसरे जैन-विद्वानोंके संस्कृत वाक्योंको उद्धृत किया गया है और इसलिये वैसा मानने पर यह बात नहीं बनती कि उमास्वाति सस्कृतको अपनानेवाले जैन ग्रथकारोंमें प्रथम थे। मुझे तो अभी इसपर काफ़ी सन्देह है, क्योंकि धवलादिकग्रंथोंमें संस्कृतके कुछ ऐसे प्राचीन सूत्र तथा प्रबन्धादि भी उपलब्ध होते हैं जो अपनी रचना-शैली आदि परसे उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रसे प्राचीन जान पड़ते हैं, और जिसका एक नमूना '**प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः**' नामका सूत्र है जो उमास्वातिके '**प्रमाणनयैरधिगमः**' सूत्रसे मिलता-जुलता है और जिसे उद्धृत करते हुए धवलामें लिखा है कि "**इत्यनेन सूत्रेणापि नेदं व्याख्यानं विघटते**" (आरा प्रति, पृष्ठ ५४२—अर्थात् इस सूत्रसे भी यह व्याख्यान (स्पष्टीकरण) बाधित नही होता।

सातवी धारामे स्याद्वाद-सिद्धान्तका आठ पृष्ठोपर अच्छा उपयोगी विवेचन किया गया है, नयवादादिकी दृष्टियोको स्पष्ट करते हुए प्राचीन साहित्यमे, नयवाद तथा स्याद्वादकी खोज की गई है और साथही इस बातकी जाँच की गई है कि स्याद्वादके प्रतिरूप अन्यत्र कहाँ पर उपलब्ध होते हैं। इस सिलसिलेमें प्रोफेसर ए० बी० ध्रुव महोदयकी दो धारणाओको गलत सिद्ध किया है—एक यह कि स्याद्वादका प्रारम्भ अजैनोसे हुआ है और दूसरी यह कि वेदान्तके 'अनिर्वचनीयता' सिद्धान्तने जैनोके स्याद्वादको जन्म दिया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जहाँ तक अर्धमागधीकोशसे पता चलता है 'स्याद्वाद' या 'सप्त-भंगी' शब्द श्वेताम्बरीय आगम साहित्यमे नही पाया जाता है; परन्तु फिर भी उसके बीज वहाँपर मौजूद हैं। प्रो० ध्रुवने जो यह कहा है कि 'सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति' में 'स्याद्वाद' का उल्लेख है वह ठीक नहीं है और संभवतः ११८ वें पद्यमें आए हुए

क्रियावाद आदिके लक्षणकी ग़लतफ़हमी पर अवलम्बित है। इसके सिवाय, आइन्स्टाइनके अपेक्षावाद (Einstein's theory of relativity) तथा मॉडर्न फ़िलासोफ़ीके साथ स्याद्वादकी तुलना करते हुए उसकी विशेषताको घोषित किया है। और इस तरह यह प्रकरण भी कितनी ही उपयोगी सूचनाओं तथा विचारकी सामग्रीको लिए हुए है।

पाँचवें विभागमें, टीकाकार अमृतचंद्र सूरिके समयका विचार करते हुए, इतना तो निश्चितरूपसे कहा गया है कि वे ईसाकी ७ वी और १२ वी शताब्दीके मध्यवर्ती किसी समयमें हुए हैं। परन्तु वह मध्यवर्ती समय कौन-सा है, इसका अनुमान करते हुए उसे ईसाकी १० वी शताब्दीका प्राय: समाप्तिकाल बतलाया है और ऐसा बतलानेके तीन कारण सुझाए हैं—(क) टीकामें कुछ गाथाओंका गोम्मटसारसे उद्धृत किया जाना; (ख) ढाढसी-गाथाका अमृतचन्द्रके द्वारा रचा जाना, जिसमे नि:पिच्छसंघका उल्लेख है जो कि देवसेनकृत दर्शनसार के अनुसार सन् ८९६ में उत्पन्न हुआ था; (ग) अमृतचंद्रका देवसेनकी आलापपद्धतिसे परिचित होना। यद्यपि ये तीनों हेतु अभी पूरी तौरसे सिद्ध नहीं है;[1] क्योंकि—

(क) गोम्मटसार एक संग्रह ग्रंथ है, उससे जिन चार गाथाओको उद्धृत बतलाया जाता है वे वास्तवमें उसी परसे उधृत की गई हैं यह बिना काफी सबूतके नही कहा जा सकता। उनमेंसे '**जावदिया वयणवहा**' आदि तीन गाथाएँ तो धवलामें भी पाई जाती हैं—बल्कि '**णिद्धस्स णिद्धेण**' और '**णिद्धाणिद्धेण**'

---

१. प्रो० साहबने भी इन्हें पूरी तौर से सिद्ध एवं सबल हेतु नहीं माना है—मात्र संभावनाओंके रूपमें ही व्यक्त किया है और वह भी समुच्चयरूपसे।

नामकी दो गाथाएँ तो षट्खण्डागमकी मूलसूत्र गाथाएँ हैं। संभव है '**परसमयाणं वयणं**' नामकी चौथी गाथा भी धवलादिकमे पाई जाती हो और मेरे देखनेमे अबतक न आई हो।

(ख) ढाढसी गाथा नामक कर्तृनामरहित प्रबन्धमें उपलब्ध होनेवाली '**संघो कोवि ण तारइ**' नामकी जिस गाथाको, जैनहितैषीके कथनानुसार, मेघविजयने अमृतचन्द्रके श्रावकाचारकी गाथा बतलाकर उद्धृत किया है उस परसे उक्त प्रबन्ध अमृतचंद्रका नही कहा जा सकता—न तो वह कोई श्रावकाचार ही है और न उसी श्रावकाचार परसे मेघविजय द्वारा उद्धृत किये जानेवाले दूसरे '**या मूर्छा नामेयं**' इत्यादि पद्य प्राकृत भाषाके हैं, बल्कि पुरुषार्थ सिद्धयुपायके संस्कृत पद्य हैं। इससे मेघविजयके उद्धरणोंकी स्थिति और भी ज्यादा संदिग्ध हो जाती है और वे ढाढसी गाथाको अमृतचन्द्रकी ठहरानेके लिए पर्याप्त नही हैं।

(ग) प्रवचनसारकी जिस १२४ वें पृष्ठपर दी हुई टीकाको आलापपद्धतिसे तुलना करनेके लिये कहा गया है उसपरसे जहाँ तक मैंने गौर किया है यह लाज़िमी नतीजा नही निकलता कि अमृतचन्द्रके सामने देवसेनकी 'आलापपद्धति' थी—दोनोंके सामान्य-गुणोके प्ररूपणमें बहुत बड़ा अन्तर है। इसके सिवाय, जब आलापपद्धतिकार अपने ग्रंथकी रचना 'नयचक्र' के आधार-पर बतलाता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त प्राचीन ग्रंथ अमृतचन्द्रके सामने मौजूद नही था—और अमृत-चन्द्रके कथनमे जो कुछ थोड़ा-सा सादृश्य पाया जाता है वह नयचक्रका न होकर आलापपद्धति का है?

फिर भी प्रो० साहबने जिस समयका अनुमान किया है वह करीब करीब ठीक जान पड़ता है। पहले-तीसरे कारणकी अनुपस्थितिमे अमृतचन्द्रका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीका

पूर्वार्ध भी कहा जा सकता है और वह उस समयसे भी मिलता-जुलता है जो साम्प्रदायिक पट्टावलियोके अनुसार प्रो० साहबने १० वी शताब्दीका प्रारम्भ बतलाया है ।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना ज़रूरी मालूम होता है कि जयधवलाके अन्तमें, जिसका समाप्तिकाल शक सं० ७५९ (ई० सन् ८३७) है, प्राय: ३० कारिकाएँ, दूसरी कारिकाओके साथ, 'उक्तं च' रूपसे ऐसी उद्धृत मिलती हैं जो तत्त्वार्थसारमें भी पाई जाती हैं और इससे कोई अमृतचन्द्रका समय ईसाकी ८ वी शताब्दी भी बतला सकता है । परन्तु ऐसा बतलाना ठीक नही है, क्योंकि ये कारिकाएँ राजवार्तिकमें भी उद्धृत हैं तथा तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यके अन्तमें भी पाई जाती हैं और किसी पृथक् ही प्रबन्धकी जान पड़ती हैं जो जयधवलामे उद्धृत किया गया है और जो अति प्राचीन मालूम होता है । उसपर किसी समय एक स्वतंत्र लेखके द्वारा जुदा ही प्रकाश डालनेका विचार है। अस्तु; धवला और जयधवला–जैसी विशालकायटीकाओमें अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, समय-सारकलशा तथा तत्त्वार्थसार–जैसे ग्रंथोका दूसरा कोई भी पद्य देखनेमें नहीं आता, और इससे ये टीका-ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यसे पहलेके बने हुए जान पड़ते हैं; अन्यथा इनमे अमृतचन्द्राचार्यके किसी-न-किसी वाक्यके उद्धृत होनेकी संभावना जरूर थी ।

हाँ, प्रो० साहबकी इस विशाल-प्रस्तावनाके सम्बंधमें एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह है कि इसमे प्रवचनसारकी मूलगाथाओंका यों तो कितना ही विचार किया गया है, परन्तु इस प्रकारका कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया गया जिससे यह मालूम होता कि प्रवचनसारकी सब गाथाएँ कुन्दकुन्द-द्वारा रचित हैं अथवा कुछ ऐसी भी गाथाएँ उसमें शामिल हैं जो

कुन्दकुन्दके द्वारा प्राचीन साहित्यपरसे संग्रह की गई हैं। ऐसे विशेष विचारकी जरूरत जरूर थी, क्योकि कुन्दकुन्दके प्रवचन-सारादि ग्रन्थोकी कितनी ही गाथाएँ ऐसी हैं जो यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) मे प्राय: ज्योंकी त्यो अथवा थोड़ेसे शब्दभेदके साथ पाई जाती हैं, जिससे यह सन्देह होता है कि कुन्दकुन्दने उन्हे तिलोयपण्णत्ती परसे लिया अथवा यतिवृषभने कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंपरसे उनका संग्रह किया है। उदाहरणके तौर-पर ऐसी गाथाओके कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघादिकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥ १॥

—प्रवचनसार

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघादिकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥ ७७॥

—तिलोयप० अन्तिमभाग

खंदं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणु चेव अविभागी॥ ७५॥

— पंचास्तिकाय

खंदं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी होदि परमाणू॥ ९५॥

— तिलोयप० अन्तिमभाग

इन्द्रनन्दि और विबुधश्रीधरके श्रुतावतारोंके कथनानुसार यतिवृषभ कुन्दकुन्दसे पहले हुए हैं। यदि ऐसा है तो यह कहना होगा कि कुन्दकुन्दने आगमवाक्योंके तौरपर तिलोयपण्णत्तीकी कुछ गाथाओंको अपने ग्रंथोंमें संग्रह किया है। और यदि ऐसा न होकर कुन्दकुन्दकी गाथाएँ उनकी स्वतंत्र रचनाएँ हैं तो फिर यह कहना होगा कि यतिवृषभ कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं और उन्होने कुन्दकुन्दके ग्रंथोंपरसे कुछ गाथाएँ अपनी तिलोयपण्णत्तीमें

उद्धृत की हैं। और इस तरह इन गाथाओंके निर्णयसे कुन्दकुन्दादि कुछ आचार्योंके समयनिर्णयपर कितना ही प्रकाश पड़ सकता है। हाँ, जयसेनकी टीकामें प्रवचनसारकी एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है :—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरूं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥

यदि यह गाथा वस्तुतः इसी रूपमें कुन्दकुन्दकी है तो इसमें एक तरहसे यतिवृषभको भी नमस्कार पाया जाता है, जिससे कुन्दकुन्दका यतिवृषभसे पीछे होनेका और भी ज्यादा समर्थन होता है। परन्तु साथ ही यह भी बतला देना होगा कि कुन्दकुन्दके दूसरे किसी भी उपलब्ध ग्रंथमे यतिवृषभका इस प्रकारका कोई स्मरण नही मिलता, बल्कि प्रवचनसारके तृतीय अध्याय और दर्शनपाहुड़ के मंगलाचरणमे 'जदिवरवसह'की जगह 'जिणवरवसह' पाठकी उपलब्धि होती है। आश्चर्य नहीं जो उक्त गाथाका 'जदिवरवसहं' पद भी 'जिणवरवसहं' ही हो—उसमें 'जिण' के स्थानपर 'जदि' गलत लिखा गया हो। और तब उससे यतिवृषभ का कोई आशय नही निकाला जा सकता। आशा है प्रो० साहब भविष्यमे, 'तिलोयपण्णत्ती' का सम्पादन समाप्त करते हुए अथवा उससे पहले ही, प्रकृत विषय पर गहरा प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

अन्तमें मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि इतने बड़े ग्रन्थमें एक भी पेजका शुद्धिपत्र लगा हुआ नहीं है, जो इस बातको सूचित करता है कि ग्रंथका संशोधन और प्रूफरीडिंग बहुत सावधानीके साथ किया गया है और यह बात है भी ठीक; फिर भी दृष्टि-दोषसे कही-कही कोई अशुद्धि जरूर रह गई है—जैसे कि प्रस्तावना पृष्ठ १०८ की ३१ वीं पंक्तिमें 'प्रभाचन्द्र'

के स्थान पर 'बालचन्द्र' नाम गलत छपा है, भाषा टीका पृष्ठ २३७ पर 'बन्ध न होता' की जगह 'बन्ध होता,' पृष्ठ २७६ पर 'ममतारूप परिणामोसे तथा आरंभसे रहित' की जगह ममतारूप परिणामोंके आरंभसे रहित,' पृष्ठ २८६ पर 'विहरतु' का अर्थ 'विहारकरे' की जगह 'व्यवहार कर्म करे', और पृष्ठ २९३ पर (वधकरः) 'हिंसा करनेवाला' के स्थान पर '(बन्धकः)' बन्धका करनेवाला अशुद्ध छपा है। यद्यपि ये तथा इसी प्रकारकी दूसरी अशुद्धियाँ भी बहुत कुछ साधारण-सी हैं और ग्रन्थके आगे-पीछेके सम्बन्धसे उनका पता चल जाता है, फिर भी कोई छोटी छोटी अशुद्धि भी ऐसी होती है जो अपने पाठकको बहुत चक्करमें डाल देती है। ऐसी अशुद्धिका एक नमूना प्रस्तावना पृष्ठ ५४ के तृतीय फुटनोटमे 'समयसार' के पृष्ठ १९५ का उल्लेख है, जिसने मुझे बहुत परेशान किया है; क्योंकि उक्त पृष्ठ पर अमृतचन्द्रकी टीकामे 'सप्तपदार्थ' शब्दोका कोई भी उल्लेख देखनेमे नही आता, जिसके कारण मुझे इधर-उधरकी कितनी ही टटोल करनी पड़ी है। जान पड़ता है जयसेन-की टीकाके उल्लेखको गलतीसे अमृतचन्द्रका समझ लिया गया है। अच्छा होता यदि आधे पेजका ही एक शुद्धिपत्र ग्रन्थके साथ लगा दिया जाता।

इन सब आलोचनाओंके साथ मैं ग्रन्थके इस संस्करणकी उपयोगिता एवं संग्रहणीयताको फिरसे घोषित करता हुआ प्रो० साहबको उनके इस सफल परिश्रमके लिये. हार्दिक बधाई तथा धन्यवाद भेंट करता हूँ ?[1]

---

१. जैनसिद्धान्त-भास्कर. जून १९३७

(ख) ग्रन्थेतर-समालोचनात्मक

नया सन्देश : ४ :

समालोचना करनेवाला जैनी नहीं !

किसी वस्तुके गुण-दोषपर विचार करना और उन्हें दिखलाना 'समालोचना' कहलाता है। परीक्षा, समीक्षा, मीमांसा और विवेचना भी उसीके नामान्तर हैं। समालोचनाके द्वारा विवेक जागृत होता है, हेयोपादेयका ज्ञान बढ़ता और अन्ध-श्रद्धाका नाश होता है। इस लिये सद्धर्मप्रवर्तक और सद्विचारक जन हमेशा परीक्षा-प्रधानताका अभिनन्दन किया करते और उसे महत्वकी दृष्टिसे देखा करते हैं। जैनधर्ममें इस परीक्षा-प्रधानताको और भी ज्यादा महत्व दिया गया है और किसी भी विषयके त्याग-ग्रहणसे पहले उसकी अच्छी तरहसे जाँच-पड़ताल-कर लेनेकी प्रेरणा की गई है। गुणदोषोपर विचार करनेका यह अधिकार भी सभी मनुष्योंको स्वभावसे ही प्राप्त है, चाहे वह मनुष्य छोटा हो या बड़ा और चाहे उच्चासनपर विराजमान हो या नीचेपर। जो मनुष्य किसी वस्तुको निर्माण करके उसे पब्लिकके सामने रखता है, वह अपने उस कृत्यके द्वारा इस बातकी घोषणा करता है कि प्रत्येक मनुष्य उस वस्तुके गुण-दोषोंपर विचार करे। और इसलिये पब्लिकमे रक्खी हुई किसी वस्तुपर यदि कोई मनुष्य अपनी सम्मति प्रकट करता है, उसके गुण-दोषोको बतलाता है तो उसके इस अधिकारमें बाधा डालनेका किसीको अधिकार नही है। अपनी भूल और अपनी त्रुटि बहुधा अपनेको मालूम नही हुआ करती, उसे प्रायः दूसरे

लोग ही बतलाया करते हैं। कभी-कभी उन भूलों और त्रुटियोंका अनुभव ऐसे लोगोंको हो जाया करता है जो ज्ञानादिकमें अपने बराबर नही होते और बहुत कम दर्जा रखते हैं। और यह सब आत्मशक्तियोके विकासका माहात्म्य है—किसीमे कोई शक्ति किसी रूपसे विकसित होती है और किसीमें कोई किसी रूपसे। ऐसा कोई भी नियम नहीं हो सकता कि पूर्वजनोके सभी कृत्य अच्छे हो, उनमें कोई त्रुटि न पाई जाती हो और गुरुओंसे कोई दोष ही न बनता हो। पूर्वजनोंके कृत्य बुरे भी होते हैं और गुरुओ तथा आचार्योंसे भी दोष बना करते हैं, अथवा त्रुटियाँ और भूलें हुआ करती हैं। यही वजह है कि शास्त्रोमे अनेक पूर्वजोंके कृत्योकी निन्दा की गई है और आचार्यों तकके लिए भी प्रायश्चित्तका विधान पाया जाता है। इसलिए चाहे कोई गुरु हो या शिष्य, पूज्य हो या पूजक और प्राचीन हो या अर्वाचीन, सभी अपने-अपने कृत्यो-द्वारा आलोचनाके विषय हैं और सभीके गुण-दोषोंपर विचार करनेका जनताको अधिकार है। नीतिकारोंने भी साफ लिखा है :—

"शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।

अर्थात्—शत्रुके भी गुण और गुरुके भी दोष कहनेके—आलोचना किये जानेके—योग्य होते हैं। अतः जो लोग अपना हित चाहते हैं, अन्धश्रद्धाके कूपमें गिरनेसे बचनेके इच्छुक हैं और जिन्होने परीक्षा-प्रधानताके महत्वको समझा है उन्हें खूब जाँच-पड़तालसे काम लेना चाहिए, किसी भी विषयके त्याग अथवा ग्रहणसे पहले उसकी अच्छी तरहसे आलोचना-प्रत्यालोचना कर लेनी चाहिए और केवल 'बाबावाक्यं प्रमाणं' के आधारपर न रहना चाहिए। यही उन्नतिमूलक शिक्षा हमें जगह-जगहपर जैन शास्त्रोंमें दी गई है और ऐसे सारगर्भित

उदार उपदेशोंसे ही जैनधर्म अबतक गौरवशाली बना हुआ है। परन्तु हमारे पाठकोंको आज यह जानकर आश्चर्य होगा कि शोलापुरके सेठ रावजी सखाराम दोशीने जैनसिद्धान्त-विद्यालय मोरेनाके वार्षिकोत्सव पर सभापतिकी हैसियतसे भाषण देते हुए, उक्त शिक्षासे प्रतिकूल, जैनसमाजको हालमें एक नया सन्देश सुनाया है; और वह सक्षेपमें यह है कि जो विद्वान् लोग जैनग्रंथोंकी समालोचना करते हैं—उनके गुण-दोषोको प्रकट करते हैं—वे जैनी नही हैं! इस सम्बन्धमें आपके कुछ खास वाक्य इस प्रकार हैं :—

"अब थोड़े दिनोंसे कुछ पढ़े-लिखे लोगोंमें एक तरहका भ्रम होकर वे परम पूज्य आचार्योंके ग्रन्थोंकी समालोचना कर रहे हैं। जो जैनी हैं वे आचार्योंकी समालोचना करते हैं, यह वाक्य कहनेमें विपरीतता दिखाई देती है। आचार्योंकी समालोचना करनेवाला जैनी कैसे कहला सकता है?"

समझमें नही आता कि जैनी होने और आचार्योंकी समालोचना करनेमें परस्पर क्या विपरीतता है। क्या सेठ साहबका इससे यह अभिप्राय है कि, जो स्वयं आचार्य नहीं, वह आचार्यके गुण-दोषोका विचार नही कर सकता अथवा उसे वैसा करनेका अधिकार नही? यदि ऐसा है तो सेठ साहबको यह भी कहना होगा कि जो आप्त नही है, अनीश्वर है उसे आप्त भगवान्की—ईश्वर-परमात्माकी—मीमांसा और परीक्षा करनेका भी कोई अधिकार नहीं है, न वह कर सकता है। और तब आपको स्वामी समन्तभद्र और विद्यानन्दादि जैसे महान् आचार्योंको भी कलङ्कित करना होगा और उन्हें अजैन ठहराना पड़ेगा; क्योकि स्वयं आप्त, ईश्वर या परमात्माके पदपर प्रतिष्ठित न होते हुए भी उन्होने आप्त-परमात्माकी मीमांसा और परीक्षा तक कर-

डालनेका साहस किया है। स्वामी समन्तभद्रने तो भगवान् महावीरस्वामीकी भी परीक्षा करडाली है और यहाँ तक लिखा है कि देवोंका आगमन, आकाशमें गमन और छत्र-चँवरादि विभूतियोकी वजहसे मैं आपको महान्--पूज्य नही मानता, ये बातें तो मायावियो--इन्द्रजालियोमें भी पाई जाती हैं।[1] क्या सेठ साहब स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंपर इस प्रकारका दोष लगाने और उन्हे अजैन ठहरानेके लिए तैयार हैं? यदि नही तो आपको यह मानना होगा कि नीचे दर्जेवाला भी ऊँचे दर्जेवालेकी परीक्षा और उसके गुण-दोषोकी जाँच, अपनी शक्तिके अनुसार, कर सकता है। और इसलिए श्रावकोका मुनियों तथा आचार्योंके कुछ कृत्योंकी समालोचना करना, उनके गुण-दोष बतलाना, अधिकारकी दृष्टिसे कोई अनुचित कार्य नहीं है। इसके सिवाय मैं सेठ साहबसे पूछता हूँ कि क्या साधु-सम्प्रदायमें कपट-वेषधारी, द्रव्यलिंगी, शिथिलाचारी, अल्पज्ञानी और अनेक प्रकारके दोषोंको लगानेवाले साधु तथा आचार्य नही हुए हैं[2] ? क्या आचार्योंमे मठाधिपति (गद्दीनशीन) भट्टारक लोग शामिल नही हैं? क्या ऐसे आचार्योंके बनाये-बनवाये हुए सैकड़ों ग्रन्थ जैन-समाजमे प्रचलित नहीं हैं? क्या इन ग्रन्थोंमें श्रमणाभास भट्टारकोंने अपनेको परम आचार्य और मुनीन्द्र तक नही लिखा? क्या बहुतसे ग्रन्थोमे अज्ञान, कषाय और भूल आदिके कारण पीछेसे कुछ मिलावट नही हुई? क्या जिनसेन-त्रिवर्णाचार और कुन्दकुन्दश्रावकाचार जैसे कुछ ग्रन्थ बड़े आचार्योंके नामसे जाली

---

१. देवागमनभोयान--चामरादि--विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥--आप्तमीमांसा

२. ऐसे ही साधुओंको लक्ष्य करके 'सज्जनचित्तवल्लभ' आदि ग्रन्थों-में उनकी कड़ी आलोचना की गई है।

बने हुए नहीं ? और क्या अनेक विषयोंमें, अज्ञानादि किसी भी कारणसे, बहुतसे आचार्योंमे परस्पर मतभेद नहीं रहा है ? यदि यह सब कुछ हुआ है तो फिर सत्यकी जाँचके लिए ग्रंथकी परीक्षा, मीमांसा और समालोचना आदिके सिवा दूसरा और कौन-सा अच्छा साधन है जिससे यथेष्ट लाभ उठाया जा सके ? शायद इसी स्थितिका अनुभव करके किसी कविने यह वाक्य कहा है :—

जिनमत महल मनोज्ञ अति, कलियुग छादित पन्थ ।
समझ-बूझके परिखियो चर्चा - निर्णय - ग्रन्थ ।।

इस वाक्यमें साफ तौरसे हमें जैन ग्रन्थोंकी अच्छी तरहसे परीक्षा और समालोचना करके उनके विषयको ग्रहण करनेको सलाह दी गई है और उसका कारण यह बतलाया गया है कि जैनधर्मका वास्तविक मार्ग आजकल आच्छादित हो रहा है—कलियुगने उसमें तरह-तरहके काँटे और झाड़ खड़े कर दिये हैं, जिनको साफ करते हुए चलनेकी जरूरत है । पं० आशाधरजीने 'अनगारधर्मामृत' की टीकामें किसी विद्वान्का जो निम्न प्राचीन वाक्य उद्धृत किया है वह भी ध्यानमें रखे जानेके योग्य है—

पण्डितैर्भ्रष्ट - चारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ।।

इस वाक्यमें सखेद यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान्के निर्मल शासनको भ्रष्टचारित्र-पंडितो और धूर्त-मुनियोंने मलीन कर दिया है । और इससे भी यही ध्वनित होता है कि हमें जैन-ग्रन्थोंके विषयको बड़ी सावधानीके साथ, खूब परीक्षा और समालोचनाके बाद, ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि उक्त महात्माओंकी कृपासे जैनशासनका निर्मलरूप बहुत कुछ मैला हो रहा है । ऐसी हालतमें मालूम नही होता कि सेठ साहब ग्रंथोंकी

परीक्षाओं और समालोचनाओंसे क्यों इतना घबराते हैं और क्यों उनका दर्वाजा बन्द करनेकी फ़िकरमें हैं। क्या आप जिन-सेन-त्रिवर्णाचारके कर्त्ता जैसे आचार्योंको 'परमपूज्य' आचार्य समझते हैं और ऐसे ही आचार्योंकी मानरक्षाके लिए आपका यह सब प्रयत्न है ? यदि ऐसा है तो हमें कहना होगा कि आप बड़ी भारी भूलमें हैं। अब वह जमाना नही रहा और न लोग इतने मूर्ख हैं जो ऐसे जाली ग्रन्थोंको भी माननेके लिए तैयार हो जाँय। सहृदय-विद्वत्समाजमे अब ऐसे ग्रन्थलेखक कोई आदर नही पा सकते और न स्वामी समन्तभद्र-जैसे महाप्रतिभाशाली और अपूर्व मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकर्ता आचार्योंका आदर तथा गौरव कभी कम हो सकता है। इसलिये समालोचनाओंसे घबरानेकी जरूरत नहीं। जरूरत है समालोचनामें कही हुई किसी अन्यथा बातको प्रेमके साथ समझानेकी, जिससे उसका स्पष्टीकरण हो सके। समालोचनाओसे दोषोंका संशोधन और भ्रमोका पृथक्करण हुआ करता है और उससे यथार्थ वस्तु-स्थितिको समझकर श्रद्धानके निर्मल बनानेमें भी बहुत बड़ी सहायता मिला करती है। इसलिए सत्यके उपासकों-द्वारा सद्भावसे लिखी गई समालोचनाएँ सदा ही अभिनन्दनीय होती हैं। जो लोग ऐसी समालोचनाओसे घबराते हैं उनकी जैनधर्म-विषयक-श्रद्धा, मेरी रायमें, बहुत ही कमजोर है और उनकी दशा उस मनुष्य-जैसी है जिसे अपने हाथमें प्राप्त हुए सुवर्णपर उसके शुद्ध सुवर्ण होनेका विश्वास नही होता और इसलिये वह उसे तपाने आदिकी परीक्षामें देते हुए घबराता है और यही कहता है कि तपानेकी क्या जरूरत हैं, तपानेसे सोनेका अपमान होता है ? और उसको आगमें डालनेवाला सोनेका प्रेमी कैसे कहला सकता है ? जो लोग शुद्ध सुवर्णके परीक्षक नही होते

और अपने खोट-मिले हुए सुवर्णको ही शुद्ध सुवर्णकी दृष्टिसे देखते हैं और उसीसे प्रेम रखते हैं, उनके सुवर्णमें कभी किसी परीक्षक-द्वारा खोट निकाले जानेपर उनकी प्रायः ऐसी ही दशा हुआ करती है। ठीक यही दशा इस समय हमारे सेठ साहबकी जान पड़ती है। उन्हें अपने सुवर्ण (श्रद्धास्पद-साहित्य) के खोट-मिश्रित करार दिये जानेका भय है और उसके संशोधन करानेमें सुवर्णका वजन कम हो जानेका डर है। इसीलिए आप ऐसे-ऐसे नवीन संदेश सुनाकर—समालोचकोको अजैनी करार देकर —परीक्षाका दर्वाजा बन्द कराना चाहते हैं और शायद फिरसे अन्धश्रद्धाका साम्राज्य स्थापित करनेकी चिन्तामें हैं।

आपने अपने सन्देशमें एक बात यह भी कही है कि हमें किसी सभाके सभापति, किसी पत्रके सम्पादक और किसी स्थानके पण्डितकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिए और न उन्हें प्रमाण मानना चाहिए, बल्कि '**गुरूणां अनुगमनं**' के सिद्धान्त पर चलना चाहिए। अर्थात् हमारे गुरुओंने, पूर्वाचार्योंने जो उपदेश दिया है उसीके अनुसार हमें चलना चाहिए। यह सामान्य सिद्धान्त कहने-सुननेमें जितना सुगम और रुचिकर मालूम होता है, अनुष्ठानमें उतना सुगम और रुचिकर नहीं है। बहुतसे गुरुओंके वचनोंमें परस्पर भेद पाया जाता है—हर एक विषयमें सब आचार्योंकी एक राय नहीं है। जब पूर्वाचार्योंके परस्पर विभिन्न शासन और मत सामने आते हैं तब अच्छे अच्छे आज्ञा-प्रधानियों-की बुद्धि चकरा जाती है और वे 'किं कर्तव्यविमूढ़' हो जाते हैं। उस समय परीक्षा-प्रधानता और अपने घरकी अक़लसे काम लेनेसे ही काम चल सकता है। अथवा यो कहिये कि ऐसे परीक्षाप्रधानी और खोजी विद्वानोंकी बातोंपर ध्यान देनेसे ही कुछ नतीजा निकल सकता है, केवल '**गुरूणां अनुगमनं**' के सिद्धान्तपर बैठे रहनेसे

नहीं। मै सेठ साहबसे पूछता हूँ कि (१) एक आचार्य सीताको रावणकी पुत्री और दूसरे जनककी पुत्री बतलाते हैं; (२) जम्बू स्वामीका समाधि-स्थान एक मथुरामे, दूसरे विपुलाचल पर्वत पर और तीसरे कोटिकपुरमें ठहराते हैं, (३) भद्रबाहुकके समाधि-स्थानको एक श्रवणबेल्गोलके चन्द्रगिरि पर्वतपर, दूसरे उज्जयिनीमें बतलाते हैं; (४) श्रावकोके अष्टमूल गुणोके निरूपण करनेमें एक आचार्य कुछ कहते हैं, दूसरे कुछ और तीसरे चौथे कुछ और ही; (५) कुछ आचार्य छठी प्रतिमाको 'दिवामैथुन-त्याग' बतलाते हैं और कुछ 'रात्रिभोजन-विरति, (६) कोई गुरु रात्रि-भोजन-विरतिको छठा अणुव्रत करार देते हैं और कोई नही; (७) गुण-व्रत और शिक्षाव्रतके कथनोमे भी आचार्यो मे परस्पर मतभेद हैं[1]; (८) कितने ही आचार्य ब्रह्माणुव्रतीके लिए वेश्याका निषेध करते हैं और कुछ सोमदेव—जैसे आचार्य उसका विधान करते हैं[2]। इसी तरहके और भी सैकड़ो मतभेद हैं; इनमेसे प्रत्येक विषयमें कौनसे गुरुकी बात मानी जाय और कौनसे की नही? जिसकी बात न मानी जाय उसकी आज्ञाका भङ्ग करनेका दोष लगेगा या नही? और तब क्या उक्त '**गुरूणामनुगमनं**' के सिद्धान्तमे बाधा नही आवेगी? क्या आप उस गुरुको गुरुत्वसे ही च्युत कर देंगे? परीक्षा, जॉच-पड़ताल और युक्तिवादको छोड़कर, आपके पास ऐसी कौनसी गारंटी है जिससे एक गुरुकी बात मानी जाय और दूसरेकी नही? कृपाकर यह तो बतलाइये कि जितने आचार्यो, भट्टारकों आदि गुरुओंके वचन (शास्त्र)

---

१. देखो लेखकके शासनभेद-सम्बन्धी लेख, जैनहितैषी भाग १४ अक १, २, ३, ७, ८, ९ तथा 'जैनाचार्योंका शासनभेद'।

२ वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
मातास्वसातनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे॥ (यशस्तिलक)

समाजमें इस समय प्रचलित हैं अथवा सुने जाते हैं उनमेंसे आपको कौन कौनसे गुरुओंके वचन मान्य हैं, जिससे आपके **गुरूणां अनुगमनं'** सिद्धान्तका कुछ फलितार्थ तो निकले—लोगोंको यह तो मालूम हो जाय कि आप अमुक अमुक गुरुओं, ग्रन्थकारो-की सभी बातोको आँखें बन्द कर मान लेनेका परामर्श दे रहे हैं। साथ ही यह भी बतलाइये कि यदि उनके कथनोंमें भी परस्पर विरोध पाया जाय तो फिर आप उनमेसे कौनसेको गुरुत्वसे च्युत करेगे और क्योंकर। केवल एक सामान्य वाक्य कह देनेसे कोई नतीजा नहीं निकल सकता। भले ही साक्षात् गुरुओके सम्बन्धमे आपके इस सिद्धान्त-वाक्यका कुछ अच्छा उपयोग हो सके, परन्तु परम्परा-गुरुओं और विभिन्न मतोके धारक बहु-गुरुओंके सम्बन्धमे वह बिल्कुल निरापद मालूम नही होता और न सर्वथा उसीके आधार पर रहा जा सकता है—खासकर इस कलिकालमें जब कि भ्रष्टचरित्र-पण्डितों और धूर्त-मुनियोके द्वारा जैनशासन बहुत कुछ मैला (मलिन) किया जा चुका है।

आजकल हिन्दू साधुओंमें कितना अत्याचार बढ़ा हुआ है और वे अपने साधुधर्मसे कितने पतित हो रहे हैं, यह बात किसी-से छिपी नही है। उनकी चरित्र-शुद्धि और उत्थानके लिए, अथवा दूसरोको सन्मार्ग दिखलानेके लिए, क्या किसी गृहस्थको यह समझकर उनके दोषोंकी आलोचना नहीं करनी चाहिए कि वे साधु हैं और हम गृहस्थ, हमें गुरुजनोंकी समालोचना करनेका अधिकार नही ? और क्या ऐसी समालोचना करनेवाला हिन्दू नहीं रहेगा ? यदि सेठ साहब ऐसा कुछ नही मानते, बल्कि देश, धर्म और समाज की उन्नतिके लिए वैसी समालोचनाओंका होना आवश्यक समझते हैं तो उन्हें जैन-समालोचकोंको भी उसी दृष्टिसे

देखना चाहिए। कोई वजह नही है कि क्यों त्रुटिपूर्ण साधुओं और त्रुटिपूर्ण ग्रन्थोकी, सम्यक् आलोचना-द्वारा, त्रुटियाँ दिखला-कर जनताको उनसे सावधान न किया जाय और क्यों इस तरह-पर उन्नतिके मार्गको अधिकाधिक प्रशस्त बनानेका यत्न न किया जाय।

आशा है, वस्तुस्थितिका दिग्दर्शन करानेवाले इस लेखपर सेठ साहब शान्तिके साथ विचार करेंगे और बन सकेगा तो संयत-भाषामे, योग्य उत्तरसे भी कृतार्थ करनेकी कृपा करेंगे[1]।

नोट—सेठ साहबका कोई उत्तर प्राप्त नही हुआ।

---

१. जैन हितैषी, भाग १५ अंक ६, अप्रेल १९२१

चिन्ताका विषय अनुवाद : ५ :

आजकल बहुधा ग्रन्थके अनुवादोंकी बड़ी ही दुर्दशा है; उनके लिखने-लिखानेमें बहुत ही, असावधानी तथा प्रमादसे काम लिया जाता है; जिसके जीमें आता है वही कलम उठाकर किसी ग्रंथका अनुवाद या उसपर टीका-टिप्पणी लिखने बैठ जाता है और इस बातकी प्रायः कोई पर्वाह नही की जाती कि अनुवादकमें उस विषयकी अच्छी योग्यता अथवा उसका पर्याप्त अनुभव भी है या कि नही। कितने ही विद्वान् तो मात्र अपनी आजीविका चलाने या उसमें सहायता पहुँचानेके लिये ही अनुवाद-कार्य करते हैं और प्रकाशकोंसे फार्मोंके हिसाबसे अपनी उजरत लेते हैं। उन्हें अपनी योग्यता और अनुभवको देखनेकी क्या पड़ी? खासकर ऐसी हालतमें जबकि समाज-द्वारा उनकी कृतियोंकी कोई अच्छी जाँच न होती हो। ऐसे लोगोंकी दृष्टि ग्रंथके गहरे अध्ययन और मननकी ओर प्रायः नही होती, और इसलिये वे अनुवादमें अधिक अथवा पर्याप्त परिश्रम न करके प्रायः चलता हुआ साधारण अनुवाद ही प्रस्तुत करते हैं, जिससे थोड़े समयमें अधिक पैसे पैदा किये जा सकें। ग्रन्थ भी अनुवादके लिए प्रायः ऐसे ही चुने जाते है जिनकी भाषा सरल हो, अर्थ भी गंभीर न हो और इसलिए जिनके अनुवादमें अधिक परिश्रम न करना पड़े। इसीसे पिछले भट्टारकों आदिका पुराण-चरितादि-विषयक साधारण साहित्य ही आजकल अधिक अनुवादित हो रहा है। मुझे ऐसे कितने ही आधुनिक अनुवादोंको देखनेका अवसर मिला है जिनमें कहीं तो मूलग्रन्थकी कुछ बातोंको छोड़ दिया गया, कहीं

बहुत-सी बातें इस ढंगसे बढ़ा दी गईं जिससे पढ़ने वालोंको वे मूल-ग्रन्थकी ही बातें मालूम पड़े और कही-कही अर्थका बिल्कुल ही अनर्थ किया गया है। ऐसे बहुतसे अनुवादोंके साथ मूल भी नही दिया गया और इससे उनकी ग़लतीका कोई पता न चलने और उसके रूढ़ हो जानेकी बहुत कुछ संभावना रहती है। कितने ही महान् ग्रंथोंके अनुवाद ऐसे श्रीहीन भी देखे गये जो ग्रंथ-गौरवके अनुकूल नहीं, जिनसे मूल ग्रंथका भाव अच्छी तरह परिस्फुट नही होता; बल्कि कही-कही तो वे मूल ग्रंथके महत्वको भी कम करते हुए जान पड़ते हैं। यह सब देखकर चित्तपर बड़ी चोट लगती है। नि:सन्देह, यह 'एक बड़ी ही चिन्ताका' विषय है और इससे भविष्यमें बहुत कुछ हानि पहुँचनेकी संभावना है। मेरी इच्छा कई बार ऐसे अनुवादोपर कुछ लिखने अथवा प्रकाश डालनेकी हुई, परन्तु समयाभावने मुझे वैसा नहीं करने दिया। हालमें एक ऐसा ही ताज़ा अनुवाद मेरे हाथ पड़ा है, उसमें ऐतिहासिक विपर्यासको देखकर मुझसे नही रहा गया और इसलिये, समय न होते हुए भी, आज मैं उदाहरणके तौरपर उसीका कुछ थोड़ा-सा परिचय अपने पाठकोको देनेके लिये प्रस्तुत हुआ हूँ और वह इस प्रकार है :—

'दिगम्बर जैन' के अठारहवें वर्षके उपहारमे 'श्रावकाचार द्वितीय भाग' नामसे एक ग्रंथ वितरित हुआ है, जिसके अनुवादक है पं० नन्दलालजी चावली निवासी। मूलग्रंथ गुणभूषण आचार्यका बनाया हुआ है जो कि विक्रमकी प्राय: १४ वी शताब्दीके विद्वान् थे, और उसका नाम है 'भव्यचित्तवल्लभ' अथवा 'भव्यजनचित्त-वल्लभश्रावकाचार'। अनुवादके साथमें मूलग्रंथके पद्योंको क्रमश: उद्धृत नहीं किया गया। हाँ, पीछेसे सारा ही मूलग्रंथ इस द्वितीय

भागके अन्तमे जोड दिया है और इसे प्रकाशक महाशयकी बड़ी कृपा समझनी चाहिये ।

इस ग्रंथमे ग्रंथकर्ताने अपने परिचयका जो एक पद्य दिया[१] है वह इस प्रकार है :—

विख्यातोऽस्ति समस्तलोकवलये श्रीमूलसंघोऽनघः
तत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतमतिः श्रीसागरेन्दोः सुतः ।
तच्छिष्योऽजनि मोह - भूभृदशनिस्त्रैलोक्यकीर्तिमुनिः
तच्छिष्यो गुणभूषणः समभवत्स्याद्वाद(दि) चूडामणिः ॥

इस पद्यमें बहुत ही स्पष्ट शब्दों-द्वारा यह बतलाया गया है कि—'सम्पूर्ण जगतमें मूलसंघ नामका एक निर्दोष संघ प्रसिद्ध है, उसमें श्री 'सागरचन्द' के शिष्य 'विनयचन्द्र' (मुनि) हुए, जो अद्भुत् बुद्धिके धारक थे, विनयचन्द्रके शिष्य 'त्रैलोक्य-कीर्ति' मुनि हुए जो मोहरूपी पर्वतके लिए वज्रके समान थे और त्रैलोक्यकीर्ति मुनिके शिष्य गुणभूषण हुए जो स्याद्वाद(दि) चूडामणि हैं अर्थात् स्याद्वाद विद्याके जानेवालोंमें इस समय प्रधान हैं ।' अब इसी पद्यके पं० नन्दलालजी कृत अनुवादको लीजिये । आप लिखते हैं :—

"समस्त संसारमें मूलसंघ अत्यन्त प्रसिद्ध है और महान् पुरुषोंसे मान्य है । उस मूलसंघमे परम तेजस्वी समस्त विद्याके पारगामी श्री सागरचन्द नामक विद्वान् हुए । श्रीसागरचन्द्रके

---

१. इस पद्य पर २५९ और २६० ऐसे दो नम्बर डाले गये हैं और इससे ऐसा सूचित होता है कि शायद अनुवादकजीने इसे एक पद्य न समझकर पद्य-द्वितय समझा है; परन्तु ऐसा नहीं है । यह शार्दूल-विक्रीड़ित छन्दमें एक ही पद्य है । इसी तरह पर और भी पद्योंको एक-एककी जगह दो-दो पद्योंमें बाँट दिया है, और इससे ग्रन्थकी पद्य-संख्या बिगड़ गई—उल्लेखके अनुसार नहीं रही ।

आद्य शिष्य मोहरूपी पर्वतको नाश करनेके लिये वज्र समान त्रिलोकमे प्रसिद्ध कीर्तिवान् और विद्वानोसे मान्य श्री गुणभूषण स्वामी उत्पन्न हुए जो स्याद्वाद वाणीको जाननेके लिये चूड़ामणि रत्नके समान दैदीप्यमान थे।''

विज्ञ पाठकजन ! देखा, कैसा और कितना विचित्र अनुवाद है। मालूम नही होता 'महान् पुरुषोसे मान्य, परम तेजस्वी, समस्त विद्याके पारगामी, आद्य और विद्वानोंसे मान्य' यह सब कौनमे विशेषणपदोंका अनुवाद किया गया है। मूलमें तो इन अर्थोंके द्योतक कोई भी विशेषणपद नही हैं और 'स्याद्वाद वाणी-को जाननेके लिये चूड़ामणि रत्नके समान दैदीप्यमान थे' यह 'स्याद्वादचूड़ामणि' पदका जो अनुवाद किया गया है वह बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है ! इसमे 'वाणीको जाननेके लिये दैदीप्यमान होने' ने तो सारे अनुवादको ही दैदीप्यमान कर दिया है !! परन्तु इन सब बातोको भी रहने दीजिये, इस अनुवादके द्वारा वे गुणभूषण आचार्य जो सागरचन्दके शिष्यके भी शिष्य नही, किन्तु प्रशिष्य थे, सागरचन्दके ही शिष्य बना दिये गए हैं और शिष्य भी कैसे ? आद्य शिष्य !! इसके सिवाय, गुणभूषणके साक्षात् गुरु 'त्रैलोक्य कीर्ति' तथा दादा गुरु 'विनयचन्द्र' दोनों का नामतक भी उड़ा दिया गया ! उनके विशेषणोंकी तो फिर बात ही क्या ? यह सब सत्यका कितना व्याघात और ऐतिहासिक तथ्यका कितना विपर्यास है !! इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। मूल पद्य बहुत ही सुगम है, उसमे एक जगह 'श्री सागरेन्दो. सुत.' और दो जगह 'तच्छिष्य:' 'तच्छिष्य,:' पद आए हैं और उनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रंथकर्ताने उसमे अपनेसे पहलेकी तीन पीढियोका उल्लेख किया है, परन्तु फिर भी अनुवादकजीने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। जान

पड़ता है उन्हें 'सुतः' पदके बाद 'तच्छिष्यः' पदोंका प्रयोग कुछ व्यर्थ जान पड़ा है और इसीलिये उन्होंने 'त्रैलोक्यकीर्तिः' नामके संज्ञापदको 'त्रिलोकमें प्रसिद्ध कीर्तिवान्' इस रूपसे अनुवादित करके उसे गुणभूषणका ही एक विशेषण बना दिया है। और 'विनयेन्दुः' (विनयचन्द) तथा 'अद्भुतमतिः' पदोंका अनुवाद करना वे शायद भूल गये !! अस्तु।

ग्रंथकर्ताने उक्त पद्यमे अपनी जिस गुरु-परम्पराका उल्लेख किया है उसका समर्थन दूसरे प्रमाणोसे भी होता है। यद्यपि, प्रकृत पद्यकी स्पष्ट स्थितिमे, उन्हें यहाँपर उद्धृत करनेकी जरूरत नही है फिर भी साधारण पाठकोके संतोषार्थ नमूनेके तौरपर कुछ परिचय नीचे दिया जाता है :—

(१) पंडित आशाधरजीने 'इष्टोपदेश' की टीका विनयचन्द्रमुनिके कहनेसे ('विनयेन्दुमुनेर्वाक्यात्') लिखी है और विनयचन्द्रको सागरचन्द्र (सागरेन्दु) का शिष्य बतलाया है :—

'उपशम इव मूर्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।'

इससे उक्त पद्यके द्वितीय चरणका समर्थन होता है और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सागरचन्द्रके शिष्य (सुत) विनयचन्द्र (विनयेन्दु) थे, गुणभूषण नही।

(२) पं० बामदेव, अपने 'भावसंग्रह की प्रशस्तिमें, मूलसंघके 'त्रिलोक्यकीर्ति' को विनयचन्द्र (बिनयेन्दु) का शिष्य लिखते हैं :—

भूयाद्भव्यजनस्य विश्वमहितः श्रीमूलसंघः श्रिये
यत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतगुणः सच्छीलदुग्धार्णवः।
तच्छिष्योऽजनि भद्रमूर्तिरमलत्रैलोक्यकीर्तिः शशी
येनैकान्तमहातमः प्रमथितं स्याद्वादविद्याकरैः॥

इससे उक्त पद्यके तृतीय चरणमें 'विनयेन्दु' के शिष्यरूपसे त्रैलोक्यकीर्ति नामक मुनिका जो उल्लेख पाया जाता है उसका समर्थन होता है। साथ ही, यह जाना जाता है कि चतुर्थ चरणमें 'तच्छिष्यः' पदके द्वारा गुणभूषणने अपनेको इन्ही 'त्रैलोक्यकीर्ति' मुनिका शिष्य सूचित किया है और इसलिए 'त्रैलोक्यकीर्ति' गुणभूषणका विशेषण नही है, बल्कि यह उनके गुरुका नाम है, जिसका स्मरण उन्होने प्रकारान्तरसे ग्रन्थके मंगलाचरणमें भी 'प्रणम्य त्रिजगत्कीर्तिं' इत्यादिरूपसे किया है।

(३) पं० वामदेव त्रैलोक्यकीर्तिके प्रशिष्य थे। उनका बनाया हुआ त्रैलोक्यदीपक नामका भी एक ग्रन्थ है, जिसमे त्रैलोक्यकीर्ति मुनिकी प्रशंसाके कई पद्य दिये हैं, और यह ग्रन्थ उन्ही 'प्राग्वाटवंशी' नेमिदेवकी प्रार्थनापर लिखा गया तथा उन्हीके नामाकित किया गया जिनकी प्रार्थनापर गुणभूषणका उक्त श्रावकाचार लिखा गया और नामांकित किया गया है। नेमिदेवके वंशका वर्णन करनेवाले और उसकी प्रशंसा तथा आशीर्वादको लिये हुए वे तीनो पद्य भी इसमे ज्योके त्यो उद्धृत पाये जाते हैं जो श्रावकाचारमे '**अस्त्यत्रवंश**' से प्रारम्भ होकर '**नेमिश्चिरं नन्दतु**' पर समाप्त होते हैं। इससे वामदेवका गुणभूषणके साथ सम्बन्ध स्थापित होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि प० वामदेवने अपने भावसंग्रह आदि ग्रन्थोमे जिन 'विनयेन्दु' और 'त्रैलोक्यकीर्ति' नामक मुनियोंका उल्लेख किया है उन्हीका उल्लेख गुणभूषणने भी अपने श्रावकाचारमे किया है। दोनो उल्लेख इस विषयमे समान हैं, और इसलिये गुणभूषणको सागरचन्दका शिष्य लिखना और त्रैलोक्यकीर्ति' नामके संज्ञापदको भी गुणभूषणका विशेषण बना देना कोई अर्थ नही रखता।

इस सब कथनसे पाठक सहजमें ही यह अनुभव कर सकते

हैं कि उक्त अनुवाद कितना बे-सोचे-समझे किया गया है, किस कदर बेढंगा है और उसमें कितनी अधिक ऐतिहासिक विपरीतता पाई जाती है, जो पाठकोंको गुमराह करती है। अनुवादकजी, 'लेखकके दो शब्द' नामकी भूमिकामें, अपने अनुवादको एक स्वतंत्र अनुवादकी संज्ञा देते हैं; परन्तु यह अच्छी स्वतंत्रता हुई जिसके द्वारा एक आचार्यके गुरु और दादागुरु दोनोका ही नाम लुप्तकर दिया गया और उन्हे उनके गुरुके भी दादागुरुका शिष्य बनाकर उन्हीके समकालीन ठहरा दिया गया !!

जब एक बहुत ही सुगम पद्यके अनुवादकी ऐसी हालतमें और उसमे अधिकता, हीनता, विपरीतार्थता आदिके सभी दोष पाये जाते हैं तब दूसरे पद्योके अनुवादका क्या हाल होगा, इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं। खेद है मेरे पास इतना समय नही कि मैं सारे अनुवादकी जॉच प्रकट करूँ—सारा अनुवाद बहुत कुछ त्रुटियों तथा दोषोसे परिपूर्ण है और उसपर एक बड़ा पोथा लिखा जा सकता है; मैने केवल एक नमूना प्रस्तुत किया है, उसपरसे शेष ग्रंथके अनुवादको, और इसी तरह दूसरे ग्रन्थोके अनुवादोको भी जाँचने-जँचानेकी ओर विद्वानों तथा दूसरे समाज-हितैषियोका ध्यान जाना चाहिये। अनुवादकोंकी ऐसी निरंकुश-प्रवृत्ति और लापर्वाही अवश्य ही नियंत्रण किये जानेके योग्य है। समाजको इस ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिये। अन्यथा, यह रोग दिनपर दिन और बढ़ता जायगा। उसकी वृद्धिसे समाजका ज्ञान विकृत हो जायगा, अथवा वह विकृत ही उत्पन्न होगा, और आगेको वस्तुस्थितियोंको समझनेमें बड़ी-बड़ी दिक्कतें पेश आएँगी।

समाजकी वर्तमान अव्यवस्था, दुरवस्था और असंगठित स्थितिको देखते हुए, यद्यपि, उससे अभी यह आशा नही की जा

सकती कि वह सत्यप्रिय योग्य विद्वानोंकी कोई ऐसी समर्थ समिति खड़ी कर सकेगी जिसका काम ही अनुवादोंकी जाँच हो और जिसके द्वारा पास (पारित) किये हुए अनुवाद ही प्रायः विश्वसनीय समझे जाँय, परन्तु समाजके सुयोग्य तथा अनुभवी विद्वानोसे यह आशा जरूर की जा सकती है कि वे 'समालोचक' बनें। सत्य-समालोचकोंकी कृपासे ही दोषोंका सुधार और त्रुटियोका बहुत-कुछ परिहार होता है, लेखकोंकी निरंकुशता जाती रहती है, बुराइयोंकी जड़ कट जाती है और सर्वत्र उन्नतिका पवन बहने लगता है। कितने ही देशो तथा जातियोंके साहित्यका सुधार और उद्धार इन्ही समालोचकोकी कृपाका एक मात्र फल है। आजकल समालोचनाका अधिकतर भार पत्र-सम्पादकोपर पड़ा हुआ है; परन्तु उन बेचारोंको इतनी फुर्सत कहाँ है कि वे अपने पास आए हुए सभी ग्रंथोको पूरा पढ़ें, उनकी अच्छी जॉच करें और फिर ठीक-ठीक समालोचना करें ? और इसलिये वे बहुधा प्राप्त ग्रन्थोका कुछ थोड़ा-सा परिचय दे-दिलाकर, उनकी प्रशंसा आदिमे साधारण तौर पर कुछ लिख-लिखाकर अथवा लेखक-प्रकाशकको धन्यवाद भेंट करके ही छुट्टी पा लेते और अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। ऐसी चलती हुई समालोचनाओंसे समालोचनाके अर्थकी सिद्धि नही हो सकती। इसलिये समाजके सत्यनिष्ठ और हितचिन्तक विद्वानोको इस ओर खास तौरसे ध्यान देना चाहिए और एक जजके तौरपर अनुवाद-जॉचके कार्यको भी अपने हाथोमें लेना चाहिये। उन्हें, कमसे कम, जिस किसी भी अनुवाद ग्रंथमें कोई त्रुटि मालूम पड़े—मूलसे कोई विरोध नजर आए—उसे विना किसी संकोचके युक्तिपूर्वक संयत भाषामें समाजके सामने रखना चाहिये और ऐसा करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये। समाजके पत्र-

सम्पादकोंको भी अधिक सावधान होने और अपनी प्रवृत्तिमें कुछ सुधार करनेकी जरूरत है। उन्हे अपने कर्तव्यका—अपनी जिम्मेदारीका—दृढताके साथ पालन करना चाहिये, अपने शब्दोका मूल्य समझना चाहिये और किसी भी अनुवाद-ग्रन्थकी अच्छी जाँच किये बिना वैसे ही उसकी प्रशसाके पुल न बाँध देने चाहिये। ऐसा होनेपर समाजके हित तथा साहित्यकी रक्षा होगी और अनुवाद-कार्य भी बहुत-कुछ उन्नत हो सकेगा।

धर्मके प्रेमी और समाजका हित चाहनेवाले अनुवादकोके लिये ऐसी सत्य-समालोचनाओसे विचलित या अप्रसन्न होनेकी कोई वजह नही हो सकती। उन्हे उलटा समालोचकोका उपकार मानते हुए अपनी त्रुटियोको दूर करने और उसके फलस्वरूप अच्छे अनुवादक बननेका भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इसीमें उसका तथा समाजका हित और कल्याण है। इसके सिवाय, प्रकाशकोको भी चाहिये कि वे, जहाँतक बन सके, मूलग्रंथके साथ ही अनुवादको प्रकाशित किया करे और प्रकाशनसे पहले एक-दो अच्छे विद्वानोको दिखलाकर उसकी जाँच भी करा लिया करे। ऐसा होनेपर मूलग्रन्थोका उद्धार होगा, विद्वानोको अनु-वादोके जाँचनेमें सहायता मिलेगी और प्रकाशकोको भी कोई हानि उठानी नही पड़ेगी। प्रत्युत इसके, उनके प्रकाशनोंकी साख और प्रामाणिकता बढ़ेगी।

आशा है समाजके विद्वान, पत्र-सम्पादक, अनुवादक और प्रकाशक सभी इस समयोचित सूचना तथा प्रार्थनापर ध्यान देंगे और अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए समाजहित-वृद्धिका यत्न करेंगे[1]।

---

१. जैनजगत, ता० १६-१-१९२६

एक ही अमोघ उपाय : ६ :

ब्र० शीतलप्रसादजीने कितनी ही बार यह पुकार मचाई है कि हमारे बडे बड़े पदवीधर अथवा उपाधिधारी पंडितोको, जिनके ऊपर जैनसिद्धान्तोकी रक्षाका उत्तरदायित्व है, पंडित दरबारीलालजीके उन लेखोंका युक्ति-पुरस्सर उत्तर देना चाहिये जो "जैनधर्मका मर्म" नामकी लेखमालाके अन्तर्गत 'जैनजगत्' में प्रकाशित हो रहे हैं और जिनके द्वारा जैनधर्मके कितने ही महान् एव मूल सिद्धान्तोका मूलोच्छेद किया जा रहा है—उत्तर न देनेमे बडी हानि हो रही है। जब आपकी इन पुकारो-पर कोई ध्यान नही दिया गया और इधर पं० दरबारी-लालजीने जैनसमाजसे अलहदगीसी अख्तियार करके "सत्यसमाज" की स्थापना कर डाली तब ब्रह्मचारीजी बहुत ही बेचैन हुए और उन्होने एक बडी ही जोरदार आवाज़ उठाई—जिसकी आपसे आशा भी नही की जा सकती थी—और उसे ११ अक्टूबर सन् १९३४ के जैनमित्र-द्वारा ब्रॉडकास्ट किया।

इस गहरी पुकारमे आपने उक्त पडितोपर घोर अकर्मण्यता, कर्त्तव्यपालनमे उदासीनता, आलसीपन, उत्साहहीनता, साहस-शून्यता, समाजसेवामे विमुखता, धार्मिकपतनता और घोर महाघोर कायरता आदिके आरोप (इल्जाम) लगाये, और उन्हे हर तरहसे मैदानमें उतरकर जैन-सिद्धान्तोपर होनेवाले आक्रमणोको रोकने एवं सिद्धान्तोकी रक्षा करनेके लिये प्रेरित किया। और यहाँतक भी कह डाला कि यदि इन पंडितोसे सिद्धान्तरक्षा और जैनधर्मकी प्रभावनाका यह हेतु सिद्ध नही

होता है तो इनके उत्पादक विद्यालयोंको निष्फल समझना चाहिये और कहना चाहिये कि उनका उद्देश्य सफल नही हुआ—भले ही ये लोग आजीविकाके बदलेमें नियमित शिक्षा दे देनेका साधारण काम करते हो। परन्तु हमारे ये तर्कशास्त्री, न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य, न्यायालंकार, सिद्धान्तशास्त्री, जैनदर्शन-दिवाकर, व्याख्यानवाचस्पति और वादीभकेसरी आदि इन सब आरोपोको पी गये और किसीने भी टससे मस नही किया। एक बेचारे पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ अपनी मान-मर्यादा एवं पदकी लाज रखनेके लिये जो कुछ थोडा-बहुत कार्य आक्रमणके विरोधमे कर रहे थे उसे वे बराबर अकेले ही मैदानमें खड़े करते रहे, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं, परन्तु उनकी रफ्तार नही बदली—उसमे प्रगति नही हुई—और अन्तको उन्होने भी सहयोगके अभावमें हतोत्साह होकर हथियार डाल दिये !! उनके शास्त्रार्थ-संघका पत्र 'जैनदर्शन' भी जो पं० दरबारीलालजीके लेखोका उत्तर देनेके उद्देश्यसे ही निकाला गया था, आजकल इस विषयमें प्राय: मौन है—उसमे इसकी यथेष्ट चर्चा तक नही है !![1]

इधर ब्रह्मचारी पं० दीपचन्दजी वर्णीने अनुभव किया कि प० दरबारीलालजीकी उक्त लेखमालाके अनेक लेख जैनागमके विरुद्ध तथा जैनधर्मके सिद्धान्तोंका मूलोच्छेद करनेवाले है और उनसे कितने ही कॉलेजके विद्यार्थियो एवं शिक्षाप्राप्त सद्गृहस्थो तकके श्रद्धान डोल रहे हैं और वे "जैनजगत्" के (उक्त लेखमालाके) वाक्योंको अक्षरश: सत्य समझते हुए जैनसिद्धान्तोंमे

१. पं० राजेन्द्रकुमारजीसे पहले मन्दसौरके पं० भगवानदासजी जैन शास्त्रीने भी उक्त लेखमालाके विरोधमें कुछ लिखना 'जैनमित्र' में प्रारम्भ किया था, परन्तु वे उसे पहले ही छोड़ बैठे थे।

सन्देह करने लगे हैं ! इससे उनके दिलपर भारी चोट लगी, और इसलिये उन्होंने अपनी दुख-दर्दभरी पुकार समाजके उक्त पदवीधर विद्वानोंमेंसे कतिपय प्रतिष्ठित एवं जैनधर्मके कर्णधार विद्वानोके पास पहुँचाई—कुछसे साक्षात् मिलकर अपना रोना रोया और कुछको पत्रो द्वारा उक्त लेखोंका युक्ति-पुरस्सर उत्तर देनेकी प्रेरणा की। परन्तु कहीसे भी उन्हे कोई आश्वासन अथवा सन्तोषजनक उत्तर नही मिला। जो उत्तर मिले वे इस टाइपके थे—

"(१) जैनजगत्को पढना ही नही चाहिये, (२) जैनजगत्के लेखोका उत्तर न देना ही उसका उत्तर है, (३) व्यर्थके टंटोमें पडनेकी अपेक्षा स्वाध्याय करके अपना आत्मकल्याण करना ही श्रेयस्कर है, (४) आप भी अनुभवी वयोवृद्ध हैं, आप ही लिखिये, (५) लिखने दो, कहाँ तक लिखते हैं, सबका उत्तर एक साथ हो जायगा, (६) हमको पढ़ाने सम्बन्धी कार्यसे अवकाश नही मिलता और मस्तिष्क थक जाता है।"

इससे दु.खित और खेदखिन्न होकर उन्होने "जैनविद्वानोके मौनसे धार्मिक हानि" नामकी एक जोरदार पुकार, अपने और त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णीके हस्ताक्षरोसे १८ अक्टूबर सन् १९३४ के "जैनमित्र" मे प्रकाशित कराई। इस पुकारमें, पं० दरबारीलालजीके लेखोकी प्रकृति, उनसे होनेवाले बुरे असर, अमुक-अमुक जैन-सिद्धान्तोंपर कुठाराघात, अनेक कॉलेज-के विद्यार्थियो और शिक्षित सद्गृहस्थोसे मिलनेका सक्षिप्त हाल और उनकी सबसे बडी दलील[1] सागरमें पं० दरबारीलालजीसे

१. उस दलीलमें, समाजके प्रधान प्रधान न्यायाचार्यों, न्यायालङ्कारों और सिद्धान्तशास्त्रियोके नामों का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि 'जब समाजमें ऐसे ऐसे दिग्गज विद्वान् मौजूद हैं और उक्त लेखमाला-

उनके मन्तव्यका पूछा जाना और उनका उत्तर[२] जैनसमाजके कतिपय प्रतिष्ठित विद्वानोंसे मिलने, पत्रव्यवहार करने और उनसे प्राप्त होनेवाले असन्तोषजनक उत्तरोका दिग्दर्शन, इत्यादि बातोंका उल्लेख करते हुए बडे ही विनम्र तथा मार्मिक शब्दोमें जैनधर्मके कर्णधार विद्वानोसे तथा आचार्य मुनिसंघोंसे भी यह निवेदन किया गया कि वे अब शीघ्र ही अपना मौन भंग करके उक्त लेखमालाका युक्तिपुरस्सर प्रतिवाद सभ्य-भाषामे निकाले, संदिग्धताको प्राप्त हुए प्राणियोको असदिग्ध करके पुनः सन्मार्गमें स्थिर करे और इस तरह होती हुई धार्मिक अप्रभावनाको रोके। साथ ही, यह भी उपयोगी सूचना की गई कि इस समय तो

को निकलते हुए वर्षों बीत गये तब उनमेंसे किसीका भी उक्त लेखोंके विरुद्ध जैन-सिद्धान्तोकी पुष्टिके लिए युक्तिपुरस्सर उत्तरका न लिखना इस बातको सूचित करता है कि उन लेखोका कुछ उत्तर है ही नहीं; यदि सप्रमाण उत्तर होता तो जैनधर्मके मूलपर कुठाराघात होते हुए देखकर भी ऐसे ऐसे विद्वान् मौन धारण करके नहीं बैठे रहते—वे प्रारम्भ मे ही विषबेलमे फल लगें उसके पहले ही उसे काट देते।'

२. पं० दरबारीलालजीने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—"मै नहीं चाहता कि जैनधर्मको हानि पहुँचे और लोग मेरे अनुयायी बन जायें; परन्तु मैंने अपने अभ्यास और अनुभवसे जो निश्चय किया है उसीको जनताके समक्ष रक्खा है और रक्खूँगा। यदि वास्तवमे मै भूलता हूँ और मेरी युक्तियाँ पोच हैं तो समाजमे बहुत बड़े बड़े विद्वान् हैं, वे मुझे मेरी भूल समझा देवें, मेरी युक्तियोका सप्रमाण सभ्यतासे खण्डन कर देवें ताकि मैं समझ सकूँ कि मैं वास्तवमे भूल रहा हूँ। और ऐसा होनेसे मैं सत्यकी दृष्टिसे उसे बिना सङ्कोच स्वीकार कर लूँगा। यदि मेरे विचारोंके विरुद्ध सुयुक्तियो द्वारा मेरी भूल नहीं बताई तब मैंने जो सत्यकी खोज की है उसे छोड़नेको तैयार नहीं हो सकता और अपने विचार जनताके लाभार्थ उसके सन्मुख रखता रहूँगा। इत्यादि।"

केवल एक व्यक्ति (पं० दरबारीलालजी) को ही यथार्थ मार्ग दर्शा देनेसे काम चल सकता है, बादको—इस मौनके और कुछ समय कायम रहनेपर फिर हजारोको समझाना—मार्गमे पुनः स्थिर करना—बहुत कठिन हो जायगा। परन्तु वर्णिद्वयकी यह भारी पुकार भी समाजके बहरे कानोपर पड़ी और उत्तरमे कहाँ-से भी कोई आहट सुनाई नही पड़ी। जिन धुरन्धर विद्वानोमे उत्तरकी आशा रक्खी गई थो, उनके कानो पर जूँ तक भी नही रेगी !! इससे उक्त दोनो ब्रह्मचारी हताश होकर बैठ गये !!!

परन्तु जान पड़ता है ब्र० शीतलप्रसादजी अभी बिल्कुल हताश नही हुए हैं। इसीसे कुछ अर्सेके लम्बे मौनके बाद उन्होने हालमे "जैनसिद्धान्तकी रक्षा" नामकी एक और पुकार अपने ऑफिशियेटिंग सम्पादककी ओर से २६ अक्टूबर सन् १९३३ के जैनमित्रमे प्रकाशित कराई है और उसमे अमुक अमुक जैनाचार्योके वचनरूप आगम वाक्योका जो कोई खण्डन करे उसका समाधान करना जैन विद्वानोका परम कर्तव्य है इत्यादि बतलाते हुए, प० दरबारीलालजीकी "जैनधर्म-मीमासा" नामक उस पुस्तककी प्रति-मीमासा करनेकी भी जरूरत जाहिर की है, जो कि जैनजगत्मे प्रगट होने वाली "जैनधर्मका मर्म" नामकी लेखमालाका ही एक संग्रह एव अंश है। साथ ही यह प्रकट करते हुए कि ऐसी पुस्तकका उत्तर देनेके लिये विद्वानोकी एक कमेटी होनी चाहिये, प्रधानतः शास्त्रार्थसघ अम्बाला छावनीको यह प्रेरणा की है कि वह इस कामको अपने ऊपर लेवे और उक्त पुस्तकका उत्तर तैयार करके माननीय पाँच विद्वानोके द्वारा संशोधित कराकर उनके हस्ताक्षरसे प्रकट करावे, और इस तरह अपने संघकी उपयोगिताको घोषित करे। यदि वह इस कामको

न कर सके तो वैसा प्रकट करे, तब दूसरी कोई विद्वन्मण्डली स्थापित की जावे ।

यह पुकार यद्यपि बहुत ही दबे शब्दोमे—मानो निराशाक्रान्त हृदयसे—की गई है और उन पिछली पुकारोंके मुकाबलेमे बिल्कुल ही नगण्य है, फिर भी इस बातको सूचित करनेके लिये पर्याप्त है कि अभीतक पं० दरबारीलालजीके लेखोंके विरोधमे पुकार बन्द नही हुई है—वह बराबर जारी है ।[1]

परन्तु जब पिछली इतनी भारी-भारी पुकारें ही इन पदवी-धर पंडितोकी अकर्मण्यतासे टकराकर निरर्थक सिद्ध होचुकी हैं, तब ऐसी साधारण पुकारका तो उनपर असर ही क्या हो सकता है ? रही शास्त्रार्थसंघकी बात, सो वह पहलेसे ही समाज के पडितोका सहयोग प्राप्त न होनेसे इस विषयमे हथियार डाले हुए है । उसके पत्र 'जैनदर्शन' की नीतिका व्यावहारिक रूप भी आजकल प्राय· बदला हुआ है । सहयोगके अभावमे वह अकेला उक्त पुस्तकका अच्छा प्रौढ उत्तर तैयार कर सकेगा और पॉच गण्यमान्य जैन विद्वानोसे उसकी जॉच एवं सशोधनादिक कार्य कराकर उसपर उनके हस्ताक्षर भी प्राप्त करानेमे समर्थ हो सकेगा, ऐसी आशा बहुत ही कम—प्राय· नहीके बराबर जान पडती है । और इसलिये यह पुकार पुकारमात्र हो रह जाती है—उसमे कुछ भी होने-जानेवाला मालूम नही होता ।

यदि ये सब पुकारें महज पुकारनेके लिये ही हैं तब तो कुछ कहने सुननेकी जरूरत नही है । और यदि यह चाहा जाता है कि

---

१. श्वेताम्बर समाजकी ओरसे इस विषयमे क्या कुछ पुकार मची है और मच रही है, उसका हाल मुझे मालूम नहीं है । किसी श्वेताम्बर विद्वान्‌को उसे सत्यसन्देशमें प्रकट करना चाहिए ।

पुकारें सफल हों तो सबसे पहले असफलताके रहस्यको मालूम करते हुए यह जाननेकी जरूरत है कि जिन्हें लक्ष्य करके ये सब पुकारे की जाती हैं वे कुछ बहरे तो नही हैं, उनके कानोमे डाटे तो अड़ी हुई नही हैं, वे कुछ बीमार अथवा अन्य प्रकारसे अशक्त तो नही हैं! इतना ज्ञान होनेके साथ-साथ पुकारके पीछे उतना बल होना चाहिये जो उसे सफल बना सके—जो उनके बहरेपनको दूर कर सके, कानोमे लगी डाटो को निकाल सके, रोगकी चिकित्सा कर सके, अशक्तताको दूर भगा सके और इस तरह उन्हे कार्यक्षेत्रमे उतार कर उनसे यथेष्ट कार्य ले सके। जब तक यह सब नही होता तब तक इन पुकारोका कुछ भी नतीजा नही है—वे सब अरण्यरोदनके समान व्यर्थ हैं।

इसमे सन्देह नही कि पं० दरबारीलालजीकी सिंहगर्जनाके सामने इन उपाधिधारी पंडितोंने अपनी जिस मनोवृत्तिका परिचय दिया है और जो रुख अख्तियार किया है वह बहुत ही लज्जाजनक है—उससे समाजमें इनकी पोजीशन गिर गई है, इतना ही नही, बल्कि समाजको इनके कारण लज्जित भी होना पड़ा है और धर्मको भी कितनी ही हानि उठानी पड़ी है। इसमे पं० दरबारीलालजीका कोई दोष नही है। उन्होने पं० दीपचंदजी वर्णीको जो उत्तर दिया है और जो पीछे एक फुटनोटमे उद्धृत किया जा चुका है वह बिल्कुल स्पष्ट है—उसमें लाग-लपेटकी कोई बात नहीं है। हर शख्स अपने उन विचारोंको, जिन्हें वह सत्य समझता है, उस वक्त तक प्रकट करनेमें स्वतन्त्र है, जब तक कि उनका योग्य प्रतिवाद न कर दिया जाय अथवा उचित समाधानके द्वारा उन्हे बदल न दिया जाय। इस प्रकारका अपना उत्तर वे और भी अनेक बार जैनजगत्में प्रकाशित कर चुके हैं। और इससे उनके समाधानकी सारी जिम्मेदारी उन दिग्गज कहे

जानेवाले पंडितोंके सिरपर आ पड़ती है जो न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य न्यायालंकार, सिद्धांतशास्त्री, जैनदर्शनदिवाकर और वादीभकेसरी जैसी ऊँची-ऊँची पदवियाँ–उपाधियाँ धारण किये हुए हैं। खेद है कि उन्होंने अपने उत्तरदायित्वको नहीं समझा और इसीसे मामला इतना तूल पकड़ गया! अन्यथा, उसके इस हद तक पहुँचनेकी नौबत ही न आती।

ऐसी कोई बात नहीं कि इन पडितोंको युक्तिपुरस्सर लिखना न आता हो, न आ सकता हो या वैसा लिखनेके योग्य ये परिश्रम न कर सकते हों। जरूर आता है, आ सकता है और ये परिश्रम भी खूब कर सकते हैं। इसी तरह यह भी नहीं कि पंडित दरबारीलालजीके लेखोंमे त्रुटियाँ न हों या वे आपत्तिके योग्य ही न हों। उनमे त्रुटियाँ जरूर हैं और वे बहुत कुछ आपत्तिके योग्य भी हैं। फिर भी इन पंडितोकी प्रवृत्ति उनका उत्तर देनेमे नही होती! ये लोग डरते हैं, घबराते हैं और मैदानमे आना नही चाहते!!

सच पूछा जाय तो इसमे इन पडितोंका भी एक प्रकारसे दोष नही है, बल्कि उस बीमारीका दोष है जो बुरी तरहसे इनके पीछे लगी हुई है, और कुछ समाजका भी दोष है, जो ऐसे बीमारोंसे काम लेनेका तरीक़ा नही जानता अथवा काम लेना नही चाहता। यह उस बीमारीका ही परिणाम है जो भयके उपस्थित होनेपर ये लोग स्वयं आँखें मीचते हैं और दूसरोंको आँखें बन्द करनेके लिए कहते हैं—अर्थात् सुसाकी अँधियारी करने-करानेका उपदेश देते हैं और समझते हैं कि इस तरह अपनी तथा दूसरोंकी रक्षा हो जायगी। "जैनजगत् (अथवा सत्यसंदेश) को पढ़ना ही नही चाहिये, जैनजगत्‌के लेखोंका उत्तर न देना ही उसका उत्तर है" इत्यादि उपदेश इसी आँख-

मिचौनीकी श्रेणीका है। परन्तु इससे क्या जैन-सिद्धांतकी रक्षा हो जायगी, अथवा जैनधर्मपर होते हुए प्रहार रुक जायँगे, यह इन लोगोको समझ नही पड़ता ! हमारे ये पंडित प्रत्यक्ष देखने हैं कि एक कबूतर जो बिल्लीको देखकर भयके मारे आँखें बन्द करके बैठ जाता है उसको रक्षा नही होती—बिल्ली चटसे आकर उसकी गर्दन मरोड डालती है ! फिर भी ये उसी प्रकार आँख बन्द करनेका उपदेश देते हैं !! यह सब इन लोगोके बीमार होने-का सूचक नही तो और क्या है ?

इन पंडितोके इस उपदेशसे बहुत कुछ हानि पहुँची है। बहुतसे समर्थ श्रीमानो और कितने ही विद्वानो तकने जैनजगत् (वर्तमान 'सत्यसंदेश') को पढना छोड दिया है और इससे उन्हे यह पता तक नही कि युद्ध-क्षेत्रमे क्या कुछ हो रहा है और जैन-सिद्धात अथवा जैनधर्मके किस-किस अंग पर कैसे-कैसे प्रहार किये जा रहे हैं ! फिर वे उसकी रक्षाका उपाय भी क्या कर सकते हैं और कैसे अपने दिग्गज विद्वानोको युद्धके मैदानमे उतरनेके लिये बाध्य कर सकते हैं ? इसीसे पं० दरबारीलालजीकी प्राय: एकतरफा विजय होती हुई दिखाई देती है।

इन दिग्गज पडितोंको चाहिये तो यह था कि ये स्वयं युद्ध-क्षेत्रमे उतरकर गोलाबारी करते हुए आगे बढते, अपने युद्धके हथकण्डे दिखलाते, अपनी पदवियोको सार्थक बनाते और दूसरोंको प्रोत्साहन देते हुए आगे बढाते। परन्तु ये खुद ही दब्बू बन गये और प्रहारोके सामने आँखें बन्दकर लेने तकका उपदेश देने बैठ गए। यह इनके रोगकी कैसी विचित्र अवस्था है !! जब फौजके जनरलो (सेनापतियो) की ऐसी दशा हो तब फ़ौज यदि हथि-यार डाल बैठे और अपनी पराजयका अनुभव करने लगे तो इसमे आश्चर्यकी कुछ भी बात नही है। इनकी इस परिणतिके

फलस्वरूप कितने ही सैनिकोंने हथियार डाल दिये हैं और उससे समाजको बहुत कुछ हानि पहुँची है।

इन महापंडितोंकी वह बीमारी और कुछ नहीं, इनका 'मानसिक दौर्बल्य' है, जो इन्हें उक्त लेखोंका उत्तर लिखनेमें प्रवृत्त नहीं होने देता। फिर चाहे उसे अकर्मण्यता कहिये, उत्साहहीनता कहिये, साहसशून्यता कहिये अथवा कायरता कहिये या कुछ और कहिये; परन्तु है वह सब मानसिक कमज़ोरी नामकी एक बीमारी। निःस्वार्थ रूपसे सेवाभावकी कमी भी उसीका एक परिणाम है। अपने इस मानसिक दौर्बल्यके कारण इन पडितोमे एक प्रकारकी झिझक बनी हुई है, जो इन्हे निर्भयताके साथ आगे बढ़ने नही देती। ये सोचते रहते हैं कि 'अगर कूदूँ; वगर गिर जाऊँ, तो वलेकिन क्या होगा!' इन्हें रह-रहकर यह ख़याल सताता है कि कही हमारी बातका खण्डन न हो जाय, हमारी युक्ति पोच न सिद्ध कर दी जाय, हमारा साहित्य दूसरोंकी नज़रोंमे घटिया और बेतुका न जँचने लगे और उसके कारण हमारी प्रतिष्ठा कही भंग न हो जाय, हमारी शानमें बट्टा न लग जाय! हम यदि दूसरोंके उत्तर-प्रत्युत्तर मे नही पड़ेगे तो हमारी त्रुटियाँ गुप्त रहेगी—हमारी कमजोरियाँ दूसरोपर प्रकट नहीं हो सकेगी—और इससे हमारी मान-मर्यादा बनी रहेगी! अथवा हम दूसरोके लिये क्यों मग़ज़पच्ची करें? क्यो अपनी जान आफत (संकट) में डालें? हमें क्या पड़ी है और हमारा इसमें क्या लाभ है? इस तरहके विचारोके चक्कर और उनकी उधेड़-बुनमें इन लोगोसे प्रायः कुछ भी करते-धरते नहीं बनता। ये नपुंसकों की तरह पड़े-पड़े अपना तथा अपने धर्म और समाजका पतन देखते रहते हैं!! इन्हें अपने उसी मानसिक दौर्बल्यके कारण यह समझ ही नहीं पड़ता कि युद्धके अवसरपर हमने जो

रवैया अख्तियार कर रक्खा है उससे हमारी प्रतिष्ठा एवं शान बनती नही, किन्तु बिगड़ती है और मान-मर्यादा दिनपर दिन भंग होती चली जा रही है—लोगोंके हृदयमें अब वह पहले जैसा गौरव हमारा नही है !!

खेद है कि ये लोग बिना पानीमें पैर डुबोये ही तैराक बनना चाहते हैं—लिखनेका अभ्यास न करके ही सुलेखक बननेकी धुनमें मस्त हैं—और बिना युद्धक्षेत्रमें कदम बढाये ही मात्र युद्धशास्त्रों (न्यायशास्त्रो) को रट लेनेसे ही योद्धा बनना और सुवीर योद्धाओंके टाइटिल धारण करना चाहते हैं ! यह सब भी इनके उसी मानसिक दौर्बल्यका परिणाम है । जब तक इनका यह विकार दूर नही होगा तब तक इस विषयमें इनसे केवल अनुनय-विनय करने, प्रार्थना करने अथवा इनके सामने कर्त्तव्यकी पुकार मचाने मात्रसे, प्रकृत विषयमे, कुछ भी होने जानेवाला नही है ।

इन पंडितोंके उक्त मानसिक दौर्बल्यके पोषणमे समाजका भी कुछ हाथ है । उसने इनकी पूजा--प्रतिष्ठा तो बेहद की; परन्तु इनसे जैनसिद्धान्तो अथवा जैनधर्मकी रक्षा और उसके प्रचारका वह काम नहीं लिया जो लेना चाहिये था और न कभी इनके कार्योकी आलोचना अथवा प्रवृत्तियोकी टीका--टिप्पणी ही की—इन्हे एक प्रकारसे पूजाकी वस्तु ही बनाये रक्खा और प्राय: निरङ्कुश छोड़ दिया ! यदि कोई काम लिया भी तो वह ग्रन्थोके रटानेका, उन्हे बाँच देनेका, साधारण अनुवाद कर देनेका, कुछ व्याख्यान झाड़ देनेका और ज्यादासे ज्यादा अर्थहोन रूढ़ियों-के पालनमें सहायता पहुँचानेका !! समाजकी ऐसी प्रवृत्तिसे उक्त दौर्बल्यको अच्छा पोषण मिला है ।

यदि समाज हृदयसे चाहे कि उसके इन पंडितोंका यह

दौर्बल्य मिटे और वे पं० दरबारीलालजीकी उक्त लेखमाला तथा पुस्तकादिका सयुक्तिक उत्तर देनेमें प्रवृत्त हो सकें तो यह अब भी हो सकता है। अभी रोग सीमासे बाहर नही हुआ—असाध्य दशाको नही पहुँचा—उसकी चिकित्सा हो सकती है। परन्तु इसके लिये दृढ़ताके साथ एक कठोर प्रयोग करना होगा, जो कि रोगकी प्रकृति और स्थितिको देखते हुए उसका एक ही अमोघ (अचूक) उपाय है और वह इस प्रकार है :—

ऊँचे दर्जेकी धार्मिक शिक्षाके जितने भी विद्यालय अथवा शिक्षालय जैनसमाजमे मौजूद हैं वे सब छह महीनेके लिये एक-दम बन्दकर दिये जायँ और उनके पदवीधर अध्यापकोंको यह ऑर्डर (आदेश) दिया जाय कि वे इस अर्सेके अन्दर पं० दरबारी-लालजीके उक्त लेखोका अच्छा युक्ति--पुरस्सर उत्तर तैयार करें—चाहे वे अपना अलग उत्तर लिखें या दो चार पंडित अपनी सुविधाके अनुसार मिलकर एक संयुक्त उत्तर तैयार करें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है और यह भी उनकी इच्छापर निर्भर है कि वे उत्तर अपने-अपने विद्यालयमें ही बैठकर लिखें अथवा यथावश्यकता किसी दूसरे ऐसे स्थानपर भी ठहरकर लिखनेका यत्न करें जहाँ लायब्रेरी आदिकी सुविधा हो। साथ ही, उनपर यह स्पष्ट कर दिया जाय कि यदि उनका उत्तर यथेष्ट रूपमे ठीक होगा तो उन्हें छह महीनेका पूरा वेतन मिलेगा—प्रतियोगितामे उनका लेख उत्तम रहनेपर विशेष पारितोषिक भी मिल सकेगा—और विद्यालयोमें उनकी नियुक्ति बदस्तूर रहेगी और यदि वे उत्तर नही लिखेंगे अथवा उनका उत्तर ठीक नहीं होगा तो उन्हे न तो छह महीनेका वेतन मिलेगा और न वे आगेको विद्यालयमें अपने पदपर नियुक्त ही रह सकेंगे; क्योंकि ऐसे पंडितोंसे शिक्षा दिलानेका कोई नतीजा नही है जो खुद उन

सिद्धान्तोंका बचाव एवं संरक्षण न कर सकते हो जिन्हें वे पढाते हैं—ऐसे अशक्त अध्यापकोसे शिक्षा दिलाना समाजके पैसे और बच्चोंके समयका दुरुपयोग करना है।

यह उपाय निष्फल जाने वाला नही है, इसीसे उसको "अमोघ" कहा गया है। इसका दृढता और एकनिष्ठाके साथ प्रयोग होनेपर इन पंडितोकी आँखे स्वय खुल जायँगी, इनके कानोंमे लगी हुई डाटे खुद-ब-खुद निकल पडेंगी, इन्हें जैन-सिद्धान्तोपर तथा अपने ऊपर होने वाले प्रहार स्पष्ट दिखाई देने लगेंगे और समाजके दु.खित हृदयोकी पुकारे साफ सुन पडेंगी। साथ ही आत्मग्लानि भी इन्हे बेचैन किये बिना नही रहेगी। अपने स्वार्थमे धक्का पहुँचने एव पोजीशनके गिरनेकी तीव्र आशङ्कासे इनकी सोई हुई चेतना जाग उठेगी, चोट खाई हुई नागनकी तरह इनकी प्रतिभा चमक उठेगी और ये अपनी उन शक्तियोसे पूरा काम लेने लगेंगे जो आजकल बेकार पड़ी हुई हैं। इन्हे यह कहनेका भी फिर कोई अवसर नही रहेगा कि हमारे पास अवकाश नही है अथवा पढ़ाते-पढ़ाते हमारे दिमाग (मस्तिष्क) थक जाते हैं, दूसरा काम फिर कैसे करें ? परिणामस्वरूप प० दरबारीलालजीके लेखोके अनेक अच्छे-अच्छे उत्तर तैयार हो जायँगे और आश्चर्य नही जो उनसे पं०दरबारी-लालजीका समाधान होकर उनका रुख बदल जाय—उन्हें अपनी भूल मालूम पड जाय और वे फिरसे सन्मार्गपर आजायँ; क्योंकि वे सत्यभक्त हैं, सत्यके सामने सिर झुका देनेका उनका दावा है और इसलिये निरावरण सत्य के सामने आते ही उसे ग्रहण करनेमें उन्हे संकोच नही होगा—मानापमानका कोई खयाल उसमे बाधा नही डाल सकेगा। ऐसे ही लोगोंके सन्मार्गपर आनेकी पूर्ण आश्वासनमयी सूचना हमें स्वामी समन्तभद्रके निम्न

वाक्यसे मिलती है, जिसके कारण निराश होनेकी जरा भी जरूरत नही है—योग्य प्रयत्न करना चाहिये :—

कामं[1] द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टं।
त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

—युक्त्यनुशासन

इसके सिवाय, हमारे इन पडितोका सुधार भी हो जायगा और समाजका भविष्य भी उज्वल बन जायगा, और तभी हम ठीक अर्थमे अज्ञानान्धकारको दूर करके जैनशासनकी सच्ची प्रभावना करनेमे समर्थ हो सकेगे ।

यदि समाज चाहता है कि उसके इन पडितोका यह मानसिक दौर्बल्य दूर होकर उनमे स्फूर्ति, उत्साह, साहस और पुरुषार्थका सचार हो, वे सशक्त और कार्यक्षम बने—अपने उत्तरदायित्वको न भूले, उनसे देश, धर्म तथा समाजकी सेवाका यथेष्ट कार्य लिया जा सके, उनमे सम्बन्ध रखनेवाली समाज-की पुकारे भविष्यमे व्यर्थ न जाने पावे और उनके अस्तित्वसे समाजका गौरव बढ़े--उसे प्रगति प्राप्त हो, तो उसे शीघ्र ही उक्त उपायको कार्यमे परिणत कर देना चाहिये और उसपर ठीक

---

१. इस वाक्यमे यह आशय सूचित किया गया है कि–'भगवान् महावीरके अनेकान्तरूप शासन-तीर्थमे यह खूबी खुद मौजूद है कि उससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ, उपपत्तिचक्षुसे (मात्सर्यके त्याग-पूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) उसका अवलोकन करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खंडित हो जाता है, सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है, अथवा यो कहिये कि भगवान् महावीरके शासन-तीर्थका सच्चा उपासक और अनुयायी हो जाता है ।'

तौरसे कारबन्द होनेके लिये एक अच्छी सुविधाजनक योजना तय्यार कर लेनी चाहिये। छह महीनेका समय कोई अधिक समय नही है, इतने समयके लिये उन विद्यालयोके बन्द होनेसे किसी भी विशेष हानिकी सम्भावना नहीं। तीन-तीन महीनेके लिये तो आमतौरपर कॉलिजोमे छुट्टियॉ हो जाती हैं—हाईकोर्ट तक बंद रहती हैं, तब एक खास उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इन विद्यालयोको यदि छह महीनेके लिये बन्द कर दिया जाय तो इससे कोई हर्ज नही पड़ सकता—बल्कि ऐसा होनेसे समाजमे एक अच्छा क्रियात्मक और स्फूर्तिदायक वातावरण उत्पन्न हो जायगा, जो अन्तमे बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगा। यदि किसी तरह छह महीनेके लिये इन विद्यालयोका पूरी तौरपर बन्द करना इष्ट ही न हो तो कमसे कम उक्त अवधिके लिये इनमे होती हुई धर्म-शास्त्र, न्यायशास्त्र और जेन काव्यग्रन्थोकी शिक्षाको बन्द करके उनके अध्यापकोको वेतनादिकी उसी शर्तके साथ निर्दिष्ट कार्यमे लगाया जाय।

मै समझता हूँ मेरी यह उपाय-योजना समाजके अधिकाश हितचिन्तिको, दूरदर्शियो, भविष्यकी चिन्ता रखनेवाले समझदार व्यक्तियो और सच्ची धर्मप्रभावनाके इच्छुक सज्जनोको जरूर पसन्द आयगी—खासकर उन लोगोको विशेष रुचिकर होगी जो प० दरबारीलालजीके लेखोसे व्यथित-चित्त हैं और समाजके इन बड़े-बड़े पडितोसे उनका उत्तर चाहते हैं। ऐसे सभी महानुभावोको इस विषयमे अपनी सम्मति प्रकट करते हुए उक्त उपायपर शीघ्र अमल होनेका आन्दोलन करना चाहिये और विद्यालयोंके अधिकारीवर्गसे मिलकर उन्हें इस शुभ कार्यके लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी और वर्णी दीपचन्दजी जैसे सज्जनोंका इस विषयमें यह मुख्य कर्तव्य होना

चाहिये कि वे इसी कामके लिये उन स्थानोंपर शीघ्र दौरा करें, जहाँपर ये बड़े-बड़े विद्यालय तथा इनकी प्रबन्धकारिणी कमेटीके सदस्य स्थित हैं और उन सदस्यो तथा अधिकारियोसे मिलकर यह अनुरोध करें कि वे उक्त उपायकी योजनानुसार अपने-अपने विद्यालयोको बन्द करनेकी स्वीकारता प्रदान करें। साथ ही, सबकी सम्मतिसे एक तारीख निश्चित की जाय जिसपर दिगम्बर समाजमे उक्त उपायकी योजनाका कार्य दृढ़ताके साथ प्रारम्भ किया जाय। रही श्वेताम्बर-समाजकी बात, उसकी स्थिति दिगम्बर-समाजसे भिन्न है। उसमे बहुतसे विद्वान् मुनि मौजूद हैं, जिनपर जैन-सिद्धान्तकी रक्षाका उत्तरदायित्व उसके गृहस्थ पंडितोंकी अपेक्षा अधिक है। और इसलिये इस विषयमे अपनी परिस्थितियोके अनुसार वे दोनो ही कोई अच्छी योजना सोच सकते हैं। खुद ही सोचकर उसे प्रकट करना और अमलमें लाना चाहिये।

जो सज्जन उक्त उपायसे सहमत न हो, उन्हे उसका कारण बतलाते हुए दूसरा कोई और इससे अच्छा अमोघ उपाय प्रस्तुत करना चाहिये, जो अमलमे लाया जा सके और यदि वे आंशिक रूपसे असहमत हो तो उन्हें अपना संशोधन उपस्थित करना चाहिये। साथ ही, यह ध्यानमे रखना चाहिये कि कोरी विद्वन्मंडलियोंकी स्थापनासे काम नहीं चलेगा—वे अनेक बार स्थापित की जा चुकी हैं और अपनी नि:सारताको सिद्ध कर चुकी हैं। हाँ, वे भविष्यमे उस वक्त सार्थक सिद्ध हो सकेंगी जब पंडितोंका यह मानसिक दौर्बल्य दूर हो जायगा और वे स्वस्थ होकर पूर्ण मनोबलके साथ अपना कार्य करने लगेंगे—उनके इस रोगकी चिकित्साका वे साधन नहीं हो सकतीं।

अन्तमें मैं अपने पाठकोंसे यह भी निवेदन कर देना चाहता

हूँ कि इस लेखमे कही-कही पंडितोकी आलोचनाके अवसरपर, इष्ट न होते हुए भी, मुझे सत्यके अनुरोधसे कुछ अप्रिय--कटुक शब्दोंका प्रयोग करना पडा है, जिसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। उनके प्रयोगोमे मेरा हेतु शुद्ध है--मेरा किसीसे द्वेष नही है और न द्वेषादिके वश किसी व्यक्ति-विशेषपर आक्षेप करनेका मेरा कोई अभिप्राय ही है। इसीसे ऐसे किसी भी पंडितका नामोल्लेख साथमें नही किया गया है। मुझे इन पंडितोपर होते हुए आक्रमणो और इनकी अवज्ञाको देखकर दु ख होता है। साथ ही, इनकी दयनीय स्थितिके कारण जैनधर्मकी जो अप्रभावना हो रही है और जैनसमाजको जो क्षति पहुँच रही है वह असह्य जान पडती है—उससे चित्तको बहुत ही खेद होता है। और इसलिये मैं सच्चे हृदयमे अपने इन पडित भाइयोका सुधार चाहता हूँ—इन्हे सब प्रकारसे इनकी पदवियोके अनुरूप देखना चाहता हूँ। उसीके लिये मेरा यह सब प्रयत्न है—भले ही इसपरसे कुछ पंडित भाई मुझे अपना द्वेषी समझे। परन्तु एक दिन आयेगा जब उन्हे अपनी भूल मालूम पड़ जायगी और वे उसके लिये पछतायेंगे।

साथ ही, मैं इतना और भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि समाजमे कुछ इनेगिने पडित ऐसे भी हैं जो इस लेखके अपवाद-रूप हैं और जिनके विषयमे मेरा विशेष आदरभाव है। वे इस लेखको अपने लिये न समझें। उन्हे इस आन्दोलनमे भाग लेकर अपनी पोज़ीशनको और भी ज्यादा स्पष्ट कर देना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो यदि कुछ उदारमना पंडित, उक्त उपाय-से सहमत होते हुए, खुद ही अपनेको इस यज्ञदीक्षाके लिये पेश करें और इस आन्दोलनमें ख़ासतौरसे हाथ बटाएँ।[1]

---

१. जैन जगत, ता० ८-११-१९३६

'ओसवाल' के दो प्रारंभिक अंक मिले—एक सयुक्त अक १५-१६ और दूसरा असंयुक्त नं० १७ (सन् १६३८)। मालूम हुआ, 'ओसवाल-सुधारक' नामका जो पत्र करीब ४ वर्षसे सेठ अचलसिंहजीके संपादकत्वमें आगरासे निकलता था वही अब 'ओसवाल' नाम धारण करके कलकत्तासे श्री गोवर्धनसिंहजी महनौत बी० काम० के सम्पादकत्वमें निकलने लगा है—अर्थात् ओसवाल महासम्मेलनने अपने पाक्षिक मुखपत्र 'ओसवाल-सुधारक' का उसकी ३ वर्ष ७ मासकी आयुमें ही कायाकल्प कर डाला है, जिसके द्वारा 'सुधारकत्व' का विकार दूर होकर अब वह मात्र 'ओसवाल' रह गया है। विकारके पुनः प्रवेशकी आशंकासे जलवायुके परिवर्तनको लेकर उसका स्थान भी परिवर्तित कर दिया गया है और साथ ही बॉडीगार्ड (संरक्षक-सम्पादक) को भी बदल दिया है। इसके सिवाय पत्रके स्वास्थ्यको कायम रखने और उसमे नूतन तेज लानेके लिये वह एक प्रभावशालिनी संचालकसमितिके सुपुर्द किया गया है, जिसके कर्णधार हैं ओसवाल समाजके गण्यमान्य सज्जन बाबू बहादुरसिंहजी सिंधी, श्री सन्तोषचन्द्रजी तरडिया और विजयसिंहजी नाहर जैसे प्रतिष्ठित और साक्षर सेठ-साहूकार।

यह सब देखकर बड़ी आशा बँधी और कायाकल्प-द्वारा निर्विकार हुए पत्रके शरीरको देखनेकी उत्कण्ठा भी बढ़ी। बाहरकी टीपटाप, कागज, छपाई, सफाई सुन्दर जान पड़ी, चित्रोंसे वह सुसज्जित पाया गया; कलेवरमें भी कोई कमी मालूम नहीं दी। फिर अचानक उसके एक अंगपर दृष्टि पड़ी, जो कि

दूसरे अंक (नं० १७) में प्रकाशित 'पैसा' नामकी कविता है और जिसके लेखक हैं—'**श्री अक्षयकुमारजी जैन दिल्ली ।**' पत्र-का यह अंग मुझे महा विकृत नजर आया और यह खयाल उत्पन्न होने लगा कि कही कायाकल्प निरा ढकोसला ही तो नही हैं। मैंने पुनः गौरसे अवलोकन किया, फिरसे जॉच की और उसे विकृत ही पाया—उसका प्राय. कोई ऐसा पद्य नही है जो दो-एक भद्दी भूलो अथवा मोटी-मोटी त्रुटियोको लिये हुए न हो। देखते ही मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कविताके इस विकारका अथवा उसके वर्तमान प्रकाशित रूपका जिम्मेदार कौन ? लेखक जिम्मेदार या सम्पादक ? इसी प्रश्नको लेकर आज मैं इस आलोचनात्मक लेखके लिखनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ, जिसका ध्येय है मुख्यतया 'ओसवाल' का और गौणतया इसी टाइपके दूसरे असावधान पत्रोका सुधार।

आजकल लेखक, कवि तथा सम्पादक बननेकी धुन बहुतोके सिरपर सवार है—नित्य नये-नये लेखक, कवि और सम्पादक प्रकाशमे आते रहते है; परन्तु उनमेंसे अपनी-अपनी जिम्मेदारीको ठीक समझने अथवा कर्तव्यका यथेष्ट पालन करनेवाले विरले ही होते हैं—अधिकांश तो टकसाली लेखक, यो ही रबड़ छन्दोमे तुकबन्दियाँ करनेवाले कवि और प्रायः आफिस-बियरर अथवा टाइटिल-होल्डर सम्पादक देखनेमें आते हैं। यद्यपि लेखकादिकी नित्य नई सृष्टिका होना कोई अवाञ्छनीय अथवा बुरी बात नही, प्रत्युत देश, धर्म तथा समाजकी प्रगतिके लिये आवश्यक और अभिनन्दनीय है, परन्तु उनका अपने कर्तव्य एवं ज़िम्मेदारीको न समझना अथवा उसकी प्रगतिके स्थानपर उल्टी अवनति या अधो-गति तकके कारण बन जाते हैं, और इसलिये उपेक्षा किये जानेके योग्य नहीं।

पत्रमें प्रकाशित किसी भी लेख अथवा कविताके साहित्यकी, यदि वह उद्धृत नहीं है, सबसे बडी जिम्मेदारी उसके सम्पादककी होती है। सम्पादकोको लेखोंकी मूल स्पिरिटको कायम रखते हुए उनके संशोधनका—उन्हें घटा-बढाकर उपयोगी बनानेका—पूरा अधिकार होता है और इसलिये यदि कोई लेखादिक त्रुटित एवं स्खलित रूपमें उनके पास पहुँचता है तो उसे सुधारकर अथवा त्रुटियोकी सूचनाको लिये हुए नोटादि लगाकर छापना उनका कर्तव्य होता है। यदि वे ऐसा नहीं करते, अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होते हैं तो सम्पादक पदपर प्रतिष्ठित रहनेके योग्य नहीं कहलाते। सम्पादकके लिये सम्पादनकलाके साथ-साथ सुलेखन कलासे परिचित होना भी अनिवार्य है। जो सम्पादक किसी लेख अथवा कविताके त्रुटिपूर्ण साहित्यको भी न सुधार सकता हो उसका सम्पादक होना न होना बराबर है। ऐसा सम्पादकत्व वस्तुत: विडम्बना मात्र है, क्योकि सम्पादककी पोजीशन मात्र लैटर बॉक्स अथवा पोस्टआफ़िस जैसी नही होती, जिसको जैसा भी मैटर पोस्ट किया गया उसे उसने बिना 'चूँ-चरा' अथवा तरमीम-तनसीखके यथास्थान पहुँचा दिया, बल्कि एक बड़ी ही जिम्मेदारी एवं अधिकारप्राप्तिको लिये हुए महान् पद होता है, जिसे धारण करनेका पात्र कोई भी साधारण मनुष्य अथवा अव्युत्पन्न और असावधान विद्वान् नही हो सकता। इसीसे विदेशोमें सम्पादकीय पदके लिये खास तय्यारी की जाती है। वहाँ इस पदकी बड़ी प्रतिष्ठा है और सम्पादकोके हाथमे राष्ट्र तथा समाजकी बहुत-कुछ बागडोर रहती है।

वास्तवमे लेखकोको सुलेखक और कवियोको सुकवि बनानेमें सुयोग्य सम्पादकोका प्राय: बहुत बड़ा हाथ होता है। प्रारम्भिक अथवा अनभ्यस्त लेखकोसे शुरू-शुरूमें भूलोंका होना स्वाभाविक

है; परन्तु जब उनके लेख सुयोग्य सम्पादकोके द्वारा सुधार दिये जाते हैं तब उन्हें अपनी भूलोका ठीक पता चल जाता है, वे भविष्यमें फिर उस प्रकारकी भूलें नही करते और इस तरह सुन्दर लेखनके अभ्यासको बढाकर सुलेखक बन जाते हैं। इस प्रकार सुसम्पादकोके सम्पादनकालमे अनेक सुलेखकोकी सृष्टि हुआ करती है और उन्ही सुलेखकोमेसे फिर कोई-कोई सम्पादक पदकी योग्यताको धारण करनेवाले भी निकल आते हैं।

मुझे अपने जीवनमे जहाँ ऐसे कितने ही लेखकोका परिचय प्राप्त है, जिन्हे पहले ठीक लिखना भी नही आता था और जो सुसम्पादकोकी कृपासे अच्छे लेखक बन गये हैं, वहां ऐसे लेखको-का भी कम परिचय नही है, जिन्हे अच्छे सुयोग्य सम्पादकोका सहयोग न मिलनेसे अपने विषयमे कोई खास प्रगति प्राप्त नही हो सकी और इसलिये जिनपर यह कहावत बिल्कुल चरितार्थ होती है—'वही बस चाल बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है।' साथ ही ऐसे सम्पादकोका भी यथेष्ट परिचय है जो सम्पादनकला तथा सम्पादकीय ज़िम्मेदारीसे अनभिज्ञ हैं और सम्पादक बन बैठे हैं। ऐसे सम्पादकोके द्वारा लेखोका सुधार होना तो दूर रहा, कभी-कभी भारी बिगाड़ तक हो जाता है। कितने ही सम्पादक काव्य-विज्ञानसे अनजान होते हैं, कविताको छापनेका मोह भी संवरण नही कर सकते और अपने विषयसे सम्बन्ध न रखनेवाली वस्तुका दूसरोसे सम्पादन करा लेनेमें अपनी तौहीन अथवा कम्रेशान समझते हैं और इसलिये जब वे किसी हिन्दी-कवितामें 'छन्दवश प्रयुक्त हुए गती, जाती, पती, साधू, किरिया, बिन, मृत्यू जैसे शब्दरूपोको देखते हैं तो उन्हे सस्कृत व्याकरणादिकी दृष्टिसे अशुद्ध समझ लेते हैं और उनके स्थानपर गति, जाति, पति, साधु, क्रिया, बिना और मृत्यु ऐसे रूप बना डालते हैं और

एतावन्मात्र परिवर्तनसे समझ लेते हैं कि हमने कविताका संशोधन कर दिया ! परन्तु उन्हे यह खबर नही होती कि हमने कविताको उल्टा बिगाड दिया है—हमारे ऐसा करनेसे उसका वजन और छन्द ही भग हो गया है !! अनेक सम्पादक दूसरोके लेखो, विज्ञप्तियो तथा शर्तमय इनामी सूचनाओं तकका दो-चार पंक्तियोमें सिर्फ सार ही दे देते हैं और सारको ऐसे भद्दे ढंगसे तय्यार करते हैं कि कभी-कभी तो असलका मतलब ही खब्त हो जाता है अथवा कुछका कुछ समझ लिया जाता है। इसपर भी तुर्रा यह कि उस सारके नीचे लेखकादिका नाम रख देते हैं—यह सूचना करना तक अपना कर्तव्य नही समझते कि अमुक व्यक्तिका अमुक लेखादि हमारे पास आया है जिसका सार इस प्रकार है और इस तरह बिषय-निर्देश एव साहित्यादिकी अपनी जिम्मेदारीको मूल लेखकादिके ऊपर ही थोप देते हैं जो सरासर अन्याय है और जिससे कभी-कभी बड़ा ही अनर्थ संघटित हो जाता है—जनता उस लेखक अथवा उसकी कृतिको ठीक समझ ही नही पाती और भ्रममे पड़ जाती है।

कोई-कोई सम्पादक ऐसे भी अनुदार होते हैं जो लेखमे किसी व्यक्ति-विशेषके लिये प्रयुक्त हुए आदरके शब्दोको सहन नही कर सकते अथवा उसके परिचायक ब्रह्मचारी आदि टाइटिल तकको निकाल देते हैं और इस तरह अपने पाठकोंको भारी असमंजसमे पटक देते हैं; वे समझ ही नही पाते कि उस नामके कौनसे व्यक्तिको लक्ष्य करके यह बात कही गई है। और कुछ सम्पादक ऐसे भी देखनेमे आते हैं जो अच्छेसे अच्छे जँचे-तुले लेखादिमे भी यो ही दो-चार काट-छाँट किये बिना नही रहते—ऐसा किये बिना उनका सम्पादकत्व ही चरितार्थ नही होता। ऐसे जीव निस्सन्देह औंधी समझके कारण बड़े भयकर होते हैं और

वे अपनी वैसी कर्तूतसे उस लेखादिको असम्बद्ध, बेढंगा तथा बेमानी तक कर डालते हैं। शायद ऐसे लोगोको लक्ष्य करके ही कहा गया है कि—"प्रसादोऽपि भयंकर: ।"

सम्पादकोके इन दोषोके कारण ही अक्सर सुलेखकोको उनके पत्रोमे लेख देनेकी हिम्मत नही होती अथवा अपने लेखोके प्रकाशनार्थ उपयुक्त क्षेत्र न देखकर लेख लिखनेमें ही उनकी प्रवृत्ति नही होती और इस तरह समाज सुयोग्य लेखकोके लेखोका लाभ उठानेसे वंचित ही रह जाता है, यह बड़े ही खेदका विषय है ! अत: सम्पादको तथा लेखकोके इन दोषोको सुधारनेकी बड़ी ज़रूरत है और इसका मुख्य उपाय है 'समालोचना'। समालोचनाके अभावमे उनकी निरंकुशता बढ जाती है। वे अपनी लेखनी अथवा सम्पादकीको निर्दोष समझने लगते हैं और फिर उनका सुधार होना मुश्किल ही नही, किन्तु असंभव–जैसा हो जाता है। साथ ही सदोष साहित्यके प्रचारसे समाजके उत्थान एवं विकासमे बाधा भी पड़ती है—अगली सन्तति भी उन्ही दोषोका अनुसरण करने लगती है। इसलिये विद्वानोको सद्भावनाके साथ समालोचनाको ज़रूर अपनाना चाहिये। समय और शक्तिके होते हुए इस विषयमे व्यर्थकी उपेक्षा न करनी चाहिये। अस्तु।

इन्ही सब बातोको लेकर आज मैं उक्त 'पैसा' नामकी कविताको अपनी आलोचनाका विषय बनाते हुए उसकी मोटी-मोटी त्रुटियोका सामान्य रूपसे दिग्दर्शन कराता हूँ। कविताके पद्य और उनकी आलोचना इस प्रकार है—

कितना अहो ! आज ले आदर, आया जगमें पैसा !
कैसा अतुल अनूठा जादू, भरकर लाया पैसा !!
पैसा है तो मानव मानव, नहीं बना-बनाया रासभ।
भरी स्वर्णमें जो मादकता, क्या भर सकता आसव ? ॥१॥

इस पद्यके प्रथम दो चरणो तथा अन्तिम चरणसे और दूसरे पद्योके भी अनेक चरणोसे यह स्पष्ट है कि यह कविता २८ मात्राके छन्दमे रची गई है, जिसमे १६, १२ मात्रापर यति अथवा विराम है। परन्तु इस पद्यका तीसरा चरण ३१ मात्राको लिये हुए है। उसका 'बना बनाया' पाठ बहुत ही खटकता है। उसके स्थानपर 'बना है' अथवा 'समझलो' जैसा कोई पाठ होना चाहिये था।

पैसा बिना नीरस दुनिया है, ज्ञान ध्यान सब नीरस,
नीरस जीवन, नीरस तन मन, आन बान सब नीरस,
वर्णहीन धनपति सुखी सब, है अंटीमें पैसा,
कवि, कोविद और कलाकर सब भूखे विस्मय कैसा? ॥२॥

इसमे 'विन' की जगह 'बिना' और 'धनपती' की जगह 'धनपति' बना देनेसे मात्राकी कमी-बेशी होकर पदभंग हो गया है। साथ ही चौथे चरणमे 'और कलाकार सब' यह शब्द-विन्यास भद्दा जान पड़ता है। इसके स्थानपर 'औ कलाकार सब' ऐसा कुछ होना चाहिये था।

इस पैसेके पीछे होता, मानव सब कुछ खोकर।
जननी, जन्म भूमि, दारा तजकर दर-दर खाता ठोकर।
न होती धनदासता तो यह क्यों मिलता अपवाद?
परिभावास्पद शूली फिर क्यों देता जग जल्लाद?

इस पद्यके प्रथम चरणमे 'होता' पदका प्रयोग बे-मुहावरा है; क्योकि उसके साथमें 'क्या होता?' इस जिज्ञासाका कोई समाधान नही है, जिसका होना जरूरी था। इस पदके स्थानपर यदि 'पड़ता' जैसे पदका प्रयोग किया जाता तो ठीक होता। दूसरे चरणमें 'तज' के अनन्तर 'कर' शब्द अधिक है, जिससे पदभंग हो जाता है। तीसरे चरणका शब्द-विन्यास विलक्षण

है और उसका उच्चारण दूसरे किसी भी उच्चारणके साथ नहीं मिलता। साथ ही तीसरे-चौथे चरणोके उत्तरार्धोमें एक-एक मात्राकी कमी होनेसे छन्दोभंग स्पष्ट नज़र आता है।

पड़ा मुझे भी सब कुछ खोना पैसेके चक्करमें।
मान ज्ञान तज श्वान समान बन, डोला उफ़! घर-घर में।
हाय दीनता! तूने मुझको बता कहाँका छोड़ा?
माता छोड़ी, भ्राता छोड़ा, देश तथा घर छोड़ा?

इस पद्यके दूसरे चरणमे 'श्वान' के बाद 'समान' शब्दका कोई मेल नही—उससे एक मात्रा बढ़कर छंद ही बिगड़ जाता है। इसके स्थानपर 'सदृश' जैसा कोई शब्द रक्खा जाता तो अच्छा होता, साथ ही 'मे' के स्थानपर 'मैं' होना चाहिये था। जिससे कौन डोला यह स्पष्ट हो जाता। मुहावरेकी दृष्टिसे 'घर-घर' के साथ 'मे' निरर्थक है। चौथा चरण बड़ा ही विचित्र जान पडता है। उसके 'छोडा' 'छोड़ी' शब्दोका सम्बन्ध पूर्व चरणके साथ ठीक नही बैठता—न तो यही कहा जा सकता है कि कविने स्वेच्छासे ही अपनी माता आदिको छोड दिया है। तब यही कहना होगा कि दीनताने कविसे उन्हें छुड़वाया अथवा निर्धनताके चक्करमे पड़कर कविको धनोपार्जनके लिये बाहर जानेकी गर्जसे मजबूरन उन्हे छोड़ना पडा। ऐसी हालतमें चतुर्थ चरणका रूप "माता छूटी, भ्राता छूटा, देश तथा घर छूटा" ऐसा होना चाहिये था और उसके आगे प्रश्नाङ्क (?) न लगाकर खेदका चिह्न (!) लगाना चाहिये था।

धोबीके कुत्ते सी मेरी हाय! गति कर डाली।
घरका रखा न घाटका छोड़ा, हाय! अन्तमें खाली।
मृत्यु अच्छी इस जीवनसे, यह भी क्या जीवन है?
ठुकराया जाय जनका तन, कैसा निर्लज्जपन है?

यहाँ पहले चरणमें 'गति' की जगह या तो 'गती' होना चाहिये था और या 'कुगति' अन्यथा एक मात्रा कम होकर छंद-भग होता है। दूसरे चरणमे 'न घाटका छोड़ा' इस शब्द-प्रयोग-से एक मात्रा बढ़ जाती है। इसके स्थानमे 'रखा न घाटका' होता तो ज्यादा अच्छा रहता। साथ ही 'अन्तमें खाली' यह वाक्यप्रयोग भी कुछ बेमानी-सा जान पड़ता है और सुन्दर मालूम नही होता। इससे अच्छा इसके स्थानपर 'हाय! अन्त बदहाली' बना दिया जाता अथवा 'हुई अन्त बदहाली' ऐसा कुछ रख दिया जाता तो ठीक होता। तीसरे चरणमें 'मृत्यु' पद बाधित है। वह छन्दःशास्त्रकी दृष्टिसे या तो 'मृत्यू' होना चाहिये था अथवा उसे निकालकर उसके स्थानपर 'मरना' बना देना चाहिये था और साथ ही 'अच्छी' को 'अच्छा' में परि-वर्तित कर देना चाहिये था। इस पद्यका भी चौथा चरण कुछ कम विचित्र नही है। इसके पूर्वार्धमें १५ और उत्तरार्धमे १३ मात्राएँ हैं। एक अर्धमेंसे एक मात्राको घटाने रूप और दूसरे अर्धमे बढ़ाने रूपसे संशोधन करना चाहिये था, जो नहीं किया गया। इससे छन्द भंग हो रहा है। साथ ही 'ठुकराया जाय जनका तन' यह मुहावरा भी कुछ अच्छा मालूम नहीं होता। इसके स्थानपर 'ठुकराया जावे नरतन यह' ऐसा ही यदि रख दिया जाता और 'निर्लज्जपन' को 'निर्लजपन' में बदल दिया जाता तो छन्दोभंगादिका यह सारा दोष मिट जाता।

लेलो पीछा भगवन् अपना यह झगड़ालू जीवन।
नहीं चाहिये, तंग आ चुका, देख जगतकी उलझन॥

कविताका यह अन्तिम पद्य आधा पद्य है। इसमें 'पीछा' शब्द बहुत खटकता है—व्यावहारिक दृष्टिसे वह कुछ बेमुहावरा-सा भी जान पड़ता है। इसके स्थानपर यदि 'वापिस' शब्द रख

दिया जाता तो ज्यादा अच्छा होता। कविजीने जब अपनी कवितामें दर-दर, उफ़ और जल्लाद जैसे अरबीके शब्दोंका प्रयोग किया है तब उनके लिये 'वापिस' शब्दका प्रयोग कोई अनुचित भी न होता अथवा 'लौटा लो हे भगवन्! अपना' ऐसा रूप ही प्रथम चरणके पूर्वार्धको दे दिया जाता। मालूम नही, कौनसे भगवानको सम्बोधन करके यह वाक्य कहा गया है! जैनियोंके भगवान तो ऐसे नही जो किसीको झगडालू जीवन प्रदान करते हों और जिनसे उसको वापिस ले लेनेकी प्रार्थना की जाय। इस दृष्टि-से यह वाक्य जैनकी स्पिरिटसे भी कुछ गिरा हुआ जान पडता है।

एक छोटी-सी कवितामें इतनी अधिक त्रुटियोको देखकर—जिन सबको प्रेसकी आकस्मिक भूल नही कहा जा सकता—कहना पड़ता है कि पत्रका प्रकाशन संचालकोकी प्रतिष्ठाके अनु-रूप नही हो रहा है। आशा है, संचालक-समिति इस ओर सविशेष रूपमे ध्यान देगी और ऐसा सुयोग्य प्रबन्ध करेगी जिससे भविष्यमे इस प्रकारकी त्रुटियाँ देखनेको न मिलें। साथ ही सम्पादकजी विशेष सावधानीको अपनाते हुए यह प्रकट करनेकी कृपा करेंगे कि उक्त कविता क्या उनके पास इसी रूपमें आई थी और उन्हे उसके सशोधनका अवसर नही मिल सका या उन्होने उसे सदोष एवं त्रुटिपूर्ण ही नही समझा? अथवा कविता-का अमुक रूप था और यह संशोधित रूप उनके द्वारा ही प्रस्तुत किया गया है? जिससे उनके पाठकोंका तद्विषयक भ्रम दूर हो सके[1]।

नोट—प्रसन्नताका विषय है कि इस लेखको पढ़कर सम्पादकजीने अपनेको बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण समझा है और पत्र—द्वारा सम्पादन-सम्बन्धी अपनी भूलको स्वीकार किया है।

---

१. जैनसन्देश, ता० १७ मार्च १९३८।

भट्टारकोय मनोवृत्तिका नमूना : ८ :

जिस समय भट्टारकोका स्वेच्छाचार बहुत बढ़ गया था—उनके आचार-विचार शास्त्र-मर्यादाका उल्लंघन करके यथेच्छ रूप धारण कर रहे थे और उनकी निरंकुश, दूषित एवं अवांछनीय प्रवृत्तियोसे जैन जनता कराह उठी थी और बहुत कुछ कष्ट तथा पीड़ाका अनुभव करती करती ऊब गई थी, उस समय कुछ विवेकी महान पुरुषोने भट्टारकोके चंगुलसे अपना पिंड छुडाने, भविष्यमें उनकी कुत्सित प्रवृत्तियोंका शिकार न बनने, उनके द्वारा किये जानेवाले नित्यके निरस्कारो-अपमानो तथा अनुचित कर-विधानोसे बचने और शास्त्रविहित प्राचीन मार्ग-से धर्मका ठीक अनुष्ठान एव आचरण करनेके लिये दिगम्बर तेरह पन्थ सम्प्रदायको जन्म दिया था, और इस तरह साहसके साथ भट्टारकीय जुएको अपनी गर्दनोपरसे उतार फेंका था तथा धर्मके मामलेमे भट्टारकोपर निर्भर न रह कर—उन्हें ठीक अर्थमे गुरु न मानकर—विवेकपूर्वक स्वावलम्बनके प्रशस्त मार्गको अपनाया था। इसके लिये भट्टारकोकी शास्त्रसभामें जाना, उनसे धर्मकी व्यवस्था लेना आदि कार्य बन्द किये गये थे। साथ ही, संस्कृत-प्राकृतके मूल धर्म-ग्रन्थोंको हिन्दी आदि भाषाओमे अनुवादित करके—उनपर टीकाएँ लिखकर—उन्हें सर्वत्र प्रचारित करनेका बीड़ा उठाया गया था, जिससे गृहस्थ जन धर्म एवं तत्त्वज्ञानके विषयको स्वयं समझकर ठीक आचरण करें और उसके लिये गृहस्थोसे गये-बीते मठाधीश और महापरि-ग्रही भट्टारकोके मुखापेक्षी न रहें। इसका नतीजा बडा सुन्दर निकला—गृहस्थोंमें विवेक जागृत हो उठा, धर्मका जोश फैल

गया, गृहस्थ विद्वानो-द्वारा शास्त्र-सभाएँ होने लगी; भट्टारकों-की शास्त्र-सभाएँ फीकी पड़ गई, स्वतन्त्र पाठशालाओं-द्वारा बच्चोंकी धार्मिक शिक्षाका प्रारम्भ हुआ और जैन-मन्दिरोंमें सर्वत्र शास्त्रोके सग्रह, स्वाध्याय तथा नित्य-वाचनकी परिपाटी चली। और इन सबके फलस्वरूप श्रावकजन धर्मकर्ममे पहलेसे अधिक सावधान हो गये—वे नित्य स्वाध्याय, देवदर्शन, शास्त्र-श्रवण, शील-संयमके पालन तथा जप-तपके अनुष्ठानमें पूरी दिलचस्पी लेने लगे और शास्त्रोको लिखा-लिखाकर मन्दिरोमें विराजमान किया जाने लगा। इन सब बातोमे स्त्रियोने पुरुषो-का पूरा साथ दिया और अधिक तत्परतासे काम किया, जिससे तेरह पंथको उत्तरोत्तर सफलताकी प्राप्ति हुई और वह मूल जैन आम्नायका संरक्षक बना।

यह सब देखकर धर्मासनसे च्युत हुए भट्टारक लोग बहुत कुढते थे और उन तेरह पन्थमे रात-दिन रत रहनेवाले श्रावको पर दूषित मनोवृत्तिको लिये हुए वचन-बाणोका प्रहार करते थे—उन्हे निष्ठुर कहते थे, काठिया (धर्मकी हानि करनेवाले) बतलाते थे और 'गुरु-विवेकसे शून्य' घोषित करते थे। साथ ही, उनके जप-तप और शील-सयमादिरूप धर्माचरणको निष्फल ठहराते थे और यहाँ तक कहनेकी धृष्टता करते थे कि तेरह पथी वनिक पुत्रकी उत्पत्ति पर देवतागण रौरव नरकका अथवा घोर दुःखका अनुभव करते हैं, जबकि पुत्रकी उत्पत्ति पर सारा जगत हर्ष मनाता है। इसके सिवाय, वे पतितात्मा उन धर्मप्राण एवं शील-संयमादिसे विभूषित स्त्रियोको, जो धर्मके विषयमे अपने पुरुषोंका पूरा अनुसरण करती थी और नित्य मन्दिरजीमें जाती थी; किन्तु भट्टारक गुरुके मुखसे शास्त्र नहीं सुनती थी, 'वेश्या' बतलाते थे। उन पर व्यंग्य कसते थे कि वे प्रति दिन जिनालय

(जैनमन्दिर)को इस तरह चली जाती हैं जिस तरह कि राजा-के घर वारांगना (रण्डी) जाती है !!

हालमे इस भट्टारकीय मनोवृत्तिके परिचायक तीन पद्य मुझे एक गुटके परसे उपलब्ध हुए हैं, जो गत भादों मासमें श्री वैद्य कन्हैयालाल जी कानपुरके पाससे मुझे देखनेको मिला था और जिसे सिवनीका बतलाया गया है। यह गुटका २०० वर्षसे ऊपरका लिखा हुआ है। इसमे संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओके अनेक वैद्यक, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र और जंत्र-मंत्र-तंत्रादि-विषयक ग्रन्थ तथा पाठ हैं। अस्तु; उक्त तीनों पद्य नीचे दिये जाते हैं, जो संस्कृत-हिन्दी–मिश्रित खिचड़ी भाषामे लिखे गये हैं और बहुत कुछ अशुद्ध पाये जाते हैं। इनके ऊपर "हृदे (दय) बोध-ग्रन्थ कथनीय !" लिखा है। संभव है 'हृदय बोध' नामका कोई और ग्रंथ हो, जिसे वास्तवमे 'हृदय-वेध' कहना चाहिये और वह ऐसे ही दूषित मनोवृत्तिवाले पद्योसे भरा हो और ये पद्य (जिनमे ब्रैकिटका पाठ अपना है) उसीके अश हो—

"सूत उत्पत्यं (सुतोत्पत्तौ) जगत्सर्वं हर्षमानं प्रजायतेः (ते)
तेरापंथी वन्क (वनिक) पुत्रं (त्रे) रौरवं देवतागणाः ॥ १ ॥

त्रिदश १३ पंथरतौ (ता) निशिवासराः।
गुरुविवेक न जानति निष्ठुराः
जप-तपे कुरुते बहु निष्फलां (ला)
किमपि ये व (?) जनासम काठया ॥ २ ॥
पुर्ष (रुष) रीत लषै निजकामिनी।
प्रतिदिनं चलिजात जी (जि) नालये।
गुरुमुखं नहि धर्मकथा श्रुणं
नृपगृहे जिम जाति वरांगना ॥ ३ ॥

इन विषबुझे वाग्वाणोंसे जिनका हृदय व्यथित एवं विचलित नही हुआ और जो बराबर अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहे वे स्त्री-पुरुष धन्य हैं; और यह सब उन्हींकी तपस्या, एक-निष्ठा एव कर्तव्य-परायणताका फल है जो पिछले जमानेमे भी धर्मका कुछ प्रकाश फैल सका और विश्वको जैनधर्म एवं तत्त्व-ज्ञान–विषयक साहित्यका ठीक परिचय मिल सका। अन्यथा उस भट्टारकीय अन्धकारके प्रसारमे सब कुछ विलीन हो जाता[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष ८, कि० ६–७, दिसम्बर १९४६

डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल : ६ :

डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी एम० ए०, पी-एच० डी० ने कविराज स्वयम्भूदेवके 'पउमचरिउ' नामक प्रमुख अपभ्रंश ग्रन्थका सम्पादन किया है, जिसके दो भाग सिघी जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम भाग (विद्याधर काण्ड) के साथ आपकी १२० पृष्ठकी अग्रेजी प्रस्तावना लगी हुई है जो अच्छे परिश्रमसे लिखी गई तथा महत्वकी जान पड़ती है और उस पर बम्बई युनिवर्सिटीसे आपको डाक्टरेट (पी-एच० डी०) की उपाधि भी प्राप्त हुई है। यह प्रस्तावना अभी पूरी तौरसे अपने देखने तथा परिचयमे नही आयी। हालमें कलकत्ताके श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैनने प्रस्तावनाका कुछ अंश अवलोकन कर उसके एक वाक्यकी ओर अपना ध्यान आर्कषित किया, जो इस प्रकार है :—

'Marudevi saw a series of fourteen dreams'

यह वाक्य ग्रन्थकी प्रथम सन्धिके परिचयसे सम्बन्ध रखता है। इसमे बतलाया गया है कि 'मरुदेवीने चौदह स्वप्न देखे'। चौदह स्वप्नोंकी मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदायकी है, जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय सोलह स्वप्नोंका देखा जाना मानता है और ग्रन्थकार स्वयम्भूदेव दिगम्बराम्नायके विद्वान हैं। अतः बाबू श्री छोटेलालजीको उक्त परिचयवाक्य खटका और उन्होने यह जानने की इच्छा व्यक्त की कि 'क्या मूल ग्रन्थमें ऋषभदेवकी माता मरुदेवीके चौदह स्वप्नोके देखनेका ही उल्लेख है।' तदनुसार मूल ग्रन्थको देखा गया तो उसके १५ वें कडवक की

आठ पंक्तियोंमें मरुदेवीकी जिस स्वप्नावलीका उल्लेख है उसमें साफ तौरपर, प्रति पंक्ति दो स्वप्नोके हिसाबसे सोलह स्वप्नोके नाम दिये हैं। कडवककी वे पक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

दीसइ मयगलु मय-गिल्ल-गंडु, दीसइ वसहुक्खय-कमल-संडु।
दीसइ पंचमुहु पईहरच्छि, दीसइ णव-कमलारूढ-लच्छि॥
दीसइ गंधुक्कड-कुसुम-दामु, दीसइ छण-यंदु मणोहिरामु।
दीसइ दिणयर कर-पज्जलन्तु, दीसइ झस-जुयलु परिब्भमंतु॥
दीसइ जल-मंगल-कलसु वण्णु, दीसइ कमलायरु कमल-छण्णु
दीसइ जलणिहि गज्जिय-जलोहु, दीसइ सिंहासणु दिण्ण-सोहु
दीसइ विमाणु घण्टालि-मुहलु दीसइ णागालउ सव्वु धवलु।
दीसइ मणि-णियरु परिप्फुरन्तु, दीसइ धूमद्धउ धग-धगन्तु॥

इनमे जिन सोलह स्वप्नोके देखनेका उल्लेख हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. मद झरता हुआ हाथी, २. कमलवनको उखाड़ता हुआ वृषभ, ३ विशालनेत्र सिंह, ४. नवकमलारूढ़ लक्ष्मी, ५ उत्कट गन्धवाली पुष्पमाला, ६ मनोहर पूर्णचन्द्र, ७ किरणोसे प्रदीप्त सूर्य, ८ परिभ्रमण करता हुआ मीन-युगल, ९. जल-पूरित मगल-कलश, १० कमलाच्छादित पद्म-सरोवर, ११. गर्जना करता हुआ समुद्र, १२. दिव्यसिंहासन, १३. घण्टालियोसे मुखरित विमान, १४. सब ओरसे धवल नाग-भवन, १५. देदीप्यमान रत्न-समूह, १६. धधकती हुई अग्नि।

इतने स्पष्ट उल्लेखके होते हुए भी डा० भायाणी जैसे डिग्री-प्राप्त विद्वानने अपने पाठकोको वस्तु-स्थितिके विरुद्ध चौदह स्वप्न देखने की अन्यथा बात क्यो बतलाई, यह कुछ समझमे नही आता! मालूम नहीं इसमे उनका क्या रहस्य है? क्या इसके द्वारा वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि इस विषयमे ग्रन्थकार श्वेताम्बर मान्यताका अनुयायी था? यदि ऐसा है तो यह ग्रन्थकारके प्रति ही नही, बल्कि अपने अंग्रेजी पाठकोके

प्रति भी भारी अन्याय है जिन्हें सत्यसे वंचित रखकर गुमराह करनेकी चेष्टा की गई है। खेद है डा० साहबके गुरु आचार्य जिनविजयजीने भी, जो कि सिंघी जैनग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक हैं और जिनकी खास प्रेरणाको पाकर ही प्रस्तावनात्मक निबन्ध लिखा गया है, इस बहुत मोटी गलती पर कोई ध्यान नही दिया। इसीसे वह उनके अंग्रेजी प्राक्कथन (Foreword) मे प्रकट नही की गई। और न शुद्धिपत्रमें ही उसे अन्य अशुद्धियोके साथ दर्शाया गया है। ऐसी स्थितिमें इसे संस्कारोंके वश होनेवाली भारी भूल समझी जाय या जानबूझ कर की गई गलती माना जाय? मैं तो यही कहूँगा कि यह डा० साहबकी संस्कारोके वश होनेवाली भूल है। ऐसी भूलें कभी कभी भारी अनर्थ कर जाती हैं। अत: भविष्यमे उन्हें ऐसी भूलोंके प्रति बहुत सावधानी बर्तनी चाहिए और जितना भी शीघ्र हो सके इस भूलका प्रतिकार कर देना चाहिए। साथ ही ग्रन्थमालाके संचालकजीको ग्रन्थकी अप्रकाशित प्रतियोमें इसके सुधारकी अविलम्ब योजना करनी चाहिये। आशा है, ग्रन्थ-सम्पादक उक्त डा० साहब और संचालक आ० जिनविजयजी इस ओर शीघ्र ध्यान देनेकी कृपा करेंगे[1]।

नोट :—प्रसन्नताका विषय है कि 'अनेकान्तमें' इस लेखको पढ़कर डा० साहबने अपनी भूल स्वीकार की और उसके संशोधन का आश्वासन दिया है।

---

१. अनेकान्त वर्ष १३, कि० १, जुलाई १९५४

समाजका वातावरण दूषित : १० :

आजकल कानजीस्वामीकी चर्चाको लेकर जैनसमाजका वातारण बहुत-कुछ दूषित जान पड़ता है, जिसका एक ताजा उदाहरण पत्रोमे प्रकाशित इन्दौर जैनसमाजकी समस्त गोठोके एक-एक व्यक्तिके हस्ताक्षरसे दिया गया वह वक्तव्य है जो कहीं अपीलके रूपमे और कही घोषणाके रूपमे प्रकट हुआ। समझमें नही आता कि कानजीस्वामीने ऐसा कौनसा अक्षम्य अपराध किया है जिसके कारण कुछ विद्वान् उनके पीछे ऐसे हाथ धोकर पड़े हैं कि उन्होने सभ्यता और शिष्टताको भी गँवा दिया है, व्यक्तिगत आक्षेपो तथा व्यङ्गोपर उतर आये हैं, अनेकान्त सिद्धान्तको, जो कि विरोधका मथन करनेवाला है, भुलाकर उसकी ओर पीठ दिये हुए हैं, और अपने विरोधकी धुनमे जाने-अनजाने कभी-कभी जिनवाणीके प्रति भी अवज्ञात्मक मूडको अपना लेते हैं। जहाँ तक मैंने कानजी स्वामीका उनके भाषणो तथा प्रवचन-लेखोंसे अनुभव किया है मुझे उनमें मुख्यतः एक ही दोष जान पड़ा है और वह है भाषण करते अथवा उपदेश देते हुए नय-विवक्षाको छोड़कर प्रायः एकान्तकी तरफ ढल जाना, जिसे मैंने आजसे कोई ११ वर्ष पहले अपने उस लेखमें कुछ विस्तारके साथ व्यक्त किया था, जो कानजीस्वामीके 'जिनशासन' नामक प्रवचन-लेखके प्रतिवादकरूपमें लिखा गया था[1]। परन्तु इस

---

१. देखो, 'समयसारकी १५वीं गाथा और कानजीस्वामी' नामक लेख, अनेकान्त वर्ष १२ किरण, ८ (जनवरी १९५४) पृष्ठ २६८, २६९ (यह पूरा लेख खासतौरसे पढ़ने तथा प्रचार किये जानेके योग्य है, जिसे अब 'कानजीस्वामी और जिनशासन' नाम दिया जाकर 'युगवीर-निबन्धावली'के द्वितीय खण्डमें प्रकाशित किया जा रहा है।)

दोषके कारण वे सर्वथा त्याज्य एवं उपेक्षणीय नही होजाते, जबकि वे अपने व्यवहारमें अनेकान्तको अपनाये हुए हैं—उसे छोड़ नहीं रहे हैं। उन्होने कितने ही जैनो तथा सच्चे जैनधर्मसे विमुखोको जैनधर्मके सम्मुख किया है, कितने ही दिगम्बर जैन-मन्दिरो तथा मूर्तियोंका निर्माण कराया है और बहुतोमे धर्म-विषयको समझानेके लिए एक प्रकारकी जिज्ञासा तथा जागृति उत्पन्न की है। उनके इस उपकार को भुलाया नही जा सकता। सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमे ठीक लिखा है कि एक दोषके कारण कोई तत्त्वज्ञ मनुष्य (विद्वान्) त्याज्य कैसे हो सकता है ? नही हो सकता और नहीं होना चाहिये :—

एक दोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः।

श्रीकानजी स्वामीकी सस्था दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर-ट्रस्ट सोनगढ़से प्रकाशित होनेवाले समयसार-प्रवचनसारादि ग्रन्थोके अनुवादो-टीकाओमे कुछ त्रुटियोका होना सम्भव है, परन्तु उनके कारण उन समूचे ग्रन्थोके पढनेका निषेध किया जाना अथवा बहिष्कार किया जाना किसी तरह भी उचित नही कहा जा सकता। इससे एक प्रकार जिनवाणीकी अवज्ञा तथा उन महान् ग्रन्थोकी भी अवगणना हो जाती है जो हमारे मान्य एवं पूज्य हैं। साथ ही समाजका वातावरण भी क्षुभित हो उठता है। प्रत्येक विद्वान् अपनेको प्राप्त ज्ञान एवं दृष्टिकोणके अनुसार ही किसी ग्रन्थका अनुवादादि कार्य करता है, क्षयोपशमादिके दोषसे उसमे कही कुछ विपर्यास अथवा अन्यथा कथन भी बन जाता है, इतने मात्रसे वह ग्रन्थ सर्वथा त्याज्य नही हो जाता। यदि ऐसा होता तो बहुतसे टीकादि ग्रंथ ही नहीं, किन्तु मूलग्रन्थ भी त्याज्य ठहरते, जो एक-दूसरेके विरुद्ध कथनको लिये हुए हैं; परन्तु ऐसा

आज तक नही हुआ, शास्त्र-भण्डारोंमें सभी प्रकारके ग्रन्थ पाये जाते हैं और वे सभीके पढने-सुननेमे आते हैं। अतः बहिष्कारका यह तरीका ठीक नही है—यह तो दूसरोके विचारोंपर अंकुश लगाना अथवा अपने विचारोको बिना किसी युक्तिके उनपर लादना कहा जा सकता है। समुचित तरीका यह है कि सोन-गढसे प्रकाशित साहित्यमे जहां कही भी आगम तथा युक्तिके विरुद्ध कथन हो उसे प्रेमपूर्वक युक्तिपुरस्सर-ढंगसे स्पष्ट करके बतलाया जाय और उसका खूब प्रचार तथा प्रसार किया जाय। इससे त्रुटियो एव मूल-भ्रांतियोका सहज सुधार हो सकेगा और समाजका वातावरण दूषित नही होने पायेगा।

इन्दौरके जिन ६ सज्जनोने उक्त वक्तव्य अथवा घोषणादि-पर सही की है वे सब अपनी गोठका पूर्णतः प्रतिनिधित्व करते हैं और उसी गोठमे दूसरा कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जो कानजी स्वामीकी किसी भी बातसे कोई विरोध न रखता हो, ऐसा वक्तव्यसे कुछ मालूम नही होता। उसमे दूसरे व्यक्तियोके लिए 'विघ्नसंतोषी' जैसे शब्दोका प्रयोगकर उनपर व्यंग कसा गया है, जबकि दूसरोके व्यंगात्मक-शब्दोकी शिकायत की जाती है। विरोधमें भाग लेनेवाले कुछ विद्वानो तथा त्यागियोपर बिना किसी प्रमाणके यह भी आरोप लगाया गया है कि वे "वस्तु-तत्त्वके गूढ़तम भावपर न पहुँचते हुए कषायान्वित होकर ऐसी प्रक्रियाको बल देते हैं और अनर्गल बातें समाचार-पत्रोमे छपवाकर समाजमे अशान्ति एवं कलह पैदा करते हैं।" इस प्रकारका आरोप तथा वचन-व्यवहार भी शान्तिके इच्छुकोंके लिए उचित मालूम नही होता और इस तरह उक्त वक्तव्यकी स्थिति भी प्रायः दूसरोके उन हैंड-बिलो जैसी ही हो जाती है जिनपर वक्तव्यमे आपत्ति की गई है। इसीसे अशांति दूर होनेमें

नहीं आती और समाज-का वातावरण उत्तरोत्तर दूषित होता चला जाता है। उक्त वक्तव्यमे यह भी कहा गया है कि "पूज्य कानजीस्वामीके प्रवचनोसे समस्त दिगम्बर जैनसमाजको महान् अवर्णनीय लाभ हुआ है।" यदि यह ठीक है तो फिर लाभान्वित होनेवालोकी तरफसे विरोध क्यों? और इन्दौरमे ही "कतिपय पुरुष" उनके विरोधी क्यों? जो उन्ही गाठोमेसे होगे जिनके प्रतिनिधि बनकर एक-एक सज्जनने वक्तव्यपर अपने हस्ताक्षर किये हैं। विरोध तो 'महान् अवर्णनीय लाभ" की मान्यताका सूचक नही, प्रत्युत इसके किसी भारी अलाभके होनेका द्योतक है। उक्त वाक्यके द्वारा अपनी मान्यताको बिना किसी युक्तिके दूसरोपर लादनेका प्रयत्न भी किया गया जान पड़ता है।

एक बार कानजी स्वामीने किसी आवेशादिके वश होकर ऐसा कह दिया था कि—'पुण्य तो विष्ठाके समान है।' उनके इस कथनसे समाजमे बहुत बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ था, जो अभी तक चला जाता है। और वह उनके प्रति एक प्रकारसे बहुतोकी अश्रद्धाका कारण बना है, क्योकि उसके द्वारा अन्य कार्यों के प्रति घृणा ही उत्पन्न नही की गई, बल्कि एक प्रकारसे पुण्यका भोग करने वालोंको विष्ठा-भोजी भी बतला दिया है। इसमें सन्देह नही कि उक्त घृणित-वाक्य सभ्यता और शिष्टतासे गिरा हुआ है और एक सत्पुरुषके मुँहसे उसका निकलना शोभा नहीं देता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे **"पुण्णफला अरहंता"** वाक्यके द्वारा अरहन्तोको जिस पुण्यका फल बतलाते हैं और श्लोकवार्तिकमें श्री विद्यानन्दाचार्यने **"सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्"** वाक्यके द्वारा जिस पुण्यसे तीन लोकका आधिपत्य (परमेश्वरत्व) प्राप्त होता है उसे 'सर्वोत्कृष्ट'

बतलाया है, ऐसे हितकारी पुण्यको भी कानजीस्वामी का विष्ठा अथवा विष्ठाके समान बतलाना बहुत ही अखरनेवाली बात है, नासमझीका परिणाम है और सातिशय-पुण्यके फलको भोगनेवाले अरहन्तो तकका एक प्रकारसे अपमान है। यदि कानजीस्वामी उसी समय अपनी भूलको सुधार लेते तो समाजका वातावरण अशान्त होनेसे बच जाता और उनके स्वयके गौरवकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती, परन्तु उन्होंने व्यर्थकी हठ पकड़ी; जो मुँहसे निकल गया उसे पुष्ट करने लगे, इससे समाजका वातावरण उत्तरोत्तर बिगड़ता चला गया, पक्षाऽपक्षी तथा पार्टीबन्दियाँ शुरू हो गई और उनसे कषायोको प्रबल होनेका अवसर मिला है।

सोचने तथा समझनेकी बात है कि जिस पुण्यको कानजी स्वामी विष्ठा बतलाते हैं उस पुण्यका स्वयं उपभोग कर रहे हैं—उसे त्यागकर जगलोमे निर्भय निराहार निर्वस्त्र और कष्ट-सहिष्णु होकर रहनेके लिये तैयार नही। यदि वे वस्तुत: पुण्यको विष्ठा समझकर छोड़ देवें पुण्य-प्रभव सारी सुख-सुविधाओका परित्याग कर देवे अथवा पुण्य रुष्ट होकर उनके पाससे चला जावे तब उनकी कैसी कुछ गति-स्थिति बनेगी इसे सहज ही समझा जा सकता है। उन्हें तब एक दीन-दुखी दरिद्रीका जीवन व्यतीत करनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा और उनकी वर्तमान सब शुभ-प्रवृत्तियाँ प्राय: समाप्त हो जाएँगी।

यदि कोई मनुष्य यह चाहता है कि मेरे शरीरमे सदा सुख-साता बनी रहे, रोगादिकका कोई उपद्रव न होने पावे, सब अंग-उपाग ठीक तथा कार्यक्षम रहा करे, खाने-पीनेको रुचिकर भोजन तथा दुग्धादि पुष्टिकर पदार्थ यथेष्ट मात्रामें मिलें, पहननेके लिए अच्छे साफ-सुथरे वस्त्र तथा रहनेके लिए सुन्दर अनुकूल निवास-स्थानकी प्राप्ति होवे और यात्रादिके लिए मोटरकी सुव्यवस्था

रहे, तो कहना होगा कि वह पुण्यका भिखारी है; क्योंकि यह सब सुख-सामग्री पुण्यके उदयसे मिलती है। कानजीस्वामी भी यह सब कुछ चाहते हैं अतः वे भी पुण्यके भिखारी हैं। जो पुण्यका भिखारी हो वह पुण्यके तिरस्कारका अधिकारी नही। पुण्यका भिखारी होते हुए भी जो कोई पुण्यके तिरस्कारका ऐसा गन्दा वचन मुँहसे निकलता है वह उसके सही होश-हवास अथवा पूर्णत. सावधानीकी हालतमें मुखसे निकला हुआ नही कहा जा सकता और इसीलिए उसे कोई खास महत्व नहीं दिया जा सकता।

सासारिक सुख-सुविधाओको जन्म देनेवाली सातावेदनीय आदि पुण्य-प्रकृतियाँ चार अघातिया कर्मोकी शुभ प्रकृतियाँ हैं। अघातिया कर्मोका आत्मासे पूर्णतः पृथक्करण चौदहवें गुणस्थानमे जाकर होता है, उससे पहले नही बनता। कानजो स्वामी अपनेको चौथे गुणस्थानमे स्थित अविरत-सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं, तब उनका पुण्यको विष्ठाके समान बतलाकर उसके त्यागकी प्रेरणा करना और स्वयं पुण्यके साथ चिपटे रहना कोरी विडम्बना तथा अनधिकार चेष्टाके सिवाय और कुछ नही हैं। यदि पुण्यको सर्वथा हेय माना जाय तो अनादि-कर्मबद्ध आत्माको कभी अपने शुद्ध-स्वरूपकी उपलब्धि अथवा मुक्तिको प्राप्ति नही हो सकती। पुण्य-भूमिमे खड़े होकर ही शुद्धताकी ओर बढ़ा जा सकता है।

जैन तीर्थंकरोने निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्गके दो भेद किये हैं, निश्चयको साध्यकोटिमें और व्यवहारको साधनकोटिमें रखा है जैसे कि कानजीस्वामीके श्रद्धा-भाजन अमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्य से प्रकट है :—

निश्चय-व्यवहराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥

—तत्त्वार्थसार

यहाँ एकको साध्य और दूसरेको साधन बतलाना दोनों मार्गोंकी परस्पर मित्रताका द्योतक है—दोनोंकी सर्वथा एक दूसरेसे भिन्नता-शत्रुताका सूचक नही। निश्चय-नय व्यवहारके बिना पगु है—लॅगड़ा है, एक कदम भी चल नही सकता, अपने अस्तित्वको भी व्यक्त नही कर सकता, उसके लिए उसे शब्दोका सहारा लेना पडता है, जो कि व्यवहारका ही एक प्रकार है। और व्यवहार-नय निश्चयके बिना दृष्टि-विहीन है—अंधा है, उसे यथार्थ कुछ सूझ नही पड़ता और इसलिये वह लक्ष्य-भ्रष्ट बना रहता है। लंगड़ा यदि अंधेके साथ सहयोग करके उसके कन्धे पर चढ़ता है और उसे चलनेमें सहायक दृष्टि प्रदान करता है तो दोनो उस गहन-वनसे बाहर निकल आते हैं जहाँ दावानल खेल रहा हो। और इस तरह दोंनों एक-दूसरेके प्राण-रक्षक बन सकते हैं।

जो एकान्त निश्चय (द्रव्यार्थिक) नयके पक्षपाती हैं, उसीको वस्तु (भूतार्थ) समझते हैं और प्रतिपक्ष (व्यवहार) को अवस्तु (अभूतार्थ) बतलाते हुए उससे द्वेष रखते हैं, वे जैनागमकी दृष्टि मे मिथ्यादृष्टि (एकान्ती) हैं। इसी तरह जो एकान्त व्यवहार (पर्यायार्थिक) नयके पक्षपाती हैं; स्वपक्ष-प्रतिबद्ध हैं, उसीको वस्तु (भूतार्थ) मानते हैं और प्रतिपक्ष (निश्चय) को अवस्तु (अभूतार्थ) प्रतिपादन करते हुए उससे द्वेष रखते हैं, वे भी जैनागमकी दृष्टिमें मिथ्यादृष्टि (एकान्तो) हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने निरपेक्षनयोंको मिथ्या और

सापेक्ष नयोंको सम्यक् (वस्तुभूत) बतलाया है'। ऐसी स्थिति में किसी भी एक नयके पक्षपात (एकान्त)को छोड़कर जैनागमके अनुसार हमें सदा सापेक्षदृष्टिसे उभयनयके विषयको अपनाते हुए सम्यग्दृष्टि अनेकान्ती बनाना चाहिये। ऐसा होने पर तात्त्विक विरोधके लिये कोई स्थान नही रहेगा और समाजका जो वातावरण अनेकान्तकी अवहेलनाके कारण दूषित हो रहा है वह सुधर जायेगा।

अन्तमें मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि कानजी स्वामीसे, किसी-किसी विषयमें मतभेद रखते हुए भी, मेरा उनके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं हैं—मैं उनके व्यक्तित्वको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। और इसलिये मेरा उनसे सादर निवेदन है कि वे अहंकारका परित्याग कर अब भी अपनी भूल स्वीकार करनेकी उदारता दिखलाएँ और पुण्यको विष्ठा बतलाने रूप जो गर्हित वचन किसी समय उनके मुँहसे निकल गया है उसे वापिस लेनेकी कृपा करें। इसमें उनका गौरव है, सौजन्य है और समाजका हित सन्निहित। साथ ही समाजके विपक्षी विद्वानो तथा अन्य सज्जनोंसे भी मेरा नम्र निवेदन है कि यदि कानजी स्वामी अपनी भूल स्वीकार नहीं करते, मिथ्या आग्रह

१. (क) दव्वट्ठिय-वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जवत्थ अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥ १० ॥
तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥
—सन्मतिसूत्रे सिद्धसेनः

(ख) निरपेक्षा नया मिथ्या· सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।
स्वयम्भू-स्तोत्र

नहीं छोड़ते और न उक्त गर्हित वचनको वापिस ही लेते हैं तो

उन्हें अहंकारका शिकार समझकर क्षमा कर देना चाहिए। और आगेको उनके व्यक्तित्वके प्रति कोई द्वेषभाव नही रखना चाहिये। प्रतिवर्ष क्षमावणी पर्व मनाना और फिर भी कानजी-स्वामीको उनकी किसी भूल-गलती आदिके लिये अब तक क्षमा न किया जाना, प्रत्युत इसके उनसे द्वेषभाव बनाये रखना, क्षमावणी पर्व मनानेकी विडम्बनाको सूचित करता है। अतः आगे ऐसा नही होना चाहिये। इससे सभी समाजका वातावरण शीघ्र सुधर सकेगा। इसके सिवाय मेरा यह भी निवेदन है कि जयपुरमे आचार्य शिवसागरजीके समक्ष आयोजित योजनाके अनुसार दोनो पक्षके विद्वानोमें जो लिखित तत्त्वचर्चा हुई है उसे अब शीघ्र प्रकाशित कर देना चाहिये, इससे अनेक विषयोमे बहुतोका भ्रम दूर हो सकेगा तथा वस्तुस्थितिको उसके ठीकरूपमे समझनेका अवसर मिलेगा[1]।

---

१. जैनसन्देश, ता० २८ नवम्बर, १९६५

: ३ :

स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध

●

वैद्यजीका वियोग : १ :

मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही दुःख होता है कि मेरे मित्र देहलीके सुप्रसिद्ध राजवैद्य रसायनशास्त्री पं० शीतल-प्रसादजी ५ सितम्बर सन् १९३० को ६५ वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवासी हो गये हैं। आपके वियोगसे, नि:सन्देह, जैन-समाज को ही नहीं; किन्तु मानव-समाजको एक बहुत बड़ी हानि पहुँची है और देहलीने अपना एक कुशल चिकित्सक तथा सत्परामर्शक खो दिया है। आपका अनुभव वैद्यकमें ही नहीं, किन्तु यूनानी-हिकमतमे भी बढ़ा-चढ़ा था, अंग्रेजी चिकित्सा-प्रणालीसे भी आप अभिज्ञ थे, साथ ही, आपके हाथको यश था, और इसलिए दूरसे भी लोग आपके पास इलाजके लिये आते थे। कई केस आपके द्वारा ऐसे अच्छे किये गये, जिनमे डाक्टर लोग ऑप-रेशनके लिये प्रस्तुत हो गये थे। परन्तु आपने उन्हे बिना ऑपरेशनके ही अच्छा कर डाक्टरोको चकित कर दिया था। आतुरोके प्रति आपका व्यवहार बड़ा ही सदय था, प्रकृति उदार थी और आप सदा हँसमुख तथा प्रसन्नचित्त रहते थे। आपका स्वास्थ्य इस अवस्थामे भी ईर्षायोग्य जान पड़ता था।

आपकी वृत्ति परोपकारमय थी, धर्मार्थ औषधि वितरण करनेका भी आपके औषधालयमें एक विभाग था। आप धर्मके कामोंमे बराबर भाग लेते थे और समय-समयपर धार्मिक सस्थाओं-को दान भी देते रहते थे। समन्तभद्राश्रमको भी आपने १०१) रु० की सहायता अपनी ओरसे और ५०) रु० अपनी पुत्रवधू-की ओरसे प्रदान की थी। आप आश्रमके आजीवन सदस्य थे, आश्रमकी स्थापनामें आपका हाथ था और इसलिये आपके इस वियोगसे आश्रमको भी भारी क्षति पहुँची है।

इसके सिवाय, आप विद्याव्यसनी तथा सुधार-प्रिय थे। कई भाषाएँ जानते थे, विद्वानोंसे मिलकर प्रसन्न होते थे, नाना प्रकारकी पुस्तकोंको पढ़ने तथा संग्रह करनेका आपको शौक था, लेख भी आप कभी-कभी लिखा करते थे—जिसका कुछ रसास्वादन 'अनेकान्त'के पाठक भी कर चुके हैं—और कविता करनेमें भी आपकी रुचि थी। कुछ महीनोसे 'जीवन-सुधा' नाम का एक वैद्यक मासिक पत्र भी आपने अपने औषधालयसे निकालना प्रारंभ किया था, जो अभी चल रहा है। जैनशास्त्रों-का आपने बहुत-कुछ अध्ययन किया था और उनके आधारपर वर्षोंसे आप 'अर्हत्प्रवचनवस्तुकोश' नामका एक कोश तैयार कर रहे थे। वस्तुओंके संग्रहकी दृष्टिसे आप उसे पूरा कर चुके थे, परन्तु फिर आपका विचार हुआ कि प्रत्येक वस्तुका कुछ स्वरूप भी साथमें होवे तो यह कोश अधिक उपयोगी बन जावे। इससे आप पुन: उसको व्याख्यासहित लिख रहे थे कि दुर्दैवसे आपकी बायीं हथेलीमें एक फोडा निकल आया, जिसने क्रमश: भयंकर रूप धारण किया, करीब साढ़े तीन महीने तक तरह-तरहके उपचार होते रहे, बडे-बड़े डाक्टरों तथा सिविल सर्जनोके हाथमे उनका केस रहा, परन्तु भावीके सामने किसीसे भी कुछ न हो सका। अन्तमें बेहोशीके ऑपरेशन-द्वारा हाथको काटनेकी नौबत आई और उसीमें एक सप्ताह बाद आपके प्राणपखेरू उड़ गये !!! इस दु:ख तथा शोकमें मैं आपके सुयोग्य पुत्र वैद्य पं० महावीर-प्रसादजी और दूसरे कुटुम्बी जनोके प्रति अपनी हार्दिक सहानु-भूति और समवेदना प्रकट करता हूँ और भावना करता हूँ कि वैद्यजीको परलोकमें सुखसे शान्तिकी प्राप्ति होवे।[1]

---

१. कार्तिक: आश्विन वीर नि० सं० २४५६ (नवम्बर १९३०) अनेकान्त, वर्ष १, किरण ११, १२।

ईसरीके सन्त : २ :

श्रीमान् वर्णी गणेशप्रसादजी जैन-समाजके उन ख्याति-प्राप्त प्रौढ़ विद्वानोमेंसे हैं जिन्होंने आत्म-कल्याणके साथ-साथ विद्या-शिक्षाके प्रसारमें अपना सारा जीवन लगा दिया है। अबतकके कोई ८६ वर्षके जीवनमें आपने अनेक महान ग्रन्थोंके गहरे अध्ययन एवं पठन-पाठनका कार्य किया है। बनारस तथा सागरके प्रसिद्ध महाविद्यालय आपकी खास कृतियां हैं। उनकी स्थापना और संचालनमें आपका ही प्रधान हाथ रहा है। और भी विभिन्न स्थानोपर आपने अनेक पाठशालाएँ स्थापित कराई हैं। विविध दर्शनोंके अभ्यासके साथ-साथ आपने आध्यात्मिक रसका अधिक पान किया है और आप उसके खास रसिक बने हैं।

इसीसे सभी कुछ छोड़-छाड़कर आप आजकल ईसरीमें श्री पार्श्वचरणमें स्थित हुए आत्म-साधनाकर रहे हैं। आपके निवाससे इस समय ईसरी एक तीर्थ-स्थानके समान बना हुआ है। अनेक मुमुक्षुजन दूर देशोंसे आपका प्रवचन सुनने और आपके सत्संगसे लाभ उठानेके लिये यहाँ पहुँचते रहते हैं। आपका आध्यात्मिक प्रवचन बड़ा ही मार्मिक तथा प्रभावक होता है जिसे सुनकर जनता आत्मविभोर हो जाती है—सुनते-सुनते उसकी तृप्ति ही नहीं होती। इसीसे कितने ही सज्जन घर पहुँचकर पत्रों द्वारा भी आपके प्रवचनका कुछ अंश प्राप्त करना चाहते हैं। आप समय-समयपर मुमुक्षुजनोंको पत्र लिखकर उनकी जिज्ञासाकी तृप्ति करते रहते हैं। इस तरह

लिखे गये आपके कितने ही पत्र आध्यात्मिक पत्रावलियोंके रूपमे प्रगट हो रहे हैं और जगतके जीवोंका अच्छा उपकार कर रहे हैं। आपमे कषायोंकी मन्दता, हृदयकी उदारता, समता, भद्रता, निर्वेदता और दयालुता आदि गुण अच्छे विकासको प्राप्त हुए हैं। तत्व-ज्ञानके साथ-साथ आपका चारित्र्यबल खूब बढ़ा-चढ़ा है। बाह्यमे मुनि न होते हुए भी आप भावसे मुनि हैं अथवा चेलोपसृष्ट मुनिके समान हैं। आप मुनि-वेषको धारणकर सकते थे; परन्तु धारण करके उसे लजाना आपको इष्ट नही है। आप तभी उसे धारण करना अच्छा समझते हैं जबकि शरीर नग्न रूपसे जगलमे रहनेकी इजाजत दे। अनगारी बनकर मन्दिर-मकानोमें निवास करना आपको पसंद नही है। आप उसे दिगम्बर मुनि-पदके विरुद्ध समझते हैं। हार्दिक भावना है कि आपको अपने ध्येयमें शीघ्र सफलताकी प्राप्ति होवे और आप अपनी आत्मसिद्धि करते हुए दूसरोकी आत्म-साधनामें सब प्रकारसे सहायक बनें।[1]

---

१ अनेकान्त वर्ष ४, कि० ९, अक्टूबर १९४१।

शाहा जवाहरलाल और जैन ज्योतिष : ३ :

शाहा जवाहरलालजी प्रतापगढ़ (राजपूताना) के एक प्रसिद्ध जैन वैद्य एवं सम्पन्न व्यक्ति हैं। बाल्यावस्थासे ही शास्त्रोके अभ्यासी एवं प्रतिष्ठादि कर्मकाण्डोके ज्ञाता हुंवड जातिके महाजन हैं। आपकी अवस्था ६६ वर्षकी हो गई है। धन-कुटुम्बादिसे समृद्ध होनेके साथ-साथ आपके पास निजका अच्छा शास्त्रभण्डार है, जिसकी एक सूची भी आपने मेरे पास भेजी है। यद्यपि मेरा अभी तक आपसे कोई साक्षात्कार नहीं हुआ, फिर भी पत्रो तथा कृतियोंपरसे यह स्पष्ट जाना है कि आप बड़े ही विनम्र स्वभाव एवं सरल प्रकृतिके सज्जन हैं—अभिमान तो शायद आपको छूकर नही गया। अपनी त्रुटियोको समझना, भूलको सहर्ष स्वीकार करना और भूल बतलाने वालेके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना जैसे आपमें उदार गुण हैं। इसके सिवाय, परोपकारकी आपके हृदयमें लगन है और आप अपने अन्तिम जीवनमे साहित्यसेवाका भी कुछ पुनीत कार्य कर जाना चाहते हैं। वैद्य होनेके साथ-साथ ज्योतिषके विषयमे आपकी बड़ी रुचि है और उस ओर प्रवृत्तिकी कुछ रोचक कथा भी है।

आप शुरू-शुरूमें सट्टेके व्यापारमें तेजी-मंदी जाननेके अर्थ शकुनादिका परिचय प्राप्त करनेकी ओर बढ़े और बढ़ते-बढ़ते ज्योतिष-शास्त्रोके अभ्यासी हो गये। जैन ज्योतिषके कुछ ग्रन्थोंको पाकर तो आपकी रुचि इस ओर और भी प्रदीप्त हो उठी और आपने उनमें दूसरे ग्रन्थोंकी अपेक्षा कितनी ही विशेषताओंको

नोट किया है और अनेक स्थानोंपर जैनप्रक्रियाको विभिन्न पाया है। साथ ही, आपको यह देखकर कष्ट हुआ है कि जैन ज्योतिष के कुछ ग्रन्थोंको अजैनोने थोड़ासा परिवर्तन करके या नामादिक बदलकर अपना बना लिया है, जिसका कारण जैनियोका प्रमाद और उनमें ज्योतिष विद्याकी कमी तथा तद्विषयक ग्रंथोके पठन-पाठनका अभाव ही कहा जा सकता है। इस विषयके आपने कुछ नमूने भी प्रमाण-सहित उपस्थित किये हैं, जिन्हें फिर किसी समय प्रकट किया जायगा।

कुछ अर्सेसे आपके हृदयमें यह ख्याल पैदा हुआ कि ज्योतिष विषयका जो विशेष अनुभव हमने प्राप्त किया है वह कही हमारे साथ ही अस्त न होजाय—उसका लाभ दूसरोंको मिलना चाहिये। साथ ही, यह शुभ भावना भी जागृत हुई कि जैन-ज्योतिष-ग्रन्थोंका हिन्दीमे अनुवाद करके उन्हें समाजमें प्रचारित किया जाय, जिससे जैनियोंमें ज्योतिषविद्याकी जानकारी बढ़े और जनतापर उनके ग्रन्थरत्नोंका अच्छा प्रभाव पड़े। फलत: देवेन्द्रसूरिके शिष्य हेमप्रभसूरि-विरचित 'त्रैलोक्य प्रकाश' नामका जो १२७० श्लोक-परिमाण है, जैन-ज्योतिष-ग्रंथ आपको संवत् १९५९ के श्रावण मासमें श्री शान्तिविजयजी महाराजके पाससे, मन्दसौरमें उनके चातुर्मासके अवसरपर, उपलब्ध हुआ था और जिसकी तीन दिनमें ही आपने स्वयं अपने हाथसे प्रतिलिपि की थी तथा ३९ वर्ष तक जिसका अवलोकन एवं मनन होता रहा था, उसकी आपने श्रावण संवत् १९९८ में भाषावचनिका बनानी शुरू कर दी और माघ वदि ३ संवत् १९९८ सोमवारके दिन उसे पूरा कर दिया। साहित्यसेवाके क्षेत्रमें यही आपकी पहली कृति है, जिसके अन्तमें आप लिखते हैं—"आज ६५

वर्षकी आयुमें केवल यह एक ही त्रुटिपूर्ण कार्य करने पाया हूँ।" आप स्वयं अपनी वचनिकामें अभी २० प्रतिशत त्रुटियोंका अनुभव कर रहे हैं और उन्हें दूर करनेके प्रयत्नमें हैं; क्योंकि ग्रंथकी जो प्रति आपको उपलब्ध हुई वह बहुत कुछ अशुद्ध है। इसीसे ता० १८ जनवरी सन् १९४२ को जो पहला पत्र आपने मुझे लिखा, उसमें अपनेको प्राप्त कुछ जैन ज्योतिष ग्रन्थोंका परिचय देते हुए तथा त्रैलोक्यप्रकाशकी टीका-समाप्तिकी सूचना करते हुए, शुद्ध प्रतियोंके प्राप्त कराने आदिकी प्रेरणा की है, जिससे जिन श्लोकोंका अर्थ संदिग्ध है अथवा छोडना पड़ा है उस सबकी पूर्ति हो जाय तथा जैन-ज्योतिषके अन्य भी कुछ ग्रन्थ देखनेको मिलें। इस पत्रमें दूसरे दो ग्रन्थोंकी भी टीका किये जानेका उल्लेख करते हुए और जैनज्योतिष-ग्रन्थोंकी विलक्षण प्रक्रियाका कुछ नमूना दिखलाते हुए अन्तमें लिखा है—"आयुका कुछ भरोसा नहीं, इस कारण आज यह विचार हुआ कि (यह सब सूचना) बतौर रिकार्डके आपकी सेवामें भेज दूँ।" इसके बाद आपने अपनी उक्त भाषावचनिका-को मेरे पास देखनेके लिए भेजा है, भद्रबाहु-निमित्तशास्त्रके कुछ अध्यायोंका अनुवाद भी भेजा है और 'लोकविजययंत्र' नाम-के प्राकृत-गाथाबद्ध ग्रन्थकी टीका भी भेजी है। साथही जैन ज्योतिष-विषयक एक लेख भी प्रेषित किया है जिसमें अन्य बातोंके अतिरिक्त जैनाचार्योंकी मान्यतानुसार चन्द्रमाको मन्दगामी और शनिको शीघ्रगामी सिद्ध किया है, जबकि अन्य ज्योतिर्विद् चन्द्रमाको शीघ्रगामी और शनिको मन्दगामी (शनैश्चर) बतलाते हैं। त्रैलोक्यप्रकाश, भद्रबाहुनिमित्तशास्त्र और और लोकविजययंत्र इन तीनों मूलग्रंथोंकी आपने बड़ी प्रशंसा

लिखो है—त्रैलोक्यप्रकाशको जैन-ज्योतिष-विषयका और तेजी-मंदी जाननेका अपूर्व ग्रन्थ बतलाया है, भद्रबाहुनिमित्तशास्त्रके जोड़की एक भी दूसरी कृति कहीं देखनेमें नही आती, ऐसा प्रतिपादन किया है और लोकविजययंत्रके विषयमे यह सूचित किया है कि वह सरलतासे घर बैठे देश-विदेशमें होने वाले सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, युद्ध, शान्ति, रोग, वर्षा, महँगाई और महामारी आदिको प्रतिवर्ष पहलेसे ही जान लेनेका एक निराला ही ग्रन्थ है। इसके साथमें एक बहुत बड़ा यंत्र है जिसमे दिशा-विदिशाओमे स्थित देश-नगरादिके नाम हैं और उनमे होनेवाले शुभ अशुभको ध्रुवाङ्कोंकी सहायतासे जाना जाता है। शाहाजीकी इच्छा है कि इस ग्रंथकी टीकाको एक साथ और निमित्तशास्त्रके अनुवादको क्रमशः अनेकान्तमें प्रकाशित किया जाय अथवा वीरसेवा-मन्दिरसे इनका स्वतंत्ररूपमें प्रकाशन किया जाय। मैं आपकी इस सब शुभ भावना एवं सदिच्छाका अभिनन्दन करता हूँ।[1]

---

१. अनेकान्त वर्ष ५, कि० १२, जनवरी १९४३

हेमचन्द्र स्मरण : ४ :

चि० हेमचन्द्रकी याद आते ही एक सौम्य आकृति मेरे सामने घूम जाती है—गोरा रंग, लम्बा कद, दुबला-पतला बदन ! इस आकृतिके मेरे सामने दो चित्र आते हैं—एक बाल्य-काल : कोई ८-९ वर्षकी अवस्थाका, और दूसरा यौवनकाल : विवाहसे पूर्व कोई २० वर्षकी अवस्थाका। सन् १९१७ और १९२८ में दो बार मुझे कुछ-कुछ महीनोंके लिये बम्बई ठहरनेका अवसर मिला है और यह ठहरना हेमके पिता सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीके पास ही हुआ है, उन्हींके खास अनुरोधपर मैं बम्बई गया हूँ। इन्हीं दोनों अवसरोंपर हेम मेरे विशेष परिचयमे आया है। बाल्यावस्थासे ही वह मुझे सुशील तथा होनहार जान पड़ा, उसमें विनय गुण था, सुनने-सीखनेकी रुचि थी, ग्रहण-धारणकी शक्ति अच्छी विकासोन्मुखी थी और सबका प्यारा था। उसके बाल्यकाल (सन् १९१७) की एक घटनाका मुझे आज भी स्मरण है। एक दिन संध्याके समय हेमके काका (चाचा) लालटेनकी कोई चिमनी साफ कर रहे थे, चिमनी टूटी हुई थी। वह उनके हाथमें चुभ गई, उसके आघातसे वे कुछ सिसकने लगे, उन्होंने हतोत्साह होकर चिमनीको रख दिया और कहाकि अब इसे हाथ नहीं लगायेंगे। हेम उनके पास था, वह यह सब देखकर कुछ भौंचकसा रह गया। उसने तुरन्त ही मेरे पास आकर इस घटनाकी जिन शब्दोंमें रिपोर्ट दी उनसे यह मालूम होता था कि वह अपने काकाकी उस प्रवृत्तिको अच्छा नहीं समझ रहा है। मैंने उसी समय हेमके विनोदार्थ

उक्त घटनाकी तुकबन्दी बना दी और कहा कि इसे अपनी काकी (चाची) को जाकर सुनाना—

'काका' तो चिमनीसे डरत फिरत हैं,
काट लिया चिमनीने 'सी-सी' करत हैं !
'अब नहिं छूएँगे' ऐसो कहत हैं,
देखो जी काकी, यह वीर बनत हैं !!

इस तुकबन्दीको सुनकर हेम बड़ा प्रसन्न हुआ—आनन्द-विभोर होकर नाचने लगा—मानो उसके भावका मैंने इसमें पूरा चित्रण कर दिया हो। उसी क्षण उसने इसे याद कर लिया और वह काकीको ही नहीं, किन्तु अम्मा और दद्दाको भी सुनाता और गाता फिरा। इस समय वह मुझसे और भी अधिक हिलमिल गया। मैं उसके मनोनुरूप अनेक प्रकारकी तुकबन्दियां बनाकर दे दिया करता, जिन्हें वह पसन्द करता था। एक दिन प्रेमीजी कहने लगे—हेम तुम्हारी कविताओंको खूब पसंद करता है। कहता है—बाबूजी बड़ी अच्छी कविता बनाना जानते हैं। बचपनमें कहानी सुननेका उसे बड़ा शौक था और वह मुझसे भी अनुरोध करके कहानी सुना करता था। बम्बईसे मेरा चला आना उसे बहुत अखरा। प्रेमीजी लिखते रहे—हेम आपको याद करता रहता है। मैं भी प्रेमीजीको लिखे गये पत्रोंमें उसे बराबर प्यार तथा आशीर्वाद भेजता रहा।

कुछ अर्सेके बाद जब प्रेमीजी सख्त बीमार पड़े, जीवनकी बहुत ही कम आशा रह गई, तब उन्होंने वसीयतनामेमें हेमकी शिक्षाका भार मेरे ही सुपुर्द किया था। परन्तु सौभाग्यसे प्रेमीजीका वह अरिष्ट टल गया और वे स्वयं ही हेमकी शिक्षा-दीक्षा करनेमें समर्थ हो सके। समय-समय पर हेमकी शिक्षा-

दीक्षाके विषयमें जो परामर्श प्रेमीजी मुझसे मागते रहे हैं वह मैं उन्हें खुशीसे देता रहा।

दूसरी बार सन् १९२८ में जब मैं बम्बई गया और ९ जुलाई से ६ सितम्बर तक प्रेमीजीके पास ठहरा तब हेम बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर चुका था। कई भाषाएँ सीख चुका था, उसकी समझ अच्छी विकसित हो रही थी और साथही उसमें ज्ञान-पिपासा जाग रही थी। प्रेमीजी अपनी अस्वस्थतादिके कारण चाहते थे कि हेम अब दुकानके कामको सँभाले और उसमें अधिकसे अधिक योग देवे; परन्तु हेमको वह रुचता नही था, वह अपनी ही कुछ धुनमें था और इसलिये दुकानके काममें बहुत कम योग देता था। प्रेमीजीको यह सब असह्य होता जाता था, वे हेमको एक सनकी तथा उद्दण्ड बालक तक समझने लगे थे और कभी-कभी उसे अच्छी खासी डाट-डपट भी बतला दिया करते थे, जिसका परिणाम उलटा होता था। हेम माँके पास जाकर रोता था, अपना दुःख व्यक्त करता था और कभी-कभी घरसे निकल जाने अथवा अपना कुछ अनिष्ट कर डालनेकी धमकी तक भी दे देता था। इससे माता-पिता दोनोंकी ही चिन्ता बढ़ जाती थी; क्योंकि एकलौता पुत्र था। मेरे पहुँचनेपर प्रेमीजीने मुझे इस सारी स्थितिसे अवगत किया और मेरे ऊपर हेमको समझानेका भार रक्खा।

मैंने अनेक प्रकारसे हेमको समझाया और उसके मनोभावो-को जाननेकी चेष्टा की। हेम खुल गया और उसने मेरे सामने अपनी सारी अभिलाषा तथा दुख-दर्दको रख दिया। उसकी यह आम शिकायत थी कि प्रेमीजीसे उसे सदा झिड़कियाँ ही प्राप्त होती रहती हैं—आत्मसम्मान नही मिलता। मैंने देखा

हेममें स्वाभिमानकी मात्रा काफी थी, व्यर्थकी झिड़कियाँ, डाट-डपट एवं फटकारसे उसका चित्त व्यथित होता था, उसे भारी कष्ट पहुँचता था, और इसलिये इस प्रकारके व्यवहारसे उसे बड़ी चिढ़ थी। इसीसे ऐसे व्यवहारके मुकाबलेमे वह अनुकूलता बर्तनेके बजाय प्राय: उल्टा आचरण करता था। अत: मैंने प्रेमीजीको भी समझाया और उन्हे अपने व्यवहारको कुछ बदलकर "**प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्**" की नीतिपर अमल करनेके लिये कहा। और साथही यह भी बतला दिया कि ऐसा होनेपर तथा हेमकी ज्ञानार्जनादि विषयक इच्छाओंपर व्यर्थका अंकुश न रखनेपर वह दुकानका अधिक काम करेगा। चुनांचे ऐसा ही हुआ—मैं जितने दिन बम्बई रहा, पिता-पुत्रमें किसी प्रकारके विसंवादकी नौबत नही आई, एकको दूसरेकी शिकायतका अवसर नहीं मिला और यह देखा गया कि हेम दुकानका काम पहलेसे कुछ अधिक कर रहा है।

बम्बईमें हेम मेरे साथ योगासन किया करता था। योगासनोंका अभ्यास उसने भी कुछ पहलेसे कर लिया था और उसकी उस तरफ रुचि बढ़ रही थी। वह जब भावावेशमें गर्दन हिलाकर "**कौपीनवन्त: खलु भाग्यवन्त:**" कहा करता था तब बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। मेरे बम्बईसे चले आनेके कुछ समय बाद हेमको किसी योगीका अच्छा निमित्त मिल गया और उसने कितनी ही योग-विद्याको सीख लिया, योग-विषयक बीसियों शास्त्र पढ़ डाले तथा बहुत-सा ज्ञान-प्राप्त कर लिया। उन दिनों मेरी भी रुचि योगकी ओर बढ़ी हुई थी और मैं योग-विषयके बहुत ग्रन्थोंका अवलोकन कर गया था—अभ्यासमे ५१ वर्षकी अवस्था होते हुए भी खुशीसे पौन-पौन घंटे तक

शीर्षासन कर लेता था; परन्तु मुझे किसी गुरुका साक्षात् सम्पर्क प्राप्त नहीं हुआ था—सब कुछ अपने अध्ययनके बलपर ही चलता था, प्राणायामके विषयमें कुछ सन्देह होनेपर मैंने हेमचन्द्र से एक प्रश्न पूछा था, जिसका उत्तर उसने ३० दिसम्बर सन् १९२९ के पत्रमें दिया था। इस उत्तरपरसे यह सहज ही में जाना जा सकता है कि उस समय तक हेमचन्द्रने योग-विषयका कितना अनुभव तथा अभ्यास प्राप्त कर लिया था। उत्तरपत्रमें योग-विषयक कुछ लेखोंके लिखनेकी इच्छा भी व्यक्त की गई थी, जिसे लेकर मैंने अनेकान्तके लिये कोई अच्छा लेख भेजनेकी उसे प्रेरणा की थी। उत्तरमे लेखकी स्वीकृति देते हुए हेमचन्द्रने १३ फरवरी सन् १९३० को जो पत्र दूसरा लिखा है उससे मालूम होता है कि उस समय उसकी ज्ञान-पिपासा बहुत बढ़ी हुई थी, वह किसीको पत्रका उत्तर तक नहीं देता था, अध्ययन-मननमे और पठितका सार खीचनेमें ही अपना सारा समय व्यतीत करता था, फिर भी उसे तृप्ति नहीं होती थी। लेख लिखनेमे अपनी कठिनाइयोंका भी उसने पत्रमें सरल भावसे उल्लेख किया है। इसी समय उसके विवाहकी चर्चा चल रही थी और वह एक प्रकारसे पक्की हो गई थी। योग-विद्यामें जो रस तथा आनन्द आ रहा था उसके मुकाबलेमें उसे इस विवाहकी कोई खुशी नही थी, वह इसे एक प्रकारका संकट समझता था और उस संकटको सरलतापूर्वक पार करने अथवा गृहस्थाश्रम की परीक्षामें समुत्तीर्ण होकर सुखसे जीवन-यापन करनेके प्लैन (Plans) सोचा करता था। उसकी इच्छा थी कि मैं स्वयं निर्विकार रहते हुए अपनी सहधर्मिणीको भी निर्विकार बनाकर योगमार्गमें दीक्षित कर दूँ। इसी आदर्शको लेकर उसने विवाह

करना स्थिर किया था, जबकि पहलेसे उसकी इच्छा आजन्म अविवाहित रहनेकी थी। ये सब बातें भी उक्त पत्र (अने० कि० २) से जानी जाती हैं।

२४ फरवरी सन् १९३० के पत्र (नं० ३) में हेमचन्द्रने लेख भेजनेकी सूचना देते हुए यह भी सूचित किया था कि उसने वह लेख पिताजी (प्रेमीजी) और पं० दरबारीलालजी (वर्तमान सत्यभक्त) को भी दिखलाया है, पं० दरबारी-लालजी ने 'ठीक है' ऐसा रिमार्क दिया है और पिताजीने उसे 'निकम्मा' ठहराया है। पिताजीके उत्साह न दिखानेके कारण उत्साहके ठडा होनेसे पहले ही उसने उसको मेरे पास भेज देना उचित समझा। इस पत्रसे यह भी मालूम होता है कि उन दिनों हेमपर फिर कुछ झिडकियाँ पड़ी हैं, जिनसे उसका स्वाभिमानी आत्मा तिलमिला उठा है और उसने अपनी तत्का-लीन मनोदशाका उल्लेख करते हुए यह उत्कट इच्छा व्यक्त की है कि मैं उसे अपने पास देहली (समन्तभद्राश्रममें) बुला लूँ। इस विषयमें उसके निम्न शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य है:—

"मुझमें जाननेकी इच्छा दिनपर दिन बहुत ही प्रबल होती जाती है और यहाँ कामके मारे मैं पिसा जाता हूँ। मुझे अपनी पिपासा शात करनेका बिल्कुल मौका नही मिलता। पिताजीकी झिड़कियाँ खा-खाकर मेरी आत्मा बहुत तड़पती रहती है और दिनपर दिन बिगड़ता जाता हूँ। यदि आप मुझे वहाँ अपने पास बुला लें तो मुझे इससे बढ़कर खुशी और किसी बातमें न होगी। यदि मेरे लिये जिन्दगी भरके लिये खाने-पीने और Dilut रहनेका इन्तजाम हो जाय तो मैं दुकान भी छोड़ दूँगा। मैं एक

पुस्तक लिख रहा हूँ जो छपने पर खूब बिकेगी। उसी प्रकारकी कुछ अन्य पुस्तकें छपाऊँगा। कुछ बिक्रीपर पैसे जहाँके तहाँ अदाकर दूँगा और आगेकी आमदनीपर गुजारा कर लूँगा।''

हेमके इस पत्रको प्रेमीजीने कहीं उसकी इच्छाके बिना पढ़ लिया था, अतः पत्रके अन्तमें इसका नोट देते हुए, हेमने अपने पिताकी सभ्यतापर खुला आक्रमण किया है।

हेमके लेख-सम्बन्धमे प्रेमीजीने मुझे अपने २४ फरवरीके ही पत्रमे लिखा था—''हेमके लेखमें आपको परिश्रम काफी करना होगा। मैं तो उसे पूरा पढ़ भी नहीं सका हूँ, मेरा संशोधन उसे पसन्द भी नहीं है।''

मार्च सन् १९३० मे हेमका विवाह हो गया। इस विवाहके अवसरपर प्रेमीजी सख्त बीमार थे, उनके ऊपर साढ़ेचार वर्षके बाद १ मार्चसे खास रोगका फिरसे आक्रमण हो गया था, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। चुनांचे प्रेमीजी अपने ९ अप्रैलके पत्रमें लिखते हैं—''विवाहके समयमे तो मेरी बहुत बुरी हालत हो गई थी। मुझे नही मालूम कब कौन-सा दस्तूर हुआ। इसी विपत्तिके कारण मैं आपको कोई पत्र न लिख सका और न आपको आग्रहपूर्वक बुला ही सका। विवाह तो हो गया; परतु दुर्भाग्यसे न मैं और न हेमकी माता ही उसके सुखका कोई अनुभव कर सके।'' प्रेमीजीके इन शब्दोंमें कितनी वेदना भरी हुई है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। अस्तु,

हेमके पत्रद्वारा विवाह सम्पन्नताका समाचार पाकर मैंने अपने ५ अप्रैलके पत्रमे उसे आशीर्वाद देते हुए कहीं ऐसा लिख दिया था कि, अब तुम खूँटेसे बँध गये हो, यह देखकर प्रसन्नता होती है। इसपर उसके स्वाभिमानको ठेस लगी और

इसलिये उसने खूँटा तथा उससे बँधनेवाले पशु आदिकी कल्पना करके मुझे १० अप्रैल सन् १९३० को एक लम्बा पत्र (नं० ४) लिखा जो पढ़नेसे ही सम्बन्ध रखता है और जिससे मेरे शब्दोंपर उसका क्षोभ स्पष्ट जाना जाता है। पत्रमे अपनी स्थितिको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की गई है और साथही सुधारने के लिये अपना वह लेख सूचनाओके साथ वापिस माँगा गया है जो अनेकांतमें छपनेके लिये भेजा गया था।

इसके बाद २६ अप्रैलके कार्डमें लेखको पुनः वापिस भेजने की प्रेरणा करते हुए हेमचन्द्रने लिखा था "अब यदि आप उसे भेज दें तो पहलेसे १० गुना अच्छा लिखा जा सकता है। उक्त विषयकी बहुत-सी नई बातें मालूम हुई हैं।" साथ ही अपनी पिछले पत्रपर मेरी नाराजगीकी कुछ कल्पना करके लिखा था—"आशा है कि आप नाराज न हुए होगे। बालक हूँ, क्षमादृष्टि बनाये रहना।"

इन पंक्तियोपरसे हेमका पिछले पत्रके सम्बन्धमे कुछ अनुताप और साथ ही नम्रताका भाव टपकता था, इसलिये ३० अप्रैलको पत्रका उत्तर देते और लेखको वापिस भेजते हुए मैंने जो पत्र लिखा था उसमें उक्त पंक्तियोंसे फलित होनेवाले अनुताप और नम्रताके भावका भी कुछ जिक्र कर दिया था। इतनेपर भी हेमके स्वाभिमानको फिरसे ठेस लग गई और उसने ५मई सन् १९३० को जो उत्तर पत्र (नं० ६) लिखा उसमें यहाँ तक लिख डाला—"जो भी कुछ मैंने लिखा था उसके लिये रंचमात्र भी अनुताप नहीं है। उन पंक्तियोंको आप व्यर्थ ही अनुताप और नम्रता व्यंजक बतलाकर उनके पीछे अपनी रक्षा करना चाहते हैं।"

हेमके पत्रके साथ ४ मईका लिखा हुआ प्रेमीजीका पत्र भी था, जिसमें उन्होंने मुझे यह प्रेरणा की थी कि—"अंग्रेजीका कोई अनुवाद हो तो, आप उससे (हेमसे) अवश्य कराइये। आपके लिखनेसे वह अवश्य कर देगा।' हेमने यह पत्र पढ़ लिया और उसे प्रेमीजीका उक्त लिखना खटका। अतः अपने पत्रके अन्तमें पहलेसे ही बन्द लगाते हुए मुझे लिखा :—

"कृपया आप मुझसे अनुवाद करनेका आग्रह न कीजियेगा, अनुवाद करनेसे मुझे बहुत घृणा है। यदि कोई मेरा अनुवादित लेख छपता है तो मुझे अपनी असमर्थतापर (स्वतन्त्र लेख लिखनेकी) बहुत शर्म आती है। 'विशाल भारत' वाला लेख[1] मैंने एक साल पहले पिताजीके घोर आग्रहसे अग्रेजीपरसे किया था, अनुवाद करनेसे मेरे मनपर चोट पहुँचती है।"

इन पंक्तियोंपरसे हेमकी उस समयकी स्वभिमानी प्रकृतिका और भी कितना ही पता चल जाता है। परन्तु अनुवादसे घृणा, शर्म और चित्तपर चोट पहुँचनेकी बात बादको कुछ स्थिर रही मालूम नही होती, क्योंकि मुझे भी फिर दो अंग्रेजी लेखोंका अनुवाद भेजा गया है और अनुवाद भी करके प्रकाशित किये गये हैं।

हेमके लेखपर जो रिमार्क प्रेमीजीने मुझे भेजा था वह ऊपर दिया जा चुका है। जिस समय हेम अपने लेखको सशोधनादिके लिये वापिस माँग रहा था उस समय ६ अप्रैलके पत्रमें प्रेमीजीने लिखा था—"हेमके लेखको संशोधन-परिवर्तनके साथ छाप दीजिएगा। उसकी ऊँटपटांग बातोंपर ध्यान मत दीजिए।" और

---

१. इस लेख (मंगलमय महावीर) को अनेकान्तमे छापनेकी प्रेरणा प्रेमीजीने अपने ९ अप्रैलके पत्रमें की थी।

जब लेख वापिस चला गया तब प्रेमीजीने अपने ४ मईके पत्रमें लिखा—"हेम लेखके लिखनेमें तैयारी तो बहुत कर रहा है। पर क्या लिखेगा, सो वह जाने। मेरी राय तो यह थी कि इस लेखको आप ही संशोधित परिवर्तित करके छाप देते, परन्तु वह नही माना और वापस बुला लिया।" इधर हेमने अपने उक्त ५ मई वाले पत्रके अन्तमे लिखा था—"आपने लेखपर अपनी सम्मति नही लिखी। मुझे डर लगता है कि कामताप्रसाद सरीखी मेरी भी दुर्दशा आप नोटो द्वारा न कर दें।" इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए जब लेख वापिस आया तब उसे अच्छा बनानेके लिये संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धनादिके द्वारा काफी परिश्रम किया गया[१] और उसका प्रारंभिक अंश 'योगमार्ग" नामसे प्रथम वर्षके अनेकान्तकी संयुक्त किरण नं० ८, ९, १० मे प्रकाशित किया गया[२]। और इस मुद्रित लेखको पढ़कर हेमचन्द्रको प्रसन्नता हुई और उसमें उसने आमूल-चूल-जैसे परिवर्तनका अनुभव किया और मुझे ऐसा लिखा कि मैं इतने ऊँचे लेखका अधिकारी नही था, आपने पुत्रवात्सल्यको लेकर उसे इतना अच्छा बना दिया है। परन्तु मैंने लेखके शुरु-में लेखकका परिचय देते हुए जो यह लिख दिया था कि 'लेखक-समाजके सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमीके सुपुत्र हैं वह हेमको असह्य जान पड़ा। उसे ऐसा लगा कि इससे पाठक प्रेमीजी जैसे विद्वानका पुत्र होनेके नाते उसके लेख-

---

१. इस तैयारीका कुछ पता हेमके ५ मार्चके पत्र (नं० ५) से भी लगता है।

२. लेखका दूसरा अंश 'सरल योगाभ्यास' नामसे तृतीय वर्षके अनेकान्तकी ५ वीं किरणमें प्रकाशित हुआ है।

को महत्व देंगे—स्वतंत्र रूपसे लेखके महत्वको नहीं आँक सकेंगे, और इसलिये मेरे इस लिखनेपर आपत्ति करते हुए उसने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की। यह भी हेमकी स्वाभिमानी प्रकृतिकी एक लहर थी।

विवाहके कुछ अर्से बाद हेमकी प्रकृति और प्रवृत्तिमें भारी परिवर्तन हुआ जान पड़ता है, इसीसे प्रेमीजी द्वारा उसकी कोई खास शिकायत सुननेमें नही आई और न हेमने ही प्रेमीजी-की कोई खास शिकायत लिखी है। हेम अब दुकानके काममें पूरा योग देता था, गृहस्थाश्रमकी जिम्मेदारीको समझ गया था, उसका जोवन सादा, संयत तथा कितने ही ऊँचे ध्येयोंको लिये हुए था, और इससे सुहृद्वर प्रेमीजोका पिछला जीवन बहुत-कुछ निराकुल तथा सुखमय हो चला था। परन्तु दुर्दैवसे वह देखा नहीं गया ओर उसने उनके इस अधखिले पुष्पसम इकलौते पुत्रको अकालमें ही उठा लिया और उनकी सारी आशाओंपर पानी फेर दिया? यह देखकर किसे दुःख नहीं होगा? सद्गत हेमचन्द्रके लिये यह हार्दिक भावना करता हूँ कि उसे परलोक में सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे और उसकी सहधर्मिणी तथा बच्चोका भविष्य उज्ज्वल बने।[१]

---

१. स्व० हेमचन्द्र, ११ मार्च १९४४।

कर्मठ विद्वान् (ब्र० शीतलप्रसादजी) : ५ :

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी जैन-समाजके एक बड़े ही कर्मठ विद्वान् थे। जैन धर्म और जैन समाजके प्रति उन्हें गाढ प्रेम था, लगन थी और साथ ही उसके उत्थानकी चिन्ता थी, धुन थी। इसी धुनमे वे दिन-रात काम किया करते थे—लिखते थे, वार्तालाप करते थे, लम्बे-लम्बे सफर करते थे, उपदेश तथा व्याख्यान देते थे और अनेक प्रकारकी योजनाएँ बनाते थे। उन्हें जरा भी चैन नहीं था और न वे अपना थोड़ा-सा भी समय व्यर्थ ही जाने देते थे। जहाँ जाते वहाँ शास्त्र बाँचते, अपने पब्लिक व्याख्यानकी योजना कराते, अंग्रेजी पढ़े-लिखोंमें धर्मकी भावना फूँकते, उन्हें धर्मके मार्गपर लगाते, सभा-पाठशालादिकी स्थापना कराते और कोई स्थानीय संस्था होती तो उसकी जाँच-पड़ताल करते थे। साथ ही परस्परके वैमनस्यको मिटाने और जनतामें फैली हुई कुरीतियोंको दूर करानेका भरसक प्रयत्न भी किया करते थे। प्रत्येक चौमासेमें अनुवादादि रूपसे कोई ग्रन्थ तैयार करके छपानेके लिये प्रस्तुत कर देना और उसके छपकर प्रचारमें आनेकी समुचित योजना कर देना तो उनके जीवनका एक साधारण-सा काम हो गया था। भले ही विद्वज्जन-हृद्य कलापूर्ण गंभीर साहित्यके निर्माणमें उनका हाथ कम रहा हो, परन्तु साधारण जनताके लिये उपयोगी साहित्यके निर्माणका उनको अच्छा अभ्यास था।

उनमें एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे सहनशील थे— विरोधों, कटु-आलोचनाओ, वाक्प्रहारो और उपसर्गो तकको

खुशीसे सह लिया करते थे और उनकी वजहसे अपने कार्योंमें बाधा अथवा विरक्तिका भाव नहीं आने देते थे। इसी गुण और धुनके कारण, जिसका एक समाज-सेवीमें होना आवश्यक हैं, वे मरते दमतक समाजकी सेवा करनेमें समर्थ हो सके हैं। अन्यथा, उन्हे भी दूसरे कितने ही समाज-सेवियोंकी तरह विरक्त होकर बैठ जाना पड़ता। निःसन्देह वे अपनी धुनके पक्के थे और उन्होंने अपनी सेवाओं द्वारा जैन-समाजके ब्रह्मचारियों एवं त्यागीवर्गके लिये कर्मठताका एक आदर्श उपस्थित किया है। जैन-समाजके अधिकांश त्यागीजन अकर्मण्यताका पाठ पढ़ते हुए समाजसे अपनी सेवा-पूजादिके रूपमें लेते तो अधिक हैं परन्तु अपनी सेवाओके रूपमें उसे देते कम हैं; यह बात ब्र० शीतलप्रसादजीमें नही थी। आप समाजसे लेते कम थे और उसे देते अधिक थे।

ब्रह्मचारी-जीवनसे पहले जब आप बाबू शीतलप्रसादजीके नामसे प्रसिद्ध थे, बम्बईमें दानवीर सेठ माणिकचन्द हीराचन्दजी जे० पी० के रत्नाकर पैलेसमे निवास करते हुए सेठजीके साथ कुटुम्ब-जैसा जीवन व्यतीत करते थे, उनके धार्मिक और समाज-सेवाके कार्योंमें बड़ी तत्परताके साथ हाथ बटाते थे, और एक प्रकारसे सेठजीके प्राइवेट सेक्रेटरी, दाहिना हाथ अथवा नाकका बाल बने हुए थे; तब कुछ लोगोंको आपकी यह स्थिति बहुत अखरी और वे आपकी इस प्रतिष्ठा-प्राप्ति अथवा सेठजीके हृदयमें इस तरहसे घर करनेको सहन नही कर-सके। चुनांचे जैन हितैषी पत्रमें उसके तत्कालीन सम्पादक प० पन्नालालजी बाकलीबालने आपपर कुछ कीचड़ उछालना शुरू किया था। उस समय मैं साप्ताहिक जैनगजटका सम्पादक था, मुझे

सहयोगी जैन हितैषीकी यह कार्रवाई बहुत अनुचित तथा असभ्यता-मूलक जँची और इसलिये मैंने जैनगजटके जनवरी-फरवरी १६०८ के अंकोंमें जैनहितैषीकी कड़ी आलोचनाएँ[1] प्रकाशित की थीं जिनके फलस्वरूप उसका वह कीचड़ उछालना और भण्डप्रलाप बन्द हुआ था।

यद्यपि ब्रह्मचारीजीके साथ मेरा अनेक बातोंमें मतभेद तथा विचारभेद चलता था और उसे लेकर मैंने अनेक प्रकारसे उनकी आलोचना की है—उनके लेखोंपर टीका-टिप्पणी लिखी है और *'ब्रह्मचारीजीकी विचित्र स्थिति और अजीव निर्णय'* जैसे विरोधी लेख भी लिखे हैं; परन्तु इन सबके कारण परस्परमें मनोमालिन्य तथा व्यक्ति-गत द्वेषको कभी स्थान नहीं मिला। ब्रह्मचारीजी जब कभी मुझसे मिलते थे बड़े आदर तथा प्रेमके साथ मिलते थे, पत्र भी आदर-प्रेमके साथ लिखते थे और अनेक अवसरोंपर कुछ ग्रन्थियोंको सुलझाने तथा अनुसंधान-विशेषके लिये प्रेरणा भी किया करते थे। देहलीमें मेरे द्वारा 'समन्तभद्राश्रम' के खोले जाने और उससे 'अनेकान्त' पत्रकी प्रथम किरणके प्रकाशित हो जानेपर आप मेरे पास आश्रममें आये थे और आपने आश्रमका निरीक्षण करके अपना पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए जो रिपोर्ट १६ दिसम्बर १६२६ के जैनमित्र वर्ष ३१, अंक ६ में प्रकाशित की थी उसमे उन लोगोको, जो जैन-धर्मकी सेवा द्वारा अपना जीवन सफल करना चाहते हैं, यह खास प्रेरणा की थी कि उन्हें **अवश्य इस आश्रममें रहकर कर्मयोगी**

---

१. देखो, जैनगजट वर्ष १३, अंक २, ३, ७ में प्रकाशित 'जैनमित्र बम्बईकी समालोचना', 'जैनहितैषी और जैनमित्र', 'जैनहितैषीका मुँह छिपाना, शीर्षक लेख।

सेवक बनना चाहिये'' और साथ ही यह भी बतलाया था कि 'जो भाई जैन-जातिके कर्मयोगी त्यागी होना चाहते हैं उनके लिये यह आश्रम शरणभूत है।' इसके सिवाय वे मेरे 'अनेकान्त' पत्रकी बराबर प्रशंसा करते रहे हैं और उसकी किरणोंका परिचय भी ''जैनमित्र'' में निकालते रहे हैं। इधर जब मैंने वीर सेवामन्दिरकी स्थापना की और उसके उद्घाटनमुहूर्तके उत्सवपर ब्रह्मचारीजी सरसावा पधारे तब मैंने अवसर देखकर उन्हींके हाथसे उद्घाटनकी रस्म अदा करायी थी। इससे ब्रह्मचारीजी बहुत प्रभावित हुए और उन्हें भी यह मालूम हो गया कि मेरा विरोध विचारों तक ही सीमित रहता है, कभी व्यक्तिगत विरोधका रूप धारण नहीं करता। और इसलिये अपने भाषणमे उन्होंने मेरे व्यक्तित्वादिके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्तिके खुले उद्गार व्यक्त किये थे तथा रोकनेपर भी जोशमें आकर वीर सेवामन्दिरके लिये अपील की थी।

अपने पिछले जीवनमे ब्रह्मचारीजीकी इच्छा भ्रमणको छोड़कर एक ही स्थानपर अधिक रहनेकी हुई थी और उसके लिये उन्होंने वीर सेवामन्दिरको भी चुना था और मुझे उसके सम्बन्धमें पूछा था। मैंने इसपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उनके लिये सब कुछ सुविधाएँ कर देनेका आश्वासन दिया था। परन्तु फिर वे किसी कारणवश आए नहीं, उनका विचार कार्यमें परिणत नहीं हो सका। बादको वे बीमार पड़ गये तथा बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई, जिसने अन्तको उनका प्राण ही लेकर छोड़ा !!!

असाता वेदनीय कर्मके तीव्र उदयवश ब्रह्मचारीजीका अन्तिम जीवन कुछ कष्टमय जरूर व्यतीत हुआ है; परन्तु फिर-

भी उनसे जितना बन सका है वे ऐसी अवस्थामें भी समाजको सेवा करते रहे हैं, कम्पवातके कारण स्वयं अपने हाथसे नहीं लिख सके तो बोलकर लिखाते रहे हैं। यह उनकी भावनाका ज्वलन्त उदाहरण था। उनके स्थानकी शीघ्रपूर्ति होना बड़ा कठिन जान पड़ता है। ऐसे परोपकारी समाजसेवीका समाज जितना गुणगान करे और आभार प्रकट करे वह सब थोड़ा है। उनकी यादमें तो कोई अच्छा स्मारक बनाना चाहिये था। मालूम नहीं, दि० जैन परिषद्ने उनका स्मारक बनानेकी जो बात उठाई थी वह फिर खटाईमें क्यो पड़ गई। दो वर्ष होगये[1]!!

---

१. २४-३-१९४४।

राजगृहमें वीरशासन महोत्सव : ६ :

जबसे वीरसेवामन्दिरने यह प्रस्ताव पास किया था कि वीरशासन-जयन्तीका आगामी उत्सव राजगृहमें उस स्थानपर ही मनाया जावे, जहाँ वीरशासनकी 'सर्वोदय-तीर्थधारा' प्रवाहित हुई थी, तबसे लोकहृदय उस पुनीत उत्सवको देखनेके लिये लालायित हो रहा था और ज्यों-ज्यों उत्सवकी महानताका विचारकर लोगोकी उत्कण्ठा उसके प्रति बढ़ती जाती थी, और वे बार-बार पूछते थे कि उत्सवकी क्या कुछ योजनाएँ तथा तैय्यारियाँ हो रही हैं।

इधर बिहार और बंगालके कुछ नेताओने, जिन्हें उत्सव के स्वागतादि-विषयक भारको उठाना था, राजगृहकी वर्षा-कालीन स्थिति आदिके कारण जनताके कष्टोंका कुछ विचारकर और अपनेको ऐसे समयमें उन कष्टोंके समक्ष बड़े उत्सवका प्रबन्ध करनेके लिये असमर्थ पाकर कलकत्तामें एक मोटिंग की और उसके द्वारा यह निर्णय किया कि उत्सवको दो भागोमें बाँटा जाय—एक वीरशासन-जयन्तीका साधारण वार्षिकोत्सव और दूसरा सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव। पहला नियत तिथि श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको और दूसरा कार्तिकमें दीपावलिके करीब रहे और दोनों राजगृहमें ही मनाये जावें। उत्सवके करीब दिनोंमें इस समाचारको पाकर उत्सुक जनताके हृदयपर पानी पड़ गया—उसका उत्साह ठंडा हो गया—और अधिकांशको अपना बँधा-बंधाया बिस्तरा खोलकर यही निर्णय करना पड़ा कि बड़े उत्सवके समय जाड़ोंमें ही राजगृह चलेंगे। परन्तु जिनके

हृदयोंमें वीरशासनके अवतारकी पुण्यवेलाका महत्व घर किये हुए था, जो उसी समय विपुलाचलपर पहुँचकर वीरशासनके अवतार समयकी कुछ अनुभूति करना चाहते थे और वीरशासन-की उसके उत्पत्ति समय तथा स्थानपर ही पूजा करनेके इच्छुक थे, उन्होंने अपना निश्चय नही बदला और इसलिये वे नियत समयपर विपुलाचलपर पहुँचकर उस अपूर्व दृश्यको देखनेमें समर्थ हुए, जो बारबार देखनेको नही मिलता।

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा ७ जुलाईकी थी और राजगृहमे कोई १५ दिन पहलेसे वर्षाका प्रारम्भ हो गया था। ४ जुलाई सुबहको जब मैं मंत्रीजी सहित राजगृह पहुँचा तो खूब वर्षा हो रही थी, वहाँकी रेल्वे भी छलनीकी तरह टपकती थी। और चारो तरफ पानी ही पानी भरा हुआ था। ५ जुलाईको पर्वतकी यात्रा करते समय वर्षा आ गई और सारी यात्रा खूब पानी बरसनेमे ही आनन्दके साथ की गई और उससे कोई बाधा उत्पन्न नही हुई। ६ ता० को बादलोंका खूब प्रकोप था। रात्रिके समय तो इतने घने घिरकर आ गये थे और बिजलीकी भारी चमकके साथ ऐसी भयंकर गर्जना करते थे कि लोगोको आशंका हो गई थी कि कही ये कोई विघ्न-बाधा तो उपस्थित नही करेंगे। उसी समय यह प्रश्न होनेपर कि यदि कल प्रातःकाल भी इसी प्रकार वर्षा रही तो पर्वतपरके प्रोग्रामके विषयमें क्या रहेगा? उपस्थित जनताने बड़े उत्साहके साथ कहा कि चाहे जैसी वर्षा क्यों न हो पर्वतपरका प्रोग्राम समयपर ही पूरा किया जायगा। इधर कार्यका दृढ़ संकल्प और उधर वर्षाके दूर होनेकी स्थिर हार्दिक भावना, दोनोके मिलनेपर ऐसी आश्चर्य-जनक घटना घटी कि बादलोंने प्रातःकाल होनेसे पूर्व ही अपनी

भयंकरता छोड़कर बिदा लेनी शुरू कर दी और वे पर्वतारोहणके प्रोग्रामके समय एकदम छिन्न-भिन्न हो गये ! यह अद्भुत दृश्य देखकर उपस्थित विद्वन्मण्डली और इतर जनताके हृदयमें उत्साह-की भारी लहर दौड गई और वह द्विगुणित उत्साहके साथ गाजे-बाजे समेत श्रीवीर-प्रभु और वीरशासनका जयजयकार करती हुई विपुलाचलकी ओर बढ़ चली। जलूसमें लोगोंका हृदय आनन्दसे उछल रहा था और वे समवसरणमें जाते समयके दृश्यका-सा अनुभव कर रहे थे। विद्वानोके मुखसे जो स्तुति-स्तोत्र उस समय निकल रहे थे वे उनके हृदयके अन्त:-स्तलसे निकले हुए जान पड़ते थे और इसीसे चारों ओर आनन्द बखेर रहे थे। अनेक विद्वान् वीरशासनकी अहिंसादि-विषयक रंग-बिरंगी ध्वजाएँ तथा कपड़ेपर अंकित शिक्षाप्रद मौटोज अपने हाथोंमें थामे हुए थे। मेरे हाथमें वीरशासनका वह धवलध्वज (झंडा) था जो अन्तको विपुलाचल-स्थित वीरप्रभुके मन्दिरपर फहराया गया। पर्वत पर चढ़ते समय जरा भी श्रमबोध नहीं होता था—मानो कोई अपलिफ्ट (Uplift) अपनेको ऊँचे खीचे जा रही हो।

विपुलाचलके ऊपर पहुँचते ही सबसे पहले वीरशासनके झडेका अभिवादन किया गया। झंडाभिवादनकी रस्मको पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारसने, '**ऊँचा झंडा जिन शासनका परम अहिंसा दिग्दर्शनका**' इस गायनके साथ अदा किया, जिसे जैनबालाविश्राम आराकी छात्राओंने मधुर-ध्वनिसे गाया था।

इसी समय पर्वतपर सूर्यका उदय हो रहा था और सूर्य उस समय ऐसा देदीप्यमान तथा अपूर्व तेजवान प्रतीत होता था, जैसाकि इससे पहले कभी देखनेमें नहीं आया, मानों वीरशासन का अभिनन्दन करनेके लिये उसका भी अंग-अंग प्रफुल्लित हो रहा हो।

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाको सूर्योदयके समय ही वीरभगवानकी प्रथम देशना हुई थी और उनका धर्मतीर्थ प्रवर्तित हुआ था। अतः इस सूर्योदयके समय सबसे पहले महावीरसन्देशको सुननेकी जनताकी इच्छा हुई, तदनुसार ''**यही है महावीरसन्देश विपुलाचलपर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश**' इत्यादि रूपसे वह 'महावीर-सन्देश' सुनाया गया जिसमें महावीर जिनेन्द्रकी देशनाका सार संगृहीत है और जिसे जनताने आदर्शके साथ सुना तथा सुनकर हृदयंगम किया।

इसके बाद वीरप्रभुके मन्दिरमें पूजनादिकी योजना की गई। अभिषेकके बाद वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित वह 'जिन-दर्शन स्तोत्र' पढ़ा गया, जिसका प्रारंभ '**आज जन्म मम सफल हुआ प्रभु! अक्षय-अतुलित-निधि-दातार**' इन शब्दोंसे होता है। इसे पढते समय पढ़ने-सुननेवालोंका हृदय भक्तिसे उमड़ा पड़ता था। बादको पं० कैलाशचन्द्रजी आदिने ऐसी सुरीली आवाजमें मधुरध्वनि और भक्तिभावके साथ पूजा पढी कि सुननेवालोंका हृदय पूजाकी ओर आकर्षित हो गया और वे कहने लगे कि पूजा पढी जाय तो इसी तरह पढ़ी जाय जो हृदयमे वास्तविक आनन्दका संचार करती है। अन्तमें एक महत्वकी सामूहिक प्रार्थना की गई जिसका प्रारंभ ''हमे है स्वामी उस बलकी दरकार' इन शब्दोंसे होता है।

पूजाकी समाप्तिके अनन्तर सब लोग खुशी-खुशी उस स्थान-पर गये जहाँ वीरभगवानका समवसरण लगा था, जो विपुलाचल-पर समवसरणके योग्य सबसे विशाल क्षेत्र है और जहाँ वीरप्रभुकी प्रथम देशनाको उस दिन २५०० वर्ष हो जानेकी यादगारमें बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताने एक कीर्ति-स्तंभकी स्थापनाके

लिये कुछ तामीरकी थी और उसपर उत्तम संगमर्मरपर बने हुए एक स्मृति-पट्टक (Memorial tablet) की स्थापना करनी थी। इस स्मृति-पट्टककी स्थापनाका श्रेय मुझे प्रदान किया गया, जिसके लिये मैं बा० छोटेलालजीका बहुत ही आभारी हूँ।

जिस महान ऐतिहासिक घटनाकी यादगार कायम करनेके लिये यह स्मृतिपट्टक स्थापित किया गया उसके सम्बन्धमें उसी समय और स्थानपर उपस्थित सज्जनोंमेंसे ग्यारह विद्वानोंने संक्षेपमें अपने जो हार्दिक उद्‌गार व्यक्त किये वे बड़े ही मार्मिक थे, उन्हें सुनकर हृदय गद्‌गद् हुआ जाता था—उमडा पड़ता था—और वीरभगवानकी उस प्रथम देशनाके समयका साक्षात् चित्र-सा अंकित हो रहा था। मैं तो प्रयत्न करनेपर भी अपने आँसुओंको रोक नहीं सका। उस समय चारों ओर जो प्रभाव व्याप्त था और जैसा कुछ आनन्द छाया हुआ था उसे शब्दोंमें अंकित करनेकी मुझमें शक्ति नही—वह तो उस समय वहाँ उपस्थित जनताकी अनुभूतिका ही विषय था। ऐसा मालूम होता था कि कोई अदृश्य शक्ति वहाँ काम कर रही है और वह सबके हृदयोंको प्रेरणा दे रही है। उस समयके भाषणकर्ता विद्वानोंके उल्लेखनीय नाम (क्रमश:) इस प्रकार हैं— (२) पंडिता चन्दाबाईजी, (३) पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, (४) पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, (५) न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया, (६) पं० परमानन्दजी शास्त्री (७) बा० शतोश-चंदजो शील (बंगाली), (८) बा० लक्ष्मीचंद्रजी एम० ए०, (९) बाबू छोटेलालजी, (१०) बा० कौशलप्रसादजी, (११) बा० अशोककुमारजी (बंगाली)।

भाषणोंके अनन्तर उस स्थानसे उठनेको किसीका जी नहीं चाहता था। आखिर मनको मारकर दूसरा प्रोग्राम पूरा

करनेके लिये चलना ही पड़ा। इसके बाद पहाड़पर उपस्थित सारी जनताको बा० छोटेलालजी कलकत्ताकी ओरसे शुद्ध मिष्टान्नादिके रूपमें प्रीतिभोज दिया गया और वह बड़े आनन्दके साथ सम्पन्न हुआ।

पर्वतपरसे उतरकर मन्दिरोंके दर्शन और भोजनकर लेनेपर भी पर्वतपरके उस अपूर्व दृश्यकी बार-बार स्मृति होती थी और हृदयमें आनन्दकी लहरें छा जाती थीं। बा० छोटेलालजीने उस दिन ६००–७०० कंगलोंको भोजन कराया। और फिर रात्रिको वीरशासन-जयन्तीका वार्षिक जल्सा हुआ, जिसमें सभापतिका आसन त्यागमूर्ति पंडिता चन्दाबाईजीको प्रदान किया गया। बा० छोटेलालजीके हृदयद्रावक स्वागत-भाषण और पं० चन्दाबाईजीके हृदय-स्पर्शी भाषणके अनन्तर अनेक विद्वानोके महत्वपूर्ण भाषण हुए जिनमे वीरभगवानकी लोकसेवाओं और उनके शासनपर प्रकाश डाला गया तथा वीरशासन-जयन्ती-पर्वके महत्वकी घोषणा की गई। उसी समय एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सवके अवसरपर साहित्य-प्रकाशन, कीर्तिस्तम्भ-स्थापन और साहित्य-सम्मेलनादिके आयोजनपर जोर दिया गया। अगले दिन ८ जुलाईको सुबह ८ बजेके करीब जो जल्सा हुआ उसमें भी ७ प्रस्ताव पास किये गये।

इस उत्सवके आयोजन, आतिथ्य-सत्कार और खर्चका सब भार बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता, सभापति वीरसेवामन्दिरने उठाया है, इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है।[१]

---

१. अनेकान्त वर्ष ६, कि० १२, जुलाई १९४४

कलकत्तेमें वीरशासन-महोत्सव

वीरशासनके जिस सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सवकी अर्सेसे आवाजें सुनाई पड़ रही थीं, योजनाएँ हो रही थी और प्रतीक्षा की जा रही थी वह आखिर कलत्तामें ३१ अक्तूबरसे ४ नवम्बर तक बड़ी सफलताके साथ हुआ। यह आशा नही थी कि राजगृहके लिये संकल्पित यह महोत्सव कलकत्तेमें इतने अधिक समारोहके साथ मनाया जा सकेगा। परन्तु यह इस महोत्सवकी ही विशेषता है जो कलकत्तेवालोंके मुँहसे भी यह कहते हुए सुना गया कि इतना बड़ा महोत्सव कलकत्तेमें इससे पहले कभी नहीं हुआ। अनेक प्रतिबन्धोंके होते हुए भी दूर-दूर से सभी प्रान्तोंकी जनता अच्छी संख्यामें उपस्थित हुई थी, प्रतिष्ठित सज्जनो और विद्वज्जोंका अच्छा योग भिड़ा था, सभी वर्गोके चुने हुए विद्वानोंका इतना बड़ा समूह तो शायद ही समाज-के किसी प्लेटफार्म पर इससे पहले कभी देखनेको मिला हो।

ता० ३१ को रथयात्राका शानदार जलूम दर्शनीय था। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंका जलूस मिलकर १।। मीलके करीब लम्बा था। जलूसमें रथों, पालकियों, चाँदी सोनेके सामानो, ध्वजाओं, बेंडबाजों और दूसरी शोभाकी चीजोकी इतनी अधिक भरमार थी कि दर्शकोंकी दृष्टि भी लगातार देखते २ थक जाती थो, परन्तु देखनेकी उत्सुकता बन्द नहीं होती थो—चीजोंमे अपने-अपने नये रूप, रंगढंग और कला-कौशल आदिका जो आकर्षण था वह जनताको अपनी ओर आकर्षित और देखनेमें उत्सुक किये हुए था। लाखोंकी जनता

उत्सवको टकटकी लगाये देख रही थी, कलकत्तेके लम्बे-चौड़े बाजार दर्शकोंसे भरे हुए थे और दोनों ओरके कई मंजिले मकानोंकी सभी मंजिलें दर्शकोंसे पटी पड़ी थीं—भीड़के कारण नये आगन्तुकोंको प्रवेशमें बड़ी दिक्कत होती थी। बाजारोंमें ट्राम्वे तथा मोटर बसों आदिका चलना प्रातःकालसे ही बन्द था—उनकी बन्दीके लिये पहले दिन ही पत्रोंमे सरकारी आर्डर निकल गये थे। जलूसका झंडा बहुत ऊँचा होनेके कारण जगह-जगह पर बिजलीके तार काट दिये जाते थे और फिर बादको जोड़े जाते थे। यह खास रिआयत जैनसमाजको ही वहाँ अपने वार्षिकोत्सवके लिये प्राप्त है, जो कार्तिकी पूर्णिमासे मंगसिर बदि पंचमी तक होता है, और जिससे यहाँ स्पष्ट है कि वहाँका जैनसमाज बहुत पहलेसे ही विशेष प्रभावशाली तथा राजमान्य रहा है। कलकत्तेकी रथयात्राका यह जलूस भारतवर्षके सभी जैन-रथोत्सवके जलूसोंसे बड़ा तथा महत्वका समझा जाता है। इसबार वीरशासन-महोत्सवके कारण यह और भी अधिक विशेषताको लिये हुए था और अपने रंगढंगसे जैनियोंकी सामाजिक प्रभावनाको दूसरोंपर अंकित कर रहा था। दिगम्बरोंका जलूस चावलपट्टीके पंचायती मन्दिरसे चलकर बेलगछियाके उपवनी मन्दिरमें समाप्त हुआ था, जो बड़ा ही रमणीक स्थान है और वहीं पर महोत्सवका भव्य पण्डाल (सभामण्डप) बना था, जिसमें ऊँचे विशाल प्लेटफार्म (स्टेज) के अलावा बैठनेके लिये कुर्सियाँ थीं, बिजलीकी लाइट थी और लाउड-स्पीकरोंका भी प्रबन्ध था।

जलूसकी समाप्तिपर भोजनसे निपटते ही उपस्थित जन पण्डालमें पहुँचने शुरू हो गये और बात-की-बातमें सभामण्डप

जनतासे खचाखच भर गया। उस दिन यह समझ कर कि जलूसके कारण जनता थकी हुई होगी, रात्रिके समय कोई विशेष तथा भारी प्रोग्राम नहीं रक्खा गया था। परन्तु उत्सुक जनसमूहको देखकर महसूस हुआ कि उस रात्रिको विद्वानोंके भाषणादिरूपमें यदि कोई अच्छा प्रोग्राम रक्खा जाता तो वह खूब सफल होता। अस्तु, दो विद्वानोंके भाषण हुए और फिर कविसम्मेलनका साधारण-सा जलसा करके तथा अगले दिनका प्रोग्राम सुनाकर कार्रवाई समाप्त की गई। तदनन्तर मन्दिरमें श्रीजिनेन्द्रमूर्तिके सम्मुख कीर्तन प्रारम्भ हुआ, जिसमे सेठ गजराजजीके नृत्यपर सबकी आँखें लगी हुई थीं और श्रीवीर जिनेन्द्र तथा वीरशासनकी जय-जयकार हो रही थी।

१ ली नवम्बरको सुबह ९ से ११।। तक जैन भवनमें स्वागतसमिति और आगत प्रतिनिधियोका एक सम्मेलन सेठ गजराजजीके सभापतित्वमे हुआ, जिसमे वीरशासन महोत्सवकी सफलता और कलकत्तामें उसकी एक यादगार कायम करने आदिके विषयमें विचार-विमर्श किया गया और इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोके भाषण हुए, जिनमे उन्होने अपने-अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट किया। तीसरे पहर बेलगछियामे अजैन विद्वानों के लिये एक टी-पार्टीकी योजना की गई, जिसमें लगभग ५०० प्रतिष्ठित विद्वानो तथा स्कॉलरो आदिने भाग लिया और जो बड़ी ही शानके साथ सम्पन्न हुई। जैनियोंके लिये संध्या-भोजनका प्रबन्ध भी बेलगछियामें ही था। टी-पार्टी और भोजनके अन्तर संध्या समय झंडाभिवादनकी रस्म सर सेठ हुकमचन्दजी प्रधान सभापति महोत्सवने अदा की। इस अवसरपर विभिन्न समाजों और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंके १७ कालिज-छात्राओंने

श्रीसुशीलादेवीके नेतृत्वमें 'ऊँचा झंडा जिन शासनका' यह सुन्दर गान बड़ी ही मधुर ध्वनिसे गाया और वह सबको बड़ा ही प्रिय मालूम दिया।

तत्पश्चात् सभामण्डपमें अधिवेशनकी कार्रवाई प्रारंभ हुई। मंगलाचरण और उक्त छात्राओंका 'अखिल जग तारण को जलयान, प्रकटी वीर! तुम्हारी वाणी जगमें सुधा-समान' यह मंगलगान हो जानेके अनन्तर सभापतिका चुनाव हुआ। इसके बाद डा० श्यामाप्रसाद मुकरजी एम० ए० डी० लिट्०, प्रेसीडेंट आल इण्डिया हिन्दू महासभाका महोत्सवके उद्‌बोधन रूपमें महत्वका अंग्रेजी भाषण हुआ, स्वागताध्यक्ष साहू शान्ति-प्रसादजीने अपना भाषण पढ़ा, एक महिलाने बाजेपर बंगलामें 'महावीर संदेश' गाया और फिर बाबू निर्मलकुमारजीने साहित्यादिके रूपमें वीरशासनके प्रचार तथा शोध-खोजके कार्यों-के लिये कलकत्तामें एक संस्थाकी योजनाका शुभ समाचार सुनाया और बतलाया कि उसके लिये दो लाखसे ऊपरका चन्दा हो गया है, जो सुनाते ही तीन लाखके करीब हो गया और बादको दो तीन दिनोंमें चार लाख तक पहुँच गया। इस चन्देमे सबसे बड़ी रकम ७१ हजारकी सेठ बल्देवदासकी और ५१--५१ हजारकी तीन रकमें क्रमशः बाबू छोटेलालजी, साहू शान्ति-प्रसादजी और सेठ दयारामजी पोतदारकी हैं। पोतदार महोदय अजैन बन्धु हैं और बा० छोटेलालजी आदि प्रतिष्ठित जैन-बन्धुओंसे बड़ा प्रेम रखते हैं। उन्होंने जब यह सुना कि बाबू छोटेलालजी ५१०००) की रकमके साथ-साथ अपना जीवन भी इस शुभ कामके लिये अर्पण कर रहे हैं तो उनसे नहीं रहा गया और उन्होंने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी ओरसे

५१०००) रु० की रकम श्रद्धाञ्जलिके रूपमें अर्पण की, जो अनेक दृष्टियोंसे बड़ी मूल्यवान है। सेठ गजराजजीकी ओरसे ३१ हजारकी रकमकी घोषणा हुई। इस शुभ समाचारसे सारी सभामें आनन्द छा गया और उत्साहकी लहर दौड़ गई। तदनन्तर भारतके सभी भागोंसे आए हुए देशके प्रतिष्ठित जैनेतर विद्वानोंके सन्देशोंको बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम० ए० ने संक्षेपमे सुनाया और फिर सभापति महोदय सर सेठजीने अपना भाषण पढ़ा, जो अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण था और जिसमें वीरशासनकी विशेषताओं तथा तत्संबंधी महत्वका दिग्दर्शन कराते हुए उसके प्रति संक्षेपमें अपने कर्तव्यपालनका अच्छा निर्देश किया गया है। इसके बाद डा० कालीदास नाग एम० ए० का भ० महावीरकी सेवाओं और उनके अहिंसादि शासनकी महत्ताके सम्बन्धमें एक बड़ा ही महत्वपूर्ण आकर्षक भाषण हुआ, जो खूब पसन्द किया गया।

ता० २ नवम्बरको सुबह जैन-भवनमें जैनधर्म परिषद्का जलसा बाबू अजितप्रसादजी एम० ए० लखनऊके सभापतित्वमें हुआ, जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'भ० महावीरका अचेलक धर्म' नामका निबन्ध पढ़ना शुरू किया, जो विषयकी दृष्टिसे ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण था, परन्तु स्वागताध्यक्षने उसे कुछ अप्रासंगिक तथा उस ऐक्यमें बाधक समझकर जो दिगम्बर और श्वेताम्बर समाजोंमें इस महोत्सवके सम्बन्धमें वहाँ सम्पन्न हुआ था। इससे विद्वानोमें असन्तोषकी कुछ लहर तथा गड़बड़ी-सी पैदा हुई। फिर जैनेन्द्रजीका भाषण हुआ।

रात्रिको बेलगछियाके सभामण्डपमें डा० सातकौडी मुकर्जीके सभापतित्वमें जैनदर्शन परिषद्का अधिवेशन हुआ जिसमें न्याया-

चार्य पं० महेन्द्रकुमारजी और प्रो० हीरालालजी एम० ए० के महत्वपूर्ण व्याख्यानोंके अनन्तर सभापतिजीका जैनधर्मके अहिंसादि सिद्धान्तोंपर अंग्रेजीमें ओजस्वी भाषण हुआ। भाषणकी गति इतनी तेज थी कि वह स्पेशल ट्रेनकी गतिको भी मात करती थी और इसीसे रिपोर्टरोको यथेष्ट रिपोर्ट लेते नही बनता था, वे कलम थामकर बैठ गये थे। तत्पश्चात् डा० कालीदास का बगला भाषामे जैनधर्मकी प्राचीनता, महत्ता तथा शिल्प-कलादि-विषयक बड़ा ही रोचक व्याख्यान हुआ और बादको उसके साथमें छायाचित्रोकी योजनाने उसे और भी अधिक मनोरजक बना दिया। सारी जनता एकाग्र थी और चित्रोंको देखकर तथा भाषणको सुनकर गद्गद् हो रही थी। बाबू लक्ष्मी-चन्द्रजी साथ-साथ बंगलाका हिन्दी अनुवाद भी सुनाते जाते थे। जैनधर्मके प्रचारका यह तरीका अच्छा प्रभावशाली जान पड़ा। इसके बाद वैद्यराज पं० कन्हैयालालजी कानपुरके सभापतित्वमें जैन आयुर्वेद परिषद् हुई। सभापतिजीने अपना लम्बा मुद्रित भाषण संक्षेपमे पढ़ कर सुनाया। अधिक समय हो जानेसे दूसरे भाषणोको अवसर नही मिल सका।

ता० ३ नवम्बरको सुबह जैनभवनमें जैनविज्ञान-परिषद्का अधिवेशन प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्यके सभापतित्वमे हुआ। पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने अपना महत्वपूर्ण निबन्ध पढ़ा और उसके द्वारा जैन-ज्योतिषकी महत्ताको अनेक प्रकारसे स्थापित किया। प्रो० हीरालालजी आदि और भी कुछ विद्वानोके भाषण मंत्रशास्त्रादि-विषयोंपर हुए। अन्तमें सभापतिजीका जैन-विज्ञानके अनेक अंगोंपर जैनसिद्धान्तोकी प्रशंसामें मार्मिक भाषण हुआ।

रात्रिको बेलगछियामें कला और पुरातत्व-परिषद्का अधि-

वेशन प्रो० टी० एन० रामचन्द्रन् एम० ए० के सभापतित्वमें हुआ, जो बा० छोटेलालजीके अनुरोधपर मद्राससे पधारे थे और अपने साथ चित्रों आदिके रूपमें जैनकला और पुरातत्वकी कितनी ही सामग्री लाये थे, जिसे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपका मार्मिक भाषण अंग्रेजीमे लिखा हुआ था, जिसे आपने बड़े ही प्रभावक ढंगसे पढ़कर सुनाया और उसके द्वारा जैनकला तथा पुरातत्वके सभी अंगोपर अच्छा प्रकाश डाला और उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की। साथ ही यह भी बतलाया कि भारतमें सब ओर जैनकला और शिल्पका भण्डार भरा पड़ा है। आपके बाद डॉ० वी० एम० बटुआ एम० ए० का बंगालीमें और डॉ० एस० परमशिवम् (मद्रासी) का अंग्रेजीमें भाषण हुआ। इसके बाद जैनइतिहास परिषद्का कार्य प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० नागपुरके सभापतित्वमे प्रारम्भ हुआ। सभापतिजीके भाषणके अनन्तर प्रो० कालीपदमजी मित्रका बंगालीमे भाषण हुआ और उसमे जैन-इतिहासकी महत्ताको प्रकट किया गया। तदनन्तर बा० छोटेलालजीने आए हुए कुछ अंग्रेजी निबन्धोंकी सूचना की और बतलाया कि समयाभावके कारण वे पढ़े नही जा सकते। तदनन्तर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईका यापनीयसंघके इतिहास पर कुछ प्रकाश डालता हुआ संक्षिप्त भाषण हुआ।

ता० ४ नवम्बरको सुबह ६ बजेसे श्वेताम्बर गुजराती जैन उपाश्रयमें जैन-साहित्य और कथा—विभागका अधिवेशन डॉ० कालीदास नाग एम० ए० के सभापतित्वमें हुआ। इस अवसर-पर कितने ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर विद्वानों एवं प्रतिष्ठित पुरुषोंने परस्परके इस मिलन और मिलकर वीरशासन महोत्सव मनाने पर हार्दिक हर्ष व्यक्त किया। साथ ही अनेकान्तको

अपनाकर वीरशासनके सच्चे उपासक बनने तथा वीरशासनके प्रचार कार्यमें सबको मिलकर एक हो जानेकी आवश्यकता व्यक्त की। समय अधिक हो जानेसे सभापतिजीने थोड़े-में ही हितकी बात सुझाई, अपनी-अपनी त्रुटियोंको शोधने, मिलकर कार्य करने और बौद्धसाहित्यकी तरह जैन-साहित्यको सर्व भाषाओंमें प्रकट करनेकी आवश्यकता बतलाई। आजकी इस कार्रवाईका दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंपर अच्छा प्रभाव पड़ा और परस्पर भ्रातृभाव कुछ उमड़ा हुआ और उत्सुक-सा नजर आया।

रात्रिको बेलगछियाके सभामण्डपमें अनेक विद्वानोंके भाषण हुए, तदनन्तर हिन्दुला संशोधन-समितिके सामने जैनमाँगोंको उपस्थित करने, और वर्णी गणेशप्रसादजीकी हीरकजयन्तीका अभिनन्दन करनेके रूपमें दो प्रस्ताव पास किये गये और फिर धन्यवाद तथा आभार-प्रदर्शनादिके अनन्तर महोत्सवकी कार्रवाई 'भगवान महावीरकी जय' के साथ समाप्त की गई।

सबसे बड़ा काम

इस महोत्सवके अवसरपर श्रीमती पंडिता चन्दाबाईके सभापतित्वमें महिला परिषदकी अच्छी सफल बैठक हुई, कितने ही विद्वानोंने मिलकर एक विद्वत्परिषद्की स्थापना की; तीर्थ-क्षेत्रकमेटीकी मीटिंग होकर उसके सुधारका बीज बोया गया और उसके लिये पाँच लाख रुपयेके स्थायी फण्डकी तजवीज की गई, जिसमेंसे दो लाखके करीबके वचन मिल गये। प्रो० हीरा-लालजीके साथ उनके मन्तव्योंके सम्बन्धमें विद्वत्परिषद्की कुछ महत्वपूर्ण चर्चा हुई है। और सर सेठ हुकुमचन्द तथा सेठ गंभीर-मल पांड्याका पारस्परिक विरोध मिटकर सम्मिलन भी हुआ

है। ये सब भी इस महोत्सवके सुन्दर परिणाम हैं। परन्तु सबसे बड़ा काम जो इस महोत्सवके द्वारा बन सका है वह बाबू छोटेलालजीका वीरशासनके लिये अपना जीवनदान है। लाखों-करोड़ोका दान भी उसके मुकाबलेमे कोई चीज नहीं। वास्तवमें यह सारा महोत्सव ही बाबू छोटेलालजीका ऋणी है, उन्हींके दिमागकी यह सब उपज है, वे ही इसे वीरसेवामन्दिरसे राजगिरि, राजगिरिसे कलकत्ता ले गये हैं। कलकत्ताकी सारी मशीनरीके वे ही एक मूविंग-एँजिन (Moving Engin) रहे हैं और उन्हींकी योजनाओ, महीनोंके अनथक परिश्रमों, व्यक्तिगत प्रभावों तथा स्वास्थ्य तककी बलि चढानेसे यह इस रूपमें सम्पन्न हो सका है। अत: इसके लिये बाबू छोटेलालजी जैसे मूक सेवक का जितना भी आभार माना जाय और उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। आप स्वस्थताके साथ दीर्घजीवी हों, यही अपनी हार्दिक भावना है।[1]

---

१. अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, नवम्बर १९४४

श्रीदादीजी

आप नानौता जिला सहारनपुरके जैन रईस स्वर्गीय ला० सुन्दरलालजीकी धर्मपत्नी हैं। मेरे पिताकी सगी मामी होनेसे मेरी दादी हैं। स्थानीय जनता आपको बड़ीजी तथा दादीजीके नामसे ही पुकारती है। यों आपका नाम 'रामी' बाई है। आपकी अवस्था इस समय ८३ वर्षकी है। आपका जन्म देवन रि० फरीदकोट (पंजाब) में वि० संवत् १६१७ में हुआ था। आपके पिताका नाम कन्हैयालाल और माताका अनोखी था।

यद्यपि जन्मसे आप अग्रवाल वैश्यकुलमें उत्पन्न हुई थी, परन्तु विवाहित होते ही आप जैनधर्ममें ऐसी परिणत हो गई जैसी कि पण्डिता चंदाबाईजी। भले ही आपकी शिक्षा विशेष नही हुई—साधारण भक्तामरादि स्तोत्र, भजन-संग्रह, भूधर-जैनशतक और पूजापाठकी पुस्तकें ही आप पढ़ लेती हैं, फिर भी आपने शास्त्र खूब सुने हैं और जैनाचार-संबन्धी व्रत-नियम-उपवास तथा शीलसंयमादिकी कोई भी बात ऐसी उठा नही रक्खी जिसपर आपने दृढ़ताके साथ अमल न किया हो। मुख्य मुख्य यात्राएँ भी आपने सब ही की हैं—तीन महीने दक्षिण-देशीय यात्रामें आप सकुटुम्ब मेरे साथ भी रही हैं और पूर्वकी यात्राओंमें भी खण्डगिरि, उदयगिरि तक साथ रही हैं।

आपका स्वभाव जीवन-भर बड़ा ही नम्र, प्रेमपूर्ण और सेवापरायण रहा है। कोई भी अतिथि घरपर आये उसे आपने सादर भोजन कराये बिना जाने नही दिया। अतिथि-

सेवामें आप बहुत दक्ष हैं। आपमें पुरुषों जैसा पुरुषार्थ और वीरों जैसी हिम्मत तथा हौसला रहा है। चार-चार भैंसों तक की धार आपने अकेले एक साथ निकाली है। जिस कामके लिए पुरुष भी उकता जाय उसको आप सहज साध्यकी तरह सम्पन्न करती रहीं हैं। इस वृद्ध अवस्थामें भी आपका इतना पुरुषार्थ अवशिष्ट है कि आप भोजन बना लेती हैं, चक्की चला लेती हैं और गाय-भैंसको दुहने तथा दूध-दहीके बलोनेका काम भी कर लेती हैं। साथ ही एक आश्चर्यकी बात यह है कि अंगोंमें बहुत कुछ शिथिलता आ जाने और शरीरपर झुर्रियाँ पड़ जानेपर भी आपके सिरका एक भी बाल अभी तक सफेद नही हुआ है।

कोई ४५ वर्षकी अवस्थामें आपको वैधव्यकी प्राप्ति हुई, उसके छः वर्ष बाद ही आपका देवकुमार-सा इकलौता पुत्र 'प्रभुदयाल' भी चल बसा! जो बहुत ही बुद्धिमान तथा साधु-स्वभावका था। उससे थोड़े ही दिन बाद आपकी पुत्री 'गुणमाला' बाल-विधवा होगई! और फिर आपकी पुत्रवधू भी २-३ वर्षकी पुत्री 'जयवन्ती' को छोड़कर चल बसी!! इससे आपके ऊपर भारी संकटका पहाड़ टूट पड़ा! परन्तु इस दु:खावस्थामें भी आपने धैर्य तथा पुरुषार्थ नही छोड़ा, कर्त्तव्यसे मुख नहीं मोड़ा और आप मर्दोंकी भाँति बराबर निर्भय होकर जमींदारीके कार्य-संचालनमें लगी रही।

पुत्री गुणमाला तथा पोती जयन्तीको शिक्षा देना भी अब आपका ही कर्त्तव्य रह गया था, जिसकी ठीक पूर्ति दोनोंको घरपर रखनेसे नहीं हो सकती थी। अतः आपने दोनोंको मेरे पास देवबन्द शिक्षाके लिए भेज दिया। जब मेरी धर्मपत्नीका

देहान्त हो गया तब मैंने इन्हें पंडिता चन्दाबाईजीके आश्रममें आरा भिजवा दिया और इनकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध कर दिया। नगरके लोगों और अनेक इष्ट जनोंने दादीजीसे कहा कि तुम ऐसी दुःख संकटकी अवस्थामे इन्हें बाहर क्यो भेजती हो? अपनी छातीसे लगाकर क्यो नही रखती? परन्तु विद्यासे प्रेम रखनेवाली और अपने आश्रितजनोका भला चाहनेवाली दादीजीने उनकी एक नहीं सुनी और स्वयं अकेलेपनके कष्ट झेलकर भी वर्षों तक इन्हें बाहर ही रखकर शिक्षा दिलाई। इन दोनोके प्रति चन्दाबाईजोकी श्रद्धा बहुत बढ़ी-चढ़ी है। गुणमालाका सती-साध्वी-जैसा जीवन आपको पसन्द आया और जयवन्तीकी बुद्धिमत्ता तथा सुशीलता मनको भा गई। इसीसे जब कभी पंडिताजोकी इच्छा होती है वे इन्हे अपने पास बुला लेती हैं, यात्रादिकमें अपने साथ रखती हैं और स्वयं भी कई बार इधर इनके पास आई हैं और सदैव इनके हितका खयाल रखती हैं। चि० जयवन्तीको आपने 'जैनमहिलादर्श' की उपसंपादिका भी नियत कर रक्खा है।

अपनी आशाकी एकमात्र केन्द्र चि० जयवन्तीका भले प्रकार पालन-पोषण एव सुशिक्षण सम्पन्न करके और प्रतिष्ठित घरानेके योग्य वर बा० त्रिलोकचन्द बी० ए० के साथ उसका सम्बन्ध जोडकर दादाजीने सोचा था कि वह जमीदारीका सारा भार त्रिलोकचन्द्र वकीलके सुपुर्द करके निश्चिन्त हो जावेगी और अपना शेष जीवन पूर्णतया धर्मध्यानके साथ व्यतीत करेंगी, परन्तु दुर्दैवको यह भी इष्ट नही हुआ—अभी सम्बन्धके छह वर्ष भी पूरे न होने पाये थे कि त्रिलोकचन्दका अचानक स्वर्गवास होगया! जयवन्ती भी बालविधवा बन गई! पुत्रके

पहले ही चल बसनेसे उसकी गोद भी खाली होगई ! और दादीजीकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया !

इस तरह दादीजीका जीवन एक प्रकारसे दुख और संकटकी ही करुण कहानी है ! परन्तु आपने बड़ी वीरताके साथ संकटोंका सामना किया है और धैर्यको कभी भी हाथसे जाने नहीं दिया। आप सदा बातकी सच्ची और धुनकी पक्की रही हैं। दूसरेके थोड़ेसे भी उपकारको आपने बहुत करके माना है। जिसे आपने एक बार वचन दे दिया, फिर लाख प्रलोभन मिलने तथा प्रचुर आर्थिक लाभ होनेपर भी आप उससे विचलित नही हुई—इस विषयकी कई रोचक घटनाएँ हैं, जिन्हें यहाँ देनेके लिए स्थान नही है। पैसा आप कभी फिजूल खर्च नहीं करती; परन्तु जरूरत पडने पर उसके खुले हाथो खर्चनेमे कभी संकोच भी नही करती। इन्ही सब बातोंमे आपका महत्व सनिहित है।

मेरे मुख्तारकारी छोड़ने पर आपने नानौतासे देवबन्द आकर मुझे शाबाशी दी और मेरी कमर हिम्मतकी थपथपाई। इसपर गृहिणीको कुछ बुरा भी लगा; क्योकि पिता, भाई आदि और किसीने भी मेरे इस कार्यका इस तरहसे अभिनन्दन नही किया था। परन्तु बादको आपके समझाने पर वह भी समझ गई।

देहली-करौल बागमे जब समन्तभद्राश्रम था तब एक बार सारे स्टॉफके बीमार पड जाने और अनेकान्तके प्रूफ आदि कार्योकी मारामारीके कारण मुझे पाँच दिन तक भोजन नही मिला था, उस समय खबर पाकर आप ही नानौतासे देहली पहुँची थी और आपने छठे दिन मुझे भोजन कराया था। वीरसेवामन्दिरकी स्थापनाके अवसरसे आप उसके हरएक उत्सवमें आतिथ्य-सेवाके लिए स्वयं पधारती रही हैं अथवा

अपनी सुयोग्य पुत्री गुणमाला तथा पोती जयवन्तीको भेजती रहीं हैं, जिससे मुझे कोई विशेष चिन्ता करनी नहीं पड़ी। इसके सिवाय, बीमारियोंके अवसर पर आप बराबर मेरी खबर लेती रही हैं, माताकी तरहसे मेरे हितका ध्यान रखती और मुझे धैर्य बँधाती रहती हैं। इस समय भी आप मेरी बीमारीकी खबर पाकर और यह जानकर कि सारा आश्रम बीमार पड़ा है, वीरसेवामन्दिरमे पधारी हुई हैं और रोटी-पानीकी कुछ व्यवस्था कर रही हैं। सत्कार्योंके करनेमे मुझे सदा ही आपसे प्रेरणा मिलती रही है—कभी भी आप मेरी शुभ प्रवृत्तियोमें बाधक नही हुई। इन सब सेवाओंके लिए मैं आपका बहुत ही उपकृत हूँ और मेरे पास शब्द नही कि मैं आपका समुचित आभार प्रकट कर सकूँ।

वीरसेवामन्दिरसे आप विशेष प्रेम रखती हैं और सदा उसकी उन्नतिकी भावनाएँ करती रहती हैं। हालमें आपने वीरसेवामन्दिरको १०१) रु० की सहायता भी प्रदान की है।

अन्तिम जीवन :—

जिन श्रीदादीजीका उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय मैंने अपनी उक्त रुग्णावस्थाके समय ही यह समझकर लिखा और उसे उनके चित्रसहित 'अनेकान्त' में प्रकाशित किया था कि कहीं बीमारीके चक्करमें पड़कर ऐसा न हो कि मुझे आपका परिचय लिखने और आपके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करनेका अवसर ही न मिल सके, उन पूज्य दादीजीके विषयमें मैंने उस वक्त यह नही सोचा था कि वे इतना शीघ्र ही किसी विधि-व्यवस्थाके वश सारे प्रेमबन्धनोंको तोड़ कर हमें छोड़ जाने-वाली हैं और इसलिये कोई ढाई वर्ष बाद अनेकान्तके

ही कालमोंमें मुझे श्रीदादीजीका वियोग लिखते समय बड़ा कष्ट हुआ था। मेरे लिये उस समय इतना ही सन्तोषका विषय था कि मैं दादीजीकी बीमारीकी खबर पाकर देहलीसे नानौता आठ दिन पहले सेवामें पहुँच गया था। और मैंने अपनी शक्तिभर उनकी सेवा करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खी। मेरे पहुँचनेके कुछ दिन पहलेसे दादीजी बोलती नहीं थीं और न आँखें ही खोलती थीं। मेरे आनेका समाचार पाकर उन्होंने आँख जरा खोली और पुकारनेपर शक्तिको बटोरकर कुछ हँगूरा भी दिया। अगले दिन (१ ली जून १९४५ को) तो उन्होंने अच्छी तरह आँखें खोल दी और वे बोलने भी लगी। इससे उनके रोगमुक्त होनेकी कुछ आशा बँधी और साथही उनके उस श्रद्धावाक्यकी भी याद हो आई जिसे वे अक्सर कहा करती थीं कि "जब तुम आजाते हो हमारे रोग-सोग सब चले जाते हैं"। कई बार रोगोंसे मुक्तिके ऐसे प्रसंग उपस्थित भी हुए हैं जो उनकी श्रद्धाके कारण बने हैं और इसलिये उन्हें उनके उक्त श्रद्धावाक्यको याद दिलाते हुए कहा गया कि "आप अब आपको अपनी धारणानुसार जल्दी अच्छा हो जाना चाहिए।" कई दिन वे अच्छी रहीं थीं; परन्तु अन्तको आयुकर्मने साथ नहीं दिया और तारीख ७ जून १९४५ (ज्येष्ठ कृष्णा १२) गुरुवारको दिनके ११।। बजेके करीब इस नश्वर एवं जीर्ण देहका समाधिपूर्वक त्याग करके स्वर्ग सिधार गई। और इस तरह जैन-समाजसे एक ऐसी धर्मपरायण-वीरांगना उठ गई जो कष्टोंको बड़े धैर्यके साथ सहन करती हुई कर्तव्य-पालनमें निपुण थी, जिसका हृदय उदार और अतिथि-सत्कार सराहनीय था, जो अपने हितकी अपेक्षा दूसरोंके और खासकर आश्रित

जनोंके हितकी अधिक चिन्ता रखती थीं; जो गुणीजनोंको देखकर प्रफुल्लित हो उठती थीं और विद्यासे जिनको बड़ा प्रेम था और सत्कार्योंमें जिसका सदा सहयोग रहा है ।

जीवनके पिछले आठ दिनोंमें मैंने उनके पास रहकर, उन्हें धर्मकी बातें सुनाकर और उनसे कुछ प्रश्न करके जो निकटसे उनकी स्थितिका अनुभव किया तो उससे मालूम हुआ कि वे अपने अन्तिम जीवनमें भी वीर बनी रही हैं; उन्होंने अपने कष्टको स्वयं झेला, दूसरोंपर अपना दुःख व्यक्त नही किया और न मुखमुद्रा पर ही दुःखका कोई खास चिन्ह आने दिया, इस ख्यालसे कि कही दूसरोंको कष्ट न पहुँचे ।[1] कूल्हने-कराहने-का नाम तक नहीं सुना गया, गुस्सा और झुंझलाहट, जो अक्सर कमजोरीके लक्षण होते हैं, पास नही फटकते थे, पूछने पर भी कि क्या तुम्हे कुछ वेदना है ? सिर हिला दिया—नही। ऐसा मालूम होता था कि आप कर्मोदयको समताभावके साथ सहन करती हुई एक साध्वीके रूपमें पड़ी हैं । आपकी परिणति बहुत शुद्ध रही है । आशा, तृष्णा और मोहपर आपने बड़ो विजय प्राप्त की है; किसी चीजमें भी मनका भटकाव नहीं रक्खा; किसी भी इष्ट पदार्थसे वियोगजन्य कष्टकी कोई रूप-रेखा तक आपके चेहरेपर दिखाई नही पड़ती थी ।

'किसीको कुछ कहना या सन्देश देना है ? जब यह पूछा गया तो उत्तर मिला—'नही' । इतनी निस्पृहताकी किसीको भी

१—मेरे पहुँचनेसे कुछ दिन पहले जब उनसे पूछा गया कि "क्या आप भाईजीको देखना चाहती हो, उन्हें बुलावें, तो उन्होने यही कहा कि देखनेको इच्छा तो है, परन्तु उन्हें आनेमें कष्ट होगा ! दूसरोंके कष्टका कितना ध्यान !!

आशा नहीं थी। आपने सब ओरसे अपनी चित्त-वृत्तिको हटा लिया था, धार्मिक पाठोंको बड़ी रुचि तथा एकाग्रतासे सुनती थी और उनमें जहाँ कहीं वन्दना या उच्च भावोंके प्रस्फुटनका प्रसंग आता था तो आप हाथ जोड़कर मस्तक पर रखती थीं और इस तरह उनके प्रति अपनी श्रद्धा तथा भक्ति व्यक्त करती थी। इन सब बातोंसे आपकी अन्तरात्मवृत्ति और चित्तशुद्धि स्पष्ट लक्षित होती थी। अन्तसमय तक आपको होश रहा तथा चित्तकी सावधानी बराबर बनी रही और इस तरह आपने समाधिपूर्वक देहका त्याग किया है, जो अवश्य ही आपके लिये सद्गतिका कारण होगा।

देह-त्यागके समय आपकी अवस्था ८६-८७ वर्षकी थी। आपके इस वियोगसे आपकी पुत्री गुणमाला और पोती जयवन्ती-को जो कष्ट पहुँचा है उसे कौन कह सकता है? मैं स्वयं मातृ-वियोग-जैसे कष्टका अनुभव कर रहा हूँ। माताकी तरह आप सदा ही मेरे हितका ध्यान रखती, मुझे धैर्य बँधाती और सत्कार्योंके करनेमें प्रेरणा प्रदान करती रही हैं। मेरी हार्दिक भावना है कि आपको परलोकमें यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे।

अपने दानका संकल्प आप बहुत पहलेसे कर चुकी थीं, जिसकी संख्या १००१) है और जिसका विभाजन विभिन्न मन्दिरो और संस्थाओंमें कर दिया गया है[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष ७, किरण ९-१०।

जैनजातिका सूर्य अस्त : ६ :

उस दिन २१ सितम्बर १६४५ को, जब मैं सहारनपुर जा रहा था, मुझे दो कोने कटे पत्र एक साथ मिले—एक चिरंजीव कुलवन्तरायका और दूसरा चिरञ्जीव सुखवन्तरायका। दोनों सुहृद्वर बाबू सूरजभानजी वकीलके पुत्र, और दोनोंके पत्रोंमें एक ही दु:समाचार—'१६ सितम्बरको पूज्य पिताजीका स्वर्गवास हो गया !' मैं देखकर धकसे रह गया !! सहारनपुर गया जरूर, परन्तु चिरसाथीके इस वियोग-समाचारसे चित्तको ऐसा धक्का लगा कि वह उदास हो रहा और उससे उत्साहके साथ कुछ करते धरते नही बना—जैसे तैसे वहाँके कामको निपटाकर चला आया। आकर पं० दरबारीलालजी पर इस दु:खद समाचारको प्रकट किया और बाबूजीके गुणोंकी कुछ चर्चा की। पं० परमानन्दजी नजीबाबाद गये हुए थे—उन्हें सहारन-पुरसे ही इस दुर्घटनाकी सूचनाका पत्र दे दिया था। रातको जल्दी ही सोनेके लिये लेटा और इस तरह चित्तको कुछ हलका करना चाहा, तो बाबू साहबकी स्मृतियोंने आ घेरा—चित्रपटके ऊपर चित्रपट खुलने लगे, उनका तांतासा बँध गया, मैं परेशान होगया और तीन बज गये ! आखिर जीवनके अधिकांश भागका सम्बन्ध ठहरा, इस अर्सेमें न मालूम बाबूजी-सम्बन्धी कितने चित्र हृदय-पटलपर अंकित हुए हैं, कितने उनमेंसे हृदयभूमिमें दबे पड़े हैं, कितने विस्मृतिसे घिस घिसकर मिट गये अथवा धुँधले पड़ गये हैं और कितने अभी सजीव है, कुछ समझमें नही आता ! चित्रपटोंके आवागमनको रोकनेकी बहुत चेष्टा की परन्तु सब

व्यर्थ हुई। अन्तको निद्रादेवीने कुछ कृपा की और उससे थोड़ीसी सान्त्वना मिली।

आज उसी दुःखद समाचारको (अनेकान्तमें) प्रकट करने का मेरे सामने कर्तव्य आन पड़ा है ! मैं सोचता हूँ—श्रद्धेय बाबू सूरजभानजीके सम्बन्धमें क्या कहूँ और क्या न कहूँ ? उनका शोक मनाऊँ या उनका यशोगान गाऊँ, उनके गुणोंका कीर्तन करूँ या उनके उपकारोंकी याद दिलाऊँ, उनके कुछ संस्मरण लिखूँ या उनके जीवनका कोई अध्याय खोलकर रक्खूँ, उनके ज्ञान-श्रद्धानकी चर्चा करूँ या उनके आचार-विचार पर पर प्रकाश डालूँ, उनके स्वभाव, परिणाम तथा लोकव्यवहारको दिखलाऊँ अथवा उनके जीवनसे मिलनेवाली शिक्षाओंका ही निदर्शन करूँ ? चक्करमें हूँ कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ !!

फिर भी मैं अपने पाठकोंको इस समय सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि आज जैन जातिके उस महान् सूर्यका अस्त हो गया है—

(क) जो अन्धकारसे लड़ा, जिसने अन्धकारको परास्त किया, भूमंडलपर अपने प्रकाशकी किरणें फैलाई, भूले-भटकोंको मार्ग दिखलाया, मार्गके काँटों तथा कंकर-पत्थरोंको सुझाया, उन्हें दूरकर मार्गको सुधारने और उसपर चलनेकी प्रेरणा की।

(ख) जिसने लोकहितकी भावनाओंको लेकर जगह-जगह भ्रमण किया, समाजकी दशाका निरीक्षण किया, उसकी खराबि-योंको मालूम किया और उसमे सुधारके बीज बोए।

(ग) जिसने मरणोन्मुख जैनसमाजकी नब्जी-नाड़ीको टटोला, उसके विकार-कारणोंका अनुभव किया, उसकी नाड़ियोंमें रक्तका संचार किया और उसे जीना सिखलाया।

(घ) जिसने जैनजागृतिको जन्म दिया, सोते हुओंको जगाया, उन्हें उनके कर्तव्यका बोध कराया और कर्तव्यके पालनमें निरन्तर सावधान किया।

(ङ) जिसके उदित होते ही जैन कमलवनोंमें हलचल मच गई—मुद्रित पंकजोंने निद्रा त्यागी, आलस्य छोड़ा, वे विकसित हो उठे, अविकसित कलियाँ विकासोन्मुख बन गईं, सर्वत्र सौरभ छा गया और उससे आकर्षित होकर प्रेमी भ्रमरगण मँडराने तथा गुन-गुनाने लगे।

(च) जिसने लोकहृदय-भूमिपर पड़े और धूलमें दबे जैन बीजोंको अंकुरित किया, अंकुरोंको ऊँचा उठाया—बढ़ाया, उन्हें पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होनेका अवसर दिया।

(छ) जिसने मुरझाए हुए निराशहृदयोंमें जीवनीशक्तिका संचार किया, मिथ्या भयको भगाया और रूढ़ियोंके बीहड़ जंगलसे निकलकर निरापदस्थानको प्राप्त करनेकी ओर संकेत किया।

(ज) जिससे तेज और प्रकाशको पाकर लोक-हृदयोंमें स्फूर्ति उत्पन्न हुई, जीवन-ज्योति जगी, कुरीतियाँ मिटीं और समाजमें सुधारकी ओर काम ही काम दिखलाई देने लगा—सुधारकी लहर सर्वत्र दौड़ गई।

(झ) जिसे एक दो बार प्रकाश-विरोधिनी काली काली घटाओंने आ घेरा और उसकी गतिको रोकना चाहा; परन्तु जो आगेको ही बढ़ता चला गया। जिसने उन काली घटाओंपर ही अपना तेज और प्रकाश फैला दिया, अपनी किरणोंसे उन्हें बेचैन बना दिया—वे तप्तायमान होगईं, उद्विग्न हो उठीं, रो पड़ीं और आखिर छिन्न-भिन्न हो गईं। इस तरह उन लोगोंको पुनः प्रकाश मिला जो कुछ समयके लिये प्रकाशसे वंचित हो गये थे।

वे अब पहलेसे भी अधिक प्रकाशके उपासक बन गये, प्रकाश-दाताके पदचिन्हों पर चलने लगे और प्रकाशन-कार्यको धड़ाधड़ आगे बढ़ाने लगे।

(ञ) और जिसके प्रकाश-संस्कार अथवा प्रकाश-सन्ततिके फलस्वरूप ही आज समाजमें अनेक सभा-सोसाइटियाँ; प्रकाशन-संस्थाएँ, ग्रन्थमालाएँ, शिक्षासंस्थाएँ—पाठशालाएँ, विद्यालय, पुस्तकालय, स्वाध्यायमंडल, स्कूल, कालिज, गुरुकुल, बोर्डिङ्ग-हाउस, पत्र-कार्यालय, अनाथालय और ब्रह्मचर्याश्रम आदि प्रकाशकेन्द्र स्थापित होकर अपना-अपना कार्य करते हुए नजर आ रहे हैं, जगह-जगह नई-नई प्रकाशग्रन्थियाँ प्रस्फुटित होकर अपना-अपना प्रकाश दिखला रही हैं, और प्रकाशके उपासक ऐसी कुछ उत्कण्ठा व्यक्त कर रहे हैं जिससे मालूम होता है कि वे प्रकाशकी मूलजननी जिनवाणीमाताको अब वन्दीगृहमें नहीं रहने देंगे और न उसे मरने ही देंगे, जिससे हमारे इस 'सूर्य' ने भी प्रकाश पाया था और वह प्रकाश-पुञ्ज बनकर जननीकी सेवामें अग्रसर हुआ था।

निःसन्देह, बाबू सूरजभानजी जैनजातिकी एक बहुत बड़ी विभूति थे, उसके अनुपम रत्न थे, भूषण थे और गौरव थे। वे स्वभावसे उदार थे, महामना थे, निष्कपट थे, सत्यप्रेमी थे, गुणग्राही थे और सेवाभावी थे। उनका प्रायः सारा जीवन जैनसमाजकी निःस्वार्थ-सेवा करते बीता है। उन्होंने बड़े-बड़े सेवाकार्य किये हैं—मृतप्राय दिगम्बर जैन महासभामें जान डाली है; जैनियोंको जगानेके लिये सबसे पहले उर्दूमें 'जैन-हित-उपदेशक' नामका मासिक पत्र निकाला है और उसके बाद (दिसम्बर सन् १८९५ में) हिन्दीके साप्ताहिक पत्र 'जैनगजट'

को जन्म दिया है, समाजकी निद्राभंग करनेके लिये वकालतके अवकाश-समयमें कई बार स्वयं उपदेशकी दौरा किया है, जिसमे एकबार मुझे भी शामिल होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

जैनग्रन्थोंके प्रकाशनका आपने ही महान बीड़ा उठाया था और उसके लिये जानको हथेलीपर रखकर वह गुरुतर कार्य किया है जिसका सुमधुर फल, ज्ञानके उपकरण शास्त्रोंकी सुलभप्राप्ति-के रूपमे, आज सारा जैनसमाज चख रहा है। इस कार्यको सफल बनानेमे आपको बड़ी-बड़ी कठिनाइयों—मुसीबतोंका सामना करना पड़ा है, यातनाएँ झेलनी पड़ी हैं, जानसे मार डालनेकी धमकी-को भी सहना पड़ा है, आर्थिक हानियाँ उठानी पड़ी हैं, गुरुजनों तथा मित्रोंके अनुरोधको भी टालना पड़ा है, और जातिसे बहिष्कृत होनेका कड़वा घूँट भी पीना पड़ा है, परन्तु यह सब उन्होने बड़ी खुशीसे किया—अन्तरात्माकी प्रेरणाको पाकर किया। वे अपने ध्येय एवं निश्चयपर अटल-अडोल रहे और उन्होंने कई बार अपनी सत्यनिष्ठा एवं तर्कशक्तिके बलपर न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजीको बादमें परास्त किया, जो तबके समाजके सर्वप्रधान विद्वान समझे जाते थे।

इसी सम्बन्धमें उन्हें हिन्दी जैनगटकी सम्पादकीसे इस्तीफा देना पडा, जो कि महासभाका पत्र था, और तब आपने 'ज्ञानप्रकाशक' नामका अपना एक स्वतंत्र हिन्दीपत्र जारी किया था इसी अवसरके लगभग आपने देवबन्दमे, जहाँ वकालत करते थे, जैनसिद्धान्तोंके प्रचारके लिये एक मंडल कायम किया था, जिसके द्वारा कितने ही जैनग्रन्थ छपकर प्रकाशित हुए हैं। आपसे ही प्रोत्तेजन पाकर आपके रिश्तेदार (समधी) बाबू ज्ञानचन्द्रजीने लाहौरमें जैनग्रंथोंके प्रकाशनका एक कार्यालय

खोला था, जिससे भी कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, और साथ ही हिन्दीमें मासिक रूपसे एक 'जैनपत्रिका' भी जारी की थी।

मेरे देवबन्दमें मुख्तारकारी करते हुए, आपने ही मुझे महासभाकी ओरसे मिले हुए हिन्दी जैनगजटकी सम्पादकीके ऑफर (offer)को स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया था, और इस तरह जैनगजटको फिरसे उसकी जन्मभूमि (देवबन्द) में बुलाकर उसके द्वारा अपनी कितनी ही सेवा-भावनाओंको पूरा किया था। आप उसमें बराबर लेख लिखा करते थे और अपने सत्परामर्शों द्वारा मेरी सहायता किया करते थे। उस समय 'आर्यमतकी लीला' नामसे जो एक लम्बी लेखमाला प्रकाशित हुई थी उसके मूल लेखक आप ही थे।

समाजसेवाके भावोंसे प्रेरित होकर ही आपने मेरे मुख्तार-कारी छोड़नेके साथ—एक ही दिन १२ फरवरी सन् १९१४ को—खूब चलती हुई वकालतको छोड़ा था। और तबसे आप सामाजिक उत्थानके कार्योंमें और भी तत्परताके साथ योग देने लगे थे—जगह-जगह आना-जाना, सभा-सोसाइटियोंमें भाग लेना, लेख लिखना, पत्रव्यवहार करना आदि कार्य आपके बढ़ गये थे। कुछ समयके लिये घरपर कन्या पाठशाला ही आप लेबैठे थे, जिसकी एक कन्या वर्तमानमे प्रसिद्ध कार्यकर्त्री लेखवती जैन हैं। खतौलीके दस्सा-बीसा केसमें विद्वद्वर पं० गोपालदासजीका सहयोग प्राप्त कर लेना और दस्सोंके पक्षमें उनकी गवाही दिला देना भी आपका ही काम था। पं० गोपालदासजीके बाईकाट अथवा बहिष्कारको विफल करनेमें भी आपका प्रधान हाथ रहा है।

ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरमें पहुँचकर आपने उसकी भारी सेवाएँ की हैं, और जब यह देखा कि उसमें कुछ ऐसे

व्यक्तियोंका प्राबल्य होगया है जो समाजके हिताहितपर ध्यान न रखकर अपनी ही चलाना चाहते हैं और उनकी सुननेको तय्यार नहीं, तब आपने उसे छोड़ दिया और दूसरे रूपमें समाज की सेवा करने लगे। वे अपने विचारके धनी थे, धुनके पक्के थे और अपने विचारोंका खून करके कुछ भी करना नही चाहते थे।

सत्योदय, जैनहितैषी और जैनजगत आदि पत्रोंमें वे बराबर लिखते रहे हैं। और अपने विचारोंको उनके द्वारा व्यक्त करते रहे हैं। उन्होंने सैकड़ों लेख लिखे और 'ज्ञान सूर्योदय' आदि पचासों पुस्तकें लिख डालीं। लेखनकलामें वे बड़े सिद्धहस्त थे, जल्दी लिख लेते थे और जो कुछ लिखते थे युक्ति-पुरस्सर लिखते थे तथा समाजके हितकी भावनासे प्रेरित होकर ही लिखते थे —भले ही उसमें उनसे कुछ भूलें तथा गलतियाँ हो गई हों, परन्तु उनका उद्देश्य बुरा नहीं था।

आदिपुराण-समीक्षादि जैसी कुछ आलोचनात्मक पुस्तकों तथा लेखोको लेकर जब समाजने उनका पुनः बहिष्कार किया, और इस तरह उनके विचारोंको दबाने कुचलनेका कुत्सित मार्ग अख्तियार किया तथा उनके सारे किये-करायेपर पानी फेरकर कृतघ्नताका भाव प्रदर्शित किया, तब उन्हें उस पर बड़ा खेद हुआ और उनके चित्तको भारी आघात पहुँचा, जिसे वे अपनी वृद्धावस्थाके कारण सहन नहीं कर सके। और इस लिये कुछ समयके बाद सामाजिक प्रवृत्तियोंसे ऊबकर अथवा उद्विग्न होकर उन्होंने विरक्ति धारण कर ली। उनकी यह विरक्ति उन्हींके शब्दोंमें बारह वर्ष तक स्थिर रही। इस अर्सेमें, वे कहते थे, उन्होंने कुछ नहीं लिखा, लेखनीको एकदम विश्राम दे दिया और पुत्रोंके पास रहकर उनके बच्चोंसे ही चित्तको बहलाते रहे।

आखिर उनकी यह विरक्ति तब भंग हुई जब लगातारके मेरे अनुरोध और आग्रहपर वे वीरसेवामन्दिरमें आ गये। यहाँ आते ही उनकी लेखनी फिरसे चल पड़ी, उनमें जवानीका-सा जोश आगया—जिसे वे 'बासी कढ़ीमें फिरसे उबाल आना' कहा करते थे—और उन्होंने लेख-ही-लेख लिख डाले। इन लेखोंसे अनेकान्तके दूसरे तथा तीसरे वर्षकी फाइलें भरी हुई हैं और उनसे अनेकान्तके पाठकोंको बहुत लाभ पहुँचा है। इस दो-ढाई वर्षके अर्सेमें उन्होने अनेकान्तको ही लेख नहीं दिये, बल्कि दूसरे जैन तथा अजैन पत्रोंको भी कितने ही लेख दिये हैं। इसके अलावा, यहाँ सरसावामें रहते उन्होने वीरसेवामन्दिरकी कन्या-पाठशालामें कन्याओंको शिक्षा भी दी है, मन्दिरमें लोगोके आग्रह-पर उन्हें दो-दो घंटे रोजाना शास्त्र भो सुनाया है और आश्रमके विद्वानोंसे चर्चा-वार्तामें जब जुट जाते थे तो उन्हें छका देते थे। आपकी वाणीमें रस था, माधुर्य था, ओज था और तेज था।

कुछ कौटुम्बिक परिस्थितियोंके कारण आपको लगभग ढाई वर्षके बाद वीरसेवामन्दिरको छोड़ना पड़ा—आपके भाई बा० चेतनदासजी वकीलको फालिज (लकवा) पड़ गया था, उनकी तीमारदारीके लिये आपको उनके पास (देवबन्द) जाना पड़ा और फिर चि० सुखवन्तरायकी परिस्थितियोंके वश उसके पास देहली कैंट, देहरादून तथा इलाहाबाद रहना पड़ा। तदनन्तर चि० कुलवन्तराय उन्हें डालमियानगर ले गया, जहाँ उनकी बीमारीका कुछ समाचार सुन पड़ा, और अन्तको कलकत्तेमें जाकर १६ सितम्बरकी संध्याके समय ७७ वर्ष की अवस्थामें उनकी इहजीवन-लीला समाप्त होगई !! और इस तरह जैन-जातिका एक महान् सेवक 'सूर्य' सदाके लिये अस्त होगया !!!

भले ही आज बाबूजी अपने भौतिक शरीरमें नहीं हैं, परन्तु

अपने साहित्य-शरीरमें वे आज भी जीवित विद्यमान हैं और जब तक उनका यह साहित्य रहेगा वे अमर रहेंगे तथा लोकको प्रकाश देते रहेंगे।

अपने इस पिछले चार वर्षके जीवनमें यद्यपि उनसे समाजकी कोई खास सेवा नही बन सकी। एक-दो बार लेखोंके लिये जो उन्हें प्रेरणा की, तो उन्होंने यही कहा कि 'काम ठिये-पर बैठकर ही होता है, यहाँ मेरे पास कोई साधन नही है' फिर भी वे समाजके कामोंमे कुछ न कुछ भाग बराबर लेते रहे हैं। एक बार देवबन्दसे वीरशासन-जयन्तीके उत्सवमे सरसावा पधारे थे। और पिछले कलकत्तामें होने वाले वीर-शासन--महोत्सवके लिये जब बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली मंत्री वीरसेवा-मन्दिरने उन्हें लेखके लिये प्रेरणा की थी तो उन्होंने एक लेख उनके पास भेजा था, जो संभवत: उनका अन्तिम लेख था, उनके विचारोंका प्रतीक था और जिससे जाना जाता है कि समाजके प्रति उनकी लगन और शुभ भावना बराबर बनी रही है। मालूम नही वह लेख अब किसके पास है, उसको प्रकाशित करना चाहिये।

इसमे सन्देह नहीं कि बाबू सूरजभानजो समाजके ऊपर अपनी सेवाओं तथा उपकारोंका एक बहुत बड़ा ऋण छोड़ गये हैं। और इस लिये उससे उऋण होनेके लिये समाजका कर्तव्य है कि वह उनका कोई अच्छा स्मारक खड़ा करे और उनके उस साहित्यका संरक्षण एवं एकत्र प्रकाशन करे। जो समाजके उत्थान और उसको नवजीवन प्रदान करनेमें सहायक है[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष ७, कि० ११-१२

अभिनन्दनीय पं० नाथूरामजी प्रेमी : १० :

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि श्रीमान् पंडित नाथूरामजी प्रेमीको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। प्रेमीजीने समाज और देशकी जो सेवाएँ की हैं, उनके लिये वे अवश्य ही अभिनन्दनके योग्य हैं। अभिनन्दनका यह कार्य बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था; परन्तु जब भी समाज अपने सेवकोंको पहचाने और उनकी कद्र करना जाने तभी अच्छा है। प्रेमीजी इस अभिनन्दनको पाकर कोई बड़े नहीं हो जावेंगे—वे तो बड़े कार्य करनेके कारण स्वतः बड़े हैं—परन्तु समाज और हिन्दी-जगत उनकी सेवाओंके ऋणसे कुछ उऋण होकर ऊँचा जरूर उठ जायगा। साथही अभिनन्दन-ग्रंथमें जिस साहित्यका सृजन और संकलन किया गया है उसके द्वारा वह अपने ही व्यक्तियोंकी उत्तरोत्तर सेवा करनेमें भी प्रवृत्त होगा। इस तरह यह अभिनन्दन एक ओर प्रेमीजीका अभिनन्दन है तो दूसरी ओर समाज और हिन्दी-जगतकी सेवाका प्रबल साधन है और इसलिए इससे 'एक पंथ दो काज' वाली कहावत बड़े ही सुदर रूपमे चरितार्थ होती है। प्रेमीजीका वास्तविक अभिनन्दन तो उनकी सेवाओका अनुसरण है, उनकी निर्दोष कार्य-पद्धतिको अपनाना है, अथवा उन गुणोंको अपनेमे स्थान देना है, जिनके कारण वे अभिनन्दनीय बने हैं।

प्रेमीजीके साथ मेरा कोई चालीस वर्षका परिचय है। इस अर्सेमे उनके मेरे पास करीब सातसौ पत्र आए हैं और लगभग इतने ही पत्र मेरे उनके पास गए हैं। ये सब पत्र प्रायः जैन-

साहित्य, जैन-इतिहास और जैन-समाजकी चिन्ताओं, उनके उत्थान-पतनकी चर्चाओं, अनुसंधान कार्यों और सुधार योजनाओं आदिसे परिपूर्ण हैं। इन परसे चालीस वर्षकी सामाजिक-प्रगतिका सच्चा इतिहास तैयार हो सकता है। सच्चे इतिहासके लिये व्यक्तिगत पत्र बड़ी ही कामकी चीज होते हैं।

सन् १६०७ में जब मैं साप्ताहिक 'जैन गजटका' सम्पादन करता था तब प्रेमीजी 'जैनमित्र' बम्बईके आफिसमें क्लर्क थे। भाई शीतल प्रसादजी (जो बादको ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजीके नामसे प्रसिद्ध हुए) के पत्रसे यह मालूम करके कि प्रेमीजीने जैनमित्रकी क्लर्कीसे इस्तीफा दे दिया है, मैंने अक्टूबर सन् १६०७ के प्रथम सप्ताहमें प्रेमीजीको एक पत्र लिखा था और उसके द्वारा उन्हे 'जैन गजट' आफिस, देवबन्दमें हेड क्लर्कीपर आनेकी प्रेरणा की थी; परन्तु उस वक्त उन्होने बम्बई छोड़ना नही चाहा और वे तबसे बम्बईमें ही बने हुए हैं।

८ जनवरी सन् १६०८ के 'जैन गजट' मे मैंने 'जैनमित्र'की उसके एक आपत्तिजनक एवं आक्षेपपरक लेखके कारण कड़ी आलोचना की, जिससे प्रेमीजो उद्विग्न हो उठे और उन्होने उसे पढ़ते ही १० जनवरी सन् १६०८ को एक पत्र लिखा, जिससे जान पड़ा कि प्रेमीजीका सम्बन्ध जैनमित्रसे बना हुआ है। समालोचनाकी प्रत्यालोचना न करके प्रेमीजीने इस पत्रके द्वारा प्रेमका हाथ बढ़ाया और लिखा—"जबसे 'जैन गजट' आपके हाथमें आया है, जैनमित्र बराबर उसकी प्रशंसा किया करता हैऔर उसकी इच्छा भी आपसे कोई विरोध करनेकी नही है... जो हो गया, सो हो गया हमारा समाज उन्नत नहीं है, अविद्या बहुत है इसलिये आपके विरोधसे हानिकी शंका की जाती है।

नहीं तो आपको इतना कष्ट नहीं दिया जाता। आप हमारे धार्मिक बन्धु है और आपका तथा हमारा दोनोंका ध्येय एक है। इसलिये इस तरह शत्रुता उत्पन्न करनेकी कोशिश न कीजिये। 'जैनमित्रसे' मेरा सम्बन्ध है इसलिये आपको यह पत्र लिखना पड़ा।'' इस पत्रका अभिनन्दन किया गया और १५ जनवरीको ही प्रेमपूर्ण शब्दोंमें उनके पत्रका उत्तर दे दिया गया। इन दोनों पत्रोंके आदान-प्रदानसे ही प्रेमीजोके और मेरे बीच मित्रताका प्रारम्भ हुआ जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और जिससे सामाजिक सेवा-कार्योंमें एकको दूसरेका सहयोग बराबर प्राप्त होता रहा और एक दूसरे पर अपने दुख-सुखको भी प्रकट करता रहा है।

इसी मित्रताके फलस्वरूप प्रेमीजीके अनुरोधपर मेरा सन् १९२७ और १९२८ में दो बार बम्बई जाना हुआ और उन्हींके पास महीना दो-दो महीना ठहरना हुआ। प्रेमीजी भी मुझसे मिलनेके लिये दो एक बार सरसावा पधारे। अपनी सख्त बीमारीके अवसर पर प्रेमीजीने जो वसीयतनामा (Will) लिखा था उसमें मुझे भी अपना ट्रस्टी बनाया था तथा अपने पुत्र हेमचन्द्रकी शिक्षाका भार मेरे सुपुर्द किया था, जिसकी नौबत नही आई। अपने प्रिय पत्र 'जैन हितैषी' का सम्पादन-भार भी वे मेरे ऊपर रख चुके हैं, जिसका निर्वाह मुझसे दो वर्ष तक हो सका। उसके बादसे वह पत्र बन्द ही चला जाता है। इनके अलावा उन्होंने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' की प्रस्तावना लिख देनेका मुझसे अनुरोध किया और मैंने कोई दो वर्षका समय लगाकर रत्नकरण्डकी प्रस्तावना ही नही लिखी, बल्कि उसके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका इतिहास भी लिखकर उन्हें दे दिया। यह इतिहास जब प्रेमीजीको समर्पित किया गया और उसके

समर्पण-पत्रमें उनकी प्रस्तावना लिख देनेकी प्रेरणाका उल्लेख करने तथा उन्हें इतिहासको पानेका अधिकारी बतलानेके अनन्तर यह लिखा गया कि—"आपकी समाज-सेवा, साहित्य-सेवा इतिहास-प्रीति, सत्य रुचि और गुणज्ञता भी सब मिलकर मुझे इस बातके लिये प्रेरित कर रही हैं कि मैं अपनी इस पवित्र और प्यारी कृतिको आपकी भेंट करूँ अतः मैं आपके कर-कमलोंमें इसे सादर समर्पित करता हूँ। आशा है आप स्वयं इससे लाभ उठाते हुए दूसरोंको भी यथेष्ट लाभ पहुँचानेका यत्न करेंगे," साथ ही एक पत्र द्वारा इतिहास पर उनकी सम्मति माँगी गई और कही कोई संशोधनकी जरूरत हो तो उसे सूचना-पूर्वक कर देनेकी प्रेरणा भी की गई; तब इस सबके उत्तरमें प्रेमीजीने जिन शब्दोंका व्यवहार किया है, उनसे उनका सौजन्य टपकता है। १५ मार्च सन् १९२५ के पत्रमें उन्होंने लिखा :—

"मैं अपनी वर्तमान स्थितिमें भला उस (इतिहास) में संशोधन क्या कर सकता हूँ और सम्मति ही क्या दे सकता हूँ। इतना मैं जानता हूँ कि आप जो लिखते हैं वह सुचिन्तित और प्रामाणिक होता है। उसमें इतनी गुंजाइश ही आप नही छोड़ते हैं कि दूसरा कोई कुछ कह सके। इसमें सन्देह नहीं कि आपने यह प्रस्तावना और इतिहास लिखकर जैन-समाजमें वह काम किया है जो अबतक किसीने नहीं किया था और न अभी जल्दी कोई कर ही सकेगा। मूर्ख जैन-समाज भले ही इसकी कद्र न करे; परन्तु विद्वान् आपके परिश्रमकी सहस्र मुखसे प्रशंसा करेंगे। आपने इसमे अपना जीवन ही लगा दिया है। इतना परिश्रम करना सबके लिये सहज नही है। मैं चाहता हूँ कि

कोई विद्वान् इसका सारांश अंग्रेजी पत्रोंमें प्रकाशित कराए। बा० हीरालालजीको मैं इस विषयमें लिखूँगा। इंडियन एँटिक्वेरी वाले इसे अवश्य ही प्रकाशित कर देंगे।

"क्या आप मुझे इस योग्य समझते हैं कि आपकी विद्वन्मान्य होनेवाली यह रचना मुझे भेंट की जाय ? अयोग्योंके लिये ऐसी चीजें सम्मानका नहीं, कभी कभी लज्जाका कारण बन जाती हैं, इसका भी कभी आपने विचार किया है ? मैं आपको अपना बहुत प्यारा भाई समझता हूँ और ऐसा कि जिसके लिये मैं हमेशा मित्रोंमें गर्व किया करता हूँ। जैनियोंमे ऐसा है ही कौन जिसके लेख किसीको गर्वके साथ दिखाये जा सकें ?"

इस तरह पत्रोंपरसे प्रेमीजीकी प्रकृति, परिणति और हृदय-स्थितिका कितना ही पता चलता है।

निःसन्देह प्रेमीजी प्रेम और सौजन्यकी मूर्ति हैं। उनका 'प्रेमी' उपनाम बिलकुल सार्थक है। मैंने उनके पास रहकर उन्हें निकटसे भी देखा है और उनके व्यवहारको सरल तथा निष्कपट पाया है। उनका आतिथ्य-सत्कार सदा ही सराहनीय रहा है और हृदय परोपकार तथा सहयोगकी भावनासे पूर्ण जान पड़ा है। उन्होंने साहित्यके निर्माण और प्रकाशन द्वारा देश और समाजकी ठोस सेवाएँ की हैं और वे अपनेही पुरुषार्थ तथा ईमानदारीके साथ किए गये परिश्रमके बलपर इतने बड़े बने हैं तथा इस रुतबेको प्राप्त हुए हैं। अतः अभिनन्दनके इस शुभ अवसरपर मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ[1]।

---

१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, ५-७-१९४६

श्री पं० टोडरमल्लजी जैनसमाजके एक बहुत बड़े सच्चरित्र, अनुभवी, निःस्वार्थसेवी एवं सात्विक प्रकृतिके विद्वानोंमे थे। बाल्यकालसे ही आपकी प्रतिभा चमक उठी थी और उसमें अध्यात्मरसके साथ धर्म, समाज तथा लोकसेवाकी कुछ ऐसी पुट लगी थी, जिसने शुरूसे ही आपके जीवनकी धाराको बदल दिया था। वे गृहस्थ होते हुए भी साधारण गृहस्थोके रंगमें रँगे हुए नही थे, जलमे रहते हुए भी कमलकी तरह उससे भिन्न थे। उन्हें भोगोंमें कोई आसक्ति नहीं थी। वे भोगोंकी निस्सारता और उनके द्वारा होनेवाली आत्म-वंचनाको अच्छी तरह समझे हुए थे। इसीसे भोगोंके सुलभ होते हुए भी उनमें उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं थी और वे उनमें बहुत ही कम योग देते थे। उनका सारा समय दिनरात स्वाध्याय, विद्वद्गोष्ठी, ज्ञानचर्चा और एकनिष्ठासे साहित्यकी आराधनामें ही व्यतीत होता था। यही वजह है कि वे इतनी थोड़ी-सी उम्रमें ही इतने महान अमर साहित्यका निर्माण करके सदाके लिये अमर हो गये हैं।

गोम्मटसार, लब्धिसारादि जैसे कई महान सिद्धान्तग्रन्थोंकी जो सरल भाषामे विस्तृत टीकाएँ आपने लिखी हैं उनपरसे आपकी विद्वत्ता, अध्ययन-विशालता, विचार-तत्परता, प्रतिपादन-कुशलता, निरहंकारता, स्वभावकी कोमलता और धर्म तथा परोपकारकी भावनाका अच्छा पता चलता है। और मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ तो आपकी स्वतन्त्र रचनाके रूपमें एक बड़ा ही बेजोड़ ग्रन्थ है, जिससे आपके अनुभवकी गहनता, मर्मज्ञता तथा

निर्भीक आलोचनाका भी कितना ही पता चलता है। इसमें आपने मिथ्यादृष्टि एवं ढोंगी जैनियोंकी भी खूब खबर ली है और अनेक शंका-समाधानों-द्वारा बड़ी-बड़ी उलझनोंको सुलझाया है। खेद है कि यह ग्रन्थ अधूराही रह गया है। कहीं यह ग्रन्थ पूरा हो जाता तो जैन-साहित्यका एक अनमोल हीरा होता और अकेला ही सैकड़ोंका काम देता; फिर भी जितना है वह भी कुछ कम नहीं है और बहुतोंको सन्मार्गपर लगानेवाला है।

गोम्मटसारके अध्ययन-अध्यापनका जो प्रचार आज सर्वत्र देखने आरहा है उसका प्रधान श्रेय आपकी हिन्दी टीकाको ही प्राप्त है। आपके ये सब गद्य-ग्रन्थ, जिनकी श्लोक-सख्या एक लाखसे कम न होगी, अपने समय (विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके प्रारंभ) की गद्य-रचनामे अपना प्रधान स्थान रखते हैं और हिन्दी संसारके लिये आपकी अपूर्व देन हैं।

निस्सन्देह पं० टोडरमल्लजीने अपनी कृतियों और प्रवृत्तियों के द्वारा जहाँ जै -समाजको अपना चिर-ऋणी बनाया है, वहाँ विद्वानोके सामने एक अच्छा अनुकरणोय आदर्श भी उपस्थित किया है। काश ! हमारे विद्वान इस बातके महत्वको समझें और स्वर्गीय मल्लजीके जीवनसे शिक्षा ग्रहणकर उनके पथका अनुकरण करते हुए जैनधर्म और जैनसाहित्यकी सेवाके लिये, जो कि वस्तुतः विश्वकी सेवा है, अपनेको उत्सर्ग करदें !! यदि ऐसा हो तो जैनसमाज ही नहीं, किन्तु सारा विश्व शीघ्र ही उन्नतिके पथार अग्रसर हो सकता है और तभी हम वास्तवमें मल्लजीके ऋणसे उऋण हो सकते हैं[1]।

---

१. वीरवाणी, जनवरी १९४८

सन्मति-विद्या-विनोद

प्यारी पुत्रियो ! सन्मती और विद्यावती ! आज तुम मेरे सामने नहीं हो—तुम्हारा वियोग हुए युग बीत गये; परन्तु तुम्हारी कितनी ही स्मृति आज भी मेरे सामने स्थित है—हृदय-पटलपर अंकित है। भले ही कालके प्रभावसे उसमें कुछ धुंधलापन आगया है, फिर भी जब उधर उपयोग दिया जाता है तो वह कुछ चमक उठती है।

बेटी सन्मति,

तुम्हारा जन्म असोज सुदी ३ संवत् १९५६ शनिवार ता० ७ अक्तूबर सन् १८९९ को दिनके १२ बजे सरसावामे उसी सूरजमुखी चौबारेमें हुआ था जहाँ मेरा, मेरे सब भाइयोंका, पिता-पितामहका और न जाने कितने पूर्वजोंका जन्म हुआ था और जो इस समय भी मेरे अधिकारमें सुरक्षित है। भाई-बाँटके अवसरपर उसे मैंने अपनी ही तरफ लगा लिया था।

बालकोके जन्मके समय इधर ब्राह्मणियाँ जो बधाई गाती थीं वह मुझे नापसन्द थी तथा असङ्गत-सी जान पड़ती थी और इसलिये तुम्हारे जन्मसे दो एक मास पूर्व मैंने एक मङ्गलबधाई[1] स्वयं तैयार की थी और उसे ब्राह्मणियोंको सिखा दिया था। ब्राह्मणियोंको उस समय बधाई गानेपर कुछ पैसे-टके ही मिला करते थे, मैंने उन्हे जो मिलता था उससे दो रुपये अधिक अलगसे देनेके लिये कह दिया था और इससे उन्होने खुशी-खुशी

---

१. इस मंगल बधाईकी पहली कली इस प्रकार थी—

"गावो री बधाई सखि मंगलकारी।"

बधाईको याद कर लिया था। तुम्हारे जन्मसे कुछ दिन पूर्व ब्राह्मणियोंकी तरफसे यह सवाल उठाया गया कि यदि पुत्रका जन्म न होकर पुत्रीका जन्म हुआ तो इस बधाईका क्या बनेगा? मैंने कह दिया था कि मैं पुत्र-जन्म और पुत्रीके जन्ममे कोई अन्तर नहीं देखता हूँ—मेरे लिये दोनों समान हैं—और इसलिए यदि पुत्रीका जन्म हुआ तब भी तुम इस बधाईको खुशीसे गा सकती हो और गाना चाहिए। इसीसे इसमें पुत्र या सुत जैसे शब्दोका प्रयोग न करके 'शिशु' शब्दका प्रयोग किया गया है और उसे ही 'दें आशिश् शिशु हो गुणधारी' जैसे वाक्य-द्वारा आशीर्वादके दिये जानेका उल्लेख किया गया है। परन्तु रूढ़िवश पिताजी और बूआजी आदिके विरोधपर ब्राह्मणियोंको तुम्हारे जन्मपर बधाई गानेकी हिम्मत नही हुई; फिर भी तुम्हारी माताने अलगसे ब्राह्मणियोंको अपने पास बुलाकर बिना गाजे-बाजेके ही बधाई गवाई थी और उन्हे गवाईके वे २) रु० भी दिये थे। साथ ही दूसरे सब नेग भी यथाशक्ति पूरे किये थे जो प्राय: पुत्र-जन्मके अवसरपर दूसरोको कुछ देने तथा उपहारमें आये हुए जोड़े-झग्गों आदिपर रुपये रखने आदिके रूपमें किये जाते हैं।

तुम्हारा नाम मैंने केवल अपनी रुचिसे ही नहीं रक्खा था बल्कि श्रीआदिपुराण-वर्णित नामकरण-संस्कारके अनुसार १००८ शुभ नाम अलग-अलग कागजके टुकड़ोंपर लिखकर और उनकी गोलियाँ बनाकर उन्हे प्रसूतिगृहमें डाला था और एक बच्चेसे एक गोली उठवाकर मँगाई गई थी। उस गोलीको खोलनेपर 'सन्मतिकुमारी' नाम निकला था और यही तुम्हारा पूरा नाम था। यों आम बोल-चालमें तुम्हें 'सन्मती' कहकर ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी शिक्षा वैसे तो तीसरे वर्ष ही प्रारम्भ हो गई थी परन्तु कन्यापाठशालामें तुम्हे पाँचवे वर्ष बिठलाया गया था। यह कन्यापाठशाला देवबन्द की थी, जहाँ सहारनपुरके बाद सन् १६०५ में मैं मुख्तारकारीकी प्रैकटिस करनेके लिये चला गया था और कानूगोयानके मुहल्लेमे ला० दुल्हाराय जैन साबिक पटवारीके मकानमे उसके सूरजमुखी चौबारेमें रहता था। निद्धो पण्डित, जो तुम्हें पढ़ाता था, तुम्हारी बुद्धि और होशयारीकी सदा प्रशंसा किया करता था। मुझे तुम्हारे गुणोमें चार गुण बहुत पसन्द थे—१. सत्यवादिता, २. प्रसन्नता, ३. निर्भयता और ४. कार्य-कुशलता। ये चारो गुण तुममें अच्छे विकसित होते जा रहे थे। तुम सदा सच बोला करती थी और प्रसन्नचित्त रहती थी। मैंने तुम्हें कभी रोते-रडाते अथवा जिद्द करते नही देखा। तुम्हारे व्यवहारसे अपने-पराये सब प्रसन्न रहते थे और तुम्हें प्यार किया करते थे। सहारनपुर मुहल्ले चौधरियानके ला० निहालचन्दजी और उनकी स्त्री तो, जो मेरे पासकी निजी हवेली-में रहते थे, तुमपर बहुत मोहित थे, तुम्हें अक्सर अपने पास खिलाया-पिलाया और सुलाया करते थे, उसमें सुख मानते थे और तुम्हें लाड़में 'सबजो' कह कर पुकारा करते थे—तुम्हारे कानोको बालियोंमें उस वक्त सबजे पड़े हुये थे। जब कभी मैं रातको देरसे घर पहुँचता और इससे दहलीजके किवाड बन्द हो जाते तब पुकारनेपर अक्सर तुम्हीं अँधेरेमें हो ऊपरसे नीचे दौड़ी चली आकर किवाड खोला करती थी। तुम्हें अँधेरेमें भी डर नही लगता था, जब कि तुम्हारी माँ कहा करती थी कि मुझे तो डर लगता है, यह लड़की न मालूम कैसी निडर, निर्भय प्रकृतिकी है जो अँधेरेमें भी अकेली चली जाती है। तुम्हारी इस हिम्मतको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी।

एक दिन रातको मुझे स्वप्न हुआ कि एक अर्धनग्न श्यामवर्ण स्त्री अपने आगे-पीछे और इधर-उधर मरे हुए बच्चोंको लटकाए हुए एक उत्तरमुखी हवेलीमें प्रवेश कर रही है जो कि ला० जवाहरलालजी जैनकी थी। इस बीभत्स दृश्यको देखकर मुझे कुछ भय-सा मालूम हुआ और मेरी आँख खुल गई। अगले ही दिन यह सुना गया कि ला० जवाहरलालजीके बड़े लड़के राजा-रामको प्लेग हो गई, जिसकी हालमे ही शादी अथवा गौना हुआ था! यह लड़का बड़ा ही सुशील, होनहार और चतुर कारोबारी था तथा अपनेसे विशेष प्रेम रखता था। तीन-चार दिनमें ही यह कालके गालमें चला गया!! इस भारी जवान मौतसे सारे नगरमें शोक छा गया और प्लेग भी जोर पकड़ती गई।

कुछ दिन बाद तुम्हारी माताने कोई चीज बनाकर तुम्हारे हाथ ला० जवाहरलालजीके यहाँ भेजी थी। वह शायद शोकके मारे घरपर ली नहीं गई। तब तुम किसी तरह ला० जवाहरलाल-जीको दुकानपर उसे दे आई थी। शामको या अगले दिन जब ला० जवाहरलालजी मिले तो कहने लगे कि—'तुम्हारी लड़की तो बड़ी होशयार हो गई है, मेरे इन्कार करते हुए भी मुझे दुकानपर ऐसी युक्तिसे चीज दे गई कि मैं तो देखकर दङ्ग रह गया।' इस घटनासे एक या दो दिन बाद तुम्हें भी प्लेग हो गई! और तुम उसीमें माघ सुदी १०मी संवत् १९६३ गुरुवार तारीख २४ जनवरी सन् १९०७ को सन्ध्याके छह बजे चल बसी!! कोई भी उपचार अथवा प्रेम-बन्धन तुम्हारी इस विवशा गतिको रोक नहीं सका!!!

तुम्हारे इस वियोगसे मेरे चित्तको बड़ी चोट लगी थी और

मेरी कितनी ही आशाओंपर पानी फिर गया था ! एक वृद्ध पुरुष श्मशानभूमिमें मुझे यह कह कर सान्त्वना दे रहे थे कि 'जाओ धान रहो क्यारी, अबके नही तो फिरके बारी'। फिर तुम्हारी माताके दुख-दर्द और शोककी तो बात ही क्या है ? उसने तो शोकसे विकल और वेदनासे विह्वल होकर तुम्हारे नये-नये वस्त्र भी बक्सोमेसे निकालकर फेंक दिये थे ! वे भी तुम्हारे बिना अब उसकी आँखोंमें चुभने लगे थे। परन्तु मैंने तुम्हारी पुस्तको आदिके उस बस्तेको जो काली किरमिचके बैगरूपमे था और जिसे तुम लेकर पाठशाला जाया करती थी तुम्हारी स्मृतिके रूपमे वर्षो तक ज्योका त्यो कायम रक्खा है। अब भी वह कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें मौजूद है—अर्से बाद उसमेसे एक दो लिपि-कापी तथा पुस्तक दूसरोको दी गई हैं और सलैटको तो मैं स्वयं अपने मौन वाले दिन काममें लेने लगा हूँ।

नामकरणके बाद जब तुम्हारे जन्मकी तिथि और तारीखादिको एक नोटबुकमे नोट किया गया था तब उसके नीचे मैंने लिखा था 'शुभम्'। मरणके बाद जब उसी स्थानपर तुम्हारी मृत्युकी तिथि आदि लिखी जाने लगी तब मुझे यह सूझ नही पड़ा कि उस दैविक घटनाके नीचे क्या विशेषण लगाऊँ ! 'शुभम्' तो मैं उसे किसी तरह कह नहीं सकता था; क्योकि वैसा कहना मेरे विचारोके सर्वथा प्रतिकूल था और 'अशुभम्' विशेषण लगानेको एकदम मन जरूर होता था परन्तु उसके लगानेमें मुझे इसलिये संकोच हुआ था कि मैं भावोके विधानको उस समय कुछ समझ नही रहा था—वह मेरे लिए एक पहेली बन गया था। इसीसे उसके नीचे कोई भी विशेषण देनेमें मैं असमर्थ रहा था।

बेटी विद्यावती,

तुम्हारा जन्म ता० ७ दिसम्बर सन् १९१७ को सरसावामें मेरे छोटे भाई बा० रामप्रसाद सब-ओवरसियरकी उस पूर्वमुखी हवेलीके सूरजमुखी निचले मकानमें हुआ था जो अपनी पुरानी हवेलीके सामने अभी नई तैयार की गई थी और जिसमें भाई रामप्रसादके ज्येष्ठ पुत्र चि० ऋषभचन्दके विवाहकी तैयारियाँ हो रही थीं, जन्मसे कुछ दिन बाद तुम्हारा नाम 'विद्यावती' रक्खा गया था, परन्तु आम बोल-चालमें तुम्हें 'विद्या' इस लघु नामसे ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी अवस्था अभी कुल सवा तीन महीनेकी ही थी, जब अचानक एक वज्रपात हुआ, तुम्हारे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा! दुर्दैवने तुम्हारे सिरपरसे तुम्हारी माताको उठा लिया!! वह देवबन्दके उसी मकानमें एक सप्ताह निमोनियाकी बीमारीसे बीमार रहकर १६ मार्च सन् १९१८ को इस असार संसारसे कूंच कर गई!!! और इस तरह विधिके कठोर हाथों-द्वारा तुम अपने उस स्वाभाविक भोजन—अमृतपानसे वञ्चित कर दी गई जिसे प्रकृतिने तुम्हारे लिये तुम्हारी माताके स्तनोंमें रक्खा था! साथही मातृ-प्रेमसे भी सदाके लिये विहीन हो गई!!

इस दुर्घटनासे इधरतो मैं अपने २५ वर्षके तपे-तपाये विश्वस्त साथीके वियोगसे पीड़ित! और उधर उसकी धरोहर-रूपमें तुम्हारे जीवनकी चिन्तासे आकुल!!! अन्तको तुम्हारे जीवनकी चिन्ता मेरे लिये सर्वोपरि हो उठी। पासके कुछ सज्जनोंने परामर्शरूपमें कहा कि तुम्हारी पालना गायके दूध, बकरीके दूध अथवा डब्बेके दूधसे हो सकती है; परन्तु मेरे आत्माने उसे स्वीकार नहीं किया। एक मित्र बोले—'लड़कीको पहाड़पर

किसी धायको दिला दिया जायगा, इससे खर्च भी कम पड़ेगा और तुम बहुत-सी चिन्ताओंसे मुक्त रहोगे। घरपर धाय रखनेसे तो बड़ा खर्च उठाना पड़ेगा और चिन्ताओंसे भी बराबर घिरे रहोगे।' मैंने कहा—'पहाड़ोंपर धाय द्वारा बच्चोंकी पालना पूर्ण तत्परताके साथ नही होती। धायको अपने घर तथा खेत-क्यारके काम भी करने होते हैं, वह बच्चेको यो ही छोड़कर अथवा टोकरे या मूढे आदिके नीचे बन्द करके उनमे लगती है और बच्चा रोता-बिलखता पड़ा रहता है। धाय अपने घरपर जैसा-तैसा भोजन करती है, अपने बच्चेको भी पालती है और इसलिये दूसरेके बच्चेको समयपर यथेष्ट भोजन भी नहीं मिल पाता और उसे व्यर्थके अनेक कष्ट उठाने पडते हैं। इसके सिवाय, यह भी सुना जाता है कि पहाड़ोंपर बच्चे बदले जाते हैं और लोभके वश दूसरोंको बेचकर मृत भी घोषित किये जाते हैं। परन्तु इस सबसे अधिक बडी समस्या जो मेरे सामने है वह संस्कारोंकी है और सब कुछ ठीक होते हुए भी वहाँके अन्यथा संस्कारोंको कौन रोक सकेगा? मैं नही चाहता कि मेरी लड़की मेरे दोषसे अन्यथा संस्कारोंमें रहकर उन्हें ग्रहण करे।' और इसलिये अन्तको यही निश्चित हुआ कि घरपर धाय रखकर ही तुम्हारा पालन-पोषण कराया जाय। तदनुसार ही धायके लिये तार-पत्रादिक दौड़ाये गये।

भाई रामप्रसादजी आदिके प्रयत्नसे एककी जगह दो धाय आगराकी तरफसे आ गईं, जिनमेंसे रामकौर धायको तुम्हारे लिये नियुक्त किया गया, जो प्रौढ़ावस्थाकी होनेके साथ-साथ श्यामवर्ण भी थी—उस समय मैंने कहीं यह पढ़ रक्खा था कि श्यामा गायके दूधकी तरह बच्चोंके लिये श्यामवर्णा धायका दूध

ज्यादा गुणकारी होता है। अतः तुम्हारे हित की दृष्टिसे अनुकूल योजना हो जानेपर मुझे प्रसन्नता हुई। धायके न आने तक गाय-बकरीका दूध पीकर तुमने जो कष्ट उठाया, तुम्हारी जानके जो लाले पड़े और उसके कारण दादीजी तथा बहन गुणमालाको जो कष्ट उठाना पड़ा उसे मैं ही जानता हूँ। धायके आ जानेपर तुम्हें साता मिलते ही सबको साता मिली।

तुम धायके साथ अधिकतर नानौता दादीजीके पास, सरसावा मेरे पास और तीतरो अपने नाना मुन्शी होशयार सिंहजीके यहाँ रही हो। जब तुम कुछ टुकड़ा-टेरा लेने लगी, अपने पैरों चलने लगी, बोलने-बतलाने लगी और गायका दूध भी तुम्हें पचने लगा तब तुम्हारी धाय रामकौरको विदा कर दिया गया और वह अपना वेतन तथा इनाम आदि लेकर ३० जून सन् १९१९ को चली गई। उसके चले जानेपर तुम्हारे पालन-पोषण और रक्षाका सब भार पूज्य दादीजी, बहन (बुआ) गुणमाला और चि० जयवन्तीने अपने ऊपर लिया और सबने बड़ी तत्परता एवं प्रेमके साथ तुम्हारी सेवा की है।

तुम अपनी अबोध-दशासे इतने अर्से तक धायके पास रही, उसकी गोदी चढ़ी, उसका दूध पिया, उसके पास खेली-सोई और वह माताकी तरह दूसरी भी तुम्हारी सब सेवाएँ करती रही; फिर भी तुमने एक बार भी उसे 'मां' कहकर नहीं दिया— दूसरोंके यह कहनेपर भी कि 'यह तो मेरी माँ है' तुम गर्दन हिला देती थी और पुकारनेके अवसरपर उसे 'ए-ए !' कहकर ही पुकारती थी। यह सब विवेक तुम्हारे अन्दर कहाँसे जागृत हुआ था वह किसीको भी कुछ समझमें नहीं आता था और सबको तुम्हारी ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर आश्चर्य होता था।

दो-ढाई वर्षकी छोटी अवस्थामें ही तुम्हारी बड़े आदमियों जैसी समझकी बातें, सबके साथ 'जी' की बोली, दयापरिणति, तुम्हारा सन्तोष, तुम्हारा धैर्य और तुम्हारी अनेक दिव्य चेष्टाएँ किसीको भी अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहती थी। तुम साधारण बच्चोंकी तरह कभी व्यर्थको जिद करती या रोती-रड़ाती हुई नहीं देखी गई। अन्तकी भारी बीमारीकी हालतमे भी कभी तुम्हारे कूल्हने या कराहने तककी आवाज नही सुनी गई; बल्कि जब तक तुम बोलती रही और तुमसे पूछा गया कि 'तेरा जी कैसा है' तो तुमने बड़े धैर्य और गम्भीरतासे यही उत्तर दिया कि 'चोखा है'। वितर्क करनेपर भी इसी आशयका उत्तर पाकर आश्चर्य होता था! स्वस्थावस्थामें जब कभी कोई तुम्हारी बातको ठीक नही समझता था या समझनेमें कुछ गलती करता था तो तुम बराबर उसे पुनः पुनः कहकर या कुछ अते-पतेकी बातें बतलाकर समझानेकी चेष्टा किया करती थी और जब तक वह यथार्थ बातको समझ लेनेका इजहार नही कर देता था तब तक बराबर तुम 'नहीं' शब्दके द्वारा उसकी गलत बातोंका निषेध करती रहती थी। परन्तु ज्यों ही उसके मुँहसे ठीक बात निकलती थी तो तुम 'हाँ' शब्दको कुछ ऐसे लहजेमें लम्बा खींचकर कहती थी, जिससे ऐसा मालूम होता था कि तुम्हें उस व्यक्तिकी समझपर अब पूरा सन्तोष हुआ है।

तुम हमेशा सच बोलती थी और अपने अपराधको खुशीसे स्वीकार कर लेती थी। बुद्धि-विकासके साथ-साथ आत्मामें शुद्धिप्रियता, निर्भयता, निस्पृहता, हृदयोच्चता और स्पष्टवादिता जैसे गुणोंका विकास भी तेजीसे हो रहा था। धायके चले जानेके

बादसे तुम मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए किसी भी स्त्री या लड़की आदिकी गोद नहीं चढ़ती थी, जिसका अच्छा परिचय शामलीके उत्सवपर मिला, जबकि तुम्हें गोदीमें उठाये चलनेके लिये दादीजीने एक लड़कीको योजना की थी; परन्तु तुमने उसकी गोदी चढ़कर नही दिया और कहा कि 'मैं अपने पैरों आप चलूँगी' और तुम हिम्मतके साथ बराबर अपने पैरों चलती रही जबतक कि तुम्हें थकी जानकर किसी स्वच्छ स्त्री या लड़कीने अपनी गोद नहीं उठाया। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी, जब मैं अपने यहाँके दुकानदारोंसे यह सुनता था कि 'तुम्हारी विद्या इधर आई थी, हम उसे कुछ चीज देनेके लिये बुलाते रहे, परन्तु वह यह कहती हुई चली गई कि "हमारे घर बहुत चीज है।" तुम्हारा खुदका यह उत्तर तुम्हारे सन्तोष, स्वाभिमान और तुम्हारी निस्पृहताका अच्छा परिचायक होता था।

एकबार बहन गुणमालाने चि० जयवंतीकी पाछापाड धोतीमेंसे तुम्हारे लिये एक छोटी धोती सवा दो गजके करीब लम्बी तैयार की, जिसके दोनों तरफ चौडी किनारी थी और जो अच्छी साफ-सुथरी धुली हुई थी। वह धोती जब तुम्हे पहनाई जाने लगी तो तुमने उसके पहननेसे इनकार किया और मेरे इस कहनेपर कि 'धोती बड़ी साफ सुन्दर है पहन लो' तुमने उसके स्पर्शसे अपने शरीरको अलग करते हुए साफ कह दिया "यह तो कत्तर है।" तुम्हारे इस उत्तरको सुनकर सब दङ्ग रह गये! क्योंकि इतने बड़े कपड़ेको 'कत्तर' का नाम इससे पहले किसीने नही सुना था। बहन गुणमाला कहने लगी—"भाई जी! तुम तो विद्याको सादा जीवन व्यतीत कराना चाहते हो, इसके कान-नाक विधवानेकी भी तुम्हारी इच्छा नहीं है परन्तु इसके

दिमागको तो देखो जो इतनी बड़ी धोतीको भी 'कत्तर' बतलाती है !"

एक दिन सुबहके वक्त तुम मेरे कमरेके सामनेकी बगडीमें दौड लगा रही थी और तुम्हारे शरीरकी छाया पीछेकी दीवार-पर पड़ रही थी। पासमे खड़ी हुई भाई हीगनलालजीकी बड़ी लड़कियाँ कह रही थी 'देख, विद्या ! तेरे पीछे भाई आरहा है।' पहले तो तुमने उनकी इस बातको अनसुनीसी कर दिया, जब वे बराबर कहती रही तब तुमने एकदम गम्भीर होकर डपटते हुए स्वरमें कहा "नही, यह तो छाँवला है।" तुम्हारे इस 'छाँवला' शब्दको सुनकर सबको हँसी आगई ! क्योकि छाया, छॉवली अथवा पडछाईकी जगह 'छाँवला' शब्द पहले कभी सुननेमे नहीं आया था। आमतौरपर बच्चे बतलाने वालोके अनुरूप अपनी छायाको भाई समझकर अपने पीछे भाईका आना कहने लगते हैं। यही बात भाईकी लड़कियाँ तुम्हारे मुखसे कहलाना चाहती थी जिससे तुम्हारी निर्दोष बोली कुछ फल जाय, परन्तु तुम्हारे विवेकने उसे स्वीकार नही किया और 'छॉवला' शब्दकी नई सृष्टि करके सबको चकित कर दिया।

एक रोज मैं अपने साथ तुम्हें लिची, खरबूजा आदि कुछ कुछ फल खिला रहा था, तय्यार फलोंको खाते खाते तुमने एकदम अपना हाथ सिकोड़ लिया और मेरे इस पूछनेपर कि 'और क्यो नही खाती ?' तुमने साफ कह दिया कि "मेरे पेटमें तो लिचीकी भूख है।" तुम्हारी इस स्पष्टवादितापर मुझे बडी प्रसन्नता हुई और मैने लिचीका भरा हुआ बोहिया तुम्हारे सामने रखकर कहा कि इसमेंसे जितनी इच्छा हो उतनी लिची खा लो। तुमने फिर दो-चार लिची और खाकर ही अपनी तृप्ति

व्यक्त कर दी। इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ; क्योंकि मैं सङ्कोचादिके वश अनिच्छापूर्वक किसी ऐसी चीजको खाते रहना स्वास्थ्यके लिये हितकर नही समझता, जो रुचिकर न हो। और मेरी हमेशा यह इच्छा रहती थी कि तुम्हारी स्वाभाविक इच्छाओका विघात न होने पावे और अपनी तरफसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे तुम्हारी शक्तियोंके विकासमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित हो या तुम्हारे आत्मापर कोई बुरा असर अथवा संस्कार पड़े।

जब तुम नानौतासे मेरे तथा दादी आदिके साथ देहली होती हुई पिछली बार २२ मई सन् १६२० को सरसावा आई तब मैंने तुम्हे यों ही विनोदरूपमें अपनी लायब्रेरीकी कुछ अलमारियाँ खोलकर दिखलाई थी, देखकर तुमने कहा था "तुम्हारी यह अलमारी बड़ी चोखी है।" इसपर मैंने जब यह कहा कि 'बेटी! ये सब चीजें तुम्हारी हैं, तुम इन सब पुस्तकोंको पढ़ना' तब तुमने तुरन्त ही उलट कर यह कह दिया था कि "नही, तुम्हारी ही हैं तुम्ही पढ़ना।" तुम्हारे इन शब्दोंको सुनकर मेरे हृदयपर एकदम चोट-सी लगी थी और मैं क्षणभरके लिये यह सोचने लगा था कि कहीं भावीका विधान ही तो ऐसा नही जो इस बच्चीके मुँहसे ऐसे शब्द निकल रहे हैं। और फिर यह खयाल करके ही सन्तोष धारण कर लिया था कि तुमने आदर तथा शिष्टाचारके रूपमें ही ऐसे शब्द कहे हैं। इस बातको अभी महीनाभर भी नहीं हुआ था कि नगरमें चेचकका कुछ प्रकोप हुआ, घरपर भाई हीगनलालजीकी लड़कियोंको एक-एक करके खसरा निकला तथा कंठी नमूदार हुई और उन सबके अच्छा होनेपर तुम्हें भी उस रोगने आ

घेरा—कण्ठी अथवा मोतीझारेका ज्वर हो आया! इधर दादाजीका पत्र आया कि वे बहन गुणमाला तथा चि० जयवन्तीको पं० चन्दाबाईके पास आरा छोड़कर वापिस नानौता आगई हैं और पत्रमें तुम्हें जल्दी ही लेकर आनेकी प्रेरणा की गई थी। मैंने भी सोचा कि इस बीमारीमें तुम्हारी अच्छी सेवा और चिकित्सा दादीजीके पास ही हो सकेगी, और इसलिये मैं १७ जूनको तुम्हे लेकर नानौता आगया। दो-चार दिन बीमारीको कुछ शांति पड़ी और तुम्हारे अच्छा होनेकी आशा बँधी कि फिर एकदम बीमारी लौट गई। उपायान्तर न देखकर २६ जूनको तुम्हें सहारनपुर जैन शफाखानेमें लाया गया, जहाँ २७ की रातको तुमने दम तोड़ना शुरू किया और २८ की सुबह होते होते तुम्हारा प्राण-पखेरू एकदम उड़ गया!! किसीकी कुछ भी न चली!!! उसी वक्त तुम्हारे मृत शरीरको अन्तिम संस्कारके लिये शिकममे रखकर सरसावा लाया गया—साथमें दादाजी और एक दूसरे सज्जन भी थे। खबर पाते ही जनता जुड़ गई। कुटुम्ब तथा नगरके कितने ही सज्जनोंकी यह राय थी कि तुम्हारा दाह-संस्कार न करके पुरानी प्रथाके अनुसार तुम्हारे मृतदेहको जोहड़के पास गाड़ दिया जाय और उसके आस-पास कुछ पानी फेर दिया जाय; परन्तु मेरी आत्माको यह किसी तरह भी रुचिकर तथा उचित प्रतीत नहीं हुआ, और इसलिये अन्तको तुम्हारा दाह-संस्कार ही किया गया, जो सरसावामें तुम्हारे जैसे छोटी उम्रके बच्चोंका पहला ही दाह-संस्कार था।

इस तरह लगभग ढाई वर्षकी अवस्थामें ही तुम्हारा वियोग होजानेसे मेरे चित्तको बहुत बड़ा आघात पहुँचा था; क्योंकि मैंने तुम्हारे ऊपर बहुतसी आशाएँ बाँध रक्खी थीं और अनेक

विचारोंको कार्यमें परिणत करनेका तुम्हें एक आधार अथवा साधन समझ रक्खा था। मैं तुम्हें अपने पास ही रखकर एक आदर्श कन्या और स्त्री-समाजका उद्धार करनेवाली एक आदर्श स्त्रीके रूपमें देखना चाहता था और तुम्हारे गुणोंका तेजीसे विकास उस सबके अनुकूल जान पड़ता था। परन्तु मुझे नहीं मालूम था कि तुम इतनी थोड़ी आयु लेकर आई हो। तुम्हारे वियोगमें उस समय सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईने 'विद्यावती-वियोग' नामका एक लेख जैन हितैषी (भाग १४ अक ६) में प्रकट किया था। और उसमें मेरे तात्कालिक पत्रका कितना ही अंश भी उद्धृत किया था।

ऋण चुकाना—

पुत्रियो! जहाँ तुम मुझे सुख-दुख दे गई हो वहाँ अपना कुछ ऋण भी मेरे ऊपर छोड़ गई हो, जिसको चुकानेका मुझे कुछ भी ध्यान नही रहा। गत ३१ दिसम्बर सन् १९४७ को उसका एकाएक ध्यान आया है। वह ऋण तुम्हारे कुछ जेवरों तथा भेंट आदिमे मिले हुए रुपये पैसोंके रूपमें हैं जो मेरे पास अमानत थे, जिन्हें तुम मुझे स्वेच्छासे दे नहीं गई; बल्कि वे सब मेरे पास रह गये हैं और जिन्हें मैंने बिना अधिकारके अपने ही काममें ले लिया है— तुम्हारे निमित्त उनका कुछ भी खर्च नहीं किया है। जहाँ तक मुझे याद है सन्मतीके पास पैरोमें चाँदीके लच्छे व झाँवर, हाथोमें चाँदीके कड़े व पछेली, कानोंमें सोनेकी बाली-झूमके, सिरपर सोनेका चक और नाकमें एक सोनेकी लोङ्ग थी, जिन सबका मूल्य उस समय १२५) रु०के लगभग था। और विद्याके पास हाथोंमें दो तोले सोनेकी कड़ूलियाँ चाँदीकी सरीदार, जिन्हें

घेरा—कण्ठी अथवा मोतीझारेका ज्वर हो आया! इधर दादाजीका पत्र आया कि वे बहन गुणमाला तथा चि० जयवन्ती-को पं० चन्दाबाईके पास आरा छोड़कर वापिस नानौता आगई हैं और पत्रमें तुम्हें जल्दी ही लेकर आनेकी प्रेरणा की गई थी। मैंने भी सोचा कि इस बीमारीमें तुम्हारी अच्छी सेवा और चिकित्सा दादीजीके पास ही हो सकेगी, और इसलिये मैं १७ जूनको तुम्हें लेकर नानौता आगया। दो-चार दिन बीमारीको कुछ शांति पड़ी और तुम्हारे अच्छा होनेकी आशा बँधी कि फिर एकदम बीमारी लौट गई। उपायान्तर न देखकर २६ जूनको तुम्हें सहारनपुर जैन शफाखानेमें लाया गया, जहाँ २७ को रातको तुमने दम तोड़ना शुरू किया और २८ की सुबह होते होते तुम्हारा प्राण-पखेरू एकदम उड़ गया!! किसीकी कुछ भी न चली!!! उसी वक्त तुम्हारे मृत शरीरको अन्तिम सस्कारके लिये शिक्रममे रखकर सरसावा लाया गया—साथमें दादोजी और एक दूमरे सज्जन भी थे। खबर पाते ही जनता जुड़ गई। कुटुम्ब तथा नगरके कितने ही सज्जनोंकी यह राय थी कि तुम्हारा दाह-संस्कार न करके पुरानी प्रथाके अनुसार तुम्हारे मृतदेहको जोहड़के पास गाड़ दिया जाय और उसके आस-पास कुछ पानी फेर दिया जाय; परन्तु मेरी आत्माको यह किसी तरह भी रुचिकर तथा उचित प्रतीत नहीं हुआ, और इसलिये अन्तको तुम्हारा दाह-संस्कार ही किया गया, जो सरसावामें तुम्हारे जैसे छोटी उम्रके बच्चोका पहला ही दाह-संस्कार था।

इस तरह लगभग ढाई वर्षकी अवस्थामें ही तुम्हारा वियोग होजानेसे मेरे चित्तको बहुत बड़ा आघात पहुँचा था; क्योंकि मैंने तुम्हारे ऊपर बहुतसी आशाएँ बाँध रक्खी थीं और अनेक

विचारोंको कार्यमें परिणत करनेका तुम्हें एक आधार अथवा साधन समझ रक्खा था। मैं तुम्हें अपने पास ही रखकर एक आदर्श कन्या और स्त्री-समाजका उद्धार करनेवाली एक आदर्श स्त्रीके रूपमें देखना चाहता था और तुम्हारे गुणोंका तेजीसे विकास उस सबके अनुकूल जान पड़ता था। परन्तु मुझे नहीं मालूम था कि तुम इतनी थोड़ी आयु लेकर आई हो। तुम्हारे वियोगमें उस समय सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईने 'विद्यावती-वियोग' नामका एक लेख जैन हितैषी (भाग १४ अक ९) में प्रकट किया था। और उसमें मेरे तात्कालिक पत्रका कितना ही अंश भी उद्धृत किया था।

ऋण चुकाना—

पुत्रियो! जहाँ तुम मुझे सुख-दुख दे गई हो वहाँ अपना कुछ ऋण भी मेरे ऊपर छोड़ गई हो, जिसको चुकानेका मुझे कुछ भी ध्यान नहीं रहा। गत ३१ दिसम्बर सन् १९४७ को उसका एकाएक ध्यान आया है। वह ऋण तुम्हारे कुछ जेवरों तथा भेंट आदिमे मिले हुए रुपये पैसोंके रूपमें हैं जो मेरे पास अमानत थे, जिन्हें तुम मुझे स्वेच्छासे दे नही गई; बल्कि वे सब मेरे पास रह गये हैं और जिन्हें मैंने बिना अधिकारके अपने ही काममें ले लिया है—तुम्हारे निमित्त उनका कुछ भी खर्च नहीं किया है। जहाँ तक मुझे याद है सन्मतीके पास पैरोमें चाँदीके लच्छे व झाँवर, हाथोमे चाँदीके कड़े व पछेली, कानोमें सोनेकी बाली-झूमके, सिरपर सोनेका चक और नाकमें एक सोनेकी लोङ्ग थी, जिन सबका मूल्य उस समय १२५) रु०के लगभग था। और विद्याके पास हाथोंमें दो तोले सोनेकी कड़ूलियाँ चाँदीकी सरीदार, जिन्हें

दादीजीने बनवाकर दिया था, तथा पैरोंमें नोखे थे, जिन सबकी मालियत ७५) रु०के करीब थी। दोनोंके पास ५०) रु०के करीब नकद होंगे। इस तरह जेवर और नकदीका तखमीना २५०) रु०के करीबका होता है, जिसकी मालियत आज ७००) रु०के लगभग बैठती है। और इसलिये मुझे ७००) रु० देने चाहिये, न कि २५०) रु०। परन्तु मेरा अन्तरात्मा इतनेसे भी सन्तुष्ट नही होता है, वह भूलचूक आदिके रूपमे ३००) रुपये उसमें और भी मिलाकर पूरे एक हजार कर देना चाहता है। अतः पुत्रियो! आज मैं तुम्हारा ऋण चुकानेके लिये १०००) रु० 'सन्मति-विद्या-निधि'के रूपमे वीरसेवामन्दिरको इसलिये प्रदान कर रहा हूँ कि इस निधिसे उत्तम बाल-साहित्यका प्रकाशन किया जाय—'सन्मति-विद्या' अथवा 'सन्मति-विद्या-विनोद' नामकी एक ऐसी आकर्षक बाल-ग्रन्थमाला निकाली जाय जिसके द्वारा विनोदरूपमें अथवा बाल-सुलभ सरल और सुबोध-पद्धतिसे सन्मतिजिनेन्द्र (भगवान् महावीर) की विद्या-शिक्षाका समाज और देशके बालक-बालिकाओमें यथेष्टरूपसे सञ्चार किया जाय—उसको उनके हृदयोंमें ऐसी जड़ जमा दी जाय जो कभी हिल न सके अथवा ऐसी छाप लगा दी जाय जो कभी मिट न सके।

मेरी इच्छा—

मैं चाहता हूँ समाज इस छोटीसी निधिको अपनाए, इसे अपनी ही अथवा अपने ही बच्चोंकी पवित्र निधि समझकर इसके सदुपयोगका सतत् प्रयत्न करे और अपने बालक-बालिकाओंको सन्तान-दर-सन्तान इस निधिसे लाभ उठानेका अवसर प्रदान करे। विद्वान् बन्धु अपने सुलेखो, सलाह-मशवरों और सुरुचिपूर्ण

चित्रादिके आयोजनों द्वारा इस ग्रन्थमालाको उसके निर्माण-कार्यमें अपना खुला सहयोग प्रदान करें और धनवान बन्धु अपने धन तथा साधन-सामग्रीको सुलभ योजनाओ द्वारा उसके प्रकाशन-कार्यमें अपना पूरा हाथ बटाएँ। और इस तरह दोनो ही वर्ग इसके संरक्षक और संवर्द्धक बनें। मैं स्वयं भी अपने शेष जीवनमे कुछ बाल-साहित्यके निर्माणका विचार कर रहा हूँ। मेरी रायमें यह ग्रन्थमाला तीन विभागोंमें विभाजित की जाय—प्रथम विभागमें ५से १० वर्ष तकके बच्चोंके लिये, दूसरेमें ११से १५ वर्ष तककी आयु वाले बालक-बालिकाओके लिये और तीसरेमें १६से २० वर्षकी उम्रके सभी विद्यार्थियोके लिये उत्तम बाल-साहित्यका आयोजन रहे और वह साहित्य अनेक उपयोगी विषयोमे विभक्त हो; जैसे बाल-शिक्षा, बाल-विकास, बालकथा, बालपूजा, बालस्तुति-प्रार्थना, बालनीति, बालधर्म, बालसेवा, बाल-व्यायाम, बाल-जिज्ञासा, बालतत्व-चर्चा, बालविनोद, बाल-विज्ञान, बाल-कविता, बाल-रक्षा और बाल-न्याय आदि। इस बाल-साहित्यके आयोजन, चुनाव और प्रकाशनादिका कार्य एक ऐसी समितिके सुपुर्द रहे, जिसमें प्रकृत विषयके साथ रुचि रखने-वाले अनुभवी विद्वानो और कार्यकुशल श्रीमानोका सक्रिय सह-योग हो। कार्यके कुछ प्रगति करते ही इसकी अलगसे रजिस्टरी और ट्रस्टकी कार्रवाई भी कराई जा सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जैनसमाजमे बाल-साहित्यका एकदम अभाव है—जो कुछ थोड़ा बहुत उपलब्ध है वह नहींके बराबर है, उसका कोई विशेष मूल्य भी नही है। और इसलिये जैन-दृष्टिकोणसे उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एवं प्रसारकी बहुत बड़ी जरूरत है। स्वतन्त्र भारतमें उसकी आवश्यकता और भी

अधिक बढ़ गई है। कोई भी समाज अथवा देश जो उत्तम बाल-साहित्य न रखता हो कभी प्रगति नहीं कर सकता। बालकोंके अच्छे-बुरे संस्कारोंपर ही समाजका सारा भविष्य निर्भर रहता है और उन संस्कारोंका प्रधान आधार बाल-साहित्य ही होता है। यदि अपने समाजको उन्नत, जीवित एवं प्रगतिशील बनाना है, उसमें सच्चे जैनत्वकी भावना भरना है और अपनी धर्म-संस्कृतिको, जो विश्वके कल्याणमें सविशेषरूपसे सहायक है, अक्षुण्ण रखना है तो उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एवं प्रसारकी ओर ध्यान देना ही होगा। और उसके लिये यह 'सन्मति-विद्या-निधि' नीवकी एक ईंटका काम दे सकती है। यदि समाजने इस निधिको अपनाया, उसकी तरफसे अच्छा उत्साहवर्द्धक उत्तर मिला और फलतः उत्तम बाल-साहित्यके निर्माणादिकी अच्छी सुन्दर योजनाएँ सम्पन्न और सफल होगईं तो इससे मैं अपनी उस इच्छाको बहुत अंशोंमें पूरी हुई समझूँगा जिसके अनुसार मैं अपनी दोनों पुत्रियोंको यथेष्टरूपमें शिक्षित करके उन्हें समाज-सेवाके लिये अर्पित कर देना चाहता था[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष ९, कि० ५, मई १९४८।

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जयपुरके प्रसिद्ध विद्वान श्री चैनसुखदासजीके लिए जयपुर-समाजकी ओरसे अभिनन्दनका आयोजन हो रहा है। अपने सच्चे सेवकों एवं उपकारियोंके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना जीवित समाजका एक लक्षण है। ऐसा करके समाज अपने ऋणसे कुछ उऋण ही नहीं होता, बल्कि नये समाज-सेवकोंको उत्पन्न करनेमे भारी सहायक होकर अपने भावी हितकी बुनयाद भी डालता है। पंडितजीने जयपुर समाजके लिए बहुत कुछ किया है। उनके द्वारा वहाँ शिक्षा और सदुपदेशका कार्य-क्रम बराबर चलता है। जयपुरकी पुरानी सस्कृत पाठशालाको वर्तमानमे जैन संस्कृत कालेजका रूप दे देना, और उसे गवर्नमेंटसे Recognise करा लेना उन्हींके सत्प्रयत्नोंका मूल है। ऐसी स्थितिमें जयपुर-समाजका यह आयोजन उचित ही है और अपनी पुरानी कीर्तिको पुनरुज्जीवित करनेवाला है।

गत वर्षसे मुझे पंडितजीका साक्षात् परिचय प्राप्त हुआ है और मैंने कई दिन उनके साथ जयपुर तथा श्रीमहावीरजी आदि में विताये हैं। निकटसे देखनेपर वे मुझे बड़े ही भद्रपरिणामी, विद्याव्यसनी, सेवाभावी और सादा रहन-सहनके प्रेमी एवं सच्चरित्र मालूम हुए हैं। उनके विचार उदार हैं और वे साथ ही विचार-सहिष्णु भी हैं। ललित व्याख्यान देनेकी कला उन्हे आती है, और वे सुलेखक होनेके साथ-साथ निर्भीक समा-लोचकके पदको भी प्राप्त हैं। सबके काम आते हैं, सबसे प्रेम

रखते हैं और प्रायः गम्भीर मुद्रामें रहते हैं। शारीरिक प्रकृतिके ठीक न रहते हुए भी आप अपनी जिम्मेदारीको समझते और अपने कामको तत्परताके साथ करते हैं। कालेजके अध्यक्ष पद पर आसीन होते हुए भी मैंने एक कुली तकका काम करते हुए उन्हें देखा है, इससे अहंकारकी मात्रा और सेवा-भावकी स्पिरिट कितनी है दोनोंका सहज पता चल जाता है। सरलता तो आपमें इतनी है कि कभी-कभी उससे अव्यवहार-निपुणता तकका भान होने लगता है। इन्हीं सब गुणोंके कारण मैं इस अवसर पर आपका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ और साथ ही यह भावना भाता हूँ कि आप स्वस्थताके साथ शतायु हों और समाजकी सविशेषरूपसे सेवा करनेमे सदा सावधान रहें।

श्री पं० सुखलालजीका अभिनन्दन : १४ :

मुझे ता० ५ जून १९५७ को 'जैन' पत्रसे यह मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्री पं० सुखलालजीके 'सम्मान-समारंभ' का बम्बईमें आयोजन किया जा रहा है और इसलिये मैंने अगले ही दिन ६ जूनको अपनी ओरसे एक छोटी-सी रकम १०१) की, पंडितजीको भेंट की जानेवाली सम्मान-निधिमें शामिल करनेके लिये, सम्मान-समितिके मंत्रीजीको चैक द्वारा भेज कर अपने आनन्दकी अभिव्यक्ति की ।

पं० सुखलालजी अपने व्यक्तित्वके एक ही व्यक्ति हैं । उन्होंने बाल्यावस्थामें नेत्रोंके चले जानेसे उत्पन्न हुई कठिन परिस्थितिमें विद्याभ्यास कर अनेक वस्तु-विषयोका कितना ही तल-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया है और साथ ही वाणी तथा लेखनी दोनों मार्गोंसे खुला वितरण भी किया है । उनमें गम्भीर-चिन्तन-के साथ ग्रहण, धारण, स्मरण और विवेचनकी शक्तिका अच्छा स्पृहणीय विकास हुआ है और वे उदारता, नम्रता, गुण-ग्राह-कता एवं सेवाभाव— जैसे सद्गुणोके सम्मिश्रणको लिये हुए हैं । मुझे अनेक बार साक्षात् सम्पर्कमें आनेका अवसर प्राप्त हुआ है और मैंने उन्हें निकटसे देखा है । एक बार तो, जब मैं अहमदाबाद, गुजरात पुरातत्व-मन्दिरमे रिसर्चका कुछ काम करने गया था तब, मुझे एक महीनेसे भी अधिक समय तक आपके घरपर ही ठहरनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था और आपके आतिथ्यको पाकर ऐसा महसूस हुआ था कि मैं अपने ही घरपर कुटुम्बके मध्य रह रहा हूँ । पंडितजी कितनी एकाग्रताके साथ ग्रन्थोंको

सुनते, नोट कराते, पहले किये हुये किसी नोटकी याद दिलाते, एकान्तमें बैठ कर लेख लिखाते समय विराम-चिह्नों तकको बोलते जाते और चर्चा-वार्तामें कितना अधिक रस लेते, इस सबका मुझे अच्छा अनुभव है। अनेक प्रसंगोंकी याद भी ताजा है और इसीलिये मैं कह सकता हूँ कि पंडितजीका जीवन ज्ञानकी आराधनामें बड़ा ही व्यग्र तथा अग्रसर रहा है और यही वजह है कि वे इतनी अधिक योग्यता एवं शक्तिके विकासको प्राप्त कर सके हैं। इस दृष्टिसे पंडितजीका जीवन बहुतोंके लिये शिक्षाप्रद ही नहीं; किन्तु अनुकरणीय है।

ऐसे महान् विद्वानके सम्मानमें जो यह आयोजन किया जा रहा है यह उनके योग्य ही है और उस समाजके भी योग्य ही है जिसने ऐसे आदर्श विद्वानकी सेवाएँ प्राप्त की हैं। निःसन्देह बम्बईके जैन युवक सघने पंडितजीके सम्मान-समारम्भका यह आयोजन कर एक आदर्श कार्य किया है और इसके लिये वह सविशेष रूपसे धन्यवादका पात्र है।

मेरी हार्दिक भावना है कि पं० सुखलालजी स्वस्थताके साथ दीर्घजीवी हो; उनकी अन्तर्दृष्टि सत्यनिष्ठाके साथ अधिक विकसित हो और वे अपने आराधित ज्ञानके द्वारा दूसरोंको समुचित लाभ पहुँचानेमें समर्थ हो सकें[१]।

---

१ १०-६-१९५७।

मैं आचार्य श्री तुलसीको उस वक्तसे कुछ-न-कुछ सुनता, जानता तथा अनुभवमे लाता आ रहा हूँ, जब वे सितम्बर १९३६ में आचार्य पदपर प्रतिष्ठित हुए थे। उस समय पत्रोंमें उनके अनुकूल-प्रतिकूल अनेक आलोचनाएँ निकली थीं, जिनमें उन्हें 'नाबालिग आचार्य' तक कहकर भी कुछ खिल्ली उड़ाई गई थी। और इसलिए उक्त साधनो द्वारा मुझे जो कुछ भी परिचय आचार्यश्रीका अबतक प्राप्त होता रहा है उन सबके आधार पर इतना निश्चित हो है कि आचार्य श्रीतुलसीजीने बड़ी योग्यताके साथ अपने पदका निर्वाह किया है। इतना ही नही, उसकी प्रतिष्ठाको आगे बढ़ाया है। उनके गुरु महाराजने आचार्य-पद प्रदानके समय उनमे जिस योग्यता और शक्तिका अनुभव किया था उसे साक्षात् सत्य सिद्ध करके बतलाया है। वे उस वक्तकी अनुकूल आलोचनाओं पर हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओपर क्षुभित न होकर अपने कर्तव्यकी ओर अग्रसर हुए। उन्होंने समदर्शित्व और सहनशीलताको अपनाकर अपनी योग्यताको उत्तरोत्तर बढ़ानेका प्रयत्न किया। नैतिकताका पूरा ध्यान रखते हुए ज्ञान और चरित्रको उज्ज्वल एवं उन्नत बनाया। उसीका यह फल है कि वे प्रतिकूलोंको भी अनुकूल बना सके और इतने बड़े साधु-साध्वी-संघका बाईस वर्षकी अवस्थासे ही बिना किसी खास विरोधके सफल संचालन कर सके हैं। आपके सत्प्रयत्नसे कितने ही साधु-साध्वीजन अच्छी शिक्षा एवं योग्यता

प्राप्त कर स्व-पर-हित साधनाके कार्यमें लगे हुए हैं और लोक-कल्याणकी भावनाओंको अणुव्रत-आन्दोलनके द्वारा आगे बढ़ा रहे हैं; यह सब देख-सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती है। अतः मैं आचार्य श्री के इस धवल समारोहके पुनीत अवसरपर उनके निराकुल दीर्घ जीवन और आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेकी शुभ भावना भाता हुआ उन्हे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ[1]।

१. आ० श्रीतुलसी अभिनन्दन-ग्रन्थ, १ मार्च १९६२, पृ० १९२।

पं० ठाकुरदासजीका वियोग : १६ :

१६ जून १९६५ के जैनसन्देश अंक ११ में टीकमगढ़के प्रसिद्ध विद्वान् पं० ठाकुरदासजी बी० ए० का ९ जूनको स्वर्गवास जान कर एकदम चित्तको बड़ा धक्का लगा और दुःख पहुँचा। आपके इस वियोगसे निःसन्देह जैन समाजकी बड़ी क्षति हुई है, जिसकी सहजपूर्ति संभव नहीं है। आप संस्कृत-प्राकृत तथा हिन्दी भाषाके अच्छे प्रौढ विद्वान् होनेके साथ-साथ आध्यात्मिक रुचिके सत्पुरुष थे। पूज्य वर्णी श्रीगणेशप्रसादजी आपको बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते थे। वर्णीजोको प्रेरणा और ला० राजकृष्णजीके आमंत्रणको पाकर जब आप समयसारका संशोधन-सम्पादनादि कार्य करनेके लिये दिल्ली पधारे थे तभी आपसे मेरा साक्षात्कार हुआ था और जब तक आप दिल्ली ठहरे तब तक बराबर आपसे मिलना होता रहा और आप कई बार वीरसेवामन्दिरमे भी सम्पादन-संशोधनादि सम्बन्धी परामर्शके लिये मेरे पास आते रहे हैं। उसके बादसे फिर पत्रो द्वारा सम्बन्ध चलता रहा, जो कि निधनकी तारीखको ही समाप्त हुआ है। आपका अन्तिम पत्र २८ मईका लिखा हुआ ३०-३१ को मुझे मिल गया था, जिसका उत्तर मैंने ९ जूनको लिखा था। लिखते समय मुझे क्या मालूम था कि आज ही स्वर्ग सिधार रहे हैं और इसलिये मेरा यह पत्र आपको नही मिलेगा। मैं तो उत्तरकी प्रतीक्षामें था कि अचानक ही स्वर्गवासकी उक्त दुःखद घटनाका समाचार मिला, यह एक बड़े ही खेदका विषय है !!

पत्रों आदिसे जहाँ तक मुझे मालूम हुआ, स्वर्गीय पंडितजी

बड़े ही सरल स्वभाव एवं उदार विचारके एक सौजन्यपूर्ण विद्वान् थे, परके थोड़ेसे भी उपकारको बहुत करके मानते थे, दूसरोंके कष्टोंको देख कर उनका हृदय दयासे द्रवीभूत हो जाता था और वे उनको कहींसे सहायता प्राप्त करानेका भरसक यत्न किया करते थे। अपने जीवनके उत्तरार्धमें यद्यपि वे बराबर अर्थ-संकटमें चलते रहे हैं परन्तु उसके लिये उन्होंने कभी किसीसे याचना नहीं की, वे याचनाको अपने लिये गौरवकी वस्तु नहीं समझते थे। एक बार पूज्य वर्णीजीने साहू शांतिप्रसादजीको प्रेरणा करके उनके लिये कुछ आर्थिक व्यवस्था कराई थी, जिससे उनके रहनेके लिए मकानकी सुविधा हो गई थी। साहूजी तथा वर्णीजीके इस उपकारका वे बराबर स्मरण करते रहे हैं।

एक बार वमन द्वारा उनके मुँहसे बहुत रुधिर गिरा था, जिससे वे अवस्थ हो गये थे। किसी सज्जनने साहूजीको उसकी सूचना की तो उन्होंने एक वर्षके लिये १००) रु० मासिककी सहायता नियत कर दी, जो बराबर समयपर उन्हें पहुँचती रही। सहायताकी समाप्तिके पाँच महीने बाद जब पंडितजी बहुत बीमार पड़े और सल्लेखना तकका विचार करने लगे तब उसकी खबर पाकर मैंने साहू शान्तिप्रसादजीको सहायताके पुनः चालू कर देनेकी प्रेरणा की और साथ ही यह भी लिखा कि पाँच महीने जो सहायता बन्द रही है वह भी उन्हे भिजवा दी जाय। साहूजीने मेरे इस लिखनेको मान देकर तुरन्त ही १००) रु० मासिक की सहायता तार द्वारा चालू कर दी और बादको ५००) रु० भी भेज दिये, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस सहायताको पाकर पंडितजीके हृदयमें नई आशाका संचार हुआ, उनके रोगका शमन हुआ और वे स्वाध्यायादि धर्म-साधन तथा साहित्य-

सेवाके सत्कार्यमें भी प्रवृत्त हो सके। इसके लिये उन्होंने अपने अन्तिम पत्रमें भी कृतज्ञता व्यक्त की है।

आपको पपौराजी और उसके विद्यालयसे बड़ा प्रेम था! दोनोंकी उन्नतिमें आपका बडा हाथ रहा। जब आपको यह मालूम हुआ कि मैं कुछ अर्सेके लिए दिल्ली छोड़ रहा हूँ तो आपने एक दो बार मुझे पपौराजी आकर रहनेको प्रेरणा की है और वहाँके स्वच्छ एवं शांत वातावरणको प्रशंसा की हैं।

इस बारकी उनकी बीमारीका कारण मई मासकी तीक्ष्ण गर्मी है जिसे वे सहन नहीं कर सके, जैसा कि उनके पत्रके इस वाक्यसे प्रकट है—"इस वृषादित्यकी प्रखरताने मेरे शरीरको विशेष अस्वस्थ कर दिया है।" हालमें उन्होंने स्वामी समन्तभद्र-के उपलब्ध पाँचों मूल ग्रन्थोका सम्पादन कर और इस संग्रहका 'समन्तभद्र भारती' नाम देकर उसपर अपना 'प्राक्कथन' लिखा है और यह ग्रन्थ श्री पंडित नीरजजीके पास छपनेको गया हुआ है, ऐसा उक्त पत्रसे मालूम होता है। साथ ही और भी कई बातोंका पता चलता है। इससे उस पत्रको आज यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

अन्तमे पडितजीके लिए परलोकमे सुख-शान्तिकी भावना करता हुआ उनके इस वियोगसे पीड़ित पुत्र, स्त्री आदि कुटुम्बी-जनोंके साथ अपनी समवेदना व्यक्त करता हूँ। आशा है सद्गतात्मा पंडितजीका आध्यात्मिक जीवन उन्हें स्वतः धैर्य बंधानेमें समर्थ होगा।

अन्तिम पत्र

ओं ह्रीं अनन्तानन्तपरमसिद्धेभ्यो नमः ।

टीकमगढ़—म० प्र० २८।५।६५

श्रीमान आदरणीय मुख्तार साहिब,
डाक्टर श्री श्रीचन्दजी !

सस्नेह जयजिनेश !

आशा है कि आप सकुशल हैं। कल आपका चिर प्रतीक्षित कृपा-पत्र प्राप्त हो गया है। मेरा शरीर इतना क्षीण और शिथिल है कि मैं श्री महावीरजी नही पहुँच सकता था। इस वृषादित्यकी प्रखरताने मेरे शरीरको विशेष अस्वस्थ कर दिया है। देखता हूँ कि यह क्षीणता केवल कुछ ही कालमें शान्त होती है या नही। आपके पुण्य-पीयूषपूर्ण अन्त:करणकी स्मृति मेरे कृतज्ञ मानसपटपर सुवर्ण अक्षरोंमें दिव्यता दे रही है, यदि आपने स्वत: ही वैसा उपकार न कराया होता तो निश्चयत: शरीर ही पर्य्यवसानको प्राप्त हो गया होता। 'समन्तभद्रत्वमयोऽस्ति जात:' ये युगवीर-मंगलकामनाष्टक वर्णित उद्गार पूर्णत: साधार हैं। समन्तभद्रभारती अभी नही छप पाई है। मुझे सतनासे श्री नीरजजीने लिखा कि छपाई हेतु अर्थ-व्यवस्था हो जानेपर आपका समाचार दूंगा। वे समाचार मुझे अब तक नही मिले हैं। मैंने उक्त समन्तभद्र-भारती (मूल) के प्राक्कथनमें आपका संक्षिप्त उदात्त परिचय देते हुए पाठकोको संकेत दिया था कि इन ग्रन्थोंके रहस्योंको वे आपके द्वारा विरचित हिन्दी टीकाओंका अध्ययन करके अपने जीवनको धन्य बनावें। आपके द्वारा विरचित समन्तभद्र-स्तोत्रको भी मैंने ग्रन्थके अन्तमें दे दिया था। श्री

अजितसागरजी मुनि महाराजने पं० आशाधरजीके दर्शनपाठ, जिन-सहस्रनाम स्तवन, अर्हत्स्तुति, सिद्धस्तुति, सरस्वती स्तोत्र, महर्षि स्तोत्र, अध्यात्मरहस्य, द्वादशानुप्रेक्षा, द्वाविंशति-परीषह, चतुर्विंशति स्तुति, स्वस्त्ययन-विधान आनन्दस्तव, बृहद् स्वस्त्य-यन, इन १३ मूल कृतियोंको लिखकर भेजा है। इनका संशोधन करके ग्रंथका नामकरण भी करना है। क्या 'सूरिकल्प पंडित आशाधरजी कृत दर्शनपाठादि-संग्रह, नाम ठीक रहेगा। आप लिखें तो मैं पूरा ग्रन्थ आपके पास भेज दूं।

दुःसह दुःखद वियोग

ता० २८ जनवरी १९६६ को सुबह कलकत्ताके तारसे यह दुःसमाचार पाकर हृदयको बड़ा ही आघात पहुँचा कि श्री बाबू छोटेलालजीका २६ जनवरीको सुबह देहावसान होगया है! तबसे चित्त अशान्त चल रहा है और कुछ करने-करानेको मन नहीं होता। यह ठीक है कि वे अर्सेसे बीमार चल रहे थे; परन्तु बीच-बीचमें कुछ अच्छे भी होते रहे हैं और इसलिए यह आशा नहीं थी कि वे इस तरह ऐसे समाप्त हो जायेंगे। वे बराबर अपने पत्रोंमें दिल्ली आने और वीरसेवामन्दिरकी व्यवस्थाको ठीक करने तथा किसी योग्य मंत्रीकी नियुक्तिका आश्वासन देते रहे हैं। जब-जब उन्होंने दिल्ली आनेका निश्चय किया है तब-तब उनपर रोगका आक्रमण होता रहा है और एक-दो बार तो वे टिकट कटाकर और सीट रिजर्व कराकर भी नही आ सके। यह बड़े ही दुर्भाग्यकी बात है। १० अगस्तके पत्रमे दिये गए निम्न शब्द उनकी इच्छा, स्थिति और बेबसीके द्योतक हैं—

"मेरी प्रबल इच्छा है कि एक बार दिल्ली हो आऊँ और वीरसेवामन्दिरके कामको ठीक कर आऊँ। अभी ८ दिन हुए तब एक दिन कुछ तबियत ठीक हुई थी, तब रेलमे सीट रिजर्व करानेको कह दिया था कि जिस दिनकी सीट मिले, रिजर्व करा लेना। बस, उसी दिन रातको फिर जोरका दौरा पड़ा—सबेरे भीं कष्ट रहा, तब सीट रिजर्व कराना स्थगित किया। मैं नित्य भगवानसे प्रार्थना करता हूँ कि एक

बार दिल्ली जाने लायक हो जाऊँ। मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि मुझे इतनी बड़ी संस्थाकी बहुत अधिक चिन्ता है कि देखो ठीक तरहसे काम नहीं चल रहा है। मुझे अपने जीवनकी चिन्ता नही है, किन्तु वीरसेवामन्दिरकी बहुत चिन्ता है। मैं पुनः आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जिस दिन भी कष्ट कुछ कम होगा मैं तुरन्त चला आऊँगा। वायुयानसे आनेका साहस इसलिए नही करता हूँ कि रक्तचाप होता रहता है। अब तो नित्य दिल्लीकी ओर ध्यान जाता रहता है। मुझे और कोई झंझट बाधक नही है।"

एक-दो बार मैंने स्वयं उनके पास कलकत्ता जाने का विचार भी किया परन्तु उन्होंने कभी तो अपने बात-चीत करने की स्थितिमें न होनेके कारण और कभी मेरे सफर-कष्टके कारण रोक दिया और पत्र-व्यवहारसे भी कितनी ही बात हो सकती हैं मैं पत्रका उत्तर शीघ्र दूंगा, ऐस लिख दिया।

हालमें डॉ० श्रीचन्दने १८ दिसम्बरके पत्रमें उनकी अस्वस्थतापर वेदना तथा चिन्ता व्यक्त करते हुए और उनके शीघ्र ही नीरोग होनेको भावना करते हुए उन्हें उनके अनुकूल एक शुभ समाचार भी दिया था, जिसकी वे बहुत दिनोंसे प्रतीक्षा कर रहे थे। साथ ही यह भो लिखा था कि वीरसेवामन्दिर ट्रस्टकी मीटिंग अब जल्दो बुलाई जानेको है। आप कब तक दिल्ली आ सकेंगे? यदि किसी तरह आना न बन सके तो मैं मुख्तार सा० को साथ लेकर आपके पास आना चाहता हूँ। आप साहू शान्तिप्रसादजीको भी प्रेरणा कीजिये कि वे ट्रस्टकी इस मीटिंगमें जरूर शरीक हों। इस पत्रका बा० छोटेलाल स्वयं उत्तर नहीं दे सके। उन्होंने २७ दिसम्बरको स्वास्थ्यकी अधिक

खराबीके कारण और दो सप्ताहसे अस्पतालमें होनेके कारण श्री बंशीधरजी एम० ए० से अपनी उत्तर देनेमें असमर्थताकी बात लिखा दी और यह भी लिखा दिया कि स्वास्थ्य ठीक होनेपर उत्तर दे सकूँगा। पत्रमे श्री बशीधरजीने लिखा है कि उन्हें दमा तथा खाजका जोर है। यह खाजका रोगका एक्जोमा है जो कई वर्ष पहले उन्हे बहुत जोरसे हुआ था और जिसके पुनः लौट आनेकी सूचना बा० छोटेलालजीने अपने पिछले एक पत्रमें दी थी और उसके कारण भी उन्हे दिल्लीका जाना स्थगित करना पड़ा था।

बा० छोटेलालजी समाजकी एक बड़ी विभूति थे, निःस्वार्थ सेवाभावी थे, कर्मठ विद्वान् थे, उदारचेता थे, प्रसिद्धिसे दूर रहने वाले थे, अनेक संस्थाओंको स्वयं दान देते तथा दूसरोसे दिलाते थे। वीरसेवामन्दिरके तो आप एक प्राण ही थे। आपके इस दुःसह एवं दुःखद बियोगसे उसे भारी क्षति पहुँची है, जिसकी निकट-भविष्यमें पूर्ति होना कठिन है।

मेरी हार्दिक भावना है कि सद्गत आत्माको परलोकमें सुखशान्तिकी प्राप्ति होवे और कुटुम्बीजनोंको धैर्य मिले[1]।

---

१. जैन सन्देश, ३ फरवरी १९६६ ई०।

: ४ :

विनोद-शिक्षात्मक निबन्ध

मैं और आप—दोनों लोकनाथ : १ :

एक वामनाकार भिक्षुकने किसी राज-दरबारमे जाकर यह वाक्य कहा—

"अहं च त्वं च राजेन्द्र लोकनाथावुभावपि"

'हे राजेन्द्र ! मैं और आप दोनों ही लोकनाथ हैं ।'

भिक्षुकके मुखसे इस वाक्यको सुनकर राजा साहब बहुत असन्तुष्ट हुए और क्रुद्ध होकर कुछ आज्ञा देनेको ही थे कि उनकी दृष्टि उस भिक्षुकके वामनाकारपर पडी । दृष्टिका पडना था कि झटसे राजा साहबको विष्णुभगवानका वामनावतार याद आगया और यह ख्याल उत्पन्न हुआ कि कही यह साक्षात् लोकनाथ विष्णुभगवान ही तो इस रूपमें नही आये हैं । तब राजा साहब सशंकित चित्त हो विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगे :—

'महाराज ! मैं आपके इस वाक्यका यथार्थ अर्थ नहीं समझ सका हूँ । क्या आप कृपाकर मुझको यह बतलायेंगे कि मैं और आप दोनों किस प्रकारसे लोकनाथ हैं ?

भिक्षुकने इसके उत्तरमे यह वाक्य कहा :—

'बहुव्रीहिरहं राजन् षष्ठीतत्पुरुषो भवान्'

'हे राजन् ! मैं बहुव्रीहि समाससे लोकनाथ हूँ (लोका जना नाथा: स्वामिनो यस्यैवंविधोऽहं याचकत्वात्) जिसका प्रयोजन यह है कि याचक और भिखारी होनेके कारण सब लोग जिसके नाथ हैं ऐसा मैं 'लोकनाथ' हूँ और आप षष्ठी-

तत्पुरुष समाससे 'लोकनाथ' हैं (लोकानां जनानां नाथ एवं-विधस्त्वं, राजत्वेन पालकत्वात्), जिसका आशय यह है कि राजा होकर मनुष्योंकी रक्षा व पालना करनेके कारण लोगोंके जो नाथ सो ऐसे आप 'लोकनाथ' हैं।

राजा साहब इस उत्तरको सुनकर, विनयवचनादि द्वारा प्रकाशित अपनी मूर्खतापर बहुत लज्जित और भिक्षुककी विद्वत्ता और युक्तिमय वचनोंपर प्रसन्नचित्त हुए और उस भिक्षुकको इनाममे कुछ मुहरे देकर बिदा किया[१]।

१. जैन गजट, १-७-१९०७

धीमान और श्रीमानकी बातचीत : २ :

धीमान—भाई साहब ! आज आप क्या लिख रहे हैं ?

श्रीमान—मैं 'जैनगजट' में छपवानेके लिये एक नोटिस लिख रहा हूँ।

धीमान—किस बातकी नोटिस ?

श्रीमान—'भाईजी' आप जानते ही हैं कि हमने जो नवीन मन्दिर तैयार कराया है और जिसकी गतवर्ष प्रतिष्ठा हुई थी उसमें पूजा करनेकी बडी दिक्कत रहती है। वहां नित्य पूजन करनेके लिये हमको एक पाँच-सात रुपये महीनेके आदमीकी जरूरत है, उसके लिये यह नोटिस लिख रहा हूं।

धीमान—सेठजी ! एक आदमीकी तो हमको भी जरूरत है, कृपाकर एक नोटिस 'जैन गजट' मे हमारे लिये भी लिख भेजिये।

श्रीमान—आपको किस कामके लिये कैसे आदमीकी जरूरत है ?

धीमान—हमको ऐसे आदमीकी जरूरत है जो हमारी तरफ से मन्दिरजीमें जाकर नित्य दर्शन और सामयिक किया करे, शास्त्र सुना करे तथा हमारी तरफसे व्रत-नियम पालन किया करे और प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी तथा अन्य पर्वके दिनोमें प्रौषधोपवास भी किया करे।

श्रीमान—पंडितजी ! आप तो बुद्धिमान हैं। भला कही ऐसे कामोंके वास्ते भी नौकर रक्खा जाता है। ये काम तो अपने ही करनेके होते हैं। ऐसे कामोको नौकरोसे करानेमें क्या धर्म-लाभ हो सकता है ?

धीमान—तो क्या फिर त्रैलोक्यनाथ श्री भगवानकी पूजाका काम नौकरोंके करने और उनसे करानेका होता है ? और क्या

नौकरोंके करनेसे अपनेको कुछ धर्म-लाभ होना मानते हैं ? यदि यह सत्य है (अर्थात् पूजन नौकरोंका काम है और उससे अपनेको धर्म-लाभ होता है) तो फिर हमारे उक्त कार्योंके नौकर द्वारा सम्पादित होने और उनसे हमको धर्म-लाभ पहुँचनेमें कौन बाधक है ? इसीसे हमने ऐसा कहा है ।

श्रीमान—(कुछ लज्जित होकर) भाई साहब ! काम तो पूजनका भी अपने ही करनेका है, नौकरसे करानेका नही और अपने आप ही पूजन करनेसे कुछ धर्म-लाभ भी हो सकता है, अन्यथा नहीं; परन्तु क्या किया जाय, आजकल ऐसा ही शिथिलाचार हो गया है कि कोई मन्दिरजीमें पूजन करने ही नही आता है ।

धीमान—सेठजी ! क्या आपके लिये यह लज्जाकी बात नही है कि जिस भगवानकी पूजाको इन्द्र, अहमिन्द्र और चक्रवर्त्यादिक राजा बड़े उत्साहके साथ करते हैं, आप उसको स्वय न करके नौकरोसे कराना चाहे और इस प्रकार सर्वसाधारणपर श्रीजीके प्रति अपना अनादरभाव प्रगट करें ? क्या आपके इस नोटिससे वे लोग, जिनके हृदयोपर आपने नवीन मन्दिर बनवाने और उसकी प्रतिष्ठा करानेसे अपनी भगवद्-भक्ति और धर्मानुरागता अंकित की थी, यह नतीजा नहीं निकालेंगे कि 'आपमें भगवद्-भक्ति और धर्मानुरागताका लेश भी नही है और जो कुछ आपने किया है वह केवल अपनी मान-बडाई और लोक-दिखावेके लिये किया है ?' यदि आपके हृदयमें भगवानकी भक्ति और उनके पूजनसे अनुराग नहीं था और आप जानते थे कि अन्य मन्दिरोंमें भी पूजनका प्रबन्ध मुश्किलसे होता है तो फिर आपको इस शहरमें कई मन्दिर

विद्यमान होते हुए भी एक नवीन मन्दिर बनवानेकी क्या जरूरत थी ? क्या केवल नामवरी और अपने धनकी प्रभावना ही के वास्ते आपने यह काम किया था ? अफसोस ! भाई साहब ! आप किस भूलमे हैं; यह भगवत् (पंच परमेष्ठी) की पूजा और भक्ति वह उत्तम वस्तु है कि इस ही के प्रभावसे प्रथम स्वर्गका इन्द्र, कुछ भी तप-संयम और नियम न करते हुए भी, एक भवधारी हो जाता है अर्थात् स्वर्गसे आकर अगले ही जन्ममे मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। इसलिये शिथिलता और प्रमादको छोड़कर आपको स्वयं नित्य भगवानकी पूजा और भक्ति करनी चाहिये। आपकी पूजा और भक्तिको देखकर अन्य बहुतसे भाइयोको उसके करनेकी प्रेरणा होगी, जिसका आपको पुण्य-बंध होगा। यदि आप ऐसा न करके विपरीत प्रथा (नौकरोंसे पूजन कराना) डालेंगे और कुछ दिन तक यही शिथिलाचार और जारी रहेगा तो याद रखिये कि वह दिन भी निकट आ जायगा कि जब दर्शन और सामायिक आदिके लिये भी नौकर रखनेकी जरूरत होने लगेगी और धर्मका बिलकुल लोप हो जायगा। फिर इस कलंक और अपराधका भार आप ही जैसे श्रीमानोंकी गर्दनपर होगा।

धीमानकी इस बातको सुनकर श्रीमानजी बहुत ही लज्जित हुए और उनको स्वयं भगवानकी पूजाका करना स्वीकार करना पड़ा और 'जैनगजट' में नोटिसका छपवाना स्थगित रक्खा गया[1]।

---

१. जैनगजट, ८–७–१९०७

अतिपरिचयादवज्ञा : ३ :

एक नवशिक्षित प्रमादी युवा पुरुषको भगवानके दर्शन और पूजनसे रुचि नहीं थी। यद्यपि वह किसी भी प्रबल हेतुसे मूर्ति-पूजनका खंडन नही कर सकता था; परन्तु वह हर वक्त इस फिक्रमें रहता था कि कोई ऐसी युक्ति मिल जावे जिससे मंदिरमें नित्य दर्शनादिके लिये जाना न पड़ा करे। ढूँढते-ढूँढते उनको कहीं से यह श्लोक हाथ लग गया :—

अतिपरिचयादवज्ञा संततगमनादनादरो भवति।
लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति॥

बस, अब क्या था। इस श्लोकको पाते ही युवा साहब हवाके घोड़ेपर सवार होगये और जब कोई उनको दर्शनादिके लिये मंदिरमे जानेकी प्रेरणा करता तथा पूछता कि आप क्यों नही जाते हैं तो वह तुरन्त बड़े हर्षके साथ अपने न जानेके कारणमें उपर्युक्त श्लोकको पेश कर देते थे और उसकी इस प्रकार व्याख्या करके अपना पिण्ड छुड़ा लेते कि जो वस्तु अधिक परिचयमे आती है उसकी अवज्ञा हो जाती हैं और जिसके पास निरन्तर जाना रहता है उसका हृदयमेंसे आदर-भाव निकल जाता है; जैसे कि प्रयागनिवासी मनुष्योको गंगा और यमुनाका अति परिचय होने और उसमें निरन्तर स्नानके लिये जानेसे अब उन लोगोके हृदयमेसे उस तीर्थका आदर-भाव निकल गया है और वे अब नित्य कुयेंपर स्नान करके उक्त तीर्थकी अवज्ञा करते हैं। इसी प्रकार नित्य मंदिरमे जानेसे भगवानकी अवज्ञा और अनादर हो जावेगा, इसीसे मैं नही जाता हूँ। लोग इसको सुनकर चुप हो जाते और कुछ जवाब न देते।

एक दिन युवा साहबको अपना यह एकान्त किसी अनेकांन्ती महाशयके सम्मुख भी पेश करना पडा। वहाँ क्या देर थी। उक्त महाशयने झटसे इसके निराकरणमें यह वाक्य कहा :—

अतिपरिचयादवज्ञा इति यद्वाक्यं मृषैव तद् भाति।
अतिपरिचितेऽप्यनादौ संसारेऽस्मिन् न जायतेऽवज्ञा ॥

अर्थात् जो कोई ऐसा एकान्त ग्रहण करता है और कहता है कि अति परिचय होनेसे अवज्ञा होती है, यह उसका एकान्त मिथ्या जान पड़ता है; क्योकि अनादि कालसे जिसका परिचय है ऐसे संसारसे किसी भी संसारीकी अवज्ञा नही है; संसारी इस विषय-भोग तथा रागादि भावोसे मुख नही मोडता है और न उनकी कुछ अवज्ञा करता है; बल्कि संसारी जीव उल्टा उनके लिये उत्सुक और उनकी पुष्टिमे अनेक प्रकारसे दत्तचित्त बने रहते हैं। इसलिये 'अतिपरिचयादवज्ञा' ऐसा एकान्त सिद्धान्त मिथ्या है।

अनेकान्तवादीके इन वाक्योको सुनकर नवशिक्षित महाशयके देवता कूंच कर गये, कुछ भी उत्तर न बन पड़ा और उनको मालूम होगया कि हमारा हेतु ठीक नही, व्यभिचारी है। अन्तमें उनको लज्जित होकर प्रमाद और आलस्यकी शरण ग्रहण करनी पड़ी अर्थात् यह कहना पड़ा कि यह मेरा प्रमाद और आलस्य है जो मैं नित्य मन्दिरजीमे नही जाता हूँ[1]।

---

१. जैनगजट, १६-७-१९०७

मांसभक्षणमें विचित्र हेतु : ४ :

एक महाशय मासके बहुत ही प्रेमी थे। दैवयोगसे आपने कहींसे कुछ थोड़ा-सा न्याय पढ़ लिया। अब क्या था, लगा महाशयजीको खब्त सूझने! और खब्त होते-होते वे इस उधेड़ बुनमे पड़ गये कि किसी प्रकार न्यायकी शैलीसे मासभक्षणको निर्दोष सिद्ध करना चाहिये। इसके लिये आप हेतु ढूँढने लगे, समस्त ग्रन्थ और शास्त्र टटोल मारे, परन्तु कही हेतु हो तो मिले। तब लाचार आपको यह लटक उठी कि अपने आपही कोई नवीन हेतु गढ़ना चाहिये। आखिर बहुत कुछ दिमाग खपाते-खपाते आपने एक हेतु गढ़ ही डाला और उसको श्लोकके ढाँचेमे इस प्रकार ढाल दिया :—

मांसस्य मरणं नास्ति, नास्ति मांसस्य वेदना।
वेदनामरणाभावात्, को दोषो मांसभक्षणे॥

इस श्लोकको गढकर महाशयजी बहुत ही प्रसन्न हुए और आपेसे इतने बाहर हो गये कि अपनी प्रशंसा और दूसरोकी निन्दामें जमीन-आसमान एक करने लगे। उनको जो कोई मिलता वे उसीको मांस-भक्षणकी प्रेरणा करते और मास-भक्षणको निर्दोष सिद्ध करनेकेलिये उपर्युक्त श्लोकका प्रमाण देकर उसका अर्थ और भावार्थ इस प्रकार समझा देते कि—मासका मरण नही होता है और न मासको कोई तकलीफ होती है। जब मरण और तकलीफ दोनों नही होते हैं तो फिर मांस-भक्षणमें क्या दोष है? पाप उस वक्त लगना है कि जब किसीको मारा जावे या दुःख दिया जावे; परन्तु मांस न मरता

है और न उसको कुछ दुःख पहुँचता है। इसलिये उसके खानेमें कोई हर्ज और दोष नहीं है।'' इस रीतिसे वे बहुतसे भोले मनुष्योंको बहकाने लगे।

एक दिन महाशयजीकी भेंट अनेकान्तसिंहके भाई तुरत-बुद्धिसे हुई। आपने उनको भी बहकाना चाहा और अपना वही मनगढंत श्लोक सुनाया; परन्तु वे प्रथम तो अनेकान्तसिंहके भाई और दूसरे स्वयं तुरतबुद्धि थे, महाशयजीकी बातोंमें कब आनेवाले थे। उन्होंने तुरन्त महाशयजीके श्लोकके उत्तरमें तुर्की-ब-तुर्की यह श्लोक कहा—

गूथस्य मरणं नास्ति, नास्ति गूथस्य वेदना।
वेदनामरणाभावात्, को दोषो गूथ-भक्षणे॥

अर्थात्—विष्ठाका मरण नहीं होता है और न विष्ठाको कोई तकलीफ होती है। जब मरण और तकलीफ दोनों नहीं होते हैं तो फिर विष्ठाके भक्षणमें क्या दोष है? भावार्थ—जब आप मांस-भक्षणको वेदना और मरणके न होनेसे ही निर्दोष ठहराते हैं तो फिर आप विष्ठा-भक्षण करनेसे कैसे इनकार कर सकते हैं और कैसे उसको सदोष कह सकते हैं? जिस हेतुसे आप मांस-भक्षणको निर्दोष सिद्ध करते हैं आपके उसी हेतुसे विष्ठा-भक्षण भी, जिसको आप सदोष मान रहे हैं, निर्दोष सिद्ध हुआ जाता है; क्योंकि दोनों स्थानोंपर हेतु समान है और जिस हेतुसे आप विष्ठा-भक्षणको सदोष मानते हैं उसी हेतुसे मांस-भक्षणके सदोष माननेमें आपको कौन बाधक हो सकता है? एकको सदोष और दूसरेको निर्दोष माननेसे आपका हेतु (वेदना मरणाभावात्) व्यभिचारी ठहरता है और उससे कदापि साध्य-की सिद्धि नहीं हो सकती।

तुरतबुद्धिके इस श्लोक और व्याख्याको सुनकर महाशयजी-की आँखे खुल गई, वे अपना-सा मुँह लेकर रह गये और सब आवली-बावली भूल गये—उनसे कुछ भी उत्तर न बन सका और उनको इतना खिसियाना और शर्मिन्दा होना पडा कि उन्होने तुरतबुद्धिजीसे माफी मागी और अपना कान मरोड़ा कि मैं भविष्यमें किसीको भी मास-भक्षणकी प्रेरणा नहीं करूँगा, न स्वयं मांसके निकट जाऊँगा और न कभी अपने उस मनगढ़ंत श्लोकका उच्चारण करूँगा[1]।

---

१. जैन गजट ८—८—१९०७

पापका बाप

: ५ :

एक ब्राह्मण विवाह होनेके पश्चात् विद्या पढ़नेके लिये काशी गया। वहाँ पर जब उसको १२, १३, वर्ष बीत गये और समस्त वेद-वेदांगका पाठी बन गया तब गुरुकी आज्ञा लेकर अपने घर वापिस आया। घरपर आकर जब उसने अपनी विद्याका प्रकाश किया और अपने माता-पितासे प्रगट किया कि मैं इस प्रकार वेद-वेदागका पाठी हो गया हूँ, तब माता-पिताके आनन्दका ठिकाना नही रहा, और नगर-निवासियोंको भी उसकी विद्याका हाल मालूम करके अत्यन्त हर्ष हुआ— उन्होंने अपने नगरमें ऐसे विद्वान्के होनेसे अपना और नगरका बड़ा भारी गौरव समझा।

ब्राह्मण महोदयकी धर्मपत्नी एक अच्छे घरानेकी पढ़ी-लिखी कन्या थी और बड़ी ही सुशीला, धर्मात्मा तथा उच्च विचारोंको रखने वाली थी। रात्रिके समय जब वह ब्राह्मण अपनी स्त्रीके पास गया और उससे अपने विद्या पढ़नेका सारा दास्तान (हाल) उसे सुनाया और हर प्रकारसे अपनी योग्यता और निपुणता प्रगट की तब उस विचारशीला स्त्रीने नम्रताके साथ अपने पतिदेवसे यह पूछा कि, "**आपने पापका बाप भी पढ़ा है या नहीं ?**"

इस प्रश्नको सुनते ही पतिराजके देवता कूँच कर गये और सारी आवली-बावली (विद्या-चतुराई) भूल गये। आप सोचने लगे कि "पापका बाप" क्या ? मैंने व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक और गणित आदिक सब ही विद्याएँ

पढ़ीं, परन्तु पापके बापका तो नाम तक भी नहीं सुना, यह कौन-सी विद्या है? इस प्रकार सोचते-सोचते अन्तमें आपको यही कहना पडा कि, 'पापका बाप तो मैंने अभी तक नहीं पढ़ा।'

अपने पतिके इस उत्तरको सुन कर स्त्रीने किंचित् जोशमें आकर कहा कि "जब तुमने **पापका बाप ही** नहीं पढ़ा तो तुमने पढ़ा ही क्या? तुम्हारा सब विद्याओंमे निपुण होना और वेद-वेदांगका पाठी होना बिना इसके पढ़े सब निष्फल है। इसलिए सबसे पहले **पापका बाप** पढ़िये! तब ही आपका सब विद्याओंको प्राप्त करना शोभा दे सकता है। अन्यथा, केवल भार ही भार वहना है।"

अपनी स्त्रीके इन वाक्योंको सुनकर पतिराम इतने लज्जित हुए कि उनको रात काटनी भारी पड़ गई। आप रात भर करवटें बदलते हुए चिन्तामें मग्न रहे और अपने हृदयमें आपने पूरे तौरसे यह ठान ली कि जब तक पापका बाप नहीं पढ़ लेंगे तब तक घरमें पैर नहीं रक्खेंगे, यही अभिप्राय आपने अपनी स्त्रीसे भी प्रगट कर दिया, और प्रातःकाल उठते ही नगरसे निकल गये।

स्त्रीके वचनोंकी पंडितजी पर कुछ ऐसी फटकारसी पड़ी कि, जब अपने नगरसे निकल कर दो-चार ग्रामोंमें पूछने पर भी आपको कोई पापका बाप नहीं बता सका तो आप पागल-से हुए गलीमे यह कहते फिरने लगे कि, "कोई पापका बाप पढ़ा दो! कोई पापका बाप बता दो!" इस प्रकार कहते और घूमते हुए पंडितजी एक बड़ेसे नगरमें पहुँचे, जहाँ पर एक बड़ी चतुर वेश्या रहती थी। जिस समय पंडितजी अपनी वाणी ("कोई पापका बाप पढ़ा दो—") बोलते हुए उस वेश्याके मकानके

नीचेसे गुजरे तो वह वेश्या उनके हालको ताड़ गई—अर्थात् समझ गई, और उसने तुरन्त ही अपने एक आदमीके हाथ उनको ऊपर बुलवा लिया।

जब पंडितजी ऊपर वेश्याके मकानपर पहुँचे तो वेश्याने उनको बहुत आदर-सत्कारसे बिठाया और बैठनेके लिये उच्चासन दिया। पंडितजीके बैठ जानेपर वेश्याने उनका सब हाल पूछा और उनकी हालतपर सहानुभूति और हमदर्दी प्रकट की। फिर वह वेश्या पंडितजीको इधर-उधरकी बातोंमें भुलाकर उनकी प्रशंसा करने लगी और कहने लगी कि, मुझ "मंदभागिनीके ऐसे भाग्य कहाँ जो आप जैसे विद्वान, सज्जन और धर्मात्मा अतिथि मेरे घर पधारें, मेरा घर आपके चरणकमलोंसे पवित्र हो गया; मेरी इच्छा है कि आज आप यहीं पर भोजन कर इस दासीका जन्म सफल करें, आशा है कि आप मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार न करेंगे।" वेश्याकी इस प्रार्थनाको सुन कर पंडितजी कुछ चौंक कर कहने लगे कि, हैं! यह क्या कहो! हम ब्राह्मण तुम्हारे घरका भोजन कैसे कर सकतेहैं? इस पर वेश्याने नम्रतासे कहा कि "महाराजका जो कुछ विचार है वह ठीक है परन्तु मैं बाजारसे हिन्दूके हाथ भोजनकी सब सामग्री मँगाये देती हूँ, आप स्वयं यहीं पर रसोई तैयार कर लेवें, इसमें कोई हर्ज है और यह लो! (सौ रुपयेकी ढेरी लगा कर) अपनी दक्षिणा।"

पंडितजीने ज्यूँही **नकद नारायणके** दर्शन किये कि उनकी आँखे खुल गई और वे सोचने लगे कि, वेश्याके यहाँसे सूखा अन्नादिकका भोजन लेने व बाजारसे इसके द्वारा मंगाई सामग्री-से भोजन बना कर खानेमें तो कोई दोष नहीं है, और दूसरे यह दक्षिणा भी माकूल देती है; इसलिये इसकी प्रार्थना जरूर

स्वीकार करनी चाहिये। ऐसा विचार कर आपने उत्तर दिया कि, खैर! यदि बाजारसे सब सामग्री शुद्ध आजावे और घी भी हिन्दूके यहाँ का मिल जावे तो कुछ हरज नही, हम यहीं पर स्वयं बनाकर भोजन कर लेवेंगे।''

वेश्याने पंडितजीकी इस स्वीकारता पर बहुत बड़ी खुशी जाहिर की और उनको यकीन दिलाया कि सब सामग्री बहुत शुद्धताके साथ मँगाई जावेगी और घी भी हिन्दू ही के यहाँ का होगा और उसी वक्त अपने नौकरोंको सब सामग्री लाकर हाजिर करनेकी आज्ञा कर दी।

जब सब सामग्री आ चुकी, चौका बरतन भी हो चुका और पंडितजी स्नान करके रसोईमें जाने ही को थे, तब वेश्याने बड़ी ही नम्रता और विनयके साथ पंडितजीसे यह अर्ज की कि—महाराज! आज मेरा चित्त आपके गुणोपर बहुत ही मोहित हो रहा है और आपकी भक्तिसे इतना भीग रहा है कि उसमें अनेक प्रकारसे आपकी सेवा करनेकी तरंगें उठ रही हैं, नहीं मालूम पूर्वके जन्मका ही यह कोई संस्कार है या क्या? इस समय मेरा हृदय इस बातके लिये उमड रहा है और यही मेरी मनोकामना है कि आज मैं स्वयं ही अपने हाथसे भोजन बनाकर आपको खिलाऊँ, और इस प्रकारसे अपने मनुष्य-जन्मको सफल करूँ। क्या आप मुझ अभागिनकी इस तुच्छ विनतीको स्वीकार करनेकी कृपा दरशावेंगे? आपकी इस कृपाके उपलक्ष में यह दासी ५००) रु० और भी आपकी भेट करना चाहती है'' यह कहकर तुरन्त पाँच सौ रुपयेकी थैली मँगाकर पंडितजीके आगे रखदी।

वैश्याके इन कोमल वचनोंको सुनकर यद्यपि पंडितजीको कुछ रोष-सा भी आया, कुछ हिचकिचाहट-सी भी पैदा हुई और

वेश्याकी इस टेढ़ी प्रार्थनाके स्वीकार करनेमें उनको अपना धर्म भ्रष्ट होता हुआ भी नजर आया, परन्तु ५००) रुपयेकी थैलीको देखकर उनके मुँहमें पानी भर आया, वे विचारने लगे कि— "मुझको यहाँपर कोई देखने वाला तो है नहीं, जो जातिसे पतित होनेका भय किया जावे, पाँच सौ रुपयेकी अच्छी रकम हाथ आती है। इससे बहुतसे काम सिद्ध होंगे और जो कुछ थोड़ा-बहुत पाप लगेगा तो वह हरिद्वारमें जाकर गंगाजीमे एक गोता लगानेसे दूर हो सकता है, इसलिये हाथमें आयी इस रकमको कदापि नही छोड़ना चाहिये"। इस प्रकार निश्चयकर पंडितजी वेश्यासे कहने लगे कि—"मुझको तुमसे कुछ उजर तो नहीं है परंतु तुम तो व्यर्थ ही अंगुली पकड़ते पहुँचा पकड़ती हो। खैर! जैसी तुम्हारी मर्जी (इच्छा)।"

पंडितजीके इस प्रकार राजी होनेपर वेश्या ५००) रु० की थैली पंडितजीके सुपुर्द कर स्वय रसोई बनाने लगी और पंडितजी भोजनकी प्रतीक्षामे बैठ गये। पंडितजी बैठे-बैठे अपने मनमे यह खयाल करके बहुत खुश हो रहे हैं कि, "यह वेश्या तो अच्छी मतिकी होनी और गाँठकी पूरी मिल गई, ऐसी तो जम-जम होती रहे।" थोड़ी देरमे रसोई तय्यार हो गई और पंडितजी भोजनके लिये बुलाये गये।

जब पंडितजी रसोईमे पहुँचे और उनके आगे अनेक प्रकारके भोजनोका थाल परोसा गया, तब वेश्याने पंडितजीसे निवेदन किया कि—"जहाँ आपने मेरी इतनी इच्छा पूर्ण की है वहाँ पर इतनी और कीजिये कि एक ग्रास मेरे हाथसे अपने मुखमे ले लीजिये, और बाकी सब भोजन अपने आप कर लीजिये। बस, मैं इतने ही से कृतार्थ हो जाऊँगी; और यह लो! पाँच सौ रुपयेकी और थैली आपकी नजर है।"

वेश्याके इन वचनोंको सुनते ही पंडितजीके घर गंगा आ गई और थैलीका नाम सुनते ही वे फूलकर कुप्पा हो गये। आपने सोच लिया कि, जब वेश्याने अपने हाथसे कुल भोजन ही तय्यार किया है तो फिर उसके हाथसे एक ग्रास अपने मुखमें ले लेनेमें ही कौन हर्ज है? यह तो सहज ही में एककी दो थैलियाँ बनती हैं, दूसरे जब गंगाजीमे गोता लगावेंगे तब थोड़ा-सा गंगाजल भी पान कर लेवेंगे, जिससे सब शुद्धि हो जावेगी। इस लिये पंडितजीने वेश्याकी यह बात भी स्वीकार कर ली।

जब वेश्याने पंडितजीके मुँहमें देनेके लिये ग्रास उठाया और पंडितजीने उसके लेनेके लिये मुँह बाया (खोला) तब वेश्याने क्रोधमें आकर बड़े जोरके साथ पंडितजीके मुखपर एक थप्पड मारा और कहा कि—"पापका बाप पढ़ा या नही? यही (लोभ) पापका बाप है जिसके कारण तुम अपना सारा पढ़ा-लिखा भुलाकर अपने धर्म-कर्म और समस्त कुल-मर्यादाको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये उतारू हो गये हो।" थप्पड़के लगते ही पंडित जीको होश आ गया और जिस विद्याके पढ़नेके लिये वे घरसे निकले थे वह उन्हें प्राप्त हो गई। आपको पूरी तौरसे यह निश्चय हो गया कि, लोभ ही समस्त पापोंका मूल कारण है।

पाठकगण! ऊपरके इस उदाहरणसे आपकी समझमें भली प्रकार आ गया होगा कि यह लोभ कैसी बुरी बला है। वास्तवमें यह लोभ सब अनर्थोका मूल कारण है और सारे पापोकी जड है। जिसपर इस लोभका भूत सवार होता है वह फिर धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय और कर्तव्य-अकर्तव्यको कुछ नही देखता; उसका विवेक इतना नष्ट हो जाता है और उसकी आँखोंमें इतनी चर्बी छा जाती है कि वह प्रत्यक्षमें जानता और मानता हुआ भी धनके लालचमें बुरे-से-बुरा काम करनेके लिये उतारू

हो जाता है। बहुतसे दुष्टोंने इस लोभ हीके कारण अपने माता-पिता और सहोदर तकको मार डाला है। आज कल जो कन्या-विक्रयकी भयंकर प्रथा इस देशमे प्रचलित है और प्राय: ६–१० वर्षकी छोटी-छोटी निरपराधिनी कन्यायें भी साठ-साठ वर्षके बुड्ढोंके गले बाँधी जा रही हैं वह सब इसी लोभ-नदीकी बाढ़ है। इसी प्रकार इस लोभका ही यह प्रताप है जो बाजारोंमें शुद्ध घीका दर्शन होना दुर्लभ हो गया है—घीमें साँपों तककी चर्बी मिलाई जाती है, तेल मिलाया जाता है और वनस्पति घी तथा कोकोजम आदिके नाम पर न मालूम और क्या-क्या अला-बला मिलाई जाती है, जो स्वास्थ्यके लिये बहुत ही हानिकारक है। दवाइयो तकमें मिलावट की जाती है और शुद्ध स्वदेशी चीनीके स्थानपर अशुद्ध तथा हानिकारक विदेशी चीनी बरती जाती है और उसकी मिठाइयाँ बनाकर देशी चीनीकी मिठाइयोंके रूपमें बेची जाती हैं। बाकी इसकी बदौलत तरह-तरहकी मायाचारी, ठगी और दूसरे क्रूर कर्मोकी बात रही सो अलग। सच पूछिये तो ऐसे-ऐसे ही कुकर्मोसे यह भारत गारत हुआ है। और उसका दिन-पर-दिन नैतिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक पतन होता जाता है।

पहले भारतमें ऐसा भी समय हो चुका है कि, राजद्वारमें आम तौरपर या किसी कठिन न्यायके आ पड़नेपर नगर-निवासी तथा प्रजाके मनुष्य बुलाये जाते थे और उनके द्वारा पूर्ण रूपसे ठीक और सत्य न्याय होता था। परन्तु अफसोस! आज भारतकी यह दशा है कि न्यायकी जड़ काटनेके लिए प्राय: हर शख्स कुल्हाड़ी लिये फिरता है, जगह-जगह रिश्वतका बाजार गरम है; अदालतोंमें न्याय करनेके लिये नगर-निवासियोंका बुलाया जाना तो दूर रहा, एक भाई भी दूसरे भाईके ईमान

धर्म पर विश्वास नहीं करता। यही वजह है कि भारतकी प्रायः सभी जातियोंमेसे पंचायती बल उठ गया है और उसके स्थान पर अदालतोंकी सत्यानाशिनी मुकद्दमेबाजी बढ़ गई है; क्योंकि मुखिया और चौधरियोंने लोभके कारण ठीक न्याय नहीं किया और इसलिये फिर उस पंचायतकी किसीने नहीं सुनी।

भारतवर्षसे इस पंचायती बलके उठ जाने या कमजोर हो जानेने बहुत बड़ा गजब ढाया और अनर्थ किया है। आजकल जो हजारो दुराचार फैल रहे हैं और फैलते जाते हैं वह सब इस पंचायती बलके लोप होनेका ही प्रतिफल है। पंचायती बलके शिथिल होनेसे लोग स्वच्छंद होकर अनेक प्रकारके दुराचार और पापकर्म करने लगे और फिर कोई भी उनको रोकनेमे समर्थ न हो सका। अदालतोके थोथे तथा निःसार नाटकोंका भी इस विषयमे कुछ परिणाम न निकल सका।

अफसोस! जो भारत अपने आचार-विचारमें, अपनी विद्या-चतुराई और कला-कौशलमें तथा अपनी न्यायपरायणता और सूक्ष्म अमूर्त्तिक पदार्थों तककी खोज करनेमें दूर तक विख्यात था और अन्य देशोके लिये आदर्श स्वरूप था वह आज इस लोभके वशीभूत होकर दुराचारों और कुकर्मोकी रंगभूमि बना हुआ है, सारी सद्विद्यायें इससे रूठ गई हैं और यह अपनी सारी गुण-गरिमा तथा प्रभाको खोकर निस्तेज हो बैठा है!! एक मात्र विदेशोंका दलाल और गुलाम बना हुआ है!!!

जबतक हमारे भारतवासी इस लोभ कषायको कम करके अपनी अन्यायरूप प्रवृत्तिको नहीं रोकेंगे और जब तक स्वार्थ-त्यागी बनना नही सीखेंगे तबतक वे कदापि अपने देश तथा समाजका सुधार नहीं कर सकते हैं और न संसारमें ही कुछ सुखका अनुभव कर सकते हैं। क्योंकि सुख नाम निराकुलताका

है और निराकुलता आवश्यकताओंको घटाकर—परिग्रहको कम करके—संतोष धारण करनेसे प्राप्त होती है। जो संतोषी मनुष्य हैं वे निराकुल होनेसे सुखी हैं, तृष्णावान और असंतोषी मनुष्योंको कदापि निराकुलता नहीं हो सकती और इसलिये वे सदा दुखी रहते हैं। कहा भी है:—

"**संतोषान्न परं सुखम्**", '**किं दारिद्र्यमसंतोषः**', '**असंतोषो-महाव्याधिः**' अर्थात्—संतोषसे बढ़कर और कोई दूसरा सुख नही है। दारिद्र कौन है? असंतोष और सबसे बड़ी बीमारी कौन-सी है? असंतोष। भावार्थ—जो असंतोषी है वे अनेक प्रकारकी धन-सम्पदाके विद्यमान होते हुए भी दरिद्री और रोगीके तुल्य दुखी रहते हैं। इसलिये सुख चाहनेवाले भाइयोंको लोभका त्यागकर संतोष धारण करना चाहिये।

यहाँ इस कथनसे यह प्रयोजन नही है कि सर्वथा लोभका त्यागकर धन कमाना ही छोड़ देना चाहिए, धन अवश्य कमाना चाहिए, बिना धनके गृहस्थीका काम नही चल सकता; परन्तु धन न्याय-पूर्वक कमाना चाहिये, अन्याय मार्गसे कदापि धन पैदा नहीं करना चाहिये। अर्थात् ऐसे अनुचित लोभका त्याग कर देना चाहिये जिससे अन्याय मार्गसे धन उपार्जन करनेकी प्रवृत्ति होवे, यही इस सारे कथनका अभिप्राय और सार है।

आशा है हमारे भाई इस लेखपरसे जरूर कुछ प्रबोधको प्राप्त होंगे और अपनी लोभ-कषायके मंद करनेका प्रयत्न करेंगे। अपने चित्तको अन्याय मार्गसे हटानेके लिये उन्हें नीतिशास्त्रों, आचरण-ग्रन्थो और पुराण-पुरुषोंके चरित्रोंका बराबर नियम-पूर्वक अवलोकन तथा स्वाध्याय करना चाहिये और सदा इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि लक्ष्मी चंचल है, न सदा किसीके

पास रही और न रहेगी; प्राण भी क्षणभंगुर हैं, एक-न-एक दिन इनका सम्बन्ध जरूर छूटेगा; कुटुम्बीजन तथा इष्ट-मित्रादिक अपने-अपने मतलबके साथी हैं, इनका भी सम्बन्ध सदा बना नहीं रहेगा, सिवाय अपने धर्मके परलोकमें और कोई भी साथ नहीं जाएगा और न कुछ काम आ सकेगा; इसलिये इनके कारण अपना धर्म बिगाड़ना बड़ा अनर्थ है, कदापि अपने धर्मको छोड़कर अन्याय मार्गपर नही चलना चाहिये ।

विवेककी आँख　　　　: ६ :

एक पंडितजी काशी वास करके उदर-पूर्णाके लिये देश-विदेश भ्रमते-भ्रमते कांखमें पोथी दबाये हुए एक स्थान पर पहुँचे। वहाँ क्या देखते हैं कि मनुष्योंकी एक बड़ी भारी भीड़ दूर तक लग रही है। एकके ऊपर एक गिरा पड़ता है। क्या मजाल, कोई भला आदमी अन्दर घुस सके, मारे धक्कोंके कचूंमर निकला जावे। बेचारे पंडितजी अपनी पोथी संभाले खड़े-खड़े भीड़का तमाशा देखने लगे। दो-चार आदमियोंसे आपने पूछा भी कि यह क्या तमाशा है? क्यों इतने लोग यहाँ पर जमा हैं? परन्तु किसीने उनकी बातको सुनना तक पसन्द नही किया और उत्तरमे जो कुछ शब्द उनको सुनाई पड़े वे यही थे—"चुप रहो, बोलो मत! बड़ा मजा आरहा है।" इस पर पंडितजी सोचने लगे कि ऐसा क्या अद्भुत तमाशा हो रहा है जिससे लोग इतने ध्यानारूढ हैं कि बातका उत्तर तक भी देना पसन्द नहीं करते, इसको एक बार जरूर देखना चाहिये। यह विचार कर पंडितजीने उस भीड़मे घुसनेकी ठान ली और अपने वस्त्रादिक समेटकर तथा अपनी पोथीको बगलमें मजबूतीसे दबाकर हिम्मतके साथ धकापेली करके भीड़में घुस पड़े। आखिरको दो-चार धक्के-मुक्के खाकर और एक-दो मनुष्यकी मिन्नत-खुशामद करके पंडितजी खड़े हुए मनुष्योंकी भीड़को चीरकर अन्दर पहुँच ही गये। वहाँ जाकर क्या देखते हैं कि, हजारों आदमी दूर तक बैठे हैं, बड़े-बड़े अमीर और रईस तथा अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष अपनी-अपनी

बाँकी पोशाक डटाये हुए सज-धजके साथ विराजमान हैं, इन्द्रका सा अखाडा लगा हुआ है और एक रंगीली वेश्याकी तान उड़ रही है। उस तानमें सब लोग हैरान और परेशान हैं, गानेको सुनकर और वेश्याके हावभावको निरख-निरखकर सब लोग बड़े लट्टू होरहे हैं और अपनी मस्तीमें इस बातको बिलकुल भूले हुए हैं कि किसीका क्या कुछ दर्जा या अधिकार है और क्या कुछ हमारा कर्तव्य व कर्म है।

भोले पंडितजी इस अद्‌भुत दृश्य और ठाठ-बाटको देखकर सोचने लगे कि 'यहाँके मनुष्य तो बडे उत्साही, उद्यमी और धन-पात्र मालूम होते हैं। जब ये लोग वेश्या-नृत्य जैसे पाप-कार्यमें ही इतना उत्साह दिखा रहे हैं तो फिर धर्म-कार्यमें तो इनके उत्साहका कुछ ठिकाना नहीं। आशा पड़ती है कि इस नगरमें हमारा कार्य जरूर सिद्ध होगा, यहाँ पर अवश्य कोई कथा थापनी चाहिये।' इधर पंडितजी इस विचारमें ही उलझ रहे थे, इधर लगी वेश्यापर वारफेरसी होने। कोई एक रुपया देता है, कोई दो और कोई चार। इस प्रकार वारफेर होते-होते गणिका महारानीके सरंगियेकी सरंगी रुपयोसे ठसाठस भर गई। थोडी देरमें नृत्य समाप्त हुआ और वेश्याको सरंगीके रुपयो समेत तीन सौ रुपये गिनकर मेहनताने-के दिये गये, घुंघरू खुलवाई इससे अलग रही और वेश्याके सरंगिये व तबलची वगैरहको दो-चार दुशाले और कुछ अन्य कपड़े इनाममें दिये गये।

अब तो यह सब दृश्य देखकर पंडितजीको पूरी तौरसे निश्चय होगया कि यहाँके भाई केवल धनाढ्य और उत्साही नहीं हैं; बल्कि साथमें बड़े भारी उदार भी हैं और

इसलिये यहाँ पर जरूर हमारे कार्य-की साढ़े सोलह आने सिद्धि होगी। ऐसा निश्चय कर वेश्याके चले जानेपर पंडितजीने पंचोंसे निवेदन किया कि, 'महाराज! मैं ब्राह्मण हूँ, बारह वर्ष काशीमें मैंने विद्याध्ययन किया है। इस नगरकी कीर्ति और आप जैसे धर्मात्माओकी धर्ममें प्रीति और उदारताको श्रवण कर मैं आपके दर्शनोंके लिये यहाँ पर चला आया हूँ। यदि आप जैसे धर्ममूर्ति और धर्मावतारोंकी कृपासे यहाँ पर मेरी कथा होजाय तो बहुत अच्छा है।' इस पर पंचायतमें खिचड़ीसी पकने लगी और लगी कानाफूसी होने! कोई कहे होनी चाहिए, कोई कहे नहीं, कोई कहे नही मालूम यह (पंडित) कोई ठगफिरै है, इसका ऐतबार क्या? कोई कहे नही यह ब्राह्मण बहुत दूरसे आस बाँधकर आया है, इसकी आस (उम्मेद) खाली नही जानी चाहिये। इस प्रकार आपसमे कानाफूसी होने लगी, कोई कुछ कहे और कोई कुछ। आखिरको दो-चार बड़े-बूढ़ोने सोच विचारकर कहा—"पडितजी! कुछ हर्ज नहीं, कलसे आपकी कथा जरूर हो जायगी, इससे अच्छी और क्या बात है जो भगवत-कथा सुननेका अवसर मिले, आप शौकसे कल अपनी कथा आरम्भ कर दीजिये।" उसी समय भाइयोंको प्रगट कर दिया गया कि कलसे अमुक स्थानपर कथा हुआ करेगी। सब भाइयोंको ठीक समयपर उसमें पधारना चाहिये। इसके बाद सब लोग अपने घरको चले गये और पडितजी भी एक टूटे-फूटेसे शिवालयमें ठहर गये।

अगले दिन नियत समयसे एक घंटेके बाद पंडितजीकी कथा प्रारम्भ होगई। पहले दिन ही कथामें सिर्फ ४०–५० आदमी आये। पंडितजी सोचते रह गये कि यह क्या हुआ?

रंडीके नाचमें तो हजारों मनुष्य मौजूद थे, वे कहाँ गये ? शायद आज सब लोगोंको कथाकी खबर न हुई हो। परन्तु अगले दिन उतने भी न रहे, जिससे पंडितजीका (खबर न होनेका) भ्रम मिट गया ; और शनैः शनैः कथामें आने वाले कुल पाँच-सात ही आदमी रह गये और वे भी कौन ? बुड्ढे-बुड्ढे ठलुए मनुष्य, जिन्हें कुछ काम-धन्धा न था, जिनकी सब इन्द्रियाँ शिथिल थी और जो अपने मकानकी दहलीजमें या दरवाजे पर चौकीदारकी तरह पड़े रहते थे, वे वहाँ न पड़े, कथामें अचारके घड़ेकी तरह जाकर धरे गये। कथा कौन सुनता था, लगे ऊँघने और खुर्राटे भरने। पंडितजी बके जाओ और मगज खपाये जाओ--हाँ, यदि किसी समय किसीको कुछ होश-सा आगया तो कह दिया--"वाह पंडितजी ! बहुत अच्छा कहा।" ऊँघते और टूलते समय उन बुड्ढे-ठुड्डोंके हस्त-पदादिकको जो क्रिया होती थी उसका फोटू शब्दोमें कौन उतार सकता है ? शब्दमें इतनी शक्ति ही नही है, परन्तु हाँ ! जब ऊँघते-ऊँघते एकका सिर दूसरेसे टकरा जाता था तो 'ठाँदेसी' को आवाज जरूर होती थी, उससे सबकी आँख खुल जाती थी और कुछ देरके लिये निद्रा देवीकी उपासना छूट जाती थी।

खैर ! ज्यों-त्यो करके तीस दिनमें वह कथा पूरी हुई, उसी दिन नगरमें बुलावा दिलाया गया कि कथा पूरी होगई है उसपर कुछ चढ़ाना चाहिये। सब पंचायत इकट्ठी हुई और आपसमें विचार होने लगा कि पंडितजीको क्या कुछ दक्षिणा दी जाय ! किसीने कहा "पंडितजीको दस रुपये दे देने चाहिये;" दूसरेने कहा "नहीं, कुछ कम देने चाहिये;" तीसरेने कहा "दस नहीं, पन्द्रह देने चाहिये, इन्होने महीने भर मेहनतकी, आठ आने रोज

तो पड़े;" चौथेने कहा "मेरी रायमें पंडितजीको बीस रुपये मिलने चाहिये।" इस प्रकार किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ। आखिर बहुत कुछ वाद-विवादके पश्चात् दो चार भले मानुसोंने, जिन्हें कुछ थोड़ी सूझ-बूझ थी, यह फैसला कर दिया कि पंडित-जीने तीस दिन तक कथा पढ़ी है इसलिये रुपया रोजके हिसाबसे इनको पूरे तीस रुपये दिये जावें और उसी वक्त तीस रुपये पंडितजीके हवाले किये गये।

इन तीस रुपयो तथा लोगोंकी इस हालतको देखकर और वेश्याके उन तीन सौ रुपयोंका स्मरणकर जो उसको तीन-चार घण्टेके नाचके उपलक्ष्यमे ही दिये गये थे पंडितजीके बदनमें आग-सी लग गई और उन्होने शोकके साथ किंचित् जोशमें आकर अपना माथा धुना और सिर पीटकर यह दोहा पढ़ा :—

फूटी आँख विवेककी, कहा करै जगदीश।
कंचनियाको तीनसौ, मनीरामको तीस॥

अर्थात् अब विवेककी आँख फूट गई, भले-बुरेका और अपने हित-अहितका कुछ विचार नहीं रहा तो फिर जगदीश ही क्या कर सकता है। यह विवेकके नष्ट हो जानेका ही नतीजा है जो पापका उपदेश देनेवाली, नरकका मार्ग दिखानेवाली और धर्म-कर्मका सर्वनाश करनेवाली एक व्यभिचारिणी स्त्री (कंचनी)को तो तीन-चार घण्टे तक देह मटकानेके उपलक्ष्यमें ही तीन सौ रुपये दिये गये! और मुझ मनीरामने तीस दिन तक बराबर धर्मका उपदेश दिया, जिससे जीवोंका कल्याण होवे और परलोकमें सद्‌गतिकी प्राप्ती होवे। मैंने बहुत कुछ मगज खपाया, लेकिन मुझको मुश्किलसे तीस ही रुपये दिये। 'अफसोस

यह कह कर पंडित मनीरामजी लोगोंकी इस पापमय प्रवृत्तिको धिक्कारते हुए वहाँसे प्रस्थान कर गये।

पाठकगण! ऊपरके दृष्टान्तमे देखी आपने आजकलके मनुष्योंकी लीला! वास्तवमें पंडितजीने बहुत ठीक कहा है, जब मनुष्योंकी विवेककी ऑख फूट जाती है, फिर उनको अपना हित-अहित और धर्म-अधर्म कुछ नही सूझता, वे बिलकुल अन्धे होकर पापमे प्रवृत्ति करने लगते हैं और जरा भी शका नही करते। हमारे भारतवासी बहुत दिनोंसे अपना विवेक-नेत्र खो बैठे हैं। उसीका यह फल है कि आज भारतवर्षमे दिन-पर-दिन व्यभिचार का प्रचार बढ़ता जाता है, कोई कोई अच्छे-अच्छे उच्चकुलीन मनुष्य भी हीन-से-हीन जाति तककी स्त्रियोंको सेवन करने लगे हैं। वेश्या जैसी पापिनी और व्यभिचारिणी स्त्रियाँ तो मंगला-मुखी और कुलदेवियाँ समझी जाती हैं; जगह-जगह वेश्या-नृत्यका प्रचार है, व्यभिचारको लोग धर्मकी चादर उढ़ानेका प्रयत्न कर रहे हैं, पापकर्म और हीनाचारसे लोगोंकी ग्लानि जाती रही है, खुले दहाने लड़कियाँ बेची जाती हैं; दिन-दहाड़े मन्दिरों और तीर्थोंका माल हड़प किया जाता है, दीन पशुओंका मांस खाया जाता है, शराबकी बोतलें गटगटाई जाती हैं, धर्मसे लोग कोसों दूर भागते हैं और विद्या, चतुराई कला-कौशलके कोई पास तक नहीं फटकता। फिर कहिये, यदि भारतवासी दुखी न होवें तो क्या होवें?

हमारे भारतवासियोंकी आजकल ठीक वही दशा है, जैसाकि श्री आचार्यो ने कहा है :—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

'आजकलके मनुष्य पुण्यका फल जो सुख है उसको तो चाहते हैं; हमेशा यही लगन लगी रहती है कि किसी-न-किसी प्रकार हमको सुखकी प्राप्ति हो जाय, परन्तु सुखका कारण जो पुण्यकर्म अर्थात् धर्म है उसको करना नहीं चाहते, उसके लिये सौ बहाने बना देते हैं। इसी प्रकार पापका फल जो दुःख है उससे बहुत डरते हैं, कदापि अपनेको दुःख होनेकी इच्छा नही करते, दुःखके नामसे ही घबरा जाते हैं; परन्तु दुःखका मूल कारण जो पाप कर्म है उसको बड़े यत्नसे, बड़ी कोशिशसे और बडी युक्तियोसे करते हैं और चार जने मिलकर करते हैं। फिर कहिये हम कैसे सुखी हो सकते हैं? कदापि नही। जैसा हम कारण मिलायेंगे उससे वैसाही कार्य उत्पन्न होगा। यदि कोई मनुष्य अपना मुख मीठा करना चाहे और कोई भी मिष्ट पदार्थ न खाकर कड़वे-से-कड़वे पदार्थका ही सेवन करता रहे तो कदापि उसका मुख मीठा नहीं होगा। इसी प्रकार जब हम सुखी होना चाहते हैं तो हमको सुखका कारण मिलाना चाहिये अर्थात् धर्मका आचरण करना चाहिये और न्यायमार्ग पर चलना चाहिये तथा साथही अन्याय, अभक्ष्य और दुराचार का त्याग कर देना चाहिये; अन्यथा कदापि सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह सब कुछ तब ही होसकता है, जब हृदयमे विवेक विद्यमान हो, बिना विवेकके हेयोपादेयके त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति होना असभव है। और विवेककी प्राप्ति उस वक्त तक नहीं हो सकती जबतक कि हम अपने धर्मग्रन्थों और नीति-शास्त्रोंका अवलोकन और ध्यानपूर्वक मनन नही करेंगे। जबसे हमने अपने धर्मग्रन्थोंका शरण छोड़ दिया है तबहीसे हमारी विवेक-ज्योति नष्ट होकर भारतवर्षमें सर्वत्र अज्ञानता और अविवेकता छागई है।

प्यारे भाइयो ! यदि आप वास्तवमें अपना कल्याण और हित चाहते हैं और यदि आप फिरसे इस भारतवर्षको उन्नतावस्थामें देखनेकी इच्छा रखते हैं तो कृपाकर अपने हृदयोंमें विवेक-प्राप्तिका यत्न कीजिये, अपने धर्म-ग्रन्थों तथा नीति-शास्त्रोका नियमपूर्वक अवलोकन व स्वाध्याय कीजिये और अपने बालक व बालिकाओंको नियमसे सबसे प्रथम धार्मिक शिक्षा दिलाइये, स्वयं दुराचार और अन्यायको त्यागकर अपनी सन्तानको सदाचारी बनाइये और उसको न्यायमार्गपर चलना सिखाइये। जबतक आप ऐसा नही करेंगे तबतक आप कुछ भी इस मनुष्य-जन्मके पानेका फल नहीं उठा सकते। आशा है, हमारे भाई इस लेखको पढ़कर जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे[1]।

---

१. जैन गजट १४ ७-१९०९

मक्खनवालेका विज्ञापन : ७ :

(एक मनोरंजक वार्तालाप)

पंडितजी—कहिये सेठजी ! अबकी बारका 'अनेकान्त' तो देखा होगा ? बड़ी सज-धजके साथ वीरसेवा मन्दिरसे निकला है !

सेठजी—हाँ, कुछ देखा तो है, एक विज्ञापनसे प्रारम्भ होता है !

पंडितजी—कैसा विज्ञापन ? और किसका विज्ञापन ?

सेठजी—मुखपृष्ठपर है न, वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन !

पंडितजी—अच्छा, तो अनेकान्तके मुखपृष्ठपर जो सुन्दर भावपूर्ण चित्र है उसे आपने किसी मक्खनवालेका विज्ञापन समझा है। तब तो आपने खूब अनेकान्त देखा है।

सेठजी—क्या वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन नहीं है ?

पंडितजी—मालूम होता है सेठजी, व्यापारमें विज्ञापनोंसे ही काम रहनेके कारण, आप सदा विज्ञापनका ही स्वप्न देखा करते हैं ! नहीं तो, बतलाइये उस चित्रमें आपने कौनसी फर्मका नाम देखा है ? उसमें तो बहुत कुछ लिखा हुआ है, कहीं 'मक्खन' शब्द भी लिखा देखा है ? ऊपर नीचे अमृतचन्द्रसूरि और स्वामी समन्तभद्रके दो श्लोक भी उसमें अंकित हैं, उनका मक्खन वालेके विज्ञापनसे क्या सम्बंध ?

सेठजी—मुझे तो ठीक कुछ स्मरण है नहीं, मैंने तो उसपर कुछ गोपियों (ग्वालनियों) को मथन-क्रिया करते देखकर यह समझ लिया था कि यह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन है, और इसीसे उसपर विशेष कुछ भी ध्यान नहीं दिया। यदि

वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन नहीं है तो फिर वह क्या है ? किसका विज्ञापन अथवा चित्र है ?

पंडितजी—वह तो जैनी नीतिके यथार्थ स्वरूपका संद्योतक चित्र है, और हमारे न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजीके कथनानुसार, 'जैन तत्त्वज्ञानकी तल-स्पर्शी सूझका परिणाम है'। यदि अनेकान्तदृष्टि-से उसे विज्ञापन भी कहें तो वह जैनी नीतिका विज्ञापन है—इस नीतिका दूसरोंको ठीक परिचय कराने वाला है—न कि किसी मक्खनवालेकी दुकानका विज्ञापन। उसपर तो 'जैनीनीति'के चारों अक्षर भी चार वृत्तोंके भीतर सुन्दर रूपसे अंकित हैं जो ऊपर-नीचे, सामने अथवा बराबर दोनों ही प्रकारसे पढ़ने पर यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि यह चित्र 'जैनी नीति' का चित्र है। वृत्तोंके नीचे जो 'स्याद्वादरूपिणी' आदि आठ विशेषण दिये हैं वे भी जैनीनीतिके ही विशेषण हैं—मक्खनवालेकी अथवा अन्य फर्मसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। (यह कह कर पंडितजीने झोलेसे अनेकान्त निकाला और कहा—) देखिये, यह है अने-कान्तका नववर्षाङ्क। इसमे वे सब बातें अंकित हैं जो मैंने अभी आपको बतलाई हैं। अब आप देखकर बतलाइये कि इसमें कहाँ किसी मक्खनवालेका विज्ञापन हैं ?

सेठजी—(चित्रको गौरसे देखकर हैरतमें रह गये ! फिर बोले—) मक्खनवालेका तो यह कोई विज्ञापन नहीं है। यह तो हमारी भूल थी जो हमने इसे मक्खनवालेका विज्ञापन समझ लिया। पर यह 'जैनी नीति' है क्या चीज ? और यह ग्वालिनीके पास क्यों रहती है ? अथवा क्या यह कोई जैन-देवी है, जो विक्रिया करके अपने वे सात रूप बना लेती है, जिन्हें चित्रमें अंकित किया गया है ? जरा समझा कर बतलाइये।

पंडितजी—जिनेन्द्रदेवकी जो नीति है—नयपद्धति अथवा न्याय-पद्धति है—और जो सारे जैनतत्वज्ञानकी मूलाधार एवं व्यवस्थापिका है उसे 'जैनीनीति' कहते हैं। अनेकान्त-नीति और 'स्याद्वादनीति' भी इसीके नामान्तर हैं। यह ग्वालिनीके पास नहीं रहती, किन्तु ग्वालिनीकी मन्थन-क्रिया इसके रूपकी निदर्शक है, और इसलिये दूध-दही बिलोती हुई ग्वालिनीको इसका रूपक समझना चाहिये। और यदि इसे व्यक्तिविशेष न मानकर शक्तिविशेष माना जाय तो यह अवश्य ही एक जैन-देवता है, जो नयोंके द्वारा विक्रिया करके अपने सात रूप बना लेती है और इसीलिये 'विविध-नयापेक्षा' के साथ इसे 'सप्तभंग-रूपा' विशेषण भी दिया गया है। वस्तुतत्वकी सम्यग्ग्राहिका और यथातत्व-प्ररूपिका भी यही जैनी नीति है। जैनियोंको तो अपने इस आराध्यदेवताका सदा ही आराधन करना चाहिये और इसीके आदेशानुसार चलना चाहिये—इसे अपने जीवनका अंग बनाना चाहिये और अपने सम्पूर्ण कार्य-व्यवहारोंमें इसीका सिक्का चलाना चाहिये। इसकी अवहेलना करनेसे ही जैनी आज नगण्य और निस्तेज बने हैं। इस नीतिका विशेष परिचय 'अनेकान्त' सम्पादकने अपने 'चित्रमय जैनीनीति' नामक लेखमें दिया है, जो खूब गौरके साथ पढ़ने-सुननेके योग्य है। (यह कहकर पंडितजीने सेठजीको वह सम्पादकीय लेख भी सुना दिया।)

सेठजी—(पंडितजीकी व्याख्या और सम्पादकीय लेखको सुनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ) पंडितजी, आज तो आपने मेरा बड़ा ही भ्रम दूर किया है और बहुत ही उपकार किया है। मैं तो अभीतक 'अनेकान्त' को दूसरे अनेक पत्रोंकी तरह एक

साधारण पत्र ही समझता आरहा था और इसीलिये कभी इसे ठीक तौरसे पढ़ता भी नही था, परन्तु आज मालूम हुआ कि यह तो बड़े ही कामका पत्र है—इसमें तो बड़ी-बड़ी गूढ़ बातोको बड़े अच्छे सुगम ढंगसे समझाया जाता है।

पंडितजी—(बीचमें ही बात काटकर) देखिये न, इस नव-वर्षाङ्कमें दूसरे भी कितने सुन्दर-सुन्दर लेख हैं—समन्तभद्र-विचारमाला नामकी एक नई लेखमाला शुरू की गई है, जिसमे 'स्वपरवैरी कौन' इसकी बड़ी ही सुन्दर एवं हृदयग्राही व्याख्या है; तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी अपूर्व खोज है, 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' लेख बड़ा ही हृदयद्रावक एवं शिक्षाप्रद है, 'भक्तियोग रहस्य' में पूजा-उपासनादिके रहस्यका बडे ही मार्मिक ढंगसे उद्घाटन किया है। दूसरे विद्वानोंके भी अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक लेखोंसे यह अलंकृत है; अनेकानेक सुन्दर कविताओंमे विभूषित हैं, और 'आत्मबोध' जैसी उत्तम शिक्षाप्रद कहानियों को भी लिये हुए है। इसकी 'पिंजरेकी चिड़िया' बड़ी ही भावपूर्ण हैं। और सम्पादकजीकी लेखनीसे लिखी हुई 'एक आदर्श जैनमहिलाकी सचित्र जीवनी' तो सभी स्त्री-पुरुषोके पढ़ने योग्य है और अच्छा आदर्श उपस्थित करती है। गरज इस अंकका कोई भी लेख ऐसा नही जो पढ़ने तथा मनन करनेके योग्य न हो। उनकी योजना और चुनावमें काफी सावधानीसे काम लिया गया है।

सेठजी—मैं सब लेखोंको जरूर गौरसे पढूँगा, और आगे भी बराबर 'अनेकान्त' को पढ़ा करूँगा तथा दूसरोको भी पढ़नेकी प्रेरणा किया करूँगा। साथ ही अब तक न पढ़ते रहनेका कुछ

प्रायश्चित्त भी करूँगा—इस पत्रको कुछ सहायता जरूर भेजूंगा। बड़ी ही कृपा हो पंडितजी, यदि आप कभी कभी दर्शन देते रहा करें। आज तो मैं आपसे मिल कर बहुत ही उपकृत हुआ।

पंडितजी—मुझे आपसे मिलकर बडी प्रसन्नता हुई। आपने मेरी बातोको ध्यानसे सुना, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ। यथावकाश मैं जरूर आपसे मिला करूँगा। अच्छा अब जानेकी इजाजत चाहता हूँ। (सेठजीने खड़े होकर बड़े आदरके साथ पंडितजीको बिदा किया और दोनो ओरसे 'जयजिनेन्द्र' का सुमधुरनाद हर्षके साथ गूँज उठा।)[1]

---

१. अनेकान्त वर्ष ४, कि, ३, अप्रेल १९४१

: ५ :

प्रकीर्णक निबन्ध

क्या मुनि कंदमूल खा सकते हैं ?   : १ :

ऊपरका प्रश्न हमारे बहुतसे पाठकोंको एकदम खटकेगा और वे उत्तरमें सहसा 'नही' शब्द कहना चाहेंगे। परन्तु शास्त्रीय चर्चामे इस प्रकारके जबानी उत्तरोका कुछ भी मूल्य नही है। इसमें केवल वे ही उत्तर ग्राह्य हो सकते हैं जो शास्त्रप्रमाणको लिये हुए हों। अत: उक्त प्रश्नका समाधान करनेके लिये शास्त्रीय प्रमाणोके अनुसंधानकी जरूरत है। मै भी इस विषयमे आज कुछ यत्न करता हूँ।

दिम्बर सम्प्रदायमे 'मूलाचार' नामका एक अतिशय प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रथ है, जिसे श्री वट्टकेर आचार्यने बनाया है। श्वेताम्बरोमे 'आचारांगसूत्र'को जो पद प्राप्त है दिगम्बरोंमें मूलाचारको उससे कम पद प्राप्त नही है। दिगम्बर सम्प्रदाय-में यह एक बड़ा ही पूज्य और माननीय ग्रंथ समझा जाता है। श्रीवसुनन्दी सैद्धान्तिकने इसपर 'आचारवृत्ति' नामकी एक संस्कृतटीका भो लिखी है जो सर्वत्र प्रसिद्ध है और बड़े गौरवके साथ देखी जाती है। इस ग्रथकी निम्नलिखित दो गाथाओ और उनकी सस्कृतटोकासे उक्त प्रश्नका अच्छा समाधान हो जाता है, इसीसे उन्हें नीचे उद्धृत किया जाता है :—

फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा॥ ९–५९॥

टीका — फलानि कंदमूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवंति यानि अन्यदपि आमकं यत्किंचिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीरा इति। यदशनीयं तदाह :—

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टियं फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छन्ति ॥ ९-६० ॥

टीका—यद्भवत्यबीजं निर्बीजं निर्वर्तिमं निर्गतमध्यसारं प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्ति ॥

इन दोनो गाथाओंमेसे पहली गाथामें मुनिके लिये 'अभक्ष्य क्या है' और दूसरीमें 'भक्ष्य क्या है' इसका कुछ विधान किया है। पहली गाथामें लिखा है कि जो फल, कंद, मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नहीं हैं और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको अनशनीय (अभक्ष्य) समझकर वे धीर मुनि भोजनके लिये ग्रहण नही करते हैं।' दूसरी गाथामे यह बतलाया है कि जो बीजरहित हैं, जिनका मध्यसार (जलभाग ?) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किये गये हैं ऐसे सब खानेके पदार्थोको भक्ष्य समझकर मुनि लोग भिक्षामे ग्रहण करते हैं।

मूलाचारके इस संपूर्ण कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट है और अनशनीय कंद-मूलोका 'अनग्निपक्व' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कंद नही खाते परन्तु अग्निमे पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमे प्रस्तुत किये हुए कंद-मूल वे जरूर खा सकते हैं। दूसरी गाथामे प्रासुक किये हुए पदार्थोको भी भोजनमे ग्रहण कर लेनेका उनके लिए विधान किया गया है। यद्यपि अग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कही अधिक बढ़ी हुई है। उसमे सुखाए, तपाए, खटाई-नमक मिलाए और यंत्रादिकसे छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त पदार्थ भी शामिल होते हैं, जैसा कि निम्नलिखित शास्त्रप्रसिद्ध गाथासे प्रकट है।—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेहिं मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं !!

प्रासुकके इस लक्षणानुसार[1] जैन मुनि अग्नि-पक्वके अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओं द्वारा प्रासुक हुए कंदमूलोंको भी खा सकते हैं, ऐसा फलित होता है। परन्तु पहली गाथामें साफ तौरसे उन कंद मूलोंको अभक्ष्य ठहराया है जो अग्निद्वारा पके हुए नहीं हैं और इससे सूखने, तपने, आदि दूसरी अवस्थाओं द्वारा प्रासुक हुए कंद-मूल मुनियोंके लिये अभक्ष्य ठहरते हैं! अतः या तो पहली गाथामें कहे हुए 'अग्निपक्व' विशेषणको उपलक्षण मानना चाहिये, जिससे सूखे, तपे आदि सभी प्रकारके प्रासुक कंद-मूलोंका ग्रहण हो सके और नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि मुनि लोग फलों तथा बीजोंको भी अग्निपक्वके सिवाय दूसरी अवस्थाओं द्वारा प्रासुक होनेपर ग्रहण नही कर सकते; क्योंकि गाथामें 'फलमूलकंदबीयं' ऐसा पाठ है, जिसका 'अनग्निपक्व' विशेषण दिया गया है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ उक्त अनग्निपक्व विशेषणको उपलक्षणरूपसे मानना ज्यादा अच्छा होगा और उससे सब कथनोंकी संगति भी ठीक बैठ जायगी। अस्तु, उक्त विशेषण उपलक्षणरूपसे हो या न हो, परन्तु इसमें तो कोई संदेह नही रहता कि दिगम्बर मुनि अग्निद्वारा पके हुए शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये हुए कंद-मूल जरूर खा सकते हैं। हाँ, कच्चे कंद-मूल वे नही खा सकते। छठी प्रतिमा-धारक गृहस्थोंके लिये भी उन्हींका निषेध किया गया है जैसा कि समन्तभद्रके निम्नवाक्यसे प्रकट है :—

मूल-फल शाक-शाखा-करीर-कंद-प्रसूनबीजानि।
नाऽऽमानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

---

१. यथा शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादि द्रव्यं प्रासुकं। इति —गोम्मटसारटीकायां।

परन्तु आजकलके श्रावकोंका त्यागभाव बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है, वह मुनियोके त्यागसे भी बढ़ा हुआ है ? मुनि तो अग्नि द्वारा पके हुए कंद-मूलोंको खा सकते हैं, परन्तु वे गृहस्थ जो छठी प्रतिमा तो क्या पहली प्रतिमाके भी धारक नहीं हैं उनके खानेसे इनकार करते हैं, इतना ही नहीं बल्कि उनका खाना शास्त्र-विहित नहीं समझते ! यह सब अज्ञान और रूढ़िका माहात्म्य है[1] !!

---

१. जैन हितैषी, भाग १४, अंक १०–११, जुलाई–अगस्त १९२०

क्या सभी कंदमूल अनंतकाय होते हैं ? : २ :

आमतौरपर जैनियोमें यह माना जाता है कि कंदमूल सब अनंतकाय होते हैं—उनमें एक-एक शरीरके आश्रित अनंत जीव विद्यमान हैं—इसलिये हमारे बहुतसे पाठकोंको यह प्रश्न भी कुछ नया सा मालूम होगा। परन्तु नया हो या पुराना, प्रश्न अच्छा है और इसका निर्णय भी शास्त्राधारसे ही होना चाहिये। अत: यहाँ उसीका प्रयत्न किया जाता है :—

गोम्मटसारके जीवकांडमे, प्रत्येक और अनंतकायकी पहिचान बतलाते हुए, विशेष नियमके तौर पर एक गाथा इस प्रकारसे दी है :—

मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे ।
समभंगे सदिणंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥१८७॥

इसमे यह बतलाया है कि जिस किसी कंदमूलादिकके[1] तोड़नेपर समभंग हो जायँ उसे अनंतकाय और जिसके समभंग न हो—बीचमें तंतु रहे, ऊँचा-नीचा टूटे—उसे प्रत्येक समझना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि कंदमूल भी दो प्रकारके होते हैं, एक प्रत्येक और दूसरे अनंतकाय। उक्त गाथाके अनन्तर एक दूसरे विशेष नियमकी प्रतिपादक गाथा इस प्रकार है —

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वा वि बहुलतरी ।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥१८८॥

इस गाथामें कंदमूलादिककी छाल (त्वचा) के सम्बन्धमे

---

१. आदिक शब्दसे छाल, कोंपल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज समझना चाहिए।

एक विशेष नियम दिया है और यह बतलाया है कि जो छाल ज्यादह मोटी होती है उसे अनंतकाय और जो ज्यादह पतली होती है उस छालको प्रत्येक जानना चाहिए। इससे यह पाया जाता है कि कंदमूलादिक अपने सर्वांगरूपसे अनंतकाय अथवा प्रत्येक नहीं होते, उनमें उनकी छालसे विशेष रहता है—अर्थात्, कोई कंदमूलादिक ऐसे होते हैं जिनकी छाल अनंतकाय होती है, परन्तु वे स्वयं भीतरसे अनंतकाय नहीं होते और कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जो खुद भीतरसे तो अनंतकाय होते हैं परन्तु उनकी छाल अनंतकाय नहीं होती, वह प्रत्येक ही रहती है।

इसके बाद गोम्मटसारमें एक अपवाद नियम और भी दिया है और वह यह है कि ये कंदमूलादिक ('आदि' शब्दसे प्रथम गाथोक्त छाल, कोंपल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज सभी ग्रहण करने चाहिये) अपनी प्रथमावस्थामें प्रत्येक होते हैं। यथा :—

जो वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥

यह नियम इस बातको सूचित करता है कि कंदमूलादिक— चाहे वे समभंग हों या न हों, उनकी छाल मोटी हो अथवा पतली—अपनी प्रथमावस्थामें सब प्रत्येक होते हैं। उत्तरकी अवस्थाओंमे वे प्रत्येक होते हैं और अनंतकाय भी और उनकी खास पहिचान ऊपर बतलाई गई है।

नतीजा इस सारे कथनका यह निकलता है कि सभी कंदमूल अनंतकाय नही होते, न सर्वांगरूपसे ही अनंतकाय होते हैं और न अपनी सारी अवस्थाओंमें अनंतकाय रहते हैं। बल्कि वे प्रत्येक और अनंतकाय (साधारण) दोनों प्रकारके होते है; किसीकी छाल ही अनंतकाय होती है, भीतरका भाग नहीं और किसीका

भीतरी भाग अनंतकाय होता है तो छाल अनंतकाय नहीं होती; कोई बाहर भीतर सर्वांगरूपसे अनंतकाय होता है और कोई इससे बिलकुल विपरीत कतई अनंतकाय नहीं होता, इसी तरह एक अवस्थामें जो प्रत्येक है वह दूसरी अवस्थामें अनतकाय हो जाता है और जो अनंतकाय होता है वह प्रत्येक बन जाता है। प्राय: यही दशा दूसरी प्रकारकी वनस्पतियोकी भी है। वे भी प्रत्येक और अनंतकाय दोनों प्रकारकी होती हैं—आगममे उनके लिये भी इन दोनों भेदोंका विधान किया गया है—जैसा कि ऊपरके वाक्योंसे ध्वनित है और मूलाचारकी निम्न गाथाओंसे भी प्रकट है, जिनमें पहली गाथा गोम्मटसारमें भी नं० १८५ पर दी है।

> मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
> संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणांतकाया य ॥२१३॥
> कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवालपुप्फफलं।
> गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्वकाया य ॥२१४॥

ऐसी हालतमें कदमूलों और दूसरी वनस्पतियोंमे अनतकाय-की दृष्टिसे आमतौर पर कोई विशेष भेद नहीं रहता। अत: जो लोग अनंतकायकी दृष्टिसे कच्चे कदमूलोंका त्याग करते हैं उन्हें इस विषयमें बहुत कुछ सावधान होनेकी जरूरत है। उनका संपूर्ण त्याग विवेकको लिये हुए होना चाहिए। अविवेक-पूर्वक जो त्याग किया जाता है वह कायकष्टके सिवाय प्राय: किसी विशेष फलका दाता नहीं होता। उन्हें कंदमूलोंके नामपर ही भूलकर सबको एकदम अनंतकाय न समझ लेना चाहिये; बल्कि इस बातकी जाँच करनी चाहिये कि कौन-कौन कंदमूल अनंतकाय नहीं हैं, किस कंदमूलका कौन-सा अवयव अनंतकाय है और कौन-

सा अनंतकाय नहीं है, साथ ही यह भी कि, किस-किस अवस्था-में वे अनंतकाय होते हैं और किस-किसमें अनंतकाय नहीं रहते। अनेक वनस्पतियाँ भिन्न-भिन्न देशोंकी अपेक्षा जुदा-जुदा रंग, रूप, आकार, प्रकार और गुण-स्वभावको लिये हुए होती हैं। बहुतोंमें वैज्ञानिक रीतिसे अनेक प्रकारके परिवर्तन कर दिये जाते हैं। नाम-साम्यकी वजहसे उन सबको एक ही लाठीसे नहीं हाँका जा सकता। संभव है कि एक देशमे जो वनस्पति अनंतकाय हो दूसरे देशमें वह अनंतकाय न हो, अथवा उसका एक भेद अनंतकाय हो और दूसरा अनंतकाय न हो। इन सब बातोकी विद्वानोंको अच्छी तरह जाँच करनी चाहिये और जाँचके द्वारा जैनागमका स्पष्ट व्यवहार लोगोंको बतलाना चाहिये।

ऊपरकी कसौटीसे दो एक कंदमूलोंकी जो सरसरी जाँच की गई है उसे भी आज पाठकोंके सामने रख देना उचित जान पड़ता है। आशा है विद्वान् लोग उनपर विचार करके अपनी सम्मति प्रकट करेंगे :—

१—हमारे इधर अदरक बहुत तंतु विशिष्ट होता है; तोड़ने पर वह समभंगरूपसे नहीं टूटता, ऊँचा नीचा रहता है और बीचमें तंतु खड़े रहते हैं। छाल भी उसकी मोटी नही होती। ऐसी हालतमे वह अनंतकाय नही ठहरता। बम्बईकी तरफका अदरक हमने नहीं देखा, परन्तु उसकी जो सोंठ इधर आती है वह 'मैदा सोठ' कहलाती है और उसके मध्यमें प्राय: वैसे तंतु नही होते, इसलिये संभव है कि वह अनंतकाय हो।

२—गाजर भी अक्सर तोड़ने पर समभंग रूपसे नहीं टूटती और न उसकी छाल मोटी होती है। इसलिये वह भी अनंतकाय मालूम नहीं होती।

३—मूलीकी छाल मोटी होती है और इसलिये उसे अनंतकाय कहना चाहिये। परन्तु छालको उतार डालने पर मूलीका जो भीतरका भाग प्रकट होता है उसकी शिराएँ, रग-रेशे अच्छी तरहसे दिखाई देने लगते हैं, तोडनेपर वह समभंग रूपसे भी नही टूटता। ऐसी हालतमे संभव है कि मूलीका भीतरी भाग अनंतकाय न हो।

४—आलूका ऊपरका छिलका बहुत पतला होता है। अतः वह अनंतकाय न होना चाहिये।

विद्वानोंको चाहिये कि वे भी इसी तरह कंदमूलादिकी जाँच करें और फिर उसके नतीजेसे सूचित करनेकी कृपा करें।

१. जैन हितैषी भाग १४, अंक १०-११, जुलाई—अगस्त १९२०।

अस्पृश्यता-निवारक आन्दोलन : ३ :

अस्पृश्यता-निवारक और अछूतोके उद्धार-विषयक जो आन्दोलन महात्मा गांधीजीने आजकल उठा रक्खा हैं उसका हिन्दुओंकी बाह्य-प्रवृत्ति और उनके धर्मशास्त्रोंके साथ अनुकूलता या प्रतिकूलताका जैसा कुछ सम्बन्ध है, जैनियोंकी बाह्य-प्रवृत्ति और उनके धर्म-ग्रन्थोंके साथ भी उसका प्राय: वैसा ही सम्बन्ध है—दोनों ही इस विषयमें प्राय: समकक्ष हैं। और इसलिये यदि कुछ हिन्दू लोग, अपने चिर संस्कारोंके विरुद्ध होनेके कारण, इस आन्दोलनको अच्छा नहीं समझते, धर्म-घातक बतलाते हैं और उत्तेजित होकर इसका विरोध करते हैं, तो बाज जैनी भी यदि इसपर कुछ क्षुब्ध, कुपित तथा उत्तेजित हो जायँ और विरोध करने लगें तो इसमे कुछ भी अस्वाभाविकता नही है और न कोई आश्चर्यकी ही बात है। परन्तु इस प्रकारके क्षोभ, कोप और विरोधका कुछ भी नतीजा नही होता और न ऐसी अवस्थामें कोई मनुष्य किसी विषयके यथार्थ निर्णयको पहुँच सकता है और तभी किसी विषयका यथार्थ निर्णय हो सकता है जब कि समस्त उत्तेजनाओसे अलिप्त रहकर उस विषयका बड़ी शांति और गंभीरताके साथ निष्पक्ष भावसे एक जजके तौर पर, गहरा विचार किया जाय, उसके हर पहलू पर नजर डाली जाय और इस तरह पर उसके असली तत्वको खोजकर निकाला जाय। यह ठीक है कि पुराने संस्कार किसी भी नई बातको ग्रहण करनेके लिये, चाहे वह कितनी ही अच्छी और

उपयोगी क्यों न हो, हमेशा धक्का दिया करते हैं और उसे सहसा ग्रहण नहीं होने देते। परन्तु बुद्धिमान् और विचारक लोग वही होते हैं जो संस्कारोंके परदेको फाड़कर अथवा इस कृत्रिम आवरणको उठाकर 'नग्न सत्य' का दर्शन किया करते हैं। और इसलिये जो लोग महात्माजीके विचारोंको संस्कारोके परदेमेंसे देखना चाहते हैं, वे भूल करते हैं। उन्हें उस परदेको उठाकर देखनेका यत्न करना चाहिए, जिससे उनका वास्तविक रंग-रूप मालूम हो सके। और यह तभी हो सकता है जबकि उत्तेजनाओंसे अलग रहकर, बड़ी शान्ति और निष्पक्षताके साथ, गहरे अध्ययन, गहरे, मनन, और न्यायप्रियताको अपनेमें स्थान दिया जाय। महात्माजीके किसी एक शब्दको पकड़कर उसपर झगड़ा करनेकी जरूरत नही है। ऐसा करना उनके शब्दोंका दुरुपयोग करना होगा। उनके निर्णयकी तहको पहुँचनेके लिये उनके विचार-समुच्चयको लक्ष्यमे रखनेकी बड़ी जरूरत है। आशा है, इन आवश्यक सूचनाओंको ध्यानमें रखते हुए, हमारे पाठक इस आन्दोलनके सम्बन्धमें महात्माजीके विचारों और उनकी इच्छाओंको ठीक रूपसे समझने तथा आन्दोलनकी समीचीनता असमीचीनतापर गहरा विचार करनेकी कृपा करेंगे। और साथही निम्न बातोंको भी ध्यानमें लेंगे :—

१. 'क्या पारमार्थिक दृष्टिसे धर्मका ऐसा विधान हो सकता है कि वह मनुष्योंको मनुष्योंसे घृणा करना और द्वेष रखना सिखलावे ? अपनेको ऊँचा और दूसरोंको नीचा समझनेके भावको अच्छा बतलावे ? अथवा मनुष्योंके साथ मनुष्योचित व्यवहारका निषेध करे ?

२. महावीर भगवानके समवसरणमें चारों ही वर्णके

मनुष्य, परस्पर ऊँच-नीच और स्पृश्यास्पृश्यका भेद न करके एकही मनुष्य-कोटिमें बैठते थे। इस आदर्शसे जैनियोंको किस बातकी शिक्षा मिलती है?

३. एक अछूत जातिके मनुष्यको आज हम छूते नहीं, अपने पास नहीं बिठलाते और न उसे अपने कूएँसे पानी भरने देते हैं। परन्तु कल वह मुसलमान या ईसाई हो जाता है, चोटी कटा लेता है, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू देवताओंको बुरा कहने लगता है, धार्मिक दृष्टिसे एक दर्जे और नीचे गिर जा सकता है और प्रकारान्तसे हिन्दुओंका हित-शत्रु बन जाता है, तब हम उसको छूनेमें कोई परहेज नहीं करते, उससे हाथ तक मिलाते हैं, उसे अपने पास बिठलाते हैं, कभी कभी उच्चासन भी देते हैं और अपने कूएँसे पानी न भरने देनेकी तो फिर कोई बात ही नही रहती। वह खुशीसे उसी कूएँपर बराबर पानी भरा करता है। हमारी इस प्रवृत्तिका क्या रहस्य है? क्या यह सब हिन्दू धर्मका ही खोट था जिसको धारण किये रहनेकी वजहसे वह बेचारा उन अधिकारोंसे वंचित रहता था और उसके दूर होते ही उसे वे सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं? ये सब खूब सोचने और समझनेकी बाते हैं।

४. किसी व्यक्तिको अस्पृश्य या स्पृश्य ठहराना, एक वक्तमें अस्पृश्य और दूसरे वक्तमें स्पृश्य बतलाना अथवा उसका एक जगह अस्पृश्य और दूसरी जगह स्पृश्य करार दिया जाना, यह सब विधि-विधान, लोकाचार, लोकव्यवहार और लौकिक धर्मसे सम्बद्ध है या पारलौकिक धर्म अथवा परमार्थसे इसका कोई खास सम्बन्ध है? इसपर भी खास तौरसे विचार होनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैंने धार्मिक ग्रंथोंका अध्ययन किया है,

उससे यह विषय मुझे लौकिक ही मालूम होता है—परमार्थसे इसका कोई विशेष सम्बन्ध नही है। कहा भी है कि :—

स्पृश्याऽस्पृश्यविधिः सर्वशेषो लोकेन गम्यते। —इन्द्रनंदी

अर्थात् स्पृश्य और अस्पृश्यका सम्पूर्ण विधान लोक-व्यवहारसे सम्बन्ध रखता है—वह उसीके आश्रित है और इस लिये उसीके द्वारा गम्य है।

लौकिक विषयों और लौकिक धर्मोंके लोकाश्रित होनेसे उनके लिये किसी आगमका आश्रय लेनेकी अर्थात् इस बातकी ढूँढ़-खोज करनेकी कि आगम इस विषयमें क्या कहता है, कोई जरूरत नहीं है। आगमके आश्रय पारलौकिक धर्म होता है, लौकिक नहीं; जैसा कि श्री सोमदेव सूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

लौकिक धर्म लौकिक जनोंकी देश-कालानुसार प्रवृत्तिके अधीन होता है और वह प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमें नही रहा करती। कभी देशकालकी आवश्यकताओंके अनुसार, कभी पंचायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोंके उदाहरणोंको लेकर बराबर बदला करती है। इसलिये लौकिक धर्म भी हमेशा एक हालतमें नहीं रहता। वह बराबर परिवर्तन-शील होता है, और इसीसे किसी भी लौकिक धर्मको सार्व-देशिक और सार्वकालिक नही कह सकते। ऐसी हालतमें किसी समय किसी देशके स्पृश्याऽस्पृश्य सम्बन्धी किसी लौकिक धर्मको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार यदि किसी ग्रंथमें कोई विधान किया गया हो, तो वह तात्कालिक और तद्देशीय विधान है,

इतना ही समझना चाहिये। इससे अधिक उसका यह आशय लेना ठीक नही होगा कि वह सर्वदेशो और सर्वसमयोंके लिये, उस देश और उस समयके लिये भी जहाँ और जब वह परिस्थिति कायम न रहे, एक अटल सिद्धान्त है। और इसलिये एक लौकिक धर्म सम्बन्धी वर्तमान आन्दोलनके विरोधमें ऐसे ग्रन्थोके अवतरण पेश करनेका कोई नतीजा नही हो सकता। शास्त्रोमें ऐसी कितनी ही जातियोका उल्लेख है जो उस समय अस्पृश्य (अछूत) समझी जाती थी, परन्तु आज वे अस्पृश्य नहीं हैं। आज हम उन जातियोके व्यक्तियोंको खुशीसे छूते हैं, पास बैठाते हैं और उनसे अपने तरह तरहके गृह-कार्य कराते हैं। उदाहरणके लिये धीवरोको लीजिये, जो हमारे इधर उच्चसे उच्च जातियोके यहाँ पानी भरते हैं, बर्तन माँजते हैं और अनेक प्रकारके खाने आदि बनाते हैं। ये लोग पहले अस्पृश्य समझे जाते थे और उस समय उनसे छू जानेका प्रायश्चित्त भी होता था। परन्तु आज कितने ही प्रदेशोंमें वह दशा नहीं है, न वे अस्पृश्य समझे जाते हैं और न उनसे छू जानेका कोई प्रायश्चित्त किया जाता है। यह सब क्या है? क्या यह इस बातको सूचित नही करता कि बादमें लोगोने देश-कालकी आवश्यकताओके अनुसार अपनी इस प्रवृत्तिको बदल दिया है?* इसी तरह वर्तमान अछूत जातियो या उनमेसे किसी जातिके साथ यदि आज भी अस्पृश्यताका व्यवहार उठा दिया जाय तो उससे एक लोक-रूढ़िका—लोक व्यवहारका—परिवर्तन हो जाने-

* स्पृश्याऽस्पृश्यके सम्बन्धमे कितने ही उल्लेख शास्त्रोंमें ऐसे भी पाये जाते हैं, जिनमें आचार्योंमें परस्पर मत-भेद हैं और जो देश-कालकी भिन्न भिन्न स्थितियोके परिवर्तनादिकको ही सूचित करते हैं।

के सिवाय हमारे पारमार्थिक धर्मको क्या हानि पहुँचती है ? और फिर वह हानि उस वक्त क्यों नहीं पहुँचती जबकि उस जातिके व्यक्ति मुसलमान या ईसाई हो जाते हैं और हम उनके साथ अस्पृश्यताका व्यवहार नही रखते ? यह सभीके सोचने और समझनेकी बात है। और इससे तो प्रायः किसीको भी इनकार नही हो सकता कि जिन अत्याचारोके लिये हम अपने विषयमें गवर्नमेन्टकी शिकायत करते हैं; यदि वे ही अत्याचार और बल्कि उनसे भी अधिक अत्याचार हम अछूतोंके साथ करते हैं, तो हमें यह कहने और इस बातका दावा करनेका कोई अधिकार नही है कि हमारे ऊपर अत्याचार न किये जायँ, हमें बराबरके हक दिये जायँ अथवा हमें स्वाधीन कर दिया जाय। हमें पहले अपने दोषोंका संशोधन करना होगा, तभी हम दूसरोंके दोषोंका संशोधन करा सकेंगे। भले ही हमारे पुराने संस्कार और हमारी स्वार्थ-वासनाएँ हमें इस बातको स्वीकार करनेसे रोकें कि हम अछूतोंपर कुछ अत्याचार करते हैं; और चाहे हम यहाँ तक कहनेकी धृष्टता भी धारण करें कि अछूतोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है, वह उनके योग्य ही है और वे उसीके लिये बनाये गये हैं, तो भी एक न्यायी और सत्यप्रिय हृदय इस बातको स्वीकार करनेसे कभी नही चूकेगा कि अछूतोंपर अर्सेसे बहुत बड़े अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं और इसलिये हमें अब उन सबका प्रायश्चित्त जरूर करना होगा।

अन्तमे मैं अपने पाठकोसे इतना फिर निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे अपने पूर्व-संस्कारोको दबाकर बड़ी शांति और गम्भीरताके साथ इस विषयपर विचार करनेकी कृपा करें और

इसपर हर पहलू से नजर डालें; क्योंकि यह विषय, इस समय, देशके लिये एक बड़े ही महत्वका विषय बना हुआ है। साथ ही, यह भी निवेदन है कि वे किसी विचार-विभिन्नताके कारण इस विषयके आन्दोलनको तथा महात्मा गाधीजी आदिके साथ कोई व्यक्ति-गत द्वेषभाव धारण न करें। यही विचारकोंकी नीति होती है और होनी चाहिए।

---

१ जैन हितैषी भाग १५, अंक ९-१०, जुलाई १९२१

देवगढ़के मन्दिर-मूर्तियोंकी दुर्दशा : ४ :

झांसी जिलेमें ललितपुरसे दक्षिणकी ओर जाखलौन स्टेशनसे ९ मीलकी दूरीपर 'देवगढ़' नामका एक अतिशय क्षेत्र बेतवा नदीके मुहानेपर स्थित है। मैंने स्वयं ८ नवम्बर सन् १९२५ को इस पवित्र क्षेत्रके दर्शन किये, परन्तु दर्शन करके इतनी प्रसन्नता नहीं हुई जितनी कि हृदयमें वेदना उत्पन्न हुई। प्रसन्नता तो केवल इतनी ही थी कि मंदिरोंके साथ मूर्तियाँ बड़ी ही भव्य, मनोहर तथा दर्शनीय जान पड़ती थी—ऐसे खर पाषाणकी इतनी सुन्दर, सुडौल और प्रसन्नवदन मूर्तियाँ अन्यत्र बहुत ही कम देखनेमें आई थीं और उन्हें देखकर अपने अतीत गौरवका—अपने अभ्युदयका—तथा अपने शिल्पचातुर्यका स्मरण हो आता था। परन्तु मंदिर-मूर्तियोंकी वर्तमान दुर्दशाको देखकर हृदय टूक टूक हुआ जाता था—उनकी सुन्दरता जितनी अधिक थी उनकी दुर्दशा उतनी ही ज्यादा कष्ट देती थी। जब मैं देखता था कि एक मंदिरके पास दूसरा मदिर धराशायी हुआ पड़ा है, उसकी एक मूर्तिकी भुजा टूट गई है, दूसरीकी टाँग अलग हुई पड़ी है, तिसरीके मस्तकका ही पता नही है, सही सलामत बची हुई मूर्तियाँ भी कुछ अस्त-व्यस्त रूपसे खुले मैदानमे पड़ी हुई पशुओं आदिके आघात सह रही हैं, मंदिरका खम्भा कही, तो शिखरका पत्थर कहीं पड़ा है, और उन खंडहरोंपर होकर जाना पड़ता है; जो मंदिर अभी तक धराशायी नहीं हुए, उनके आँगनोंमें और उनकी छतो आदि पर गजों लम्बे घास खड़े हैं, खैर-करोंदी आदिके वृक्ष भी छतोंतक

पर खड़े हुए अपनी निरंकुशता अथवा अपना एकाधिपत्य प्रकट कर रहे हैं, घासकी मोटी जड़ें इधर-उधर फैलकर अपनी धृष्टताका परिचय दे रही हैं, एक मंदिरसे दूसरे मंदिरको जानेके लिये रास्ता साफ नहीं, मंदिरोंके चारों तरफ जंगल ही जंगल होगया है। बेहद घास तथा झाड़झंखाड़ खड़े हैं, मंदिरोंकी प्रायः सारी छतें टपकती हैं, वर्षाका बहुतसा जल मूर्तियोंके ऊपर गिरता है, बहुतसी मूर्तियोंपर काई जम गई है, उनके कोई कोई अंग फट गये हैं अथवा विरूप हो गये हैं और मंदिरमें हजारों चमगादड़ फिरते हैं जिनके मल-मूत्रकी दुर्गंधके मारे वहाँ खड़ा नही हुआ जाता, तो यह सब दृश्य देखते-देखते हृदय भर आता था—धैर्य त्याग देता था—आंखोंसे अश्रुधारा बहने लगती थी, उसे बार-बार रूमालसे पोछना पड़ता था और रह-रहकर यह ख्याल उत्पन्न होता था कि क्या जैनसमाज जीवित है ? क्या जैनी जिन्दा हैं ? क्या ये मंदिर-मूर्तियाँ उसी जैन जातिकी हैं जो भारतवर्षमें एक धनाढ्य जाति समझी जाती है ? अथवा जिसके हाथमे देशका एक चौथाई व्यापार बतलाया जाता है ? और क्या जैनियोमे अपने पूर्वजोंका गौरव, अपने धर्मका प्रेम अथवा अपना कुछ स्वाभिमान अवशिष्ट हैं ? उत्तर 'हाँ' मे कुछ भी नही बनता था; और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता था मानों मूर्तियाँ कह रही हैं कि, यदि तुम्हारे अंदर दया है और तुमसे और कुछ नही हो सकता तो हमें किसी अजायबघरमे ही पहुँचा दो, वहाँ हम बहुतोको नित्य दर्शन दिया करेंगी—उनके दर्शनकी चीज बनेंगी—बहुतसे गुण-ग्राहकोकी प्रेमाजलि तथा भक्तिपुष्पांजलि ग्रहण किया करेंगी। और यदि यह भी कुछ नही हो सकेगा तो कमसे कम इस

आपत्तिसे तो बच जायँगी—वहाँ सुरक्षित तो रहेंगी, वर्षाका पानी तो हमारे ऊपर नहीं टपका करेगा, चमगादड़ तो हमारे ऊपर मल-मूत्र नही करेंगे, पशु तो हमसे आकर नहीं खसा करेंगे और कभी कोई जंगली आदमी तो हमारेमेंसे किसीके ऊपर खुरपे दाँती नही पनाएगा।

उधर बड़े मंदिरके उस अनुपम तोरण द्वारपर जब दृष्टि पड़ती थी जो अपने साथी मकानोंसे अलग होकर अकेला खड़ा हुआ है तो मानों ऐसा मालूम होता था कि वह अब हसरत भरी निगाहोंसे देख रहा है और पुकार-पुकारकर कह रहा है कि, मेरे साथी चले गये ! मेरे पोषक चले गये !! मेरा कोई प्रेमी नही रहा !!! मैं कब तक और अकेला खड़ा रहूँगा ? किसके आधारपर खड़ा रहूँगा ? खड़ा रहकर करूँगा भी क्या ? मैं भी अब धराशायी होना चाहता हूँ !!! इस तरह इन करुण दृश्यों तथा अपमानित पूजा-स्थानोंको देखकर और अतीत गौरवका स्मरण करके हृदयमें बार बार दुःखकी लहरें उठती थी—रोना आता था—और उस दुःखसे भरे हुए हृदयको लेकरही मैं पर्वतसे नीचे उतरा था।

समझमे नही आता, जिनकी प्राचीन तथा उत्तम देवमूर्तियों-की यों अवज्ञा होरही हो वे नई-नई मूर्तियोंका निर्माण क्या समझकर कर रहे हैं और उसके द्वारा कौनसा पुण्य उपार्जन करते हैं !! क्या बिना जरूरत भी इन नई नई मूर्तियोंका निर्माण प्राचीन शास्त्र विहित मूर्तियोंकी बलि देकर—उनकी ओरसे उपेक्षा धारण करके—नही हो रहा है ? यदि ऐसा नही तो पहले इन दुर्दशाग्रस्त मंदिर-मूर्तियोंका उद्धार क्यो नहीं किया जाता ? जीर्णोद्धारका पुण्य तो नूतन निर्माणसे

अधिक बतलाया गया है। फिर उसकी तरफसे इतनी उपेक्षा क्यों? क्या महज धर्मका ढोंग बनाने, रूढ़िका पालन करने या अपने आसपासकी जनतामें वाहवाही लूटनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता है? अथवा ऐसी ही अवज्ञा तथा दुर्दशाके लिये ही ये नई-नई मूर्तियाँ बनाई जाती हैं? यदि यह सब कुछ नही है तो फिर इतने कालसे देवगढ़की ये भव्यमूर्त्तियाँ क्यो विपद्ग्रस्त हो रही हैं? क्या इनकी विपद्का यह मुख्य कारण नही है कि देवगढ़में जैनियोंकी बस्ती नही रहीं, उसके आसपासके नगर-ग्रामोंमे अच्छे समर्थ तथा श्रद्धालु जैनी नहीं रहे और दूसरे प्रान्तोंके जैनियोमे भी धर्मकी सच्ची लगन अथवा अपने देवके प्रति सच्ची भक्ति नही पाई जाती? यदि देवगढ़में और उसके आस-पास आज भी जैनियोंकी पहले जैसी बस्ती होती और उनका प्रतापसूर्य चमकता होता तो इन मंदिर-मूर्तियोंको कदापि ये दिन देखने न पड़ते। और इसलिये जिन भोले भाईयोंका यह खयाल है कि अधिक जैनियोंसे या जैनियों-की संख्यावृद्धि करनेसे क्या लाभ? थोड़े ही जैनी काफी हैं, उन्हें देवगढ़की इस घटनासे पूरा पूरा सबक सीखना चाहिए और स्वामी समन्तभद्रके इस महत्वपूर्ण वाक्यको सदा ध्यानमे रखना चाहिये कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—अर्थात्, धार्मिकोंके विना धर्मकी सत्ता नहीं, वह स्थिर नही रह सकता, धार्मिक स्त्री-पुरुष ही उसके एक आधार होते हैं, और इसलिये धर्मकी स्थिति बनाये रखने अथवा उसकी वृद्धि करनेके लिये धार्मिक स्त्री-पुरुषोके पैदा करनेकी और उनकी उत्तरोत्तर संख्या बढ़ानेकी खास जरूरत है। साथ ही, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि जैनियोकी संख्या-वृद्धिका यदि कोई समुचित प्रयत्न

नहीं किया गया तो जैनियोंके दूसरे मंदिर-मूर्तियोंकी भी निकट भविष्यमें वही दुर्दशा होनेवाली है जो देवगढ़के मंदिर-मूर्तियोंकी हुई है और इसलिये उसके लिये उन्हें अभीसे सावधान हो जाना चाहिये और सर्वत्र जैन-धर्मके प्रचारादि-द्वारा उनके रक्षक पैदा करने चाहियें।

यदि दुर्दैवसे देवगढ़ जैनियोंसे शून्य हो भी गया था तो भी यदि आसपासके जैनियोंकी—बुन्देलखण्डी भाइयोंकी—अथवा दूसरे प्रान्तके श्रावकोंकी धर्ममें सच्ची प्रीति—सच्ची लगन—अपने देवके प्रति सच्ची भक्ति और अपने कर्तव्यपालनकी सच्ची रुचि बनी रहती और उन्हें अपने घरपर ही नया मन्दिर बनवा कर, नई मूर्तियाँ स्थापित कराकर बड़े-बड़े मेले प्रतिष्ठाएँ रचा कर तथा गजरथ चला कर सिंघई, सवाई सिंघई अथवा श्रीमन्त जैसी पदवियाँ प्राप्त करनेकी लालसा न सताती तो देवगढ़के मंदिर-मूर्तियोंको अभी तक इस दुर्दशाका भोग करना न पड़ता—उनका कभीका उद्धार हो गया होता। जैनियोंका प्रतिवर्ष नये-नये मंदिर-मूर्तियोंके निर्माण तथा मेले प्रतिष्ठादिकोंमें लाखों रुपया खर्च होता है। वे चाहते तो इस रकमसे एकही वर्षमें पर्वत तकको खरीद सकते थे—जीर्णोद्धारकी तो बात ही क्या है? परंतु मैं देख रहा हूँ जैनियोंका अपने इस कर्तव्यकी ओर बहुत ही कम ध्यान है। जिस क्षेत्र पर २०० के करीब शिला-लेख पाये गये हो, १५७ जिनमेंसे ऐतिहासिक महत्व रखते हों और उनमें जैनियोंके इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी हुई हो उस क्षेत्रके विषयमें जैनियोंका यह उपेक्षाभाव, निःसन्देह बहुत ही खेदजनक है। सात वर्षसे कुछ ऊपर हुए जब भाई विश्वम्भर-दासजी गार्गीयने 'देवगढ़के जैनमंदिर' नामकी एक पुस्तक

प्रकाशित करके इस विषयके आन्दोलनको खास तौरसे जन्म दिया था। उस वक्तसे कभी-कभी एकाध लेख जैनमित्रादिकमें प्रकाशित हो जाता है और उसमें प्राय: वे ही बातें आगे-पीछे अथवा संक्षिप्त करके दी हुई होती हैं जो उक्त पुस्तकमें संग्रहीत हैं। और इससे यह जाना जाता है कि देवगढ़ तीर्थोद्धार-फंडने ग्राममें एक धर्मशाला बनवाने तथा मंदिरोंमें जोड़ियां चढवानेके अतिरिक्त अभी तक इस विषयमें और कोई खास प्रगति नहीं की—वह मंदिर-मूर्तियोंके इतिहासादि-सम्बन्धमें भी कोई विशेष खोज नहीं कर सका और न उन सब शिलालेखोंकी कापी प्राप्त करके उनका पूरा परिचय ही समाजको करा सका है जो गवर्नमेण्टको इस क्षेत्रपरसे उपलब्ध हुए हैं और जिनमेसे १५७ का संक्षिप्त परिचय भी सरकारी रिपोर्टमें दिया हुआ बतलाया जाता है। कोई खास रिपोर्ट भी उसकी अभी तक देखनेमें नही आई। इसके सिवाय गवर्नमेण्टसे लिखा-पढ़ी करके इस क्षेत्रको पूर्णरूपसे अपने हस्तगत करनेके लिये जो कुछ सज्जनोंकी योजना हुई थी उनकी भी कोई रिपोर्ट आज तक प्रकाशित नहीं हुई और न यही मालूम पड़ा कि उन्होंने इस विषयमें कुछ किया भी है या कि नहीं। तीर्थक्षेत्र-कमेटीने भी इस विषयमें क्या महत्वका भाग लिया है वह भी कुछ मालूम नही हो सका। हाँ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको कुछ टिप्पणियोसे इतना आभास जरूर मिलता रहा है कि अभी तक इस दिशामें कोई खास उल्लेखनीय कार्य नही हुआ है। अस्तु; ऐसी मंदगति, लापर्वाही और अव्यवस्थित रूपसे कार्य होनेकी हालतमें इस क्षेत्रके शीघ्र उद्धारकी क्या आशा की जा सकती है और उस उद्धारकार्यमें सहायता देनेकी भी किसीको क्या विशेष प्रेरणा हो सकती है।

अतः समाजका इस विषयमें यह खास कर्तव्य है कि वह अब और अधिक समय तक इस मामलेको खटाईमें न डाले रक्खे, उसे पूर्ण उद्योगके साथ गहरा आन्दोलन करके और अच्छे उत्साही तथा कार्यकुशल योग्य पुरुषोंकी योजना-द्वारा व्यवस्थित रूपसे काम कर शीघ्र ही इस क्षेत्रके उद्धार-कार्यको पूरा करना चाहिये। ऐसा न हो कहीं विलम्बसे दूसरे मंदिर भी धराशायी हो जायँ और फिर खाली पछतावा ही पछतावा अवशिष्ट रह जाय। बुन्देलखण्डके भाइयोंकी इस विषयमें खास जिम्मेवारी है और इस क्षेत्रका अभी तक उद्धार न होनेका खास कलंक भी उन्हींके सिर है। वे यदि कुछ समयके लिये नये-नये मंदिरोंके निर्माण और मेले प्रतिष्ठाओंको बन्द रख कर इस ओर अपनी शक्ति लगावें तो इस क्षेत्रका उद्धार होनेमे कुछ भी देर न लगे। तीर्थक्षेत्र-कमेटीको भी इस विषयमें सविशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये और यह प्रकट कर देना चाहिये कि अभी तक इस दिशामें क्या कुछ कारवाई हुई है।

---

१. अनेकान्त वर्ष १, किरण २, दिसम्बर १९३०।

ऊँच-गोत्रका व्यवहार कहाँ ? : ५ :

(धवल सिद्धान्तका एक मनोरञ्जक वर्णन)

षट्खण्डागमके 'वेदना' नामका चतुर्थ खण्डके चौबीस अधिकारोंमेंसे पाँचवें 'पयडि' (प्रकृति) नामक अधिकारका वर्णन करते हुए, श्रीभूतबली आचार्यने गोत्रकर्म-विषयक एक सूत्र निम्न प्रकार दिया है :—

"गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ उच्चागोदं चेव णीचागोदं चेव एवदियाओ पयडीओ ॥१२९॥"

श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी धवला-टीकामें, इस सूत्रपर जो टीका लिखी है वह बड़ी ही मनोरंजक है और उससे अनेक नई-नई बातें प्रकाशमें आती हैं—गोत्रकर्मपर तो अच्छा खासा प्रकाश पड़ता है और यह मालूम होता है कि वीरसेनाचार्यके अस्तित्वसमय अथवा धवलाटीका (धवलसिद्धान्त) के निर्माण-समय (शक सं० ७३८) तक गोत्रकर्मपर क्या कुछ आपत्ति की जाती थी ? अपने पाठकोंके सामने विचारकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करने और उनकी विवेकवृद्धिके लिये मैं उसे क्रमशः यहाँ देना चाहता हूँ ।

टीकाका प्रारम्भ करते हुए, सबसे पहले यह प्रश्न उठाया गया है कि—"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ?"—अर्थात् ऊँच गोत्रका व्यापार—व्यवहार कहाँ ?—किन्हें उच्चगोत्री समझा जाय ? इसके बाद प्रश्नको स्पष्ट करते हुए और उसके समाधानरूपमें जो-जो बातें कही जाती हैं, उन्हें सदोष बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, वह सब क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) "**न तावद्राज्यादिलक्षणायां संपदि [व्यापारः], तस्याः सद्वेद्यतस्समुत्पत्तेः**"

अर्थात्—यदि राज्यादि-लक्षणवाली सम्पदाके साथ उच्च-गोत्रका व्यापार माना जाय—ऐसे सम्पत्तिशालियोंको ही उच्च-गोत्री कहा जाय—तो यह बात नही बनती ; क्योंकि ऐसी सम्पत्तिकी समुत्पत्ति अथवा सम्प्राप्ति सातावेदनीय कर्मके निमित्त-से होती है—उच्चगोत्रका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(२) "**नाऽपि पंचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदया-भावप्रसंगात् ।**"

अर्थात्—यदि यह कहा जाय कि उच्चगोत्रके उदयसे पंचमहाव्रतोंके ग्रहणकी योग्यता उत्पन्न होती है और इसलिये जिनमें पंचमहाव्रतोंके ग्रहणकी योग्यता पाई जाय उन्हें ही उच्च-गोत्री समझा जाय; तो यह भी ठीक नहीं है ; क्योंकि ऐसा माननेपर देवोंमें और अभव्योंमें, जो कि पंचमहाव्रत-ग्रहणके अयोग्य होते हैं, उच्चगोत्रके उदयका अभाव मानना पड़ेगा—; परन्तु देवोंके उच्चगोत्रका उदय माना गया है और अभव्योंके भी उसके उदयका निषेध नहीं किया गया है ।

(३) "**न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः, ज्ञानावरण-क्षयोपशम-सहाय-सम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्तेः, तिर्यक्नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रं तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात् ।**"

अर्थात्—यदि सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिके साथमें ऊँच गोत्रका व्यापार माना जाय—जो-जो सम्यग्ज्ञानी हों उन्हें उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी ठीक घटित नहीं होती ; क्योंकि प्रथम तो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी सहायता-पूर्वक सम्य-ग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है—उच्चगोत्रका उदय

उसकी उत्पत्तिमें कोई कारण नहीं है। दूसरे, तिर्यंच और नारकियोंमें भी सम्यग्ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है; तब उनमें भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा और यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध होगी—सिद्धान्तमें नारकियों और तिर्यंचोंके नीच गोत्रका उदय बतलाया है।

(४) "**नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापारस्तेषां नामतस्समुत्पत्तेः।**"

अर्थात्—यदि आदेयत्व, यश अथवा सौभाग्यके साथमें उच्चगोत्रका व्यवहार माना जाय—जो आदेयगुणसे विशिष्ट (कान्तिमान्), यशस्वी अथवा सौभाग्यशाली हों उन्हें ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि इन गुणोंकी उत्पत्ति आदेय, यशः और सुभग नामक नामकर्म, प्रकृतियोंके उदयसे होती है—उच्चगोत्र उनकी उत्पत्तिमें कोई कारण नहीं है।

(५) "**नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ [व्यापारः], काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्वाद्, विड्-ब्राह्मण-साधु (शूद्रे?) ष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्।**"

अर्थात्—यदि इक्ष्वाकु-कुलादिमें उत्पन्न होनेके साथ ऊँच ोत्रका व्यापार माना जाय—जो इन क्षत्रियकुलोंमें उत्पन्न हों उन्हें ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी समुचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि प्रथम तो इक्ष्वाकु आदि क्षत्रियकुल काल्पनिक हैं, परमार्थसे (वास्तवमें) उनका कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरे, वैश्यों, ब्राह्मणों और शूद्रोंमें भी उच्चगोत्रके उदयका विधान पाया जाता है।

(६) '**न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराजसमुत्पन्न-पृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्।**'

अर्थात्—सम्पन्न (समृद्ध) पुरुषोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंमें यदि उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—समृद्धों एवं धनाढ्योंकी सन्तानको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो म्लेच्छ राजासे उत्पन्न हुए पृथुकके भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा—और ऐसा माना नही जाता। (इसके सिवाय, जो सम्पन्नोंसे उत्पन्न न होकर निर्धनोंसे उत्पन्न होंगे, उनके उच्चगोत्रका निषेध भी करना पड़ेगा, और यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध जायगी।)

(७) "नाऽणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्य असत्वप्रसंगात्, नाभेयश्च (स्य ?) नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च।"

अर्थात्—अणुव्रतियोंसे उत्पन्न होने वाले व्यक्तियोंमें यदि उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—अणुव्रतियोंकी सन्तानोंको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी सुघटित नहीं होती; क्योंकि ऐसा मानने पर देवोंमें, जिनका जन्म औपपादिक होता है और जो अणुव्रतियोंसे पैदा नहीं होते, उच्चगोत्रके उदयका अभाव मानना पड़ेगा, और साथ ही नाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेव (आदितीर्थंकर)को भी नीचगोत्री बतलाना पड़ेगा; क्योंकि नाभिराजा अणुव्रती नहीं थे—उस समय तो व्रतोंका कोई विधान भी नहीं हो पाया था।

(८) "ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रं तत एव न तस्य कर्मत्वमपि; तदभावेन नीचैर्गोत्रमपि द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्; ततो गोत्रकर्माभाव इति ❀।"

❀ ये सब अवतरण और आगेके अवतरण भी आराके जैन-सिद्धान्त भवनकी प्रतिसे लिये गये हैं।

अर्थात्—जब उक्त प्रकारसे उच्चगोत्रका व्यवहार कहीं ठीक बैठता नहीं, तब उच्चगोत्र निष्फल जान पड़ता है और इसीलिए उसके कर्मपना भी कुछ बनता नहीं। उच्चगोत्रके अभावसे नीच गोत्रका भी अभाव हो जाता है; क्योंकि दोनोंमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बनता नहीं। और इसलिये गोत्रकर्मका ही अभाव सिद्ध होता है।

इस तरह गोत्रकर्मपर आपत्तिका यह 'पूर्वपक्ष' किया गया है, और इससे स्पष्ट जाना जाता है कि गोत्रकर्म अथवा उसका ऊँच-नीच-विभाग आज ही कुछ आपत्तिका विषय बना हुआ नहीं है; बल्कि आजसे ११०० वर्षसे भी अधिक समय पहलेसे वह आपत्तिका विषय बना हुआ था—गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता पर लोग तरह-तरहकी आशंकाएँ उठाते थे और इस बातको जाननेके लिए बड़े ही उत्कण्ठित रहते थे कि गोत्रकर्मके आधारपर किसको ऊँच और किसको नीच कहा जाय?—उसकी कोई कसौटी मालूम होनी चाहिए। पाठक भी यह जाननेके लिए बड़े उत्सुक होंगे कि आखिर वीरसेनाचार्य-ने अपनी धवला-टीकामें, उक्त पूर्वपक्षका क्या 'उत्तरपक्ष' दिया है और कैसे उन प्रधान आपत्तियोंका समाधान किया है जो पूर्वपक्षके आठवें विभागमें खड़ी की गई हैं। अतः मैं भी अब उस उत्तरपक्षको प्रकट करनेमें विलम्ब करना नहीं चाहता। पूर्व-पक्षके आठवें विभागमें जो आपत्तियाँ खड़ी की गई हैं वे संक्षेपतः दो भागोंमें बाँटी जा सकती हैं—एक तो ऊँच गोत्रका व्यवहार कहीं ठीक न बननेसे ऊँच गोत्रकी निष्फलता और दूसरा गोत्रकर्मका अभाव। इसीलिए उत्तरपक्षको भी दो भागों

में बाँटा गया है, पिछले भागका उत्तर पहले और पूर्व विभाग-का उत्तर बादको दिया गया है—और वह सब क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) "[इति] न, जिनवचनस्याऽसत्यत्वविरोधात्; तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते। न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनाऽनुपलंभाज्जिनवचनस्याऽप्रमाणत्वमुच्येत।"

अर्थात्—इस प्रकार गोत्रकर्मका अभाव कहना ठीक नहीं है; क्योंकि गोत्रकर्मका निर्देश जिनवचन-द्वारा हुआ है और जिनवचन असत्यका विरोधी है। जिनवचन असत्यका विरोधी है, यह बात इतने परसे ही जानी जा सकती है कि उसके वक्ता श्रीजिनेन्द्रदेव ऐसे आप्त-पुरुष होते हैं जिनमें असत्यके कारणभूत राग-द्वेष-मोहादिक दोषोंका सद्भाव ही नहीं रहता*। जहाँ असत्य-कथन-का कोई कारण ही विद्यमान न हो वहाँसे असत्यकी उत्पत्ति भी नहीं होसकती, और इसलिये जिनेन्द्रकथित गोत्रकर्मका अस्तित्व जरूर है।

इसके सिवाय, जो भी पदार्थ केवलज्ञानके विषय होते हैं उन सबमें रागीजीवोंके ज्ञान प्रवृत्त नहीं होते, जिससे उन्हें उनकी उपलब्धि न होनेपर जिनवचनको अप्रमाण कहा जासके।

---

* जैसा कि 'धवला' के ही प्रथम खण्डमें उद्धृत निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

आगमो ह्याप्तवचनं आप्तं दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्॥
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥

अर्थात् केवलज्ञानगोचर कितनी ही बातें ऐसी भी होती हैं जो छद्मस्थोंके ज्ञानका विषय नहीं बन सकती, और इसलिए रागाक्रान्त छद्मस्थोंको यदि उनके अस्तित्वका स्पष्ट अनुभव न हो सके तो इतनेपरसे ही उन्हे अप्रमाण या असत्य नही कहा जा सकता ।

(२) "न च निष्फलं [उच्चैः] गोत्रं, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानामार्यप्रत्ययाभिधानव्यहार-निबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम् । तत्रोत्पत्तिहेतुकमप्युच्चैर्गोत्रम् । न चाऽत्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति विरोधात् । तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् । एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः ।"

अर्थात्—उच्चगोत्र निष्फल नहीं है; क्योंकि उन पुरुषोंकी सन्तान उच्चगोत्र होती है जो दीक्षा-योग्य साधुआचारोंसे युक्त हों, साधु-आचारवालोके माथ जिन्होंने सम्बन्ध किया हो, तथा आर्याभिमत नामक व्यवहारोसे जो बँधे हों । ऐसे पुरुषोके यहाँ उत्पत्तिका—उनकी सन्तान बननेका—जो कारण है वह भी उच्चगोत्र है । गोत्रके इस स्वरूपकथनमे पूर्वोक्त दोषोंकी संभावना नहीं है; क्योंकि इस स्वरूपके साथ उन दोषोंका विरोध है—उच्चगोत्रका ऐसा स्वरूप अथवा ऐसे पुरुषोंकी सन्तानमें उच्चगोत्रका व्यवहार मानलेनेपर पूर्व-पक्षमें उद्भूत किये हुए दोष नही बन सकते । उच्चगोत्रके विपरीत नीचगोत्र है—जो लोग उक्त पुरुषोंकी सन्तान नहीं हैं अथवा उनसे विपरीत आचार-व्यवहार-वालोकी सन्तान हैं वे सब नीचगोत्र-पद के वाच्य हैं, ऐसे लोगोंमे जन्म लेनेके कारणभूत कर्मको भी नीचगोत्र कहते हैं । इस तरह गोत्रकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ होती हैं ।

यह उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके मुकाबलेमें कितना सबल है, कहाँ

तक विषयको स्पष्ट करता है और किस हद तक सन्तोषजनक है, इसे सहृदय पाठक एवं विद्वान महानुभाव स्वयं अनुभव कर सकते हैं। मैं तो, अपनी समझके अनुसार, यहाँपर सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि इस उत्तर-पक्ष का पहला विभाग तो बहुत कुछ स्पष्ट है। गोत्रकर्म जिनागमकी खास वस्तु है और उसका वह उपदेश जो उक्त मूलसूत्रमें संनिविष्ट है, अविच्छिन्न ऋषि-परम्परासे बराबर चला आता है। जिनागमके उपदेष्टा जिनेन्द्रदेव—भ० महावीर—राग, द्वेष, मोह और अज्ञानादि दोषोंसे रहित थे। ये ही दोष असत्यवचनके कारण होते हैं। कारणके अभावमें कार्यका भी अभाव हो जाता है, और इसलिए सर्वज्ञ-वीतराग-कथित इस गोत्रकर्मको असत्य नहीं कहा जासकता, न उसका अभाव ही माना जासकता है। कम-से-कम आगम-प्रमाण-द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध है। पूर्वपक्षमें भी उसके अभावपर कोई विशेष जोर नहीं दिया गया मात्र उच्चगोत्रके व्यवहारका यथेष्ट निर्णय न हो सकनेके कारण उकताकर अथवा आनुषंगिक रूपसे गोत्रकर्मका अभाव बतला दिया गया है। इसके लिये जो दूसरा उत्तर दिया गया है वह भी ठीक ही है। निःसन्देह, केवलज्ञान-गोचर कितनी ही ऐसी सूक्ष्म बातें भी होती हैं जो लौकिक ज्ञानोंका विषय नहीं हो सकतीं अथवा लौकिक साधनोंसे जिनका ठीक बोध नहीं होता, और इसलिये अपने ज्ञानका विषय न होने अथवा अपनी समझ में ठीक न बैठनेके कारण ही किसी वस्तु-तत्वके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जासकता।

हाँ, उत्तरपक्षका दूसरा विभाग मुझे बहुत कुछ अस्पष्ट जान पड़ता है। उसमें जिन पुरुषोंको संतानको उच्चगोत्र नाम दिया गया है उनके विशेषणोंपरसे उनका ठीक स्पष्टीकरण नहीं

होता—यह मालूम नहीं होता कि—१. दीक्षायोग्य साधु-आचारोंसे कौनसे आचार विशेष अभिप्रेत हैं ? २. 'दीक्षा' शब्दसे मुनिदीक्षाका ही अभिप्राय है या श्रावकदीक्षाका भी ?—क्योंकि प्रतिमाओंके अतिरिक्त श्रावकोंके बारह व्रत भी द्वादशदीक्षा-भेद कहलाते हैं*; ३. साधु आचारवालोंके साथ सम्बन्ध करनेकी जो बात कही गई है वह उन्हीं दीक्षायोग्य साधु आचारवालोंसे सम्बन्ध रखती है या दूसरे साधु आचारवालोंसे ? ४. सम्बन्ध करनेका अभिप्राय विवाह-सम्बन्धका ही है या दूसरा उपदेश, सहनिवास, सहकार्य और व्यापारादिका सम्बन्ध भी उसमें शामिल है ? ५. आर्याभिमत अथवा आर्य-प्रत्ययाभिधान नामक व्यवहारोंसे कौनसे व्यवहारोंका प्रयोजन है ? ६. और इनविशेषणों का एकत्र समवाय होना आवश्यक है अथवा पृथक-पृथक् भी ये ये उच्चगोत्रके व्यंजक हैं ? जबतक ये सब बातें स्पष्ट नहीं होतीं, तबतक उत्तरको सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता, न उससे किसीकी पूरी तसल्ली हो सकती है और न उक्त प्रश्न ही यथेष्ट रूपमें हल हो सकता है। साथही इस कथनकी भी पूरी जाँच नही हो सकती कि 'गोत्रके इस स्वरूप-कथनमें पूर्वोक्त दोषोंकी सम्भावना नही है।' क्योंकि कल्पनाद्वारा जब उक्त बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है तो उक्त स्वरूप-कथनमें कितने ही दोष आकर खड़े हो जाते हैं। उदाहरणके लिए यदि

---

* जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें दिये हुए श्रीविद्यानन्द आचार्यके निम्न वाक्य से प्रकट हैं :—

"तेन गृहस्थस्य पंचाणुव्रतानि सप्तशीलानि गुणव्रत शिक्षाव्रत व्यपदेशभाञ्जीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च महाव्रत-तच्छीलवत्।"

'दीक्षा' का अभिप्राय मुनिदीक्षाका ही लिया जाय तो देवोंको उच्चगोत्री नही कहा जायगा, किसी पुरुषकी सन्तान न होकर औपपादिक जन्मवाले होनेसे भी वे उच्चगोत्री नहीं रहेंगे। यदि श्रावकके व्रत भी दीक्षामें शामिल हैं तो तिर्यंच पशु भी उच्चगोत्री ठहरेंगे, क्योंकि वे भी श्रावकके व्रत धारण करनेके पात्र कहे गए हैं और अक्सर श्रावकके व्रत धारण करते आए हैं। तथा देव इससे भी उच्चगोत्री नही रहेंगे; क्योकि उनके किसी प्रकारका व्रत नहीं होता—वे अव्रती कहे गए हैं। यदि सम्बन्ध का अभिप्राय विवाह-सम्बन्धसे ही हो; जैसा कि म्लेच्छ-खण्डोंसे आए हुए म्लेच्छोंका चक्रवर्ती आदिके साथ होता है और फिर वे म्लेच्छ मुनिदीक्षा तकके पात्र समझे जाते हैं, तब भी देवतागण उच्चगोत्री नही रहेंगे; क्योंकि उनका विवाह सम्बन्ध ऐसे दीक्षायोग्य साध्वाचारोंके साथ नहीं होता है। और यदि सम्बन्धका अभिप्राय उपदेश आदि दूसरे प्रकारके सम्बन्धोंसे हो तो शक, यवन, शबर, पुलिंद और चाण्डालादिककी तो बात ही क्या? तिर्यंच भी उच्चगोत्री हो जायँगे; क्योंकि वे साध्वाचारोंके साथ उपदेशादिके सम्बन्धको प्राप्त होते हैं और साक्षात् भगवान् के समवसरण में भी पहुँच जाते हैं। इस प्रकार और भी कितनी ही आपत्तियाँ खड़ी हो जाती है।

आशा है विद्वान् लोग श्रीवीरसेनाचार्यके उक्त स्वरूप-विषयक कथनपर गहरा विचार करके उन छहों बातोंका स्पष्टीकरण करने आदिकी कृपा करेंगे, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, जिससे यह विषय भली प्रकार प्रकाशमें आ सके और उक्त प्रश्नका सबोके समझमें आने योग्य हल हो सके।[1]

---

१ अनेकान्त वर्ष २, किरण २, ता० ३१-११-१९३८

महत्त्वकी प्रश्नोत्तरी　　: ६ :

प्रश्न—संसारमें सार क्या है ?

उत्तर—मनुष्य होकर तत्वज्ञानको प्राप्त करना और स्व-परके हितसाधनमे सदा उद्यमी रहना ।

प्रश्न—संसारको बढ़ानेवाली बेल कौन-सी है ?

उत्तर—आशा-तृष्णा ।

प्रश्न—संसारमें पवित्र कौन है ?

उत्तर—जिसका मन शुद्ध है ।

प्रश्न—पडित कौन है ?

उत्तर—जो हेय-उपादेयके ज्ञानको लिये हुए विवेकी है ।

प्रश्न—बड़े लुटेरे कौन हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय-विषय, जो आत्माके ज्ञान-वैराग्यादि धनको लूट रहे हैं ।

प्रश्न—बड़ा बैरी कौन है ?

उत्तर—आलस्य-अनुद्योग, जिसके कारण आत्मा विकसित नहीं हो पाता और न भले प्रकार जी सकता है ।

प्रश्न—शूरवीर कौन है ?

उत्तर—जिसका चित्त स्त्रियोंके लोचन-बाणों (कटाक्षों) से व्यथित नहीं होता ।

प्रश्न—अन्धा कौन है ?

उत्तर—जो न करने योग्य कार्यके करनेमें लीन है ।

प्रश्न—बहरा कौन है ?

उत्तर—जो हितकी बातें नहीं सुनता ।

प्रश्न—गूँगा कौन है ?

उत्तर—जो समय पर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता।

प्रश्न—अन्धेसे भी अन्धा कौन है ?

उत्तर—जो रागी है—किसी विषयमें आसक्त होकर विवेक-शून्य हो गया है।

प्रश्न—जागता कौन है ?

उत्तर—जो विवेकी है—भले-बुरेको पहचानता है ?

प्रश्न—सोता कौन है ?

उत्तर—जो मूढताको अपनाये रखता है और आत्मामें विवेकको जाग्रत नहीं होने देता।

प्रश्न—पूज्य कौन है ?

उत्तर—जो सच्चारित्रवान् है।

प्रश्न—दरिद्रता क्या चीज है ?

उत्तर—असंतोषका नाम दरिद्रता है, जहाँ संतोष है वहाँ दरिद्रताका नाम नही।

प्रश्न—नरक क्या है ?

उत्तर—पराधीनताका नाम नरक है।

प्रश्न—मित्र कौन है ?

उत्तर—जो पापोंमें प्रवृत्त होने अथवा कुमार्गमें जानेसे रोकता है।

प्रश्न—मनुष्यका असली आभूषण क्या है ?

उत्तर—पवित्र आचार-विचाररूप शील।

प्रश्न—वाणीका भूषण क्या है ?

उत्तर—सत्यताके साथ प्रिय भाषण।

प्रश्न—असली मरण कौन-सा है ?

उत्तर—मूर्खता, जिसमें आत्माके ज्ञान गुणका तिरोभाव हो जाता है ।

प्रश्न—किनमें सदा उपेक्षाभाव रखना चाहिये ?

उत्तर—दुर्जनोंमें, परस्त्रियोंमें और पराये धनमें ।

प्रश्न—किसको अपनी प्यारी सहचरी बनाना चाहिये ?

उत्तर—दया, चातुरी और मैत्रीको ।

प्रश्न—कण्ठगत प्राण होने पर भी किसके सुपुर्द अपनेको नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—मूर्खके, विषादयुक्तके, अभिमानीके और कृतघ्नके ।

प्रश्न—धन होनेपर शोचनीय क्या है ?

उत्तर—कृपणता ।

प्रश्न—धनकी अत्यन्त कमी (निर्धनता) होनेपर प्रशंसनीय क्या है ?

उत्तर—उदारता ।

प्रश्न—चिन्तामणिके समान दुर्लभ क्या है ?

उत्तर—प्रियवाक्यसहित दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता और दान सहित लक्ष्मी, ये चार कल्याणकारी चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं ।*

अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२, मार्च १९४३ ।

---

* यह प्रश्नोत्तरी अमोघवर्षकी 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' संस्कृतके आधारपर नये ढंगसे संकलित की गई ।

जैन कालोनी और मेरा विचार-पत्र : ७ :

आजकल जैन-जीवनका दिन-पर-दिन ह्रास होता जा रहा है, जैनत्व प्राय: देखनेको नही मिलता—कही-कहीं और कभी-कभी किसी अंधेरे कोनेमें जुगनूके प्रकाशकी तरह उसकी कुछ झलक-सी दीख पड़ती है। जैन-जीवन और अजैन-जीवनमें कोई स्पष्ट अन्तर नजर नही आता। जिन राग-द्वेष, काम-क्रोध, छल-कपट, झूठ-फरेब, धोखा-जालसाजी, चोरी-सीनाजोरी, अतितृष्णा, विलासता, नुमाइशीभाव और विषय तथा परिग्रहलोलुपता आदि दोषोसे अजैन पीड़ित हैं, उन्हीसे जैन भी सताये जा रहे हैं। धर्मके नामपर किये जानेवाले क्रियाकाण्डोंमें कोई प्राण मालूम नहीं होता, अधिकांशमें जाब्तापूरी, लोकदिखावा अथवा दम्भका ही सर्वत्र साम्राज्य जान पड़ता है। मूलमें विवेकके न रहनेसे धर्मकी सारी इमारत डांवाडोल हो रही है। जब धार्मिक ही न रहें तब धर्म किसके आधारपर रह सकता है? स्वामी समन्तभद्रने कहा भी है कि—'**न धर्मोधार्मिकैर्विना**'। अत: धर्मकी स्थिरता और उसके लोकहित—जैसे शुभ परिणामोके लिये सच्चे धार्मिकोंकी उत्पत्ति और स्थितिकी ओर सविशेषरूपसे ध्यान दिया ही जाना चाहिये, इसमें किसीको भी विवादके लिये स्थान नही है। परन्तु आज दशा उलटी है—इस ओर प्राय: किसीका भी ध्यान नहीं है। प्रत्युत इसके देशमें जैसी कुछ घटनाएँ घट रही हैं और उसका वातावरण जैसा कुछ क्षुब्ध और दूषित हो रहा है उससे धर्मके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, कितने ही धार्मिक संस्कारोंसे शून्य जन-मानस उसकी

बगावत पर तुले हुए हैं और बहुतोंकी स्वार्थपूर्ण भावनाएँ एवं अविवेकपूर्ण स्वच्छन्द-प्रवृत्तियाँ उसे तहस-नहस करनेके लिये उतारू हैं; और इस तरह वे अपने तथा उसे देशके पतन एवं विनाशका मार्ग आप ही साफ कर रहे हैं। यह सब देखकर भविष्यकी भयङ्करताका विचार करते हुए शरीरपर रोंगटे खड़े होते हैं और समझमें नहीं आता कि तब धर्म और धर्मायतनोंका क्या बनेगा। और उनके अभावमें मानव-जीवन कहाँ तक मानवजीवन रह सकेगा !!

दूषित शिक्षा-प्रणालीके शिकार बने हुए संस्कारविहीन जैनयुवकोंकी प्रवृत्तियाँ भी आपत्तिके योग्य हो चली हैं—वे भी प्रवाहमें बहने लगे हैं, धर्म और धर्मायतनोंपरसे उनकी श्रद्धा उठती जाती है, वे अपने लिये उनकी जरूरत ही नहीं समझते, आदर्शकी थोथी बातों और थोथे क्रियाकाण्डोंसे वे ऊब चुके हैं, उनके सामने देशकालानुसार जैन-जीवनका कोई जीवित आदर्श नही है, और इसलिये वे इधर-उधर भटकते हुए जिधर भी कुछ आकर्षण पाते हैं उधरके ही हो रहते है। जैनधर्म और समाज के भविष्यकी दृष्टिसे ऐसे नवयुवकोंका स्थितिकरण बहुत ही आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब उनके सामने हरसमय जैन-जीवनका जीवित उदाहरण रहे।

इसके लिये एक ऐसी जैनकालोनी--जैनबस्तीके बसानेकी बड़ी जरूरत है जहाँ जैन-जीवनके जीते जागते उदाहरण मौजूद हो--चाहे वे गृहस्थ अथवा साधु किसी भी वर्गके प्राणियोंके क्यों न हों; जहाँ पर सर्वत्र मूर्तिमान जैनजीवन नजर आए और उससे देखनेवालोंको जैनजीवनकी सजीव प्रेरणा मिले; जहाँका वातावरण शुद्ध-शांत-प्रसन्न और जैनजीवनके अनुकूल अथवा उसमें सब प्रकारसे सहायक हो; जहाँ प्रायः ऐसे ही

जैन कालोनी और मेरा विचार-पत्र : ७ :

आजकल जैन-जीवनका दिन-पर-दिन ह्रास होता जा रहा है, जैनत्व प्रायः देखनेको नहीं मिलता—कहीं-कहीं और कभी-कभी किसी अंधेरे कोनेमें जुगनूके प्रकाशकी तरह उसकी कुछ झलक-सी दीख पड़ती है। जैन-जीवन और अजैन-जीवनमें कोई स्पष्ट अन्तर नजर नहीं आता। जिन राग-द्वेष, काम-क्रोध, छल-कपट, झूठ-फरेब, धोखा-जालसाजी, चोरी-सीनाजोरी, अतितृष्णा, विलासता, नुमाइशीभाव और विषय तथा परिग्रहलोलुपता आदि दोषोंसे अजैन पीड़ित हैं, उन्हींसे जैन भी सताये जा रहे हैं। धर्मके नामपर किये जानेवाले क्रियाकाण्डोंमें कोई प्राण मालूम नहीं होता, अधिकांशमें जाब्तापूरी, लोकदिखावा अथवा दम्भका ही सर्वत्र साम्राज्य जान पड़ता है। मूलमें विवेकके न रहनेसे धर्मकी सारी इमारत डांवाडोल हो रही है। जब धार्मिक ही न रहें तब धर्म किसके आधारपर रह सकता है? स्वामी समन्तभद्रने कहा भी है कि—'न धर्मोधार्मिकैर्विना'। अतः धर्मकी स्थिरता और उसके लोकहित-जैसे शुभ परिणामोंके लिये सच्चे धार्मिकोंकी उत्पत्ति और स्थितिकी ओर सविशेषरूपसे ध्यान दिया ही जाना चाहिये, इसमें किसीको भी विवादके लिये स्थान नहीं है। परन्तु आज दशा उलटी है---इस ओर प्रायः किसीका भी ध्यान नहीं है। प्रत्युत इसके देशमें जैसी कुछ घटनाएँ घट रही हैं और उसका वातावरण जैसा कुछ क्षुब्ध और दूषित हो रहा है उससे धर्मके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, कितने ही धार्मिक संस्कारोंसे शून्य जन-मानस उसकी

बगावत पर तुले हुए हैं और बहुतोंकी स्वार्थपूर्ण भावनाएँ एवं अविवेकपूर्ण स्वच्छन्द-प्रवृत्तियाँ उसे तहस-नहस करनेके लिये उतारू हैं; और इस तरह वे अपने तथा उसे देशके पतन एवं विनाशका मार्ग आप ही साफ कर रहे हैं। यह सब देखकर भविष्यकी भयङ्करताका विचार करते हुए शरीरपर रोंगटे खड़े होते हैं और समझमें नहीं आता कि तब धर्म और धर्मायतनोंका क्या बनेगा। और उनके अभावमें मानव-जीवन कहाँ तक मानवजीवन रह सकेगा !!

दूषित शिक्षा-प्रणालीके शिकार बने हुए संस्कारविहीन जैनयुवकोंकी प्रवृत्तियाँ भी आपत्तिके योग्य हो चली हैं—वे भी प्रवाहमें बहने लगे हैं, धर्म और धर्मायतनोंपरसे उनकी श्रद्धा उठती जाती है, वे अपने लिये उनकी जरूरत ही नहीं समझते, आदर्शकी थोथी बातों और थोथे क्रियाकाण्डोंसे वे ऊब चुके हैं, उनके सामने देशकालानुसार जैन-जीवनका कोई जीवित आदर्श नहीं है, और इसलिये वे इधर-उधर भटकते हुए जिधर भी कुछ आकर्षण पाते हैं उधरके ही हो रहते है। जैनधर्म और समाज के भविष्यकी दृष्टिसे ऐसे नवयुवकोंका स्थितिकरण बहुत ही आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब उनके सामने हरसमय जैन-जीवनका जीवित उदाहरण रहे।

इसके लिये एक ऐसी जैनकालोनी—जैनवस्तीके बसानेकी बड़ी जरूरत है जहाँ जैन-जीवनके जीते जागते उदाहरण मौजूद हों—चाहे वे गृहस्थ अथवा साधु किसी भी वर्गके प्राणियोंके क्यों न हों; जहाँ पर सर्वत्र मूर्तिमान जैनजीवन नजर आए और उससे देखनेवालोंको जैनजीवनकी सजीव प्रेरणा मिले; जहाँका वातावरण शुद्ध-शांत-प्रसन्न और जैनजीवनके अनुकूल अथवा उसमें सब प्रकारसे सहायक हो; जहाँ प्रायः ऐसे ही

सज्जनोंका अधिवास हो जो अपने जीवनको जैनजीवनके रूपमें ढालनेके लिये उत्सुक हों; जहाँपर अधिवासियोंकी प्रायः सभी जरूरतोंको पूरा करनेका समुचित प्रबन्ध हो और जीवनको ऊँचा उठानके यथासाध्य सभी साधन जुटाये गये हो; जहाँ के अधिवासी अपनेको एक ही कुटुम्बका व्यक्ति समझें, एक ही पिताकी सन्तानके रूपमें अनुभव करें, और एक दूसरेके दुख-सुखमें बराबर साथी रहकर पूर्णरूपसे सेवाभावको अपनाएँ तथा किसीको भी उसके कष्टमें यह महसूस न होने देवें कि वह वहाँ पर अकेला है।

समय-समयपर बहुतसे सज्जनोंके हृदयमें धार्मिक जीवनको अपनानेकी तरंगें उठा करती हैं और कितने ही सद्गृहस्थ अपनी गृहस्थीके कर्तव्योंको बहुत-कुछ पूरा करलेनेके बाद यह चाहा करते हैं कि उनका शेष जीवन रिटायर्डरूपमें किसी ऐसे स्थानपर और ऐसे सत्सङ्गमें व्यतीत हो जिससे ठीक-ठीक धर्मसाधन और लोक-सेवा दोनों ही कार्य बन सकें। परन्तु जब वे समाजमें उसका कोई समुचित साधन नहीं पाते और आसपासका वातावरण उनके विचारोंके अनुकूल नहीं होता तब वे यों ही अपना मन मसोसकर रह जाते हैं—समर्थ होते हुए भी बाह्य परिस्थितियोंके वश कुछ भी कर नहीं पाते, और इस तरह उनका शेष जीवन इधर उधरके धन्धोंमें फँसे रहकर व्यर्थही चला जाता है। और यह ठीक ही है, बीजमें अंकुरित होने और अच्छा फलदार वृक्ष बननेकी शक्तिके होते हुए भी उसे यदि समयपर मिट्टी पानी और हवा आदिका समुचित निमित्त नहीं मिलता तो उसमें अंकुर नहीं फूटता और वह यों ही जीर्ण-शीर्ण होकर नकारा हो जाता है। ऐसी हालतमें समाजकी

शक्तियोंको सफल बनाने अथवा उनसे यथेष्ट काम लेनेके लिये संयोगोंको मिलाने और निमित्तोंको जोड़नेकी बड़ी जरूरत रहती है। इस दृष्टिसे भी जैनकालोनीकी स्थापना समाजके लिये बहुत लाभदायक है और वह बहुतोंको सन्मार्गपर लगाने अथवा उनकी जीवनधाराको समुचितरूपसे बदलनेमें सहायक हो सकती है।

कुछ वर्ष हुए, जब बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता मद्रास-प्रान्तस्थ आरोग्यवरम्के सेनिटोरियममें अपनी चिकित्सा करा रहे थे, उस समय वहाँके वातावरण और ईसाई सज्जनोंके प्रेमालाप एवं सेवाकार्योंसे वे बहुत ही प्रभावित हुए थे। साथ ही यह मालूम करके कि ईसाईलोग ऐसी सेवा-संस्थाओं तथा आकर्षक रूपमें प्रचुर साहित्यके वितरण-द्वारा जहाँ अपने धर्मका प्रचार कर रहे है वहाँ मांसाहारको भी काफी प्रोत्तेजन दे रहे हैं, जिससे आश्चर्य नहीं जो निकट भविष्यमें सारा विश्व मांसाहारी हो जाय; और इसलिये उनके हृदयमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यदि जैनी समयपर सावधान न हुए तो असंभव नहीं कि भगवान महावीरकी निरामिष-भोजनादि-सम्बन्धी सुन्दर देशनाओंपर पानी फिर जाय और वह एकमात्र पोथी-पत्रोंकी ही बात रह जाय। इसी चिन्ताने जैनकालोनीके विचारको उनके मानसमें जन्म दिया और जिसे उन्होंने जनवरी सन् १९४५ के पत्रमें मुझपर प्रकट किया। उस पत्रके उत्तरमें २७ जनवरी माघसुदी १४ शनिवार सन् १९४५को जो पत्र देहलीसे उन्हें मैंने लिखा था वह अनेक दृष्टियोंसे पाठकोंके जानने योग्य है। बहुत सम्भव है कि बाबू छोटेलालजीको लक्ष्यकरके लिखा गया यह पत्र दूसरे हृदयोंको भी अपील करे और उनमेंसे कोई

माईका लाल ऐसा निकल आवे जो एक उत्तम जैनकालोनीकी योजना एवं व्यवस्थाके लिये अपना सब कुछ अर्पण कर देवे, और इस तरह वीरशासनकी जड़ोंको युगयुगान्तरके लिये स्थिर करता हुआ अपना एक अमर स्मारक कायम कर जाय। इसी सदुद्देश्यको लेकर आज उक्त पत्र नीचे प्रकाशित किया जाता है। यह पत्र एक बड़े पत्रका मध्यमांश है, जो मौनके दिन लिखा गया था, उस समय जो विचार धारा-प्रवाहरूपसे आते गये उन्हींको इस पत्रमें अङ्कित किया गया है और उन्हें अङ्कित करते समय ऐसा मालूम होता था मानों कोई दिव्य-शक्ति मुझसे वह सब कुछ लिखा रही है। मैं समझता हूँ इसमें जनधर्म, समाज और लोकका भारी हित सन्निहित है।

जैनकालोनी-विषयक पत्र—

"जैनकालोनी आदि सम्बन्धी जो विचार आपने प्रस्तुत किये हैं और बाबू अजितप्रसादजी भी जिनके लिये प्रेरणा कर रहे हैं वे सब ठीक हैं। जैनियोंमें सेवाभावकी स्पिरिटको प्रोत्तेजन देने और एकवर्ग सच्चे जैनियों अथवा वीरके सच्चे अनुयायियोंको तैयार करनेके लिए ऐसा होना ही चाहिए। परन्तु ये काम साधारण बातें बनानेसे नहीं हो सकते, इनके लिये अपनेको होम देना होगा, दृढसङ्कल्पके साथ कदम उठाना होगा, 'कार्यं साधयिष्यामि शरीरं पातयिष्यामि वा' की नीतिको अपनाना होगा, किसीके कहने-सुनने अथवा मानापमानकी कोई पर्वाह नहीं करनी होगी और अपना दुख-सुख आदि सब कुछ भूल जाना होगा। एकही ध्येय और एकही लक्ष्यको लेकर बराबर आगे बढ़ना होगा। तभी रूढ़ियोंका गढ़ टूटेगा, धर्मके आसनपर जो रूढ़ियाँ आसीन हैं उन्हें आसन छोड़ना पड़ेगा और

हृदयोंपर अन्यथा संस्कारोंका जो खोल चढ़ा हुआ है वह सब चूरचूर होगा। और तभी समाजको वह दृष्टि प्राप्त होगी जिससे वह धर्मके वास्तविक स्वरूपको देख सकेगी। अपने उपास्य देवताको ठीक रूपमें पहचान सकेगी, उसकी शिक्षाके मर्मको समझ सकेगी और उसके आदेशानुसार चलकर अपना विकास सिद्ध कर सकेगी। इस तरह समाजका रुख ही पलट जायेगा और वह सच्चे अर्थोंमें एक धार्मिक समाज और एक विकासोन्मुख आदर्श समाज बन जायगा। और फिर उसके द्वारा कितनोंका उत्थान होगा, कितनोंका भला होगा, और कितनोंका कल्याण होगा, यह कल्पनाके बाहरकी बात है। इतना बड़ा काम कर जाना कुछ कम श्रेय, कम पुण्य अथवा कम धर्मकी बात नहीं हैं। यह तो समाजभरके जीवनको उठानेका एक महान आयोजन होगा। इसके लिये अपनेको बीजरूपमें प्रस्तुत कीजिये। मत सोचिये कि मैं एक छोटासा बीज हूँ। बीज जब एक लक्ष्य होकर अपनेको मिट्टीमें मिला देता है, गला देता और खपा देता है, तभी चहुँ ओरसे अनुकूलता उसका अभिनन्दन करती है और उससे वह लहलहाता पौधा तथा वृक्ष पैदा होता है जिसे देखकर दुनियाँ प्रसन्न होती है, लाभ उठाती है आशीर्वाद देती है; और फिर उससे स्वतः ही हजारों बीजोंकी नई सृष्टि हो जाती है। हमें वाक्पटु न होकर कार्यपटु होना चाहिये, आदर्शवादी न बनकर आदर्शको अपनाना चाहिये और उत्साह तथा साहसकी वह अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये जिसमें सारी निर्बलता और सारी कायरता भस्म हो जाय। आप युवा हैं, धनाढ्य हैं, धनसे अलिप्त हैं, प्रभावशाली हैं, गृहस्थके बन्धनसे मुक्त हैं और साथ ही शुद्धहृदय तथा विवेकी हैं, फिर आपके लिये दुष्कर कार्य क्या हो सकता है? थोड़ी-सी स्वास्थ्यकी

खराबीसे निराश होने जैसी बातें करना आपको शोभा नहीं देता। आप फलकी आतुरताको पहलेसे ही हृदयमें स्थान न देकर दृढ़ सङ्कल्प और Full will power के साथ खड़े हो जाइये, सुखी आराम तलब जैसे—जीवनका त्याग कीजिये और कष्टसहिष्णु बनिये, फिर आप देखेंगे अस्वस्थता अपने आप ही खिसक रही है और आप अपने शरीरमें नये तेज, नये बल और नई स्फूर्तिका अनुभव कर रहे हैं। दूसरोंके उत्थान और दूसरोंके जीवनदानकी सच्ची सक्रिय भावनाएँ कभी निष्फल नहीं जातीं—उनका विद्युतका-सा असर हुए बिना नहीं रहता। यह हमारी अश्रद्धा है अथवा आत्मविश्वासकी कमी है जो हम अन्यथा कल्पना किया करते हैं।

मेरे खयालमें तो जो विचार परिस्थितियोंको देख कर आपके हृदयमें उत्पन्न हुआ है वह बहुत ही शुभ है, श्रेयस्कर है और उसे शीघ्र ही कार्यमें परिणत करना चाहिये। जहाँ तक मैं समझता हूँ जैन कालोनीके लिये राजगृह तथा उसके आस-पासका स्थान बहुत उत्तम है। वह किसी समय एक बहुत बड़ा समृद्धिशाली स्थान रहा है, उसके प्रकृतिप्रदत्त चश्मे—गर्म जलके कुण्ड—अपूर्व हैं। स्वास्थ्यकर हैं, और जनताको अपनी ओर आकर्षित किये हुए हैं। उसके पहाड़ी दृश्य भी बड़े मनोहर हैं और अनेक प्राचीन स्मृतियों तथा पूर्व गौरवकी गाथाओंको अपनी गोदमें लिये हुए हैं। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह स्थान बुरा नहीं है। स्वास्थ्य-सुधारके लिये यहाँ लोग महीनों आकर ठहरते हैं। वर्षाऋतुमें मच्छर साधारणतः सभी स्थानोंपर होते हैं—यहाँ वे कोई विशेषरूपसे नहीं होते और जो होते हैं उसका भी कारण सफाईका न होना है। अच्छी कालोनी बसने और सफाईका समुचित प्रबन्ध रहनेपर यह शिकायत भी सहज ही दूर

हो सकती है। मालूम हुआ कि यहाँ दरियागञ्जमें पहले मच्छरोंका बड़ा उपद्रव था। गवर्नमेंटने ऊपरसे गैस वगैरह छुड़वाकर उसको शांत कर दिया और अब वह बड़ी रौनकपर है और वहाँ बड़े-बड़े कोठी-बंगले तथा मकानात और बाजार बन गए हैं। ऐसी हालतमें यदि जरूरत पड़ी तो राजगृहमें भी वैसे उपायोंसे काम लिया जा सकेगा; परन्तु मुझे तो जरूरत पड़ती हुई ही मालूम नहीं होती। साधारण सफाईके नियमोंका सख्तीके साथ पालन करने और करानेसे ही सब कुछ ठीक-ठीक हो जायगा।

अतः इसी पवित्र स्थानको फिरसे उज्जीवित (Relive) करनेका श्रेय लीजिये, इसीके पुनरुत्थानमें अपनी शक्तिको लगाइये और इसीको जैन कालोनी बनाइये। अन्य स्थानोंकी अपेक्षा यहाँ शीघ्र सफलताकी प्राप्ति होगी। यहाँ जमीनका मिलना सुलभ है और कालोनी बसानेकी सूचनाके निकलते ही आपके नक्शे आदिके अनुसार मकानात बनानेवाले भी आसानीसे मिल सकेंगे और उसके लिये आपको विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। कितने ही लोग अपना रिटायर्ड जीवन वहीं व्यतीत करेंगे और अपने लिये वहाँ मकानात स्थिर करेंगे। जिस संस्थाकी बुनियाद अभी कलकत्तेमें डाली गई वह भी वहाँ अच्छी तरहसे चल सकेगी। कलकत्ते जैसे बड़े शहरोंका मोह छोड़िये और इसे भी भुला दीजिये कि वहाँ अच्छे विद्वान् नहीं मिलेंगे। जब आप कालोनी जैसा आयोजन करेंगे तब वहाँ आवश्यकताके योग्य आदमियोंकी कमी नहीं रहेगी। यह हमारा काम करनेसे पहलेका भयमात्र है। अतः ऐसे भयोंको हृदयमें स्थान न देकर और भगवान महावीरका नाम लेकर काम प्रारम्भ कर दीजिये। आपको जरूर सफलता मिलेगी और यह कार्य आपके जीवनका

एक अमर कार्य होगा। मैं अपनी शक्तिके अनुसार हर तरहसे इस कार्यमें आपका हाथ बटानेके लिये तैयार हूँ। वृद्ध हो जानेपर भी आप मुझमें इसके लिये कम उत्साह नहीं पाएँगे। जैनजीवन और जैनसमाजके उत्थानके लिये मैं इसे उपयोगी समझता हूँ।

लाला जुगलकिशोरजी (कागजी) आदि कुछ सज्जनोंसे जो इस विषयमें बातचीत हुई तो वे भी इस विचारको पसन्द करते हैं और राजगृहको ही इसके लिये सर्वोत्तम स्थान समझते हैं। इस सुन्दर स्थानको छोड़कर हमें दूसरे स्थानकी तलाशमें इधर-उधर भटकनेकी जरूरत नहीं। यह अच्छा मध्यस्थान है—पटना, आरा आदि कितनेही बड़े-बड़े नगर भी इसके आस-पास हैं और पावापुर आदि कई तीर्थक्षेत्र भी निकटमें हैं। अतः इस विषयमें विशेष विचार करके अपना मत स्थिर कीजिये और फिर लिखिये। यदि राजगृहके लिये आपका मत स्थिर हो जाय तो पहले साहू शान्तिप्रसादजीको प्रेरणा करके उन्हें वह जमींदारी खरीदवाइये, जिसे वे खरीदकर तीर्थक्षेत्रको देना चाहते हैं, तब वह जमीदारी कालोनीके काममें आ सकेगी।[1]

१ अनेकान्त वर्ष ९, किरण १, जनवरी १९४८

समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव : ८ :

जैनसमाजमें पूजा-प्रतिष्ठाओं, मेले-ठेलों, मन्दिर-मूर्तियोंके निर्माण, मन्दिरोंकी सजावट और तीर्थयात्रा आदि जैसे कार्योंमें जैसा भाव और उत्साह देखनेमें आता है वैसा सत्साहित्यके उद्धार और नव-निर्माण जैसे कार्योंमें वह नही पाया जाता। वहाँ करोड़ों रुपये खर्च होते हैं तो यहाँ उनका सहस्रांश भी नहीं। इसका मूल कारण समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव है और उसीका यह फल है जो आज हजारों ग्रन्थ शास्त्रभंडारोंकी कालकोठरियोंमें पड़े हुए अपने जीवनके दिन गिन रहे हैं—कोई उनका उद्धार करनेवाला नहीं है। यदि भाग्यसे किसी सद्ग्रन्थका उद्धार होता भी है जो वह वर्षों तक प्रकाशकोंके घर पर पड़ा-पड़ा अपने पाठकोंका मुँह जोहता रहता है—उसको जल्दी खरीदनेवाले नही; और इस बीचमें कितनी ही ग्रन्थप्रतियोंकी जीवन-लीलाको दीमक तथा चूहे आदि समाप्त कर देते हैं। इसी तरह समयकी पुकार और आवश्यकताके अनुसार नव-साहित्यके निर्माणमें भी जैनसमाज बहुत पीछे है। उसे पता ही नहीं कि समयकी आवश्यकताके अनुसार नव-साहित्यके निर्माणकी कितनी अधिक जरूरत है—समयपर नदीके जलको नये घड़ेमें भरनेसे वह कितना अधिक ग्राह्य तथा रुचिकर हो जाता है। किसी भी देश तथा समाजका उत्थान उसके अपने साहित्यके उत्थानपर निर्भर है। जो समाज अपने सत्साहित्यका उद्धार तथा प्रचार नहीं कर पाता और न स्फूर्तिदायक नवसाहित्यके निर्माणमें ही समर्थ होता है वह मृतकके समान है और उसे

आजके विश्वकी दृष्टिमें जीनेका कोई अधिकार नहीं है। ऐसी हालतमें समाजको कालके किसी बड़े प्रहारसे पहले ही जाग जाना चाहिए और अपनेमें साहित्यिक सद्रुचिको जगानेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये शीघ्र ही संगठित होकर निम्न कार्योंका किया जाना अत्यावश्यक है—

(१) अपना एक ऐसा बड़ा ग्रन्थसंग्रहालय देहली जैसे केन्द्र स्थानमें स्थापित किया जाय, जिसमें उपलब्ध सभी जैन-ग्रन्थोंकी एक-एक प्रति अवश्य ही संगृहीत रहे और अनुसन्धानादि कार्योंके लिये उपयुक्त दूसरे ग्रन्थोंका भी अच्छा संग्रह प्रस्तुत रहे।

(२) महत्वके प्राचीन जैन-ग्रन्थोंको शीघ्र ही मूलरूपमें प्रकाशित किया जाय, लागतसे भी कम मूल्यमें बेचा जाय और ऐसा आयोजन किया जाय जिससे बड़े-बड़े नगरों तथा शहरोंकी लायब्रेरियों और जैनमन्दिरोंमें उनका एक-एक सेट अवश्य पहुँच जाय।

(३) उपयोगी ग्रंथोंका हिन्दी, अंग्रेजी आदि देशी-विदेशी भाषाओंमें अच्छा अनुवाद करा कर उन्हें सस्ते मूल्य द्वारा खूब प्रचारमें लाया जाय और अनेक साधनों द्वारा लोक-हृदयमें उनके पढ़नेकी रुचि पैदा की जाय।

(४) सधे हुए प्रौढ़ विद्वानों द्वारा अथवा अच्छे पारखी विद्वानोंकी देख-रेखमें ऐसे नये साहित्यका निर्माण कराया जाय जो जैन-साहित्यके प्रति लोकरुचिको जागृत करे, विद्वानोंकी उपपत्तिचक्षु (समाधान दृष्टि) को खोले, उदारताका वातावरण उत्पन्न करे और लोकमें फैली हुई तत्त्वादि-विषयक भूल-भ्रान्तियों-को दूर करनेमें समर्थ होवे। ऐसे साहित्यको सर्वत्र सुलभ करके और भी अधिकताके साथ प्रचारमें लाया जाय। ऐसा साहित्य

निर्माण करानेके लिये कुछ अच्छे पुरस्कारोंकी भी योजना करनी होगी, तभी यथेष्ट सफलता मिल सकेगी।

(५) अनेकान्तको सभीके पढ़ने योग्य जैन-समाजका एक आदर्शपत्र बनाया जाय और प्रचारकों द्वारा यथासाध्य ऐसा यत्न किया जाय कि कोई भी नगर-ग्राम, जहाँ एक भी घर जैनका हो, उसकी पहुँचसे बाहर न रह सके—वह सबकी सेवामें बराबर पहुँचा करे।

इन सब कार्योंके सम्पन्न होने पर साहित्यिक रुचि प्रबल वेगसे जागृत हो उठेगी और तब समाज सहज ही उन्नतिके पथ पर अग्रसर होने लगेगा। अतः पूरी शक्ति लगाकर इन कार्योंको शीघ्र ही पूरा करना चाहिये—भले ही दूसरे कामोंको कुछ समयके लिये गौण करना पड़े।[1]

१. अनेकान्त, वर्ष ११, किरण १२, मई १९५३।

समयसारका अध्ययन और प्रवचन : ६ :

आजकल जैन-समाजमें समयसारका प्रचार बढ़ रहा है—जिसे देखो वही समयसारकी स्वाध्याय करना तथा उसके प्रवचनोंको सुनना चाहता है। बाह्य दृष्टिसे बात अच्छी है—बुरी नहीं; परन्तु देखना यह है कि समयसारका अध्ययन कितनी गहराईके साथ हो रहा है और उसके प्रवचनोंमें क्या कुछ विशेषता रहती है। भावुकतामें बह जाना तथा दूसरोंको बहा देना और बात है और किसी विषयके ठीक मर्मको समझना-समझाना दूसरी बात है। कितने ही विद्वान तो थोड़ा-सा अध्ययन करते ही अपनेको प्रवचनका अधिकारी समझने लगते हैं और लच्छेदार भाषणोंको झाड़कर लोकका अनुरंजन करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं, जिनमेंसे बहुतोंकी गति "वागुच्चारोत्सवं मात्रं तत्क्रियाः कर्तुमक्षमाः" जैसी होती है। इतना ही नहीं, बल्कि वे इस ग्रन्थपर टीका-टिप्पण तक लिखकर उसे प्रकाशित करते-कराते हुए भी देखनेमें आते हैं। उन्हें इस बातकी कोई चिन्ता नहीं कि वे वैसा करनेके अधिकारी भी हैं या कि नहीं तथा अपनी उस टीकामें कोई उल्लेखनीय खास विशेषता ला सके हैं या कि नहीं और उनके खुदके ऊपर समयसारका कितना असर है।

हालमें ऐसी दो एक टीकाओंको देखनेका मुझे अवसर मिला है; परन्तु उनमें कुछ वाक्योंको इधर-उधरसे ज्यों-का-त्यों उठाकर या कुछ तोड़-मरोड़कर रख देने और पिष्टपेषण तथा यों ही बढ़ा-चढ़ाकर कहनेके सिवा कोई खास बात प्रायः देखनेको नहीं मिली। मूल गाथाओंके पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको स्पष्ट करने अथवा उनके गुप्त रहस्यको विवेचन द्वारा प्रकट करनेकी उनमें कोई खास चेष्टा नहीं पाई गई। ऐसी नगण्य

टीकाएँ प्रायः लोकैषणाके वशवर्ती होकर लिखी जाती हैं। जो सज्जन लोकैषणाके वशवर्ती नहीं हैं और जिनपर समयसारका थोड़ा बहुत रँग चढ़ा हुआ है वे वर्षों पहले अपने अध्ययन, अनुभव और मननके बलपर लिखी गई टीकामें अपना विशेष कर्तृत्व नहीं समझते और आज भी, जबकि उस टीकामें संशोधन तथा परिमार्जनादिका काफी अवसर मिल चुका है, अनेक सत् प्रेरणाओंके रहते हुए भी उसे प्रकाशित करनेमें हिचकिचाते हैं। मानों वे अभी भी अपनी उस टीकाको टीकापदके योग्य न समझते हों। ऐसे सज्जनोंमें वर्णी श्रीगणेशप्रसादजीका नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि मैं उनकी इस प्रवृत्तिसे पूर्णतः सहमत नहीं हूँ—वे अपने प्रवचनों आदिके द्वारा जब दूसरोंको अपने अनुभवोंका लाभ पहुँचाते हैं तब अपनी उस टीका द्वारा उन्हें स्थायी लाभ क्यों न पहुँचाएँ? फिर भी उनकी उपस्थितिमें जब उनके भक्त अपनी समयसारी टीकाएँ प्रकाशित करनेमें उद्यत हो जाएँ तब उनका अपनी कृतिके प्रति यह निर्ममत्व उल्लेखनीय जरूर हो जाता है।

निःसन्देह समयसार जैसा ग्रन्थ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विषय नहीं है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमें कोरी भावुकतामें बहनेवालोंकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकान्त कहते हैं और जो मिथ्यात्वमें परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।[1]

१. अनेकान्त वर्ष ११, किरण १२, मई १९५३।

भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा : १० :

जो भवका—संसारका—अभिनन्दन करता है—सांसारिक कार्योंमें रुचि, प्रीति अथवा दिलचस्पी रखता है—उसे 'भवाऽभिनन्दी' कहते हैं। जो मुनिरूपमें प्रव्रजित—दीक्षित—होकर भवाऽभिनन्दी होता है वह 'भवाभिनन्दी मुनि' कहलाता है। भवाभिनन्दी मुनि स्वभावसे अपनी भवाभिनन्दिनी प्रकृतिके वश भवके विपक्षीभूत मोक्ष[1] का अभिनन्दी नहीं होता—मोक्षमें अन्तरंगसे रुचि, प्रीति, प्रतीति अथवा दिलचस्पी नहीं रखता। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये, जो मुनि मुमुक्षु नहीं, मोक्षमार्गी नहीं, वह भवाभिनन्दी होता है। स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें उसे 'संसाराऽऽवर्तवर्ती' समझना चाहिये। भवरूप संसार बन्धका कार्य[2] है और बन्ध मोक्षका प्रतिद्वन्दी है, अतः जो बन्धके कार्यका अभिनन्दी बना, उसमें आसक्त होता है वह स्वभावसे ही मोक्ष तथा मोक्षका फल जो अतीन्द्रिय, निराकुल, स्वात्मोत्थित, अबाधित, अनन्त, शाश्वत, परनिरपेक्ष एवं असली स्वाधीन सुख है उससे विरक्त रहता है—भले ही लोकानुरंजनके लिए अथवा लोकमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके अर्थ वह बाह्यमें उसका (मोक्षका) उपदेश देता रहे और उसकी उपयोगिताको भी बतलाता रहे; परन्तु अन्तरंगमें वह उससे द्वेष ही रखता है।

भवाभिनन्दी मुनियोंके विषयमें निःसंग-योगिराज श्री

---

१. मोक्षस्तद्विपरीतः। (समन्तभद्र)

२. बन्धस्य कार्यः संसारः। (रामसेन)

अमितगति प्रथमने योगसार-प्राभृतके आठवें अधिकारमें लिखा है—

भवाऽभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः ।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पंक्ति-कृतादराः ॥ १८ ॥

'कुछ मुनि परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी भवाऽभिनन्दी—संसारका अभिनन्दन करनेवाले अनन्त संसारी तक—होते हैं, जो कि संज्ञाओंके[१]—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामकी चार संज्ञाओं—अभिलाषाओंके—वशीभूत हैं और लोकपंक्तिमें आदर किये रहते हैं—लोगोंके आराधने—रिझाने आदिमें रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं !'

यद्यपि जिनलिंगको—निर्ग्रन्थ जैनमुनि-मुद्राको—धारण करनेके पात्र अति निपुण एवं विवेक-सम्पन्न मानव ही होते है[२] फिर भी जिनदीक्षा लेनेवाले साधुओंमें कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाह्यमें परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी अन्तरंगसे संसारका अभिनन्दन करनेवाले होते हैं। ऐसे साधु-मुनियोंकी पहचान एक तो यह है कि वे आहारादि चार संज्ञाओंके अथवा उनमेंसे किसीके भी वशीभूत होते हैं; दूसरे लोकपंक्तिमें—लौकिकजनों—जैसी क्रियाओंके करनेमें—उनकी रुचि बनी रहती है और वे उसे अच्छा समझकर करते भी हैं। आहार—संज्ञाके वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरोंमें भोजन करते हैं जहाँ अच्छे रुचिकर एवं गरिष्ठ-स्वादिष्ट भोजनके मिलनेकी अधिक

---

१. आहार-भय-परिग्गह-मेहुण-सण्णाहि मोहितोसि तुमं ।
भमिओ संसारवणे आणाइकालं अणप्पवसो ॥१०॥
—कुन्दकुन्द, भावपाहुड

२. मुक्ति यियासता धार्यं जिनलिंगं पटीयसा ।—योगसार प्रा०, ८-१

संभावना होती है, उद्दिष्ट भोजनके त्यागको—आगमोक्त दोषोंके परिवर्जनकी—कोई परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रोंसे आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञाके विरुद्ध होता है। भय-संज्ञाके वशीभूत मुनि अनेक प्रकारके भयोंसे आक्रान्त रहते हैं, परीषहोंके सहनसे घबराते तथा वनोवाससे डरते हैं; जबकि सम्यग्दृष्टि सप्त प्रकारके भयोंसे रहित होता है। मैथुनसंज्ञाके वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रतको धारण करते हुए भी गुप्त रूपसे उसमें दोष लगाते हैं। और परिग्रह-संज्ञावाले साधु अनेक प्रकारके परिग्रहोंकी इच्छाको धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसेका ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनोंको पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बाक्स रखते हैं, बाक्सकी ताली कमण्डलु आदिमें रखते हैं, पीछीमें नोट छिपाकर रखते हैं, और अपनी पूजाएँ बनवाकर छपवाते हैं[1] ये सब लक्षण उक्त भवाभिनन्दियोंके हैं जो पद्यके 'संज्ञावशीकृताः' और 'लोकपंक्तिकृतादराः' इन दोनों विशेषणोंसे फलित होते हैं और आजकल अनेक मुनियोंमें लक्षित भी होते हैं।

भवाऽभिनन्दी मुनियोंकी स्थितिको स्पष्ट करते हुए आचार्यमहोदयने तदनन्तर एक पद्य और भी दिया है जो इस प्रकार है :—

मूढा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः।
भवाऽभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः॥ १९॥

इसमें बतलाया है कि 'जो मूढ—दृष्टि-विकारको लिये हुए

१. एक पंडितजीने मुझसे कहा कि अमुक मुनि महाराजका जब बाराबंकीमें चातुर्मास था तब उन्होंने अपनी पूजा बनवानेके लिये उन्हें प्रेरणा की थी।

मिथ्यादृष्टि लोभमें तत्पर, क्रूर, भीरु (डरपोक) ईर्ष्यालु और विवेक-विहीन हैं वे निष्फल-आरम्भकारी—निरर्थक धर्मानुष्ठान करनेवाले—भवाऽभिनन्दी हैं। यहाँ भवाभिनन्दियोंके लिए जिन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है वे उनकी प्रकृतिके द्योतक हैं। ऐसे विशेषण-विशिष्ट मुनि ही प्रायः उक्त संज्ञाओंके वशीभूत होते हैं, उनके सारे धर्मानुष्ठानको यहाँ निष्फल—अन्तःसार-विहीन—घोषित किया गया है। इसके बाद उस लोकपंक्तिका स्वरूप दिया है, जिसमें भवाऽभिनन्दियोंका सदा आदर बना रहता है और वह इस प्रकार है :—

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपंक्तिरसौ मता ॥ २० ॥

'अविवेकी साधुओंके द्वारा मलिन अन्तरात्मासे युक्त होकर लोगोंके आराधन—अनुरंजन अथवा अपनी ओर आकर्षणके लिए जो धर्म-क्रिया की जाती है वह 'लोक-पंक्ति' कहलाती है।'

यहाँ लौकिकजनों-जैसी उस क्रियाका नाम 'लोकपंक्ति' है जिसे अविवेकीजन दूषित-मनोवृत्तिके द्वारा लोकाराधनके लिये करते हैं अर्थात् जिस लोकाराधनमें ख्याति-लाभ-पूजादि-जैसा अपना कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित होता है। इसीसे जिस लोकाराधनरूप क्रियामें ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ संनिहित नहीं होता और जो विवेकी विद्वानोंके द्वारा केवल धर्मार्थ की जाती है वह लोकपंक्ति न होकर कल्याणकारिणी होती है; परन्तु मूढचित्त साधुओंके द्वारा उक्त दूषित मनोवृत्तिके साथ लोकाराधनके लिये किया गया धर्म पापबन्धका कारण होता है। इसी बातको निम्न पद्य-द्वारा व्यक्त किया गया है :—

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणाङ्गं मनीषिणाम्।
तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसाम् ॥२१॥

इसके बाद मुक्ति किसको कैसे प्राप्त होती है इसकी संक्षिप्त सूचना करते हुए आचार्यमहोदयने स्पष्ट शब्दोंमें यह घोषणा की है कि 'इस मुक्तिके प्रति मूढचित्त भवाभिनन्दियोंका विद्वेष—विशेषरूपसे द्वेषभाव—रहता है—

कलमष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-संगम(वि)वर्जिनाम् ।
भवाऽभिनन्दिनामस्यां विद्वेषो मूढचेतसाम् ॥२३॥

ठीक है, संसारका अभिनन्दन करनेवाले दीर्घ-संसारी होनेसे उन्हें मुक्तिकी बात नहीं सुहाती—नहीं रुचती—और इसलिये वे उससे प्रायः विमुख बने रहते हैं—उनसे मुक्तिकी साधनाका कोई भी योग्य प्रयत्न बन नहीं पाता; सब कुछ क्रियाकाण्ड ऊपरा-ऊपरी और कोरा नुमायशी ही रहता है ।

मुक्तिसे उनके द्वेष रखनेका कारण वह दृष्टि-विकार है जिसे मिथ्या-दर्शन कहते हैं और जिसे आचार्य-महोदयने अगले पद्यमें ही 'भवबीज' रूपसे उल्लेखित किया है । लिखा है कि 'भवबीज' का वियोग हो जानेसे जिनके मुक्तिके प्रति यह विद्वेष नहीं है वे भी धन्य हैं, महात्मा हैं और कल्याणरूप फलके भागी हैं ।' वह पद्य इस प्रकार है :—

नास्ति येषामयं तत्र भव-बीज-वियोगतः ।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः ॥२४॥

निःसन्देह संसारका मूलकारण मिथ्यादर्शन है, मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र होता है, जिन तीनोंको भवपद्धति—संसार-मार्गके रूपमें उल्लेखित किया जाता है, जो कि मुक्तिमार्गके विपरीत है[१] । यह दृष्टि-विकार

१. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ (समन्तभद्र)

ही वस्तु-तत्त्वको उसके असली रूपमें देखने नहीं देता, इसीसे जो अभिनन्दनीय नहीं है उसका तो अभिनन्दन किया जाता है और जो अभिनन्दनीय है उससे द्वेष रक्खा जाता है ! इस पद्यमें जिन्हें धन्य, महात्मा और कल्याणफल-भागी बतलाया है उनमें अविरत-सम्यदृष्टि तकका समावेश है ।

स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डाल-पुत्रको भी 'देव' लिखा है—आराध्य बतलाया है; और श्री कुन्दकुन्दाचार्यने सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको भ्रष्ट ही निर्दिष्ट किया है, उसे निर्वाणकी[1] सिद्धि—मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती ।

इस सब कथनसे यह साफ फलित होता है कि मुक्तिद्वेषी मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी-मुनियोंकी अपेक्षा देशव्रती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तक धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं तथा कल्याणके भागी हैं । स्वामी समन्तभद्रने ऐसे ही सम्यग्दर्शन-सम्पन्न सद्गृहस्थोंके विषयमें लिखा है :—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान् ।
अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः ॥

'मोह (मिथ्यादर्शन[2]) रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है । मोह-सहित (मिथ्या-दर्शन-युक्त) मुनि मोक्षमार्गी नहीं है । (और इसलिये) मोही—मिथ्यादृष्टि मुनिसे निर्मोही—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है ।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिमात्रका दर्जा गृहस्थसे ऊँचा नहीं है, मुनियोंमें मोही और निर्मोही दो प्रकारके मुनि होते हैं । मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थका दर्जा ऊँचा है—यह

१. दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं । (दंसणपाहुड)
२. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते—रामसेन, तत्त्वानुशासन ।

उससे श्रेष्ठ है। इसमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि अविवेकी मुनिसे विवेकी गृहस्थ भी श्रेष्ठ है और इसलिये उसका दर्जा अविवेकी मुनिसे ऊँचा है।

जो भवाभिनन्दी मुनि मुक्तिसे अन्तरंगमें द्वेष रखते हैं वे जैन मुनि अथवा श्रमण कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। जैन मुनियोंका तो प्रधान लक्ष्य ही मुक्ति प्राप्त करना होता है। उसी लक्ष्यको लेकर जिनमुद्रा धारणकी सार्थकता मानी गई है[1]। यदि वह लक्ष्य नहीं तो जैन मुनिपना भी नहीं; जो मुनि उस लक्ष्यसे भ्रष्ट हैं उन्हें जैन मुनि नहीं कह सकते—वे भेषी-ढोंगी मुनि अथवा श्रमणाभास हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारके तृतीय चारित्राधिकारमें ऐसे मुनियोंको 'लौकिकमुनि' तथा 'लौकिकजन' लिखा है। लौकिकमुनि-लक्षणात्मक उनकी वह गाथा इस प्रकार है:—

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि ॥६९॥

इस गाथामें बतलाया है कि 'जो निर्ग्रन्थरूपसे प्रव्रजित हुआ है—जिसने निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनिकी दीक्षा धारण की है—वह यदि इसे लोक-सम्बन्धी सांसारिक दुनियादारीके कार्योंमें प्रवृत्त होता है तो तप-संयमसे युक्त होते हुए भी उसे 'लौकिक' कहा गया है।' वह परमार्थिक मुनि न होकर एक प्रकारका सांसारिक दुनियादार प्राणी है। उसके लौकिक कार्योंमें प्रवर्तनका आशय मुनि-पदको आजीविकाका साधन बनाना, ख्याति-लाभ-पूजादिके लिए सब कुछ क्रियाकाण्ड करना, वैद्यक-ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्रादिका व्यापार करना, पैसा बटोरना,

१. मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिंगं पटीयसा। (योगसार प्रा० ८-१)

लोगोंके झगड़े-टण्टेमें फँसना, पार्टीबन्दी करना, साम्प्रदायिकताको उभारना और दूसरे ऐसे कृत्य करने-जैसा हो सकता है जो समतामें बाधक अथवा योगीजनोंके योग्य न हो।

एक महत्वकी बात इससे पूर्वकी गाथामें आचार्यमहोदयने और कही है और वह यह है कि 'जिसने आगम और उसके द्वारा प्रतिपादित जीवादि पदार्थोंका निश्चय कर लिया है, कषायोंको शान्त किया है और जो तपस्यामें भी बढ़ा-चढ़ा है, ऐसा मुनि भी यदि लौकिक-मुनियों तथा लौकिक-जनोंका संसर्ग नहीं त्यागता तो वह संयमी मुनि नहीं होता अथवा नहीं रह रह पाता है—संसर्गके दोषसे, अग्निके संसर्गसे जलकी तरह, अवश्य ही विकारको प्राप्त हो जाता है :—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।
लोगिगजन-संसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥६८॥

इससे लौकिक-मुनि ही नहीं; किन्तु लौकिक-मुनियोंकी अथवा लौकिक जनोंकी संगति न छोड़नेवाले भी जैन मुनि नहीं होते, इतना और स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि इन सबकी प्रवृत्ति प्राय: लौकिकी होती है जबकि जैन-मुनियोंकी प्रवृत्ति लौकिकी न होकर अलौकिकी हुआ करती है; जैसा कि श्री अमृत-चन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार-नित्य-निरभिमुखा ।
एकान्त-विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१३॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमें अलौकिक वृत्तिके दो विशेषण दिये गए हैं—एक तो करम्बित (मिलावटी-बनावटी-दूषित) आचारसे सदा विमुख रहनेवाली; दूसरे एकान्ततः (सर्वथा) विरतिरूपा—किसी भी

पर-पदार्थमें आसक्ति न रखनेवाली। यह अलौकिकी वृत्ति ही जैन मुनियोंकी जान—प्राण और उनके मुनि-जीवनकी शान होती है। बिना इसके सब कुछ फीका और निःसार है।

इस सब कथनका सार यह निकला कि निर्ग्रन्थ रूपसे प्रव्रजित—दीक्षित जिनमुद्राके धारक मुनि दो प्रकारके हैं—एक वे जो निर्मोही—सम्यग्दृष्टि हैं, मुमुक्षु–मोक्षाभिलाषी हैं, सच्चे मोक्षमार्गी हैं, अलौकिकी वृत्तिके धारक संयत हैं, और इसलिए असली जैन मुनि हैं! दूसरे वे, जो मोहके उदयवश दृष्टिविकार-को लिये हुए मिथ्यादृष्टि हैं, अन्तरंगसे मुक्तिद्वेषी हैं, बाहरसे दम्भी मोक्षमार्गी हैं, लोकाराधनके लिए धर्मक्रिया करनेवाले भवाभिनन्दी हैं, संसारावर्तवर्ती हैं, फलतः असंयत हैं, और इसलिए असली जैन-मुनि न होकर नकली मुनि अथवा श्रमणा-भास हैं। दोनोंकी कुछ बाह्यक्रियाएँ तथा वेष सामान्य होते हुए भी दोनोंको एक नहीं कहा जा सकता; दोनोंमें वस्तुतः जमीन-आसमानकासा अन्तर है। एक कुगुरु संसार-भ्रमण करने-करानेवाला है तो दूसरा सुगुरु संसार-बन्धनसे छुड़ाने-वाला है। इसीसे आगममें एकको बन्दनीय और दूसरेको अवन्दनीय बतलाया है। संसारके मोही प्राणी अपनी सांसारिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिए भले ही किसी परमार्थतः अवनन्दनीय-की वन्दना-विनयादि करें—कुगुरुको सुगुरु मान लें—परन्तु एक शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करेगा। भय, आशा, स्नेह और लोभमेंसे किसीके भी वश होकर उसके लिये वैसा करनेका निषेध है[1]।

---

१. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥
—स्वामी समन्तभद्र

यदि भवाभिनन्दी लौकिक मुनि अपना बाह्य वेष तथा रूप लौकिक ही रखते तो ऐसी कोई बात नहीं थी; दूसरे भी अनेक ऐसे त्यागी अथवा साधु-संन्यासी हैं जो संसारका नेतृत्व करते हैं। परन्तु जो वेश तथा रूप तो धारण करते हैं मोक्षा-भिनन्दीका, और काम करते हैं भवाभिनन्दियोंके—संसाराऽवर्त-वर्तियोंके, जिनसे जिन-लिंग लज्जित तथा कलंकित होता है। यही उनमें एक बड़ी भारी विषमता है और इसीसे परीक्षकोंकी दृष्टिमें भेषी अथवा दम्भी कहलाते हैं। परोपकारी आचार्योंने ऐसे दम्भी साधुओंसे सावधान रहनेके लिए मुमुक्षुओंको कितनी ही चेतावनी दी है और उनको परखनेकी कसौटी भी दी है, जिसका ऊपर संक्षेपमें उल्लेख किया जा चुका है। साथ ही यहाँ तक भी कह दिया है कि जो ऐसे लौकिक मुनियोंका संसर्ग–सम्पर्क नहीं छोड़ता वह निश्चितरूपसे सूत्रार्थ-पदोंका ज्ञाता विद्वान्, शमित-कषाय और तपस्यामें बढ़ा-चढ़ा होते हुए भी संयत नहीं रहता—असंयत हो जाता है। इससे अधिक चेता-वनी और ऐसे मुनियोंके संसर्ग-दोषका उल्लेख और क्या हो सकता है? इसपर भी यदि कोई नहीं चेते, विवेकसे काम नहीं ले और गतानुगतिक बनकर अपना आत्म-पतन करे तो इसमें उन महान् आचार्योंका क्या दोष?

मुनि-निन्दाका हौआ!

आजकल जैन-समाजमें मुनिनिन्दाका हौआ खूब प्रचारमें आ रहा है, अच्छे-अच्छे विद्वानों तकको वह परेशान किये हुए है और उन्हें मुनि-निन्दक न होनेके लिए अपनी सफाई तक देनी पड़ती है। जब किसी मुनिकी लौकिक प्रवृत्तियों, भवा-भिनन्दिनी वृत्तियों, कुत्सित आचार-विचार, स्वेच्छाचार, व्रतभंग

और आगमकी अवहेलना-जैसे कार्योंके विरोधमें कोई आवाज उठाई जाती है तो उसका कोई समुचित उत्तर न देकर प्रायः मुनि-निन्दाका आरोप लगा दिया जाता है; और इस तरह मुनि-निन्दाका आरोप उन लोगोंके हाथका एक हथियार बन गया है, जिन्हें कुछ भी युक्तियुक्त कहते नहीं बनता। मुनि-निन्दाका फल कुछ कथाओंमें दुर्गति जाना और बहुत कुछ दुःख-कष्ट उठाना चित्रित किया गया है, इस भयसे ऐसे मुनियोंकी आगम-विरुद्ध दूषित प्रवृत्तियोंको जानते हुए भी हर किसीको उनके खिलाफ मुँह खोलने तकका साहस नहीं होता। भयके वातावरणमें सारा विचार-विवेक अवरुद्ध हो जाता है और कर्तव्यके रूपमें कुछ भी करते-धरते नहीं बनता। नतीजा इसका यह हो रहा है कि ऐसे मुनियोंका स्वेच्छाचार बढ़ता जाता है, जिसके फलस्वरूप समाजमें अनेक कठिन समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। समाजके संगठनका विघटन हो रहा है, पार्टीबन्दियाँ शुरू हो गई हैं और पक्ष-विपक्षकी खींचातानीमें सत्य कुचला जा रहा है। यह सब देखकर चित्तको बड़ा ही दुःख तथा अफसोस होता है और समाजके भविष्यकी चिन्ता सामने आकर खड़ी हो जाती है।

समझमें नहीं आता, कि जो महान् जैनाचार्योंके उक्त कथनानुसार परमधर्मका अनुष्ठान करते हुए भी जैनमुनि ही नहीं, मुमुक्षु नहीं, मोक्षमार्गी नहीं, सांसारिक प्रवृत्तियोंका अभिनन्दन करनेवाले भवाभिनन्दी लौकिक-जन हैं उनके विषयमें किसी सत्य-समालोचकपर मुनिनिन्दाका आरोप कैसे लगाया जा सकता है? मुनि हो तो मुनि-निन्दा भी हो सकती है, मुनि ही नहीं तब मुनि-निन्दा कैसी?

यदि विचार-क्षेत्रमें अथवा वस्तु-निर्देशके रूपमें कुछ मुनियोंके दोषोंको व्यक्त करना भी मुनि-निन्दामें दाखिल हो तो जिन महान् आचार्योंने कतिपय मुनियोंको भवाभिनन्दी, आहार-भय-मैथुनादि-संज्ञाओंके वशीभूत, लोकाराधनके लिए धर्मक्रिया करने-वाले मलिन अन्तरात्मा लिखा है; उनके लिए मूढ (मिथ्यादृष्टि) लोभपरायण, क्रूर, भीरु (डरपोक), असूयक (ईर्ष्यालु), शठ (अविवेकी)—जैसे शब्दोंका प्रयोग किया है, उन्हें मुक्ति-द्वेषी तक बतलाया है तथा लौकिक-कार्योंमें प्रवृत्त करनेवाले लौकि-कजन एवं असंयत (अमुनि) घोषित किया है, वे सब भी मुनि-निन्दक ठहरेंगे और तब ऐसी मुनि-निन्दासे डरनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं रह जायगा। परन्तु वास्तवमें वे महामुनि मुनि-निन्दक नहीं थे और न कोई उन्हें मुनि-निन्दक कहता या कह सकता है। उन्होंने वस्तुतत्वका ठीक निर्देश करते हुए उक्त सब कुछ कहा है और उसके द्वारा हमारी विवेककी आँखको खोला है—यह सुझाया है कि बाह्यमें परमधर्मका आचरण करते हुए देखकर सभी मुनियोंको समानरूपसे सच्चे मुनि न समझ लेना चाहिए, उनमें कुछ ऐसे भेषी तथा दम्भी मुनि भी होते हैं जो मुक्ति-प्राप्तिके लक्ष्यसे भ्रष्ट हुए लौकिक-कार्योंकी सिद्धि तथा ख्याति-लाभ-पूजादिकी दृष्टिसे ही मुनिवेषको धारण किये हुए होते हैं। ऐसे मुनियोंको भवाऽभिनन्दी मुनि बतलाया है और उनके परखनेकी कसौटीको भी 'संज्ञावशीकृताः', 'लोकपंक्तिकृतादराः', 'लोभपराः' आदि विशेषणोंके रूपमें हमें प्रदान किया है। इस कसौटीको काममें न लेकर जो मुनिमात्रके अथवा भवाऽभिनन्दी मुनियोंके अन्धभक्त बने हुए हैं, उन अन्ध-श्रद्धालुओंको विवेकी नहीं कहा जा सकता और अविवेकियोंकी पूजा, दान, गुरुभक्ति आदि सब धर्मक्रियायें धर्मके यथार्थफलको

नहीं फलतीं। इसीसे विवेक-(सम्यग्ज्ञान) पूर्वक आचरणको सम्यक्चारित्र कहा गया है। जो आचरण विवेकपूर्वक नहीं, वह मिथ्याचारित्र है और संसार-भ्रमणका कारण है।

अतः गृहस्थों–श्रावकोंको बड़ी सावधानीके साथ विवेकसे काम लेते हुए मुनियोंको उक्त कसौटी पर कसकर जिन्हें ठीक जैनमुनिके रूपमें पाया जाय उन्हींको सम्यक्मुनिके रूपमें ग्रहण किया जाय और उन्हींको गुरु बनाया जाय—भवानन्दियोंको नहीं, जो कि वास्तवमें मिथ्यामुनि होते हैं। ऐसे लौकिक-मुनियों को गुरु मानकर पूजना पत्थरकी नाव पर सवार होनेके समान है, जो आप डूबती तथा आश्रितोंको भी ले डूबती है। उन्हें अपने हृदयसे मुनि-निन्दाके भ्रान्त-भयको निकाल देना चाहिये और यह समझना चाहिए कि जिन कथाओंमें मुनिनिन्दाके पाप-फलका निर्देश है वह सम्यक् मुनियोंकी निन्दासे सम्बन्ध रखता है, भवाभिनन्दी जैसे मिथ्यामुनियोंकी निन्दासे नहीं—वे तो आगमकी दृष्टिसे निन्दनीय—निन्दाके पात्र–हैं ही। आगमकी दृष्टिसे जो निन्दनीय हैं उनकी निन्दासे क्या डरना? यदि निन्दाके भयसे हम सच्ची बात कहनेमें संकोच करेंगे तो ऐसे मुनियोंका सुधार नहीं हो सकेगा। मुनिनिन्दाका यह हौआ मुनियोंके सुधार-में प्रबल बाधक है, उन्हें उत्तरोत्तर विकारी बनानेवाला अथवा बिगाड़नेवाला है। मुनियोंको बनाने और बिगाड़नेवाले बहुधा गृहस्थ-श्रावक ही होते हैं और वे ही उनका सुधार भी कर सकते हैं; यदि उनमें संगठन हो, एकता हो और वे विवेकसे काम लेवें। उनके सत्प्रयत्नसे नकली, दम्भी और भेषी मुनि सीधे रास्ते पर आ सकते हैं। उन्हें सीधे रास्ते पर लाना सद्गृहस्थों और विवेकी विद्वानोंका काम है। मुख्यतः असद्दोषोद्भावनका नाम निन्दा है, गौणतः सद्दोषोद्भावनका नाम भी निन्दा है,

जबकि उसके मूलमें व्यक्तिगत द्वेषभाव संनिहित हो, जबकि ऐसा कोई द्वेषभाव संनिहित न होकर हृदयमें उसके सुधारकी, उसके संसर्ग-दोषसे दूसरोंके संरक्षणकी भावना संनिहित हो और अपना कर्तव्य समझकर सद्दोषोंका उद्भावन किया जाय तो वह निन्दा न होकर अपने कर्तव्यका पालन है। इसी कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे महान् आचार्योंने ऐसे भवाभिनन्दी लौकिक मुनियोंमें पाये जानेवाले दोषोंका उद्घाटन कर उनकी पोलपट्टीको खोला है और उन्हें दिगम्बर जैनमुनिके रूपमें मानने-पूजने आदिका निषेध किया है। ऐसा करनेमें जिनशासनकी निर्मलताको सुरक्षित रखना भी उनका एक ध्येय रहा है, जिसे समय-समयपर ऐसे दम्भी साधुओं—तपस्वियों और भ्रष्टचारित्र-पण्डितोंने मलिन किया है; जैसाकि १३वीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधरजी-द्वारा उद्धृत निम्न पुरातन पद्यसे भी जाना जाता है :—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

इस पद्यमें उन भवाभिनन्दी साधुओंके लिए 'वठर' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है दम्भी, मायावी तथा धूर्त। और पण्डितोंके लिए प्रयुक्त 'भ्रष्टचारित्रैः' पदमें धार्मिक तथा नैतिक चरित्रसे भ्रष्ट ही नहीं, किन्तु अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट विद्वान् भी शामिल हैं। जिन विद्वानोंको यह मालूम है कि अमुक आचार-विचार आगमके विरुद्ध है, भवानिन्दी मुनियों-जैसा है और निर्मल-जिनशासन तथा पूर्वाचार्योंकी निर्मल कीर्तिको मलिन करनेवाला है; फिर भी किसी भय, आशा, स्नेह, अथवा लोभादिकके वश होकर वे उसके विरोधमें कोई आवाज नहीं

उठाते, अज्ञ जनताको उनके विषयमें कोई समुचित चेतावनी नहीं देते, प्रत्युत इसके कोई-कोई विद्वान् तो उनका पक्ष तक लेकर उनकी पूजा-प्रशंसा करते हैं, ठकुरसुहाती बातें कहकर असत्यका पोषण करते और दम्भको बढ़ावा देते हैं, यह सब भी चरित्र-भ्रष्टतामें दाखिल है, जो विद्वानोंको शोभा नहीं देता। ऐसा करके वे अपने दायित्वसे गिर जाते है और पूर्वाचार्योंकी निर्मलकीर्ति तथा निर्मल-जिनशासनको मलिन करनेमें सहायक होते हैं। अतः उन्हें सावधान होकर चारित्रभ्रष्टताके इस कलंक-से बचना चाहिए और मुनिनिन्दाके व्यर्थके हौएको दूर भगाकर उक्त भ्रष्टमुनियोंके सुधारका पूरा प्रयत्न करना चाहिए—हर-प्रकारसे आगम-वाक्योंके विवेचनादि-द्वारा उन्हें उनकी भूलों एवं दोषोंका समुचित बोध कराकर सन्मार्गपर लगाना चाहिए और सतत् प्रयत्न-द्वारा समाजमें ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए, जिससे भवाभिनन्दी मुनियोंका उस रूपमें अधिक समय तक टिकाव न हो सके और जो सच्चे साधु हैं उनकी चर्याको प्रोत्साहन मिले[1]।

---

१. 'भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा' नामक ट्रैक्ट, मार्च १९६५।

न्यायोचित विचारोंका अभिनन्दन : ११ :

जून मासके 'श्रमण' अंक ४ में मुनि श्री न्यायविजयजीकी एक 'नम्र-विज्ञप्ति' मुझे हालमें पढ़नेको मिली, जो समग्र जैन-संघको लक्ष्य करके लिखी गई है। पढ़नेपर मालूम हुआ कि मुनिजी अच्छे उदार विचारोंके साधु हैं, जैनधर्म एवं जिनशासन-के महत्वको हृदयंगम किये हुए हैं, उसका समुचित प्रचार और प्रसार न देखकर उनका हृदय आकुलित है और यह देखकर तो वह बेचैन हो उठता है कि देशके राजनीतिज्ञ नेता तथा दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् जब भी देखो तब दूसरे बौद्धादि धर्मोंका तो गौरवके साथ निर्देश करते हैं, परन्तु जैनधर्मका नाम कोई कदाचित् ही ले पाते हैं; जब कि जैनधर्म गौरवमें किसीसे भी कम नहीं है—उसका तत्त्वज्ञान बहुत उच्चकोटिका और उसका साहित्य सब विषयोंके उत्तम गन्थोंसे समृद्ध है। साथ ही, उसके प्रवर्तक परम-त्यागी—तपस्वी, महान् ज्ञानी, विश्वकल्याणकी भावनाओंसे ओत-प्रोत और विश्वहितके अनुरूप सन्मार्गका प्रचार करने वाले हुए हैं। ऐसे महान् लोकहितकारी जैनधर्मको प्रसिद्धि-विहीन देखकर मुनिजीके चित्तको चोट पहुँची है और वे उसका दोष जैनधर्मके प्रचारकों, श्रावकों तथा साधुओं दोनोंको ही दे रहे हैं—'श्रावक अपने व्यापार-धन्धेमें मशगूल रहे और साधुजन कुछ साम्प्रदायिक अन्य प्रवृत्तियोंमें ऐसे निमग्न हो गये कि इस महान् धर्मका विशेष फैलाव करनेकी ओर सक्रिय उत्साहित नहीं हुए।' इसीसे जैनधर्मका जितना और जैसा प्रचार होना चाहिए था वह नहीं हुआ; इस पर अपना खेद व्यक्त करनेके अनन्तर मुनिजीने लिखा है :—

"परन्तु अब खेदकी स्थितिमें न पड़ा रहकर समयको पहचानते हुए चतुर्विध संघको जैनधर्मका विस्तार करनेके लिए कटिबद्ध हो जानेकी आवश्यकता है। प्रचारके लिये आवश्यक है व्यापक दृष्टि, व्यापक भावना और व्यापक मिशन।"...... "जब तक हमारी अन्दरकी संकुचित दृष्टि और बाडाबंदीकी मनोदशा दूर नहीं हो जाती, तबतक 'सब जोव करूँ शासन रसी' की भावनाको साकार रूप मिलना संभव नहीं है।"

"शाखाओंके बीचकी भेदक व अवरोधक दीवालोंको दूर करना आवश्यक है। इसीमें जिन-शासनकी मुख्य सेवा समाई हुई है फिर भी क्रियाकांडकी योजनाओंमें 'रुचीनां वैचित्र्यात्' अर्थात् रुचिभेदके कारण सामान्य अन्तर हो तो उसे महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। जैसे सब अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भोजन करते हैं, वैसे ही सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार क्रियाकांड करते रहना चाहिए।"

"परन्तु शाखाओंके बीच जो बड़े अवरोधक हैं, उनका इलाज किये बिना चल नहीं सकता। यदि जिनशासनका लाभ संसारके विशाल प्रदेशमें प्रसारित करना हो तो दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक आदि भिन्न-भिन्न प्रवाहोंमें जो संघर्ष चल रहा है उसे अब मिटा देना ही होगा। इन प्रवाहोंके प्रश्न ऐसे नहीं कि इनका हल न निकले। मन साफ हो तो सुसंगति साध्य है! दीर्घकालके संस्कार तथा परम्पराका शोधन होना अवश्य कठिन है, परन्तु सत्यके अन्वेषक सत्य-भक्त, मध्यस्थ चिन्तन द्वारा सत्यका अवलोकन होनेपर असत्यकी दीर्घकालीन पोषित वासनाको दूर कर देनेका सामर्थ्य दिखा सकते हैं। यह समझ लेना चाहिए कि बाडानिष्ठा हीनवृत्ति है, जब कि सत्य-

निष्ठा एक उच्च तथा कल्याणरूप वृत्ति है। समझदारोंको कल्याण-कामी बनकर बाडानिष्ठा त्याग सत्यनिष्ठा प्रकट करना चाहिए। सम्प्रदायचुस्तता मोक्षका मार्ग नहीं है। मोक्षका मार्ग है वीत-रागताकी साधना, जिसका आरम्भ सत्यनिष्ठामेंसे होता है।''

इन सद्विचारोंके अनन्तर मुनिजीने 'सुसंगठनके मार्गको सरल बनानेके लिए सब शाखाओं-सम्प्रदायोंको कुछ-न-कुछ छोड़ना पड़ता ही है' 'ऐसा लिखकर किसको क्या छोड़नेकी जरूरत है, इस विषयमें अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमेंके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं :—

(१) ''श्वेताम्बर मूर्तिपूजक वर्गको जिनप्रतिमापर अंग-रचना करना बन्द कर देना चाहिए, मुकुट अथवा कोई भी आभूषण जिनप्रतिमापर नहीं लगाना चाहिए। यह परिवर्तन शास्त्रानुकूल होनेके कारण श्वेताम्बर मूर्तिपूजक वर्गको करना उचित है।'' इसके समर्थनमें जो फुटनोट दिया है वह इस प्रकार है :—

''वीतराग भगवान्की मूर्तिपर वीतरागका दिखावा होना उचित है। यह सहज ही समझमें आनेलायक बात है। जिनेन्द्र देवकी ध्यानस्थ वीतराग योगीकी आकृतिवाली मूर्तिपर वीत-रागताके साथ संगत नहीं, वीतराग मूर्तिको न शोभे ऐसा दिखावा अंगरचना द्वारा करनेमें आता है। इसे बन्द कर दिया जाए यही शोभनीय है।''

(२) ''स्थानकवासी और तेरापंथी वर्गको मुखपर मुख-वस्त्रिका बाँधना बन्द करना चाहिए। उसे हाथमें रखकर उसका उपयोग करना चाहिए। यह परिवर्तन जरा भी हिचकिचाहट बिना प्रसन्नतासे किया जाय, क्योंकि इसमें शास्त्राज्ञाका कोई भी अटकाव नहीं है।''

(३) तपागच्छ आदि सांवत्सरिक पर्व पंचमीका करें और चौमासी पूनमकी एवं पक्खी पूनम और अमावसकी करें। भादों सुदी पंचमी दिगम्बर समाजका भी मुख्य धार्मिक दिवस है। अर्थात् इस दिनको सांवत्सरिक पर्वकी फिरसे योजना करनेसे समग्र जैन समाजका यह मुख्य धार्मिक दिवस बन जाएगा। सामाजिक संगठनकी दृष्टिसे यह बहुत भारी लाभ है।''....... इस प्रकारका परिवर्तन करनेमें जिनाज्ञाकी कोई रुकावट नहीं है यह मैं अपने पूरे अंतरबलसे कहता हूँ।'' इत्यादि।

(४) ''हमारे सब उत्सव-महोत्सव पवित्र ज्ञान और कल्याणवाही संस्कारके उद्बोधक, प्रबोधक और शिक्षक रूप होने-बनने चाहिए। सब प्रदर्शन सादे, संयमित और भाववाही बनने चाहिये। इससे आम जनतामें जिनशासनकी प्रेरणा मिले ऐसी सुन्दर प्रभावना होगी।''

(५) ''हमारी साध्वियोंको हमें व्याख्यान देनेकी छूट देनी चाहिये। जैन-समाजके अनेक वर्गोंमें इस प्रकारकी छूट है ही। तपागच्छवालोंको भी, उनकी साध्वियाँ अपने पवित्र ज्ञानका लाभ जैन ही नहीं, आम जनता (तक) को दें इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। सभामें वे औचित्यपूर्ण ऊँचे आसन पर बैठें यह तो उनके गुण-गौरवके लिए शोभनीय ही है। सभा-में साधु, मुनिवरोंकी उपस्थितिमें जब गृहस्थ स्त्रियाँ भाषण दे सकती हैं, देती हैं तो फिर साध्वियाँ व्याख्यान क्यों नहीं देवें ? और उसे सुननेमें साधु-मुनिवरोंको ऐतराज क्या हो सकता है ?''

(६) ''आचार्य हरिभद्रने अपनी जन्मदात्री माताका तो कहीं भी कोई उल्लेख नहीं किया, परन्तु अपनेको प्रेरणा देने वाली साध्वीजीका उल्लेख अपनेको उनका धर्मपुत्र बताते हुए अपने

प्राय: प्रत्येक ग्रन्थके अन्तमें किया है और इस तरह उन साध्वीजी का महत्व स्थापित करते हुए उन्हें पूज्यता प्रदान की है।" इस बातका उल्लेख करके मुनिजीने लिखा है :—

"ऐसा गौरव रखनेवाली साध्वीजी दीक्षा-पर्यायमें पचास वर्षकी हों और उनके निर्मल चारित्रकी सुगंध फैली हो तो भी वह तत्क्षणदीक्षित हुए नये छोटे साधुको वन्दन करे, यह बड़ा अद्भुत लगता है। इसमें चारित्र-पर्यायके मूल्यकी अवगणना करते हुए जातीय शरीरका बहुमान होता क्या हमें नहीं दिखलाई देता ?"

मुनिजीके ये सब विचार न्यायोचित हैं और इसलिए मैं इनका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ। जैन-संघकी जिस-जिस शाखा-वर्ग, सम्प्रदाय तथा गच्छादिसे इन विचारोंका सम्बन्ध है, उन्हें शीघ्र ही इन विचारोंको न्यायविहित एवं उपयोगी समझकर बिना किसी झिझकके कार्यमें परिणत करना चाहिए, और इस तरह अपनी सत्यनिष्ठा, सच्ची जिनशासन-भक्ति और सही समाज-हितैषिताका परिचय देना चाहिये। ऐसा होनेपर जैनधर्मके जो तीन-चार बड़े टुकड़े हो रहे हैं वे जुड़नेकी ओर प्रेरित होंगे, उनमें परस्पर जो संघर्ष चल रहा है जिसके कारण उनकी शक्तिका ह्रास हो रहा है वह मिटेगा और जैनधर्म तथा जैन-समाजका एक अच्छा प्रभावशाली संगठन तैयार होनेका मार्ग साफ हो जाएगा। पूर्वजोंके द्वारा देश-काल-की परिस्थितियों तथा अपनी-अपनी समझ एवं कषायोंके वश जो कुछ कार्य पहले ऐसे बन गये हैं जो आज न्यायोचित तथा समाजके हितकारी मालूम नहीं होते उनके लिए पूर्वजोंको दोष देने या उनके साथ चिपटे रहनेकी जरूरत नहीं है। हमें विवेक-

से काम लेकर और अपनी वर्तमान परिस्थितियों एवं आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर जो हितरूप परिवर्तन है उसे करना ही चाहिये। इसमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती और न किसी शास्त्राज्ञाका विरोध ही घटित होता है। आगम-शास्त्र सदासे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार परिवर्तनकी बात कहते आए हैं और जिनशासनमें परीक्षापूर्वकारिताकी ही प्रधानता रही है, न कि रूढ़ि-पालनकी। इसीसे रूढ़िचुस्तता अथवा सम्प्रदायचुस्तता (कट्टरता) कोई मोक्षमार्ग नहीं, ऐसा जो मुनिजीने लिखा है और बाडानिष्ठाको हीनवृत्ति बतलाया है वह सब ठीक ही है। यह एकान्तको अपनाने और अनेकान्तकी ओर पीठ देनेके परिणाम हैं, इसीसे परस्पर संघर्ष तथा विरोध चलता है; अन्यथा अनेकान्त तो विरोधका मंथन करने वाला है; तब अनेकान्तके उपासकोंमें विरोध कैसा? विरोधको देखकर यही कहना पड़ता है कि वे अपनेको अनेकान्तके उपासक कहते जरूर हैं, परन्तु अनेकान्तकी उपासनासे कोसों दूर है; और यह उनके लिए बड़ी ही लज्जा, शरम तथा कलंककी बात है।

अनेकान्त दृष्टिको, जिसे स्वामी समन्तभद्रने सती—सच्ची दृष्टि बतलाई है और जिससे युक्त न होनेवाले सब वचनोंको मिथ्या वचन घोषित किया है,[1] अपनाये तथा अपने जीवनमें उतारे बिना जैनधर्म अथवा जिनशासनका कोई प्रचार-प्रसार नहीं बनता। स्वयं समन्तभद्र अनेकान्तके अनन्य उपासक थे, उन्होंने उसे अपने जीवनमें पूर्णतः उतारा था, उनकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब लोकहितकी दृष्टिको लिए

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥
(स्वयम्भूस्तोत्र)

हुए स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुली हुई थी, इसीसे किसीको भी उसका विरोध करते प्राय: नहीं बनता था और वे अपने जिन-शासन-प्रचार-मिशनमें पूर्णत: सफल हुए हैं। यही वजह है कि बैलूर तालुकेके एक प्राचीन कनडी शिलालेख नं० १७ में, जो शक संवत् १०५६ का उत्कीर्ण है, स्वामी समन्तभद्रको श्री वर्धमानके तीर्थ-शासनकी हजार गुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त होनेवाले लिखा है।

जिनशासनका प्रचार करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रके उदार दृष्टिकोण, लोकहितकी भावना और उस निर्दोष वचन-पद्धतिको अपनाना होगा, जिसमें वह मोहन-मंत्र छिपा था जिसने उन्हें सर्वत्र सफल-मनोरथ बनाया है।[2] स्वामी समन्त-भद्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके महामान्य आचार्योंमें परिगणित हैं। उन्होंने अपने युक्त्यनुशासन ग्रंथमें जिनशासनको एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका—सभी अर्थ-क्रियार्थि-जनोंके द्वारा अवश्य आश्रयणीयरूप-सम्पत्तिका—स्वामी होने की शक्तिसे सम्पन्न बतलाया है और उसके अपवादका—एका-धिपत्य प्राप्त न कर सकने अथवा व्यापक रूपसे प्रचार न पा सकनेका असाधारण बाह्य कारण[3] वक्ताके वचनाऽनयको—आचार्यादि प्रवक्तृवर्ग-द्वारा सम्यक्नय-विवक्षाको छोड़कर सर्वथा एकान्त रूपसे उपदेश दिये जानेको—निर्दिष्ट किया है, अत: वचनाऽनयके दोषसे रहित होकर उपदेश देना चाहिए—सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए नहीं।

बाकी यह खूबी जिनशासनमें स्वत: है कि उससे यथेष्ट—

२. देखो, 'स्वामी समन्तभद्र।

३. साधारण बाह्यकारणमें कलिकालका निर्देश है।

काफी द्वेष रखनेवाला—उसकी भरपेट निन्दा करने वाला—भी यदि मध्यस्थ वृत्ति हुआ उपपत्तिचक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे—उसका अवलोकन—परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानश्रृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्रसे समन्तभद्र बन जाता है—मिथ्यादृष्टिसे सम्यक्दृष्टि होकर जिनशासनका अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनके निम्न पद्यमें बड़ी ही दृढ़ श्रद्धाके साथ उद्घोषित किया है :—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

अतः अपनेको ठीक करके, जिनशासनके प्रचारमें जरा भी संकोच तथा सन्देह करनेकी जरूरत नहीं है—वह अवश्य सफल होगा। आजकल तो समय भी उसके बहुत अनुकूल है, लोगोंकी मनोवृत्ति बदल रही है—पक्षपातकी भावनाएँ दूर होकर उपपत्ति-चक्षु खुलती जा रही है—और प्रचारके साधन भी इतने अधिक उपलब्ध तथा सुलभ हो रहे हैं, जो पहले कभी प्राप्य नहीं थे। ऐसे सुअवसरको पाकर भी यदि हम शासनके प्रचार कार्यमें अग्रसर न हुए तो यह हमारे लिए एक दुर्भाग्यकी बात होगी और यह समझ लेना अनुचित न होगा कि हमारे अन्तःकरणमें जिनशासनकी सच्ची भक्ति नहीं है—भक्तिके ऊपरी कोरे गीत ही गीत हैं।[1]

---

१. श्रमण, अगस्त १९६६।

एक अनुभव : १२ :

हालमें मुझे २६ अक्टूबर १६६४ का **'जैनसन्देश'** अंक २६ देखनेको और उसमें श्रीरामजी भाई माणिकचन्द दोशी एडवोकेट, सोनगढ़का लेख पढ़नेको मिला, जिसका शीर्षक है 'प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना।' इस लेखमें एक जगह नम्बर (१) पर लिखा है :—

"श्री समन्तभद्राचार्य भी अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें भगवान् मुनिसुव्रतकी स्तुति करते हुए लिखते हैं कि **समय-समयके चर-अचर पदार्थों का उपादान, निमित्त स्वकाल लब्धि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका ज्ञान केवलज्ञानमें आपको प्रकट हुआ है; इसलिये आप सर्वज्ञ हो।**"

इस वाक्यमें श्री समन्तभद्राचार्यके जिस लेख (कथन) का उल्लेख किया गया है, वह उनकी मुनिसुव्रत-स्तुतिमें उस प्रकारसे नहीं पाया जाता। स्तुतिका तद्विषयक पद्य इस प्रकार है—

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन ! सकलज्ञ-लांछनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते।।४६।।

इस पद्यका स्पष्ट अर्थ तथा आशय इतना ही है कि—

'हे जिन ! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं—आपका यह वचन कि चर और अचर (जंगम-स्थावर) जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिये हुए है—प्रत्येक समयमें ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप है—सर्वज्ञताका चिन्ह है—संसार भरके सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण

ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययको एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञताके बिना नहीं बन सकता, और इसलिये इस (परम अनुभूत) वचनसे यह सूचित होता है, कि आप सर्वज्ञ हैं।'

मूल स्तुति-पद्य और उसके उक्त मूलानुगामी अर्थ तथा आशयसे, जिन्हें भिन्न टाइपोंमें दिया गया है, यह स्पष्ट जाना जाता है, कि श्रीरामजी भाई दोशीने जिसे समन्तभद्राचार्यका लेख (लिखना) प्रकट किया है वह उनका लेख (कथन अथवा वचन) नहीं है। स्वामी समन्तभद्रके उक्त पद्यमें तो कोई क्रियापद भी नहीं है, जिसका अर्थ "प्रकट हुआ है" किया जा सके, न 'जगत्' आदि शब्दोंके साथ षष्ठी विभक्तिका कोई प्रयोग है, जिससे द्वितीय चरणका अर्थ "समय-समयके चर-अचर पदार्थोंका" किया जासके और न उपादान, निमित्त, स्वकाल लब्धि, ज्ञान और केवलज्ञान जैसे शब्दोंका ही कहीं कोई अस्तित्व पाया जाता है। प्रथमचरण भी प्रथमान्त एकवचनात्मक है और इसलिये उसका भी षष्ठी विभक्तिके रूपमें अर्थ नहीं किया जा सकता। 'प्रतिक्षणं' पदका घनिष्ट सम्बन्ध **'स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं'** पदसे है, न कि **'जगत्'** आदि पदोंसे, जिनके साथ उसे जोड़ा गया है, जैसाकि युक्त्यनुशासनके ***'प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्म-तत्त्वव्यवस्थं'*** इस समन्तभद्र-वाक्यसे भी जाना जाता है। इसके सिवा **'इदं वचनं'** पदोंका कोई अर्थ ही नहीं दिया गया, जो उक्त पद्यकी एक प्रकारसे जान-प्राण है और इस बातको सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने यहाँ मुनिसुव्रतजिनके एक प्रवचनको उद्धृत किया है, जो पद्यके प्रथम दो चरणोंमें उल्लिखित है। उसी वचनरूप साधनसे उनके सर्वज्ञ होनेका अनुमान किया गया है—न कि

अमुक-अमुक पदार्थों आदिका ज्ञान आपको केवलज्ञानमें प्रकट हुआ है, इसलिये आप सर्वज्ञ हैं।

समन्तभद्र-विषयक उक्त उल्लेखकी ऐसी स्थिति होनेसे यह साफ फलित होता है कि अपने किसी मन्तव्य अथवा उद्देश्यकी सिद्धि—पूर्तिके लिये आचार्य महोदयके वाक्यको तोड़-मरोड़कर अन्यथा रूपमें उपस्थित किया गया है। इस अन्यथा उपस्थितिका भेद सहजमें खुल न जानेके कारण ही शायद मूल वाक्यको साथमें देना उचित नहीं समझा गया। श्री रामजीभाई दोशी एडवोकेट जैसे विद्वान्, जो एक समय 'आत्मधर्मका' सम्पादन और श्री कानजी स्वामीके 'प्रवचन' कहे जानेवाले उपदेशोको लेखोंमें परिणत करते रहे हैं, ऐसा भी कर सकते हैं और उन्होंने किया है, यही उनके विषयमें मेरा एक नया ताजा अनुभव है। अभी तक मेरा विचार यह चला आरहा था कि श्रीरामजी भाई दोशी अपने लेखोंमें जिन आचार्य-वाक्योंको अनुवादरूपमें प्रस्तुत करते रहे हैं, उनके उस अनुवाद-विषयमें वे प्रमाणिक रहे होंगे; परन्तु अब मुझे अपना वह विचार बदलनेके लिये बाध्य होना पड़ता है और यह कहना पड़ता है कि श्रीरामजीभाई अपने अनुवादोंमें सर्वत्र प्रामाणिक रहे मालूम नहीं होते—उन्होंने अपने किसी अभिमतकी पुष्टिके लिये उनमें कभी मन-मानी काँट-छाँट अथवा हीनाधिकता (कमोबेस) करके उन्हें अन्यथा रूपमें भी प्रस्तुत किया है, जिसके एक उदाहरणको इस लेखमें स्पष्ट करके बतलाया गया है। इससे उनके अनुवादरूपमें प्रस्तुत जिन आगमादि-वाक्योंके साथ मूल वाक्य उद्धृत नहीं हैं उनके अर्थ तथा आशयके विषयमें धोखा होसकता है—विद्वान भी धोखा खा सकते हैं, क्योंकि किसी

ग्रन्थके सब वाक्य अपने असली रूपमें सभी विद्वानोंको समयपर उपस्थित नहीं होते—और इसलिये उन्हें अच्छी जाँच-पड़तालके बाद ही ग्रहण किया जाना चाहिये—यों ही बिना परीक्षाके उनके कथनमात्रसे प्रमाण रूपमें अंगीकार न कर लेना चाहिये। मैं समझता हूँ किसी महान् आचार्यादिके वाक्यको प्रमाणमें देते हुए उसे मूलरूपमें उद्धृत न करके मात्र अनुवादरूपमें उपस्थित करनेकी यह प्रणाली अच्छी नहीं—खतरेसे प्रायः खाली नहीं है।[1]

---

१. जैन सन्देश १८ अगस्त १९६६।

निबन्ध-सूची

[इस सूचीमें ब्रेकेटके भीतर यह सूचित किया गया है कि कौन निबन्ध कब-कहाँ प्रथमतः प्रकाशित हुआ है और जिस निबन्धका ठीक निर्माणकाल मालूम हो सका है, उसका वह समय निबन्धनामके अनन्तर डैशके बाद तथा ब्रेकटके पूर्व दिया गया है ।]

(१) उत्तरात्मक निबन्ध

(५) समालोचनात्मक निबन्ध

(३) स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध

(४) विनोद-शिक्षात्मक निबन्ध

(५) प्रकीर्णक निबन्ध